बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 15

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय

खंड 15
पाकिस्तान या भारत का विभाजन

पहला संस्करण : 2000
दूसरा संस्करण : 2011
तीसरा संस्करण : 2013

ISBN : **978-93-5109-015-1**

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 40

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

मैं अन्याय, अत्याचार, आडंबर तथा अनर्थ से घृणा करता हूं और मेरी घृणा उन सब लोगों के प्रति है, जो इन्हें अपनाते हैं। वे दोषी हैं। मैं अपने आलोचकों को यह बताना चाहता हूं कि मैं अपने इन भावों को अपना वास्तविक बल व शक्ति मानता हूं।

— **भीमराव अम्बेडकर**

परामर्श सहयोग

श्रीमती मेनका गांधी
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार

श्रीमती आशा दास
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री एस.के. पांडा
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
सदस्य सचिव
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री किशन लाल
निदेशक
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

संपादक
श्री ओम प्रकाश काश्यप

संकलन (अंग्रेजी)

श्री वसंत मून

अनुवादक

श्री बनारसी सिंह

स्व. श्री अशोक

श्री देवेन्द्र कुमार

श्री जे.एस. वत्स

श्री भूपेन्द्र कुमार पाठक

श्री आकाशदीप शंकर

डा. हरिन्द्र सिंह

पुनरीक्षक

स्व. श्री उमराव सिंह

संपादक सहयोग

श्री राम कुमार कृषक

द्वितीय संस्करण के पुनरीक्षक

श्री सुधीर हिलसायन

Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h
Hkkjr ljdkj
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
rFkk
v/;{k] Mk- vEcsMdj izfr"Bku
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

dqekjh lSytk
KUMARI SELJA

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान द्वारा बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के लेखों एवं भाषणों के खंड संख्या 15 का पुनः संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

भारत रत्न डॉ. बी. आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यन्त समाज के आखिरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसीलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था, जिसके तहत मानव–मानव में भेद किया जाता था, से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया। समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक–धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के अन्य खंडों को भी शीघ्र प्रकाशित करने में प्रयासरत है। मुझे पूरी आशा है कि पाठकों को शीघ्र ही अप्रकाशित अन्य खंड भी पुस्तकों के आकार में प्राप्त हो जाएंगे।

आशा है, पाठकगण इस खंड के बारे में अपने अमूल्य विचार एवं सुझाव उपलब्ध करवाएं जिससे कि इन अनूदित खंडों की गुणवत्ता एवं साज–सज्जा को आगामी खंडों में आने वाले समय में बेहतर बनाया जा सके।

सैलजा

(कुमारी सैलजा)

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्र

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक

श्रीमती मेनका गांधी
SMT. MANEKA GANDHI

सामाजिक न्याय और
अधिकारिता राज्य मंत्री
(स्वतंत्र प्रभार)
शास्त्री भवन
नई दिल्ली-110001
भारत
MINISTER OF STATE FOR
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
(INDEPENDENT CHARGE)
SHASTRI BHAWAN
NEW DELHI-110001
INDIA

२३ मई, २०००

संदेश

भारतरत्न बाबासाहेब डा. भीम राव अम्बेडकर की लेखनी ने नानाविध विषयों में अपना जौहर दिखाया है तथा सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन में उनके अथाह ज्ञान एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि को उजागर किया है । उन्होंने उन सभी मुद्दों पर प्रकाश डाला जो तत्कालीन समाज की मुख्य चिंता के विषय बने हुए थे ।

उनके लेख न केवल मीमांसात्मक विश्लेषण थे, वरन् समतामूलक तथा न्यायपरायण समाज के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अनुसरणीय मार्ग भी दर्शाते थे ।

उनके लेख आज भी हमारे लिए प्रेरणास्रोत हैं तथा हमारा मार्गदर्शन करते हैं । पाकिस्तान और भारत के विभाजन पर प्रस्तुत खण्ड आज के परिप्रेक्ष्य में एकदम संगत है । डा. अम्बेडकर वाङ्मय के इस पन्द्रहवें खण्ड को अपने पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे गौरव का अनुभव हो रहा है ।

(श्रीमती मेनका गांधी)

संपादकीय

भारतरत्न बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। विविध विषयों यथा विधि, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, संस्कृति आदि पर उनके लेख और भाषण भारतीय सामाजिक चिंतन के इतिहास और विकास के कालजयी दस्तावेज हैं।

प्रस्तुत खंड अंग्रेजी के आठवें खंड का हिंदी संस्करण है। इस खंड में पाकिस्तान की समस्या संबंधी विभिन्न पहलुओं पर डा. अम्बेडकर का अपना दृष्टिकोण समाविष्ट है। खंड पांच भागों में विभक्त है। पहले भाग में पाकिस्तान के मुस्लिम पक्ष का और दूसरे भाग में पाकिस्तान के विरुद्ध हिंदू पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। भाग तीन में पाकिस्तान के विकल्पों पर विस्तृत चर्चा की गई है तथा भाग चार में पाकिस्तान को लेकर जन्मी व्याकुलता की झलक मिलती है। पांचवें भाग में मुसलमानों को प्रभावित करने वाले विचारों, पाकिस्तान की समस्याओं तथा उनके समाधान तथा पाकिस्तान के मामले का निपटारा करने का अधिकार किसे है, आदि का विवेचन किया गया है। खंड के अंत में 25 परिशिष्ट, तीन मानचित्र और विस्तृत अनुक्रमणिका खंड की उपयोगिता में चार चांद लगाते हैं।

इसके अतिरिक्त, खंड पाकिस्तान पर मात्र शोध–प्रबंध न होकर भारतीय इतिहास और राजनीति के सांप्रदायिक पहलुओं की एक विश्लेषणात्मक प्रस्तुति है।

आशा है पाठकगण नव–सहस्त्राब्दी तथा नव–वर्ष 2000 के प्रथम खंड के रूप में प्रकाशित इस खंड का भी पूर्ववत स्वागत करेंगे।

ओम प्रकाश काश्यप
संपादक
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

पाकिस्तान की समस्या सभी के लिए सिरदर्द बन गई है। दूसरों की तरह मैं भी इससे परेशान हूं। मैं खेद सहित यह कहे बिना नहीं रह सकता कि इसमें मेरा कितना अधिक समय लगा है, जिससे मेरी कई साहित्यिक कृतियों में विलंब हुआ है और समयाभाव में यह साहित्यिक कार्य स्थगित करना पड़ा है, जो मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण था। अतएव मैं आशा करता हूँ कि यह द्वितीय संस्करण अंतिम ही होगा। मुझे भरोसा है कि जब तक यह समाप्त होगा, उसे पहले ही या तो इस समस्या का समाधान हो जायेगा अथवा इसे वापस ले लिया जायेगा।

अंग्रेजी पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण, प्रथम संस्करण से चार बातों में भिन्न है।

प्रथम संस्करण में मुद्रण की अनेक त्रुटियां रह गई थीं, जिन्हें लेकर बहुत से पाठकों और समीक्षकों को भी शिकायत हुई।* इस संस्करण को तैयार करने में मैंने यथासंभव सतर्कता बरती है ताकि शिकायत की कोई गुंजाइश न रह सके। पहले संस्करण में केवल तीन भाग थे। पांचवां भाग अब अतिरिक्त जोड़ा गया है। इसमें पाकिस्तान की समस्या को लेकर विभिन्न मुद्दों पर मेरा अपना दृष्टिकोण शामिल है। यह इसलिए जोड़ा गया है क्योंकि प्रथम संस्करण को लेकर आलोचना की गई थी कि जहां मैंने पाकिस्तान की समस्या के बारे में लिखा है, वहां यह नहीं बताया कि इस विषय पर मेरा अपना दृष्टिकोण क्या है। एक और पहलू से भी यह संस्करण पहले संस्करण से कुछ अलग है। प्रथम संस्करण में जो मानचित्र थे वे इसमें भी हैं, साथ ही परिशिष्ट बढ़ा दिए गए हैं। इस संस्करण में मैंने एक अनुक्रमणिका भी जोड़ी है, जो प्रथम संस्करण में नहीं थी।

इस पुस्तक से एक वास्तविक कमी की पूर्ति हुई है। मैंने देखा है कि इसमें

---

* पहले संस्करण में दुर्भाग्यवश प्रूफ शुद्धि करते समय असावधानी से बंगाल के विभिन्न जिलों में जनसंख्या के आंकड़ों और पाकिस्तान की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले मानचित्र में बंगाल के मामले में एक विसंगति रह गई थी जिसके परिणामस्वरूप ऐसे दो जिले पाकिस्तानी क्षेत्र में शामिल किए जाने चाहिए थे, जो शामिल नहीं किए गये। इस संस्करण में इस भूल को सुधार दिया गया है और आंकड़ों को भी तदनुरूप ठीक कर दिया गया है।

प्रस्तुत विचारों, मतों और तर्कों का किस तरह लेखकों, राजनीतिज्ञों और समाचारपत्रों के संपादकों ने अपने-अपने पक्ष समर्थन में उपयोग किया है। मुझे खेद है कि उन्होंने मात्र तर्क ही नहीं बल्कि पुस्तक की भाषा को भी ज्यों का त्यों ले लिया है, किंतु सूत्र को स्वीकार करने की भी शालीनता नहीं बरती। परंतु यह एक ऐसा मामला है, जिसकी मैं परवाह नहीं करता। मुझे प्रसन्नता है कि यह पुस्तक भारतीयों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है, जो पाकिस्तान की जटिल समस्या का सामना कर रहे हैं। यह तथ्य है कि श्री गांधी और श्री जिन्ना ने अपनी हाल की वार्ता में विषय की प्रामाणिकता के तौर पर इस पुस्तक का उल्लेख किया है, जिससे लाभ उठाते हुए अध्ययन किया जा सकता है। इससे इस पुस्तक की सार्थकता सिद्ध होती है।

पुस्तक के नाम से ऐसा लगता है जैसे पाकिस्तान के बारे में एक सामान्य-सा खाका खींचा गया है, जबकि इसमें उसके अलावा और बहुत कुछ है। यह भारतीय इतिहास और भारतीय राजनीति के सांप्रदायिक पहलुओं की एक विश्लेषणात्मक प्रस्तुति है। इसका एक मकसद पाकिस्तान के क.ख.ग. पर प्रकाश डालना भी है। अतः पुस्तक पाकिस्तान पर शोधप्रबंध मात्र नहीं है।

इस पुस्तक में भारतीय इतिहास और भारतीय राजनीति से संबंधित सामग्री इतनी विपुल और विविध है कि उसे भारतीय राजनीति की एक झांकी कहा जा सकता है।

इस पुस्तक से हिंदू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से अप्रसन्न हुए, जबकि दोनों की अप्रसन्नता के कारण अलग-अलग हैं। इस पुस्तक से जुड़ी इस प्रतिक्रिया पर मुझे कोई खेद नहीं है। हिंदुओं ने इसे अस्वीकार किया है और मुसलमानों ने भी अपने पक्ष में नहीं माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसमें किसी के प्रति दुर्भावना व्यक्त नहीं की गई है और न ही अपनी वैचारिक स्वतंत्रता और निर्भीक दृष्टिकोण के चलते यह किसी पक्ष-विशेष का पोषण करती है।

कुछ लोग इसलिए क्षुब्ध हैं कि मैंने जो कुछ कहा है, उससे उन्हें आघात पहुंचा है। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने किन्हीं व्यक्तियों या समुदायों को आहत करने की आशंका से स्वयं को मुक्त रखा है और मैंने इस बात की भी चिंता नहीं की कि किसी व्यक्ति का अभिमत, चाहे वह व्यक्ति कितना ही सम्मानित क्यों न हो, कहां तक आहत होगा। यह राह चुनने के लिए मुझे अक्सर खेद की अनुभूति तो हुई, किंतु पश्चाताप कभी नहीं हुआ। जिन लोगों को क्षोभ हुआ हो, वे मुझे यह सोचते हुए अवश्य ही क्षमा कर देंगे कि मेरे उद्‌देश्य में ईमानदारी और निस्पृहता रही है। मैं दावा तो नहीं करता कि मैंने तटस्थ भाव से लिखा है, परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं पूर्वाग्रह-मुक्त रहा हूँ। कोई भी भारतीय, जब

वह अपने देश की बात करता है और वर्तमान स्थितियों के बारे में सोचता है तो उसके लिए सर्वथा शांत और पूरी तरह संयमित रहना असंभव–सा लगता है। पाकिस्तान के प्रश्न पर विचार करते हुए मेरा उद्‌देश्य स्थिति का सारगर्भित और वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना ही रहा है। मैंने इस पुस्तक में दोनों ही समाजों की ताकत और कमजोरियों पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डाला है। मैंने दुराग्रही और अव्यवहारिक नीति से उत्पन्न होनेवाले शरारती पहलुओं पर भी पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

राज्य की सत्ता और राष्ट्रवाद अंतर्निहित विरोधी ताकतों के बीच संघर्ष के बारे में इतिहास का साक्ष्य संदिग्ध भले ही न हो, अनिश्चित अवश्य रहा है। जैसा कि फ्रेडमैन* ने कहा है :

> "एक भी ऐसा आधुनिक राज्य नहीं है जिसने कभी न कभी किसी राष्ट्रीय समुदाय को अपनी सत्ता के अधीन रहने के लिए बाध्य न किया हो। स्काट्स, ब्रेटन्स, कैटलींस, जर्मन, पोल्स, चेकोस्लोवाकियंस, फिन्स सभी कभी न कभी अपने से अधिक शक्तिशाली राज्य का बलात और अनिच्छापूर्वक आधिपत्य मानने पर बाध्य हुए हैं। ग्रेट ब्रिटेन अथवा फ्रांस में तो ताकत के प्रयोग ने राज्य सत्ता और राष्ट्रीय सामंजस्य में सहयोग और समन्वय भी स्थापित किया। परंतु जर्मनी, पोलैंड, इटली और कई अन्य मध्य यूरोपीय और बाल्कन देशों में राष्ट्रीयता की ताकतों ने तब तक विश्राम नहीं लिया, जब तक कि उन्होंने राज्य की अधीनता की श्रृंखलाओं को तोड़कर अपना पृथक राज्य नहीं बना लिया.....।"

पिछले संस्करण में मैंने उन देशों के अनुभवों का वर्णन किया था जिन्होंने राष्ट्रीयता का निर्दयतापूर्वक दमन किया और इस प्रयास में वे स्वयं समाप्त हो गए। इस संस्करण में मैंने अन्य देशों के अनुभवों का चित्रण कर यह दिखाया है कि भिन्न–भिन्न विचारोंवाली विभिन्न जातियां यदि चाहें तो आपस में मिलकर एक रह सकती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि दोनों समुदायों या पक्षों को परामर्श 'देने में मैंने बहुत ही भावात्मक शब्दों का इस्तेमाल किया है, जिसकी आवश्यकता नहीं थी। जिस तरह एक चिकित्सक निष्क्रिय अंग का उपचार करने के लिए उस पर अंकुश मारता है, उसी तरह ऐसे भारतीयों को जो आत्मतुष्ट हों, चाहे निद्रा में हों, निशंक हों, चाहे अनभिज्ञ न हों, यह महसूस कराना है कि उनके परिवेश में क्या घटित हो रहा है। आशा है, मेरे प्रयास का अपेक्षित प्रभाव होगा।

---

*. दि क्राईसिस ऑफ दि नेशनल स्टेट (1943) पृ०–4.

मैं इस प्रस्तावना का समापन, खालसा कालेज, बंबई के प्रो. मनोहर बी. चिटनिस और श्री के.वी. चित्रे को धन्यवाद दिए बिना नहीं कर सकता, जिन्होंने उन सभी मुद्रण और लिपिकीय भूलों को दूर करने के लिए अथक परिश्रम किया है जो प्रथम संस्करण मे रह गई थीं और इस बात पर ध्यान दिया है कि यह संस्करण ऐसे सभी दोषों से सर्वथा मुक्त हो। मैं अनुक्रमणिका तैयार करने के लिए भी प्रोफेसर चिटनिस का आभारी हूं, जिससे निश्चय ही पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि होगी।

बी.आर. अम्बेडकर

1 जनवरी, 1945,
22 पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली

आमुख

यह कहा जा सकता है कि जिस लंबी प्रस्तावना के साथ यह कृति प्रारंभ हो रही है, उसके बाद किसी आमुख की आवश्यकता नहीं है। परंतु एक उपसंहार इसके साथ जोड़ा गया है और इसलिए मैंने यह सोचा कि आमुख भी इसके साथ दिया जाए। प्रथमतः इसलिए क्योंकि उपसंहार को आमुख द्वारा संतुलित किया जाना जरूरी है और दूसरे इसलिए भी कि यह आमुख मुझे इस बात का अवसर देगा कि थोड़े से शब्दों में मैं इस रचना की व्युत्पत्ति को उन लोगों के सामने रख सकूं जो यह जानने के लिए उत्सुक हों और पाठक के सम्मुख उन मुद्दों का महत्व स्पष्ट कर सकूं जो इसमें उठाए गए हैं। उत्सुक व्यक्ति को यह बताना उचित होगा कि बंबई प्रेसीडेंसी में इंडीपेंडेंट लेबर पार्टी के नाम से पुकारा जाने वाला एक राजनीतिक संगठन, जिसे आई.एल.पी. के संक्षित नाम से संबोधित किया जाता है, पिछले तीन वर्ष से अस्तित्व में है। यह कोई पुराना या भारी–भरकम संगठन नहीं है, जो राजनीति में परिपक्व हो जाने का दावा कर सके। अन्य राजनीतिक संगठनों की तुलना में आइ.एल.पी. युवा है, समुचित रूप से सक्रिय है और किसी टोली अथवा किसी लाभ के लिए सक्रिय नहीं है। मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान पर लाहौर प्रस्ताव पारित किए जाने के तत्काल बाद आइ.एल.पी. की कार्यकारी परिषद की बैठक इस बारे में विचार करने के लिए आयोजित की गई थी कि पाकिस्तान की परिकल्पना को लेकर क्या रवैया अपनाया जाए। कार्यकारी परिषद ने देखा कि पाकिस्तान की कल्पना के पीछे जो विचार निहित है, उस पर आपत्ति नहीं की जा सकती। वस्तुतः परिषद पाकिस्तान की योजना के प्रति आकर्षित हुई, क्योंकि इसका तात्पर्य सांप्रदायिक समस्या के समाधान हेतु जातीय राज्यों के निर्माण से था। किंतु परिषद ने उस समय पाकिस्तान के मामले पर अपनी राय देने में स्वयं को अक्षम महसूस किया। अतएव यह निश्चय लिया कि इस प्रश्न का अध्ययन करने और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए एक समिति का गठन किया जाए। इस समिति का सभापति मैं स्वयं था और प्रिंसिपल एम.वी.डोंडे, बी.ए., श्री एस.सी. जोशी, एम.ए. एल.एल. बी. एडवोकेट (ओ.एस.), एम.एल.सी; श्री आर.आर. भोले बी.एस.सी., एल.एल.बी., एम. एल.ए., श्री डी.जी. जाधव बी.ए., एल.एल.बी., एम.एल.ए. और श्री ए.वी. चित्रे, बी.

ए. एम.एल.ए. (सभी आई.एल.पी. से संबंधित) इस समिति के सदस्य थे। बंबई नगर निगम के सदस्य श्री डी.बी. प्रधान ने समिति के सचिव के रूप में कार्य किया। समिति ने मुझसे पाकिस्तान पर एक प्रतिवेदन तैयार करने के लिए कहा। यह कार्य मैंने किया और इसे आइ.एल.पी. की कार्यकारी परिषद को पेश किया, जिसने यह निर्णय लिया कि प्रतिवेदन को प्रकाशित किया जाए। यह निबंध जो अब प्रकाशित हो रहा है, वही प्रतिवेदन है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पाकिस्तान के बारे में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अपने ही निष्कर्ष पर पहुंचने में सहायता करना है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने इस खंड में सभी आवश्यक और संबद्ध सामग्री ही संकलित नहीं की, अपितु चौदह परिशिष्ट तथा तीन मानचित्र भी जोड़े हैं, जो मेरे विचार में इस पुस्तक की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

बाद के पृष्ठों में संग्रहीत सामग्री का अवलोकन ही पाठक के लिए पर्याप्त नहीं होगा। उसे उस पर ध्यान भी देना होगा। उसे उस चेतावनी को भी हृदयंगम करना चाहिए जो कार्लाइल ने अपनी पीढ़ी के अंग्रेजों को दी थी। उन्होंने कहा था :

> "इंगलैंड की मेधा, जो कभी तूफानों की छाती चीरकर आगे उड़ान भरते जाने वाले बाज समान थी, जिसे अपने शौर्य पर गर्व था, और जो विश्व को चुनौती देती थी, वह अब सूरज की ओर उड़ान नहीं भर रही है। इंगलैंड की इस मेधा की सोच उस शतुर्मुर्ग की तरह लालची हो गयी है जो पास पड़े चमड़े तक को निगलने को आतुर रहता है। उसे चाहे जो भ्रांतियां हों, एक दिन तो उसे जागना ही पड़ेगा, भले वह कितने ही समय तक अपना सिर धरती में गड़ाए रहे। उसे एक दिन जागना ही है। मनुष्य और देवता ने हमें जगाया है। हमारे पूर्वज भी हमें सतत जागरण का संदेश दे रहे हैं।

मेरा विश्वास है कि वर्तमान परिस्थितियों में यह चेतावनी हम भारतीयों के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी कि कभी अंग्रेजों के लिए थी, और यदि भारतीयों ने इस पर ध्यान नहीं दिया तो वे अपने लिए संकट को ही आमंत्रित करेंगे।

मैं एक शब्द उनकी प्रशंसा में भी कहूंगा जिन्होंने इस रिपोर्ट को तैयार करने में मेरी सहायता की है। श्री एम.जी. टिपणीस डी.सी.इ. (कलाभवन, बड़ौदा), और श्री छगनलाल एस. मोदी ने मेरी बड़ी सहायता की है। श्री टिपणीस ने मानचित्रों को तैयार करने में और श्री मोदी ने पांडुलिपि को टाइप करने में सहायता की। मैं इस कार्य के लिए उन दोनों का ही आभार व्यक्त करता हूँ, जो उन्होंने विशुद्ध

स्नेह के वशीभूत किया है। अपने मित्रों श्री बी.आर. काडरेकर और श्री के.वी. चित्रे का भी विशेष रूप से उस श्रम के लिए धन्यवाद करता हूँ जो उन्होंने प्रूफ शुद्धि और मुद्रण के निरीक्षण सरीखे अरुचिकर और शुष्क कार्य को संपन्न करने हेतु किया है।

28 दिसंबर, 1940 **बी.आर. अम्बेडकर**

राजगृह, दादर, बंबई–14.

प्राक्कथन

मुस्लिम लीग के पाकिस्तान पर प्रस्ताव को लेकर भिन्न–भिन्न प्रतिक्रियाएं हुई हैं। कुछ लोग इसे राजनीतिक संक्रामक रोग का मामला मानते हैं, जिससे एक नया राष्ट्र अपनी एकता और शक्ति की स्थिति में ग्रस्त होता है। अन्य लोग इसे मुस्लिम मानस का एक स्थाई ढांचा मानते हैं और एक अस्थायी चरण मात्र नहीं समझते, और परिणामस्वरूप वे अत्यंत उद्विग्न हैं।

यह प्रश्न निश्चय ही विवादास्पद है। यह मुद्दा महत्वपूर्ण है और ऐसा कोई तर्क नहीं बचा है जिसका इस विवाद में एक पक्ष ने दूसरे को खामोश करने के लिए उपयोग न किया हो। कुछ लोगों की दलील है कि भारत को दो राजनीतिक सत्ताओं में पृथक राष्ट्रीय राज्यों के रूप में विभाजित किए जाने की यह मांग कल्पनातीत है। अन्य हैं, जो देश की एकता को खंडित करने के इस बेलगाम प्रयास से बहुत इतने चिंतित हैं, और इस बारे में उनका यह दावा है कि देश शताब्दियों से अखंड रहा है, कि उनका आक्रोश उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति से भी रोकता है। कुछ अन्य हैं, जिनका मत है कि इसे गंभीरता से लिए जाने की आवश्यकता ही नहीं हैं और वे इसे एक नगण्य–सी बात मानकर उपमाओं और रूपक–अलंकारों के सहारे इस कल्पना को नष्ट करने का प्रयास करते है। पाकिस्तान के बेतुकेपन को साबित करने के लिए वे जो कतिपय तर्क देते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं "आप सिरदर्द से छुटकारा पाने के लिए सिर को ही तो नहीं काट देते," "दो महिलाओं के बीच एक बच्चे को लेकर उठे विवाद से कि उसकी मां कौन है, आप बच्चे को काटकर उसके दो टुकड़े तो नहीं कर देंगे।" यदि कोई निरपेक्ष व्यक्ति इस भावनात्मक विवाद मे जड़ता, उत्तेजना, बेहूदगी अधिक तथा समझ, ज्ञान और गांभीर्य कम देखता है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

मेरी स्थिति, इस लिहाज से बेजोड़ भले ही न हो, सुनिश्चित अवश्य है। मेरे विचार में पाकिस्तान की मांग मात्र राजनीतिक असयंतता का परिणाम नहीं है, जो समय के साथ समाप्त हो जाए। मैंने जिस रूप में स्थिति का अध्ययन किया है, उससे मुझे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार शारीरिक वृद्धि के साथ–साथ चरित्र

की वृद्धि होती है, उसी प्रकार मुस्लिम जनता के राजनीतिक विकास के साथ–साथ पाकिस्तान की मांग प्रबल हो रही है। स्वाभाविक अस्तित्व की प्रक्रिया में यह मांग बनी रहेगी या नहीं, यह तो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अस्तित्व के लिए संघर्ष में सक्रिय होनेवाली ताकतों पर ही निर्भर करेगा। मैं पाकिस्तान से विचलित नहीं हूँ, न ही मुझे इस बारे में रोष है, और न ही मेरा यह विश्वास है कि यह मांग उपमाओं या रूपक–अलंकारों से ध्वस्त हो जाएगी। जो लोग इसे रूपक–अलंकारों के बल पर मिटा देने में विश्वास करते हैं, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि जो कुछ असंगत है, वह मात्र पद्यात्मक आवरण से ही तो संगत नहीं बन जाता और रूपक–अलंकरण तो कोई तर्क नहीं है, यद्यपि कभी–कभी यह बारूद बन जाता है जो किसी को रास्ते पर लाकर एक याद मात्र छोड़ सकता है। मेरे विचार में जिस योजना के पीछे भारत के 90 प्रतिशत मुसलमानों की भावनाएं जुड़ी हों, भले ही उनका उत्कट समर्थन हो, तो भी उसे एकदम अस्वीकार कर देना न तो बुद्धिमानी होगी और न ही संभव होगा। मुझे इस बारे में कोई संदेह नहीं कि पाकिस्तान के मामले में उसके सभी पहलुओं का अध्ययन करना, उसकी परिणतियों को समझना और उसके बारे में कोई बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेना ही उचित होगा।

इस समग्र परिप्रेक्ष्य में कोई भी पाठक यह जरूर पूछ सकता है– क्या पाकिस्तान पर यह पुस्तक इतनी सामयिक है कि इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए, जिस तरह स्वस्थ रहने के लिए मौसमी फल खाना जरूरी होता है? यदि यह सामयिक है तो क्या पाठनीय भी है? ये स्वाभाविक जिज्ञासाएं हैं और एक लेखक, जिसका उद्देश्य पाठकों को आकृष्ट करना है, उनके निदान या निराकरण के लिए प्राक्कथन का उपयोग कर सकता है।

जहां तक पुस्तक की सामयिकता का सवाल है, इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता। इस बात को स्वीकार करना ही होगा कि स्वयं भारतीयों द्वारा भारत के प्रति सोचने के ढंग में पिछले बीस वर्षों में पूरी तरह बदलाव आया है। भारत का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर ऑरनाल्ड दोयनबी ने 1915 में लिखा था :

> "उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश राजनयिकों ने भारत को एक ऐसी सुंदरी की उपमा दी जो लज्जालु भाव से सो रही थी, और जिसके जागने पर उसे लुभाने का ब्रिटेन को पारंपरिक अधिकार था। अतएव उसने वहां कांटों की बाड़ खड़ी कर दी, ताकि मरूस्थल में उसकी खोज करते लुटेरों से उसकी रक्षा हो सके। अब यह राजकुमारी जग उठी है और किसी को अपना हाथ थमाने का दावा कर रही है। जबकि लुटेरों ने स्वयं को सुसम्मानित भद्रजनों में परिवर्तित कर दिया है,

> ब्रिटिश कांटों की बाड़ उनकी राह रोक रही है। जब उन्होंने शालीनता से उसे हटाने का हमसे अनुरोध किया है तो हमारा सहमति व्यक्त करना ही श्रेयस्कर होगा, क्योंकि वे तब तक यह मांग नहीं करेंगे, जब तक कि स्वयं को उसे लागू करने में समर्थ नहीं पाते; और यदि हम इंकार करेंगे तो टकराव होगा, और भारतीय राजकुमारी की सहानुभूति हमारी ओर नहीं होगी। अब वह जाग उठी है और अपने पड़ोसियों के साथ आगे बढ़ना चाहती है। वह हमारी सहायता के बिना तथा किसी भी धमकी या चेतावनी का सामना करने के लिए झिड़क देने में स्वयं को सक्षम समझती है, और वह भी उनके समान ही कांटों की उस बाड़ से उद्विग्न हो रही है जो उसे उसके उद्यान तक सीमित किए हुए हैं।
>
> यदि हम उसके साथ चतुराईपूर्ण व्यवहार करेंगे तो ब्रिटिश आध्यात्मिक भ्रातृत्व भाव से स्वयं को अलग करने का विचार भारत कदापि नहीं करेगा, परंतु यह अपरिहार्य है कि वह (भारत) अपने ढंग से अधिकाधिक स्वतंत्र जीवनयापन करे और अपने पड़ोसियों से सीधा संपर्क कर एंग्लो–सेक्सन राष्ट्रकुल के उदाहरण का अनुगमन करे...।"

हालांकि लेखक अंग्रेज है, पर उसने 1915 में ही जो दृष्टिकोण व्यक्त किया था, वह वही है जो जाति अथवा मत के भेदभाव बिना सभी भारतीयों पर समान रूप से लागू होता है। अब इस भारत के बारे में, जो कि प्रो. टोयनबी की 'सुप्त सुंदरी' है, में भारतीयों का मत क्या है? इस सवाल पर किसी भी तरह का संदेह नहीं हो सकता कि जिन्होंने इस सुप्त सुंदरी को देखा है, हाल के वर्षों में इससे व्यवहार किया है, वे यह महसूस करते हैं कि यह सुंदरी अद्भुत है, और उस दिव्य राजकुमारी से सर्वथा भिन्न है जैसा उसके बारे में सोचा गया है। वह दोहरे व्यक्तित्ववाली एक उन्मादी युवती है, आधी मानव, आधी पशु वह सदैव अपने दोनों स्वरूपों में सतत टकराव के कारण आलोड़ित रहती है। उसके दोहरे व्यक्तित्व के बारे में यदि कोई संदेह था, तो वह मुस्लिम लीग के उस प्रस्ताव से दूर हो गया, जिसमें भारत को पाकिस्तान और हिंदुस्तान – दो हिस्सों में बांटने की मांग की गई है, ताकि दोहरे व्यक्तित्व के जो आलोड़न इसे एक में बांधे रहने के कारण हैं, हमेशा के लिए दूर हो सकें। इस तरह वे एक–दूसरे से पृथक होकर अपने पृथक घरों में रह सकेंगे और अपनी–अपनी संस्कृतियों – हिंदू और मुस्लिम – के अनुरूप सौहार्दपूर्वक रहेंगे।

इस बारे में कोई सवाल ही नहीं उठ सकता कि पाकिस्तान एक ऐसी योजना है जिस पर ध्यान देना ही पड़ेगा। मुसलमान इस योजना पर विचार करने के लिए दबाव डालेंगे। ब्रिटेन राजनीतिक शक्ति के हस्तांतरण पर अपनी सहमति

देने से पहले यह आग्रह करेगा कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता हो जाए। इसके लिए ब्रिटेन को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। ब्रिटेन आक्रामक बहुसंख्यक हिंदू को सत्ता सौंपने और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर अल्पसंख्यकों से अपनी इच्छानुसार निपटने की सहमति नहीं दे सकता। इससे साम्राज्यवाद का अंत नहीं होगा। इससे तो एक और साम्राज्यवाद का उदय हो जाएगा। अतएव हिंदू समाज को पाकिस्तान के बारे में गंभीरतापूर्वक ध्यान देना पड़ेगा।

यदि पाकिस्तान की योजना पर विचार किया जाता है, और उससे बचने का कोई उपाय भी नहीं है, तो कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें ध्यान में रखना ही होगा।

पहला मुद्दा यह है कि हिंदुओं और मुसलमानों को इस विषय पर आपस में बातचीत करके कोई उचित हल निकालना चाहिए। इसमें वे किसी की सहायता नहीं ले सकते। निश्चय ही वे यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि ब्रिटेन उनके लिए इसे तय करे। ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से, जब तक वे सब साम्राज्य के तहत रहने में संतुष्ट हैं, उस में ब्रिटिश सरकार को कोई दिलचस्पी नहीं है कि भारत अविभाज्य रहे या दो भागों – पाकिस्तान और हिन्दुस्तान – में, अथवा बीस भाषीय भागों में, जैसी कि कांग्रेस की योजना है, बंट जाए। ऐसे क्षेत्रीय विभाजन से ब्रिटेन प्रभावित नहीं होगा, इसलिए ब्रिटेन को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

फिर यदि हिंदू यह आशा करते हैं कि ब्रिटेन पाकिस्तान की मांग को दबाने के लिए बल प्रयोग करेगा, तो यह असंभव है। बल प्रयोग करना उपचार नहीं है। अमरीकी उपनिवेशों पर दबाव से संबंधित अपने भाषणों में बर्क बहुत पहले ही बल प्रयोग की निरर्थकता पर प्रकाश डाल चुके हैं। उनके स्मरणीय शब्दों का उल्लेख मात्र हिंदू महासभा के लाभार्थ ही नहीं, अपितु सभी के लाभ के लिए किया जा सकता है। उन्होंने जो कुछ कहा था, वह यह है :

> "मात्र बल–प्रयोग अस्थाई है। यह एक हद तक ही कारगर हो सकता है, और पुनः दमन की आवश्यकता को नहीं टाल सकता। उस राष्ट्र पर शासन नही किया जा सकता, जिस पर सदा विजय पानी होती है। बल प्रयोग के बारे में दूसरी आपत्ति है अनिश्चितता। बल प्रयोग का परिणाम सदैव भय नहीं होता और सैन्यशक्ति विजय नहीं मानी जा सकती। यदि आप सफल नहीं, तो आप संसाधन रहित हैं। समझौते के प्रयास असफल हो जाने पर बल–प्रयोग का उपाय ही बचता है, परंतु बल–प्रयोग की असफलता के बाद समझौते की कोई आशा ही नहीं रहती। कभी–कभी उदारता से भी सत्ता और अधिकार लिए जाते

> हैं, परंतु निर्बल और अशक्त हिंसा के द्वारा भीख मांगकर उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। बल-प्रयोग को लेकर एक अन्य आपत्ति यह है कि उसे कायम रखने के प्रयास मात्र से ही आप उद्देश्य को क्षति पहुंचा देते हैं। जिस बात (लोगों की निष्ठा प्राप्त करने) के लिए आप लड़ रहे हैं, वह किसी चीज की पुनः प्राप्ति नहीं है, अपितु वह तो उसके मुकाबले तुच्छ, हीन, उपभोग की हुई तथा बेकार की चीज़ है।

अतः पाकिस्तान के मामले में दबाव को विकल्प मानना अकल्पनीय ही है। फिर, मुसलमानों को आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। हिंदू राष्ट्रवादी जो आत्मनिर्णय पर भरोसा करते हैं और यह पूछते हैं कि जब विश्व को छोटे-छोटे राष्ट्रों के मामले में यह बात माननी पड़ी, तो ब्रिटेन भारत को उससे कैसे वंचित रख सकता है। तो वे ब्रिटेन से यह भी तो नहीं कह सकते कि वह अन्य अल्पसंख्यकों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने से मना कर दे। हिंदू राष्ट्रवादी जो यह आशा करते हैं कि ब्रिटेन मुसलमानों पर पाकिस्तान की मांग त्यागने के लिए दबाव डाले, वे यह भूल जाते हैं कि विदेशी आक्रामक साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता की आजादी का अधिकार और बहुसंख्यक आक्रामक राष्ट्रीयता से अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। दोनों का एक ही आधार है। वे तो स्वतंत्रता के संघर्ष के दो पहलू हैं तथा उनका नैतिक आधार भी बराबर है। आक्रामक साम्राज्यवाद से स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले राष्ट्रवादी स्वतंत्रता के लिए अल्पमत के अधिकार को निष्फल बनाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मदद नहीं मांग सकते। अतएव इस मामले को सिर्फ हिंदुओं और मुसलमानों द्वारा ही सुलझाया जाना चाहिए। ब्रिटिश उनके लिए इस पर निर्णय नहीं ले सकते। यह पहला महत्वपूर्ण पहलू है, जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अखंड भारत पर एक केंद्रीय सरकार की स्थापना का विरोध ही पाकिस्तान की मांग का सार-तत्व है। पाकिस्तान दो केंद्रीय सरकारों की परिकल्पना है, जिनमें से एक पाकिस्तान के लिए हो और दूसरी भारत के लिए। इससे उठने वाला दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि पाकिस्तान का मसला नए संविधान की योजना बनाए जाने और उसका आधार तय किए जाने से पहले ही हल हो जाना चाहिए। यदि भारत के लिए एक केंद्रीय सरकार होनी है तो इसके संवैधानिक ढांचे की रूपरेखा हिंदुस्तान और पाकिस्तान के लिए केंद्रीय सरकारों की संवैधानिक ढांचे की रूपरेखा से अलग होनी होगी। ऐसी स्थिति में इस योजना को त्याग देना चाहिए अथवा दूसरी पारस्परिक सहमति से विकल्प के तौर पर बनाई जानी चाहिए, जैसा भी तय हो। यह सोचना नितांत मूर्खता होगी कि यदि पाकिस्तान की मांग फिलहाल दबा दी जाए तो वह फिर उभर ही नहीं सकेगी।

मेरा विश्वास है कि पाकिस्तान को दफनाना पाकिस्तान के भूत को दफनाने जैसा नही है। जब तक भारत के लिए एक केंद्रीय सरकार के प्रति पाकिस्तान का विरोध जारी रहेगा, तब तक पाकिस्तान का भूत भारत के राजनीतिक भविष्य पर अपनी अपशकुनी छाया डाले रहेगा। इस समस्या का कोई स्थाई समाधान भविष्य पर छोड़कर कोई अस्थाई समाधान निकालना बुद्धिमत्ता का कार्य नही होगा। ऐसा करने का तात्पर्य रोग का निवारण करने के बजाए उसके लक्षणों को दबाना मात्र होगा। परंतु जैसा कि ऐसे मामलों में प्रायः होता है, रोग को टाल दिया जाता है और इस तरह से उसके पुनः, सम्भवतः और अधिक उग्र रूप में, उभरने को सुनिश्चित कर दिया जाता है।

मेरी निश्चित राय है कि भारत की एक केंद्रीय सरकार का होना या न होना कोई ऐसा मुद्दा नहीं है जिसे निपटा हुआ मान लिया जाए। यह मुद्दा भले ही अभी सजीव न हो, लेकिन किसी न किसी दिन यह ज्वलंत रूप अवश्य लेगा।

मुसलमान खुले तौर पर घोषित कर चुके हैं कि वे नहीं चाहते कि भारत में कोई एक केंद्रीय सरकार हो और वे नितांत स्पष्ट शब्दों में अपनी ओर से इसके कारण भी बता चुके हैं। वे ऐसे पांच प्रांतों का उल्लेख करने में सफल रहे हैं, जो जनसंख्या की दृष्टि से मुस्लिम जनसंख्या बहुल हैं। इन प्रांतों में उन्हें यह संभावना दिखाई देती है कि मुसलमान वहां सरकार का गठन कर सकते हैं और यह सुनिश्चित करने के लिए उत्कंठित हैं कि इन प्रांतों में मुस्लिम सरकार की स्वायत्तता स्थापित रहे। इस धारणा से प्रेरित होकर भारत की एकमात्र केंद्रीय सरकार उनकी आंखों में खटकने लगी है। वे यह अनुभव करते हैं कि उनके मुस्लिम प्रांत एक ऐसी केंद्रीय सरकार के अधीन हो जाएंगे, जिसमें हिंदुओं का प्रतिनिधित्व होगा और जिन्हें प्रशासन की देखभाल का ही नहीं, अपितु इन मुस्लिम प्रांतों के प्रशासन में हस्तक्षेप का भी अधिकार होगा। मुसलमान यह महसूस करते हैं कि सारे भारत के लिए एक केंद्रीय सरकार पर सहमति व्यक्त करना मुस्लिम प्रांतीय सरकारों को एक हिंदू केंद्रीय सरकार के हाथों में सौंप देना होगा और इसलिए यह आवश्यक है कि मुस्लिम प्रांतों के सृजन से जो भी लाभ मिले वह उन्हें केंद्र को हिंदू सरकार के अधीन करके गंवा न दें। अतः मुसलमान हिंदू केंद्रीय सरकार की निरंकुशता से बचने का यही रास्ता मानते हैं कि भारत में कोई एक केंद्रीय सरकार नहीं हो।*

क्या केवल मुसलमान ही केंद्रीय सरकार की स्थापना के विरोधी हैं? इस बारे में हिंदुओं के क्या विचार हैं? हिंदुओं में खुसर–पुसर राजनीतिक चर्चा चल रही

* यह विचार सर मोहम्मद इकबाल ने तीसरे गोलमेज सम्मेलन में व्यक्त किया है।

है कि भारत में स्थिर राजनीतिक ढांचे के रूप में केंद्रीय सरकार का होना आवश्यक है। इस तर्क या बात में कहां तक सच्चाई है, मैं इस पर टिप्पणी नहीं कर सकता। मैं तो इतना ही कहूंगा कि इस चर्चा में दो तथ्य हैं जो इस समय तो दबे हुए हैं, परंतु कुछ समय बाद ये दोनों प्रबल हो जाएंगे और केंद्रीय सरकार की संकल्पना से हिंदुओं को विमुख कर देंगे।

हिंदू प्रांतों के बीच सांस्कृतिक विद्वेष की भावना पहला कारण है। हिंदू प्रांत किसी भी लिहाज से एक सुखद परिवार नहीं है। यह नहीं माना जा सकता कि सिखों में बंगालियों अथवा राजपूतों या मद्रासियों के प्रति कोमलता का कोई भाव है। बंगाली केवल स्वयं को प्रेम करता है। मद्रासी अपनी ही दुनिया से बंधे हैं। जहां तक मराठों का सवाल है, कौन नहीं जानता कि मराठे, जिन्होंने भारत में मुस्लिम साम्राज्य का विध्वंस किया था, भारत के शेष हिंदुओं के लिए ही आपदा बन गए थे, जिन्हें उन्होंने सताया और लगभग एक शताब्दी तक अपने अधिकार में रखा। हिंदू प्रांतों की कोई सांझा परंपरा और हित भी नहीं है, जो उन्हें एक सूत्र में बांधे रखें। दूसरी ओर भाषा, जाति और अतीत से जुड़े विवाद प्रभावी ताकतें हैं, जो उन्हें विभाजित किए हुए हैं। यह सच है कि हिंदू संगठित होते जा रहे हैं और उनमें एक संयुक्त राष्ट्र बनाने की भावना बलवती हो रही है। परंतु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वे अभी एक राष्ट्र बने नहीं हैं। वे एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में हैं, और इससे पहले कि यह प्रक्रिया पूर्ण हो, एक ऐसा आघात भी लग सकता है जो एक शताब्दी के तमाम किए-धरे पर ही पानी फेर दे।

दूसरा कारण वित्तीय पक्ष है। इस बात की पूरी जानकारी नहीं है कि केंद्र सरकार को चलाने के लिए भारतीयों को क्या कीमत चुकानी पड़ती है और हर प्रांत को औसतन कितना बोझ उठाना पड़ता है।

ब्रिटिश भारत का कुल राजस्व 194,64,17,926 रुपए प्रतिवर्ष है। इस राशि में से प्रांतीय संसाधनों से प्रांतीय सरकारों की वार्षिक आय 73,57,50,125 रुपए है और केंद्र सरकार द्वारा केंद्रीय संसाधनों के प्राप्त राजस्व 121,06,67,801 रुपए है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि केंद्रीय सरकार भारतीय जनता से कितना धन वसूलती है। जब कोई यह विचार करता है कि केंद्र सरकार केवल शांति बनाए रखने पर ही ध्यान देती है और जन-विकास के कार्यों से उसका कोई लेनादेना नहीं है, तो फिर यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि यदि लोग यह पूछने लगें कि क्या यह जरूरी है कि वे शांति खरीदने-भर के लिए ही इतनी भारी कीमत चुकाएं? इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि प्रांतों में लोग वस्तुतः भुखमरी की स्थिति झेल रहे हैं और प्रांतों के पास ऐसा कोई भी साधन शेष नहीं है जिससे वे अपनी आय बढ़ा सकें।

केंद्रीय सरकार को चलाने का जो यह भार भारत के लोगों को वहन करना पड़ता है, उसका प्रांतीय विभाजन बहुत विषम है। केंद्रीय राजस्व के स्रोत हैं (1) सीमा–शुल्क (2) उत्पादन–कर, (3) नमक, (4) मुद्रा, (5) डाक और तार, (6) आय–कर, और (7) रेलवे।

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित लेखाओं से उसके तीन स्रोतों अर्थात् मुद्रा, डाक–तार और रेलवे, से आय का वितरण कर पाना कठिन है। केवल अन्न स्रोतों से प्राप्त राजस्व का ब्यौरा ही प्रांतवार जाना जा सकता है, जिनके आंकड़े नीचे दी जा रही तालिका में दिए गए हैं:

प्रांत	प्रांतीय सरकार द्वारा प्रांतीय संसाधनों से प्राप्त राजस्व	केंद्रीय सरकार द्वारा केंद्रीय संसाधनों से प्राप्त राजस्व
1. मद्रास	16,13,44,520	9,53,26,745
2. बम्बई	12,44,59,553	22,53,44,247
3. बंगाल	12,76,60,892	23,79,01,583
4. संयुक्त प्रांत	12,79,99,851	4,05,53,030
5. बिहार	5,23,83,030	1,54,37,742
6. मध्यप्रांत व बरार	4,27,41,280	31,42,682
7. आसाम	2,58,48,474	1,87,55,967
8. उड़ीसा	1,81,99,823	5,67,346
9. पंजाब	11,35,86,355	1,18,01,385
10. उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश	1,80,83,548	9,28,294
11. सिंध	3,70,29,354	5,66,46,915

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि केंद्रीय सरकार का पोषण करने का भार विपुल ही नहीं है बल्कि यह स्पष्टतः विभिन्न प्रांतों पर असमान रूप से पड़ता है। बम्बई प्रांतीय सरकार 12,44,59,553 रुपये जुटाती है, जबकि उसके मुकाबले केंद्र सरकार बम्बई से 22,53,44,247 रुपये जुटाती है। बंगाल सरकार 12,76,60,892 रुपए जुटाती है, जबकि केंद्र सरकार बंगाल से 23,79,01,583 रुपए जुटाती है। सिंध सरकार 3,70,29,354 रुपए जुटाती है, जबकि केंद्रीय सरकार उससे 5,66,46,915 रुपए जुटाती है। आसाम सरकार लगभग ढाई करोड़ रुपए जुटाती है परन्तु केन्द्र सरकार आसाम से लगभग दो करोड़ रुपए जुटाती है। जहां केंद्रीय सरकार का इन प्रांतों पर इतना अधिक आर्थिक बोझ है, वहीं अन्य प्रांत केंद्रीय सरकार को प्रायः नगण्य अंशदान करते हैं। पंजाब अपने लिए जहां ग्यारह करोड़ रुपए जुटाता है, वहीं केंद्र सरकार को मात्र एक करोड़ रुपए देता है। उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रांत में प्रांतीय राजस्व 1,80,83,548 रुपए है,

जबकि वह केन्द्र सरकार को सिर्फ 9,28,294 देता है। यू.पी. (संयुक्त प्रांत) 13 करोड़ रुपए जुटाता है, परंतु केंद्र को उसका अंशदान मात्र चार करोड़ रुपए है। बिहार अपने लिए 5 करोड़ रुपए संग्रह करता है, जबकि केंद्र को सिर्फ डेढ़ करोड़ रुपए देता है। मध्यप्रांत और बरार की कुल वसूली चार करोड़ है और केंद्र को वह 31 लाख रुपए देता है। इस वित्तीय पक्ष पर अभी तक ध्यान ही नहीं दिया गया है। परंतु ऐसा समय आ सकता है जब भारत में केंद्रीय सरकार के प्रबल समर्थक हिंदुओं के लिए भी वित्तीय मामले देशभक्तिपूर्ण भावनाओं पर भारी पड़ जाएं। यह भी संभव है कि किसी दिन सांप्रदायिक लिहाज से मुसलमान और वित्तीय लिहाज से हिंदू केंद्रीय सरकार को समाप्त करने के लिए हाथ मिला लें।

यदि ऐसा होना है तो नए संविधान की नींव रखे जाने से पहले ही हो जाना बेहतर होगा। यदि ऐसा उस नए संविधान की नींव पड़ने के बाद होता है जिसमें एक केंद्रीय सरकार के गठन की अवधारणा हो तो, यह बहुत भयानक होगा। इसके दुष्परिणामस्वरूप जहां भारत की एकता बनाए रखना असंभव होगा, वहीं हिंदू एकता की सुरक्षा भी असंभव हो जाएगी। जैसा कि मैंने इंगित किया है, हिंदू प्रांतों में भी परस्पर बहुत ज्यादा परिपुष्टता नही है, और जो थोड़ी–बहुत है, वह भी यदि नष्ट हो गई तो ऐसा कोई तत्व नही बचेगा जो हिंदू प्रांतों को भी एकजुट रख सके। अतएव इसी कारण भारतीयों को योजना बनाने और नींव रखने से पहले, जिसके लिए संवैधानिक ढांचा खड़ा किया जाना है, यह देखना होगा कि क्या यह ढांचा अस्थाई है अथवा स्थाई। एक बार जब अकेली नींव पर, जिस पर एक से दूसरे छोर तक शहतीरें बिछाई गई हों, पूरा ढांचा रुक गया और उसके बाद यदि उसका एक भी हिस्सा शेष से अलग किया गया तो वह कलकों को निकाल फेंकेगा और उससे सारा भवन ही डगमगा जाएगा और ढांचे के उन भागों में भी, जिन्हें समग्र रूप में एक रखा जाना परिकल्पित था, दरारें पड़ जाएंगी। और अगर उन्हें जोड़ने वाला सीमेंट भी घटिया स्तर का हो, तो दारारें पड़ने का खतरा उतना ही ज्यादा होगा। भारत के मामले में ऐसी ही स्थिति है। यदि समग्र भारत को एक मानकर नया ढांचा तैयार किया जाए, या उसके आधार पर ढांचा खड़ा किया जाए, और उसके बाद भारत पाकिस्तान की पृथकता के सवाल के तहत हिंदुओं को झुकना पड़े और उस अलगाव को प्रभावी करने के लिए उसमें बदलाव जरूरी हुआ तो उससे सारा ढांचा ही चरमराकर गिर सकता है। मुस्लिम बहुल प्रांतों की आकांक्षा बड़ी आसानी से हिंदू बहुल प्रांतों को भी प्रभावित कर सकती है और मुस्लिम प्रांतों द्वारा पैदा की गई अलगाववादी भावना से चारों ओर विघटन हो सकता है।

इतिहास में संविधान संबंधी विखंडन के खतरे उपस्थित होने के उदाहरण

कम नहीं हैं। अमरीकी संघ के दक्षिणी राज्यों का उदाहरण भी उपलब्ध है। नेटाल हमेशा इस बात के लिए उत्कंठित रहा है कि वह दक्षिण अफ्रीकी संघ से बाहर आ जाए और पश्चिम आस्ट्रेलिया ने हाल में ही आस्ट्रेलियन राष्ट्रकुल से अलग होने के लिए आवेदन किया था, हालांकि उसे सफलता नहीं मिली।

इन मामलों में वास्तविक विघटन नहीं हुआ, और जहां हुआ वहां शीघ्र ही उसका समाधान कर दिया गया। मगर भारतीय इतने भाग्यशाली होने की आशा नहीं कर सकते। उनका भविष्य तो चेकोस्लोवाकिया जैसा ही हो सकता है। पहली बात तो यह है कि यह आशा संजोना निरर्थक ही होगा कि यदि मुस्लिम प्रांतों द्वारा हिंदू प्रांतों से अलग होने के कारण भारतीय संविधान का विघटन हुआ, तो यह संभव हो सकेगा कि अलग होने वाले उन प्रांतों को फिर से साथ आने को मनाया जाए, जैसा कि अमरीका में गृहयुद्ध के बाद किया गया था। दूसरे, यदि नया भारतीय संविधान औपनिवेशिक संविधान बना और यदि नया संविधान बन जाने के बाद विघटन हुआ, तो ऐसे विघटन से स्वयं ब्रिटिश भी संविधान को नहीं बचा सकेंगे। अतएव यह अपरिहार्य लगता है कि नया संविधान बनाए जाने से पहले ही पाकिस्तान के बारे में निर्णय हो जाए।

पाकिस्तान यदि निश्चय ही एक ऐसी योजना है जिसे संविधान के आगामी संशोधन के अवसर पर हल करना होगा और यदि उसके बारे में निर्णय से बचने की कोई गुंजाइश नहीं है, तो मामले की समुचित समझ के बिना ही उस ओर बढ़ना एक भयानक भूल होगी। मुझे याद है कि संवैधानिक कानून संबंधी गोलमेज सम्मेलन में कुछ भारतीय प्रतिनिधियों की अनभिज्ञता के संबंध में ऑब्जर्वर के श्री गार्विन को यह टिप्पणी करनी पड़ी थी कि साइमन कमीशन भारत पर रिपोर्ट लिखने के बजाए यदि भारत की संवैधानिक समस्याओं के बारे में और विश्व के विभिन्न देशों के संविधानों के द्वारा इन समस्याओं के समाधान के बारे में रिपोर्ट देता, तो बेहतर होता। मुझे मालूम है कि उन प्रतिनिधियों के लिए, जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका का संविधान बनाया था, ऐसी रिपोर्ट तैयार की गई थी। यह उस कमी को दूर करने का प्रयास है और, जैसा कि मेरा विश्वास है, एक प्रासंगिक सामग्री के तौर पर इसका स्वागत होगा।

यह पुस्तक सामयिक है या नहीं, इस बारे में इतना ही कहना पर्याप्त होगा। जहां तक दूसरा सवाल है कि यह पुस्तक पठनीय है या नहीं, कोई भी लेखक अगस्टाइन बिरैल के इन शब्दों को नहीं भूल सकता:

> "रसोइयों, योद्धाओं और लेखकों के बारे में फैसला उनके कार्यों के परिणामों जैसे स्वादिष्ट भोजन, विजय, अच्छी पुस्तकों के आधार पर किया जाना चाहिए। यही हमारी मांगें हैं। हमें उनकी सामग्री, तरीकों

और उपायों से कोई सरोकार नहीं है। हम यह नही चाहते कि हमें रसोई, परिषद या अध्ययन–कक्ष में झांकने की अनुमति दी जाए। रसोइया अपने बरतन का चाहे जिस तरह उपयोग करे, योद्धा अपने जवानों को चाहे जैसे तैनात करे, लेखक अपनी सामग्री का चाहे जैसे प्रयोग करे और अपने प्रतिपाद्य विषय को चाहे जैसे अच्छे ढंग से प्रस्तुत करे, लेकिन भोजन के सामने आने पर हम यही सवाल करते हैं कि क्या यह स्वादिष्ट है? युद्ध लड़ा जाता है तो यही प्रश्न सामने आता है कि कौन विजयी हुआ और जब पुस्तक प्रकाशित होती है तो भी यही प्रश्न उठता है कि क्या यह पठनीय है?

लेखकों को यह याद दिलाने की जरूरत पड़ सकती है कि उनका पहला दायित्व यह है कि वे ऐसा लिखें जो सम्मत हो। कुछ बहुत नागवार लोग ऐसा करने में सफल रहे हैं, अतएव किसी के लिए भी निराश होने की जरूरत नहीं है। कोई भी लेखक भले ही वह गंभीर हो अथवा खुशमिज़ाज, उसे अपनी पुस्तक को यथासंभव रोचक बनाने के प्रयास करने चाहिए। पढ़ना कर्तव्य नहीं है और इसलिए उसे नापसंदीदा करार देने में भी कोई सार नहीं है। कोई भी किसी व्यक्ति की पुस्तक को पढ़ने के लिए बाध्य नहीं है।

मै इस बारे में पूर्णतः सजग हूँ। परंतु मैं इसे लेकर परेशान नहीं हूँ। यही बात दूसरी पुस्तकों पर भी लागू हो सकती है, परंतु पाकिस्तान के बारे में किसी पुस्तक के मामले में नहीं। प्रत्येक भारतीय को जो अपने देश को मार्ग पर आगे ले जाना चाहता है, पाकिस्तान पर पुस्तक पढ़नी चाहिए, और यदि यह नहीं तो कोई और पुस्तक पढ़े। यदि कोई पुस्तक पढ़ने में रोचक नहीं लगे, अर्थात् उसकी सामग्री रोचक नहीं हो, तो पाठकों को इसमें दो बातें तो मिलेंगी ही, जिनके अच्छा होने के बारे में मैं आश्वस्त हूँ।

पहली बात यह है कि सामग्री अच्छी होगी। पुस्तक में ऐसी सामग्री है कि जो पाठक के लिए सहायक होगी और उसकी पहुंच वहां सहज ही हो जाएगी, जिसके लिए उसे काफी कुछ परिश्रम करना पड़ता। वस्तुतः पाठक यह पाएगा कि पुस्तक में, पिछले बीस वर्षों के दौरान भारत का जो राजनीतिक और सामाजिक इतिहास रहा है, उसका सार उपलब्ध है, जिसका जानना प्रत्येक भारतीय के लिए आवश्यक है।

दूसरी बात यह कि वह यह भी अनुभव करेगा कि इसमें पक्षपात नहीं किया गया है। इसका उद्देश्य पाकिस्तान की योजना के सभी पक्षों को स्पष्ट करना है, उसकी वकालत करना नहीं। इसका लक्ष्य स्पष्ट करना है, विचार लादना नहीं।

परंतु यह कहना प्रवंचना ही होगा कि पाकिस्तान के बारे में मैंने कोई राय प्रकट नहीं की है। मैंने अपनी राय दी है। उनमें से कुछ बातों को अभिव्यक्त किया है, अन्य को एकत्र करना होगा। मगर दो बातें मेरे दृष्टिकोण के बारे में साफ तौर पर कही जा सकती हैं। पहली बात यह है कि जहां ये राय व्यक्त की गई है, वहां उनके बारे में तर्क भी दिए गए हैं। दूसरी यह है कि जो विचार हैं वे निश्चय ही प्रचलित पूर्वाग्रह से बंधे हुए नहीं हैं। वे वास्तव में विचार हैं, दृष्टिकोण नहीं है। दूसरे शब्दों में, मैं एक खुला दिमाग रखता हूँ, यद्यपि खाली नहीं। खुले सोचवाले व्यक्ति को सदैव सराहा जाता है। जबकि ऐसा हो सकता है, साथ ही यह भी चाहिए कि खुला दिमाग खाली दिमाग भी हो सकता है और ऐसा खुला दिमाग यदि सुखद स्थिति में है, तो किसी व्यक्ति के लिए नितांत घातक भी हो सकता है। खाली मस्तिष्क वाले व्यक्ति को महाविपदा आसानी से ग्रसित कर सकती है। ऐसा व्यक्ति तो एक ऐसे जहाज की तरह हैं, जिसमें नं तो मस्तूल होता है और न पतवार। वह दिशाहीन है। ऐसा जहाज सागर में तैर तो सकता है, परंतु दिशाहीनता के कारण किसी चट्टान से टकराकर टूट भी सकता है। पाठक यह अनुभव करेगा कि जहां मैने उसके सामने सभी महत्वपूर्ण और प्रासंगिक सामग्री उसकी सहायता के लिए प्रस्तुत की है, वहीं अपना दृष्टिकोण उस पर थोपने की चेष्टा नहीं की है। मैंने संबद्ध मामले के दोनों पक्षों को उसके सामने पेश कर दिया है, और यह बात उसी पर छोड़ दी है कि उसकी राय क्या है।

पाठकों को यह शिकायत हो सकती है कि संबद्ध तथ्यों को प्रस्तुत करने में मैं कुछ उत्तेजित रहा हूँ। मैं इस बारे में सचेत हूँ। मुझ पर ऐसा आरोप लगाया जा सकता है। इस आरोप को मै खुलकर और खुशी से स्वीकार करता हूँ और खेद भी व्यक्त करता हूँ। पर इस संदर्भ में मेरा स्पष्टीकरण यही है कि मेरा इरादा किसी को आघात पहुंचाने का नहीं रहा है। मेरा एक ही उद्देश्य है और वह यह कि जिस विषय पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है, उसकी ओर उदासीन और लापरवाह पाठक को भी ध्यान देने के लिए बाध्य करूं। पाठकों से मेरा यही अनुरोध है कि मेरे बारे में वे किसी भी क्षोभ को एक ओर रखकर अपने को इस महती मुद्दे पर केंद्रित करें और यह मुद्दा है – पाकिस्तान बने या न बने।

विषय-सूची

भाग - V

भाग : I

पाकिस्तान के लिए मुस्लिम पक्ष

पाकिस्तान के लिए मुस्लिम पक्ष को निम्नलिखित आधारों पर न्यायोचित ठहराया जाता है:

1. *मुसलमानों की मांग ऐसे प्रशासनिक क्षेत्रों की स्थापना है जो जातीय दृष्टिकोण से अधिक समान हों।*
2. *मुसलमान चाहते हैं कि जातीय दृष्टि से एकसमान ये प्रशासनिक क्षेत्र, जो मुस्लिम बहुल जनसंख्या वाले हैं, पृथक राज्यों के रूप में बनें :*

   अ. क्योंकि मुसलमान स्वयं एक पृथक राष्ट्र हैं और वे अपना एक राष्ट्रीय गृह चाहते हैं, और

   ब. क्योंकि अनुभव यह दर्शाता है कि हिंदू अपनी बहुसंख्या का उपयोग मुसलमानों से ऐसा व्यवहार करने के लिए करना चाहते हैं, जैसे वे एक विदेशी राज्य में द्वितीय श्रेणी के नागरिक हों।

यह भाग इन्हीं आधारों के स्पष्टीकरण के लिए समर्पित है।

अध्याय : 1

मुस्लिम लीग की मांगें क्या हैं?

I

26 मार्च, 1940 को हिंदू भारत एकाएक इतना अधिक ध्यानाकर्षण का केन्द्र बन गया जैसा, इससे पूर्व कभी नहीं हुआ था। उस दिन मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था :

1. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की परिषद तथा कार्यकारणी समिति द्वारा संवैधानिक मुद्दे पर 27 अगस्त, 17 और 18 सितंबर तथा 22 अक्तूबर 1939 और 3 फरवरी, 1940 को पारित प्रस्तावों का समर्थन करते हुए अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का यह अधिवेशन जोरदार शब्दों मे इस तथ्यों पर बल देता है कि भारत सरकार के 1935 के अधिनियम में निहित फेडरेशन की योजना इस देश की असाधारण परिस्थितियों में बिल्कुल अनुपयुक्त और असाध्य है और भारतीय मुसलमानों को पूर्णतया अस्वीकार्य है।

2. मुस्लिम लीग आगे अपना यह मत स्पष्ट करती है कि यद्यपि 18 अक्टूबर 1939 को वायसराय द्वारा महामहिम की सरकार की ओर से की गई घोषणा इस सीमा तक आश्वस्त करने वाली है कि उसमें यह घोषित किया गया है कि जिस नीति और योजना पर भारत सरकार का अधिनियम 1935 आधारित है, उस पर विभिन्न दलों के हितों और भारत के विभिन्न समुदायों के परामर्श से पुनर्विचार किया जाएगा, किंतु भारत के मुस्लिम तब तक संतुष्ट नहीं होंगे जब तक कि समग्र संवैधानिक योजना पर नए सिरे से पुनर्विचार न किया जाए और यह कि कोई भी संशोधित योजना मुसलमानों को तब तक स्वीकार्य नहीं होगी जब तक कि वह उनकी अनुमोदन और सहमति से न बनाई जाए।

3. यह निश्चय किया जाता है कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के

अधिवेशन का यह सुविचारित मत है कि कोई संवैधानिक योजना इस देश में तब तक कारगर नहीं होगी, अथवा मुसलमानों को स्वीकार्य नहीं होगी, जब तक कि उसे निम्नलिखित बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर नहीं बनाया जाएगा, अर्थात् वह भौगोलिक तौर पर सन्निहित ईकाइयों, में सीमांकित की जाए जो इस तरह गठित हों कि आवश्यकता पड़ने पर उनका पुनर्समायोजन किया जा सके; कि जनसंख्या की दृष्टि से मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्र जैसे भारत के उत्तर–पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र हैं, उन्हें स्वतंत्र राज्य के गठन हेतु वर्गीकृत किया जाए, जिससे संवैधानिक ईकाइयां स्वायत्त और प्रभुसत्तासम्पन्न हों।

4. इन इकाइयों और क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक,· प्रशासनिक अधिकारों और अन्य हितों की सुरक्षा के लिए संविधान में उनके परामर्श से पर्याप्त प्रभावी तथा अनिवार्य संरक्षणों का विशेष प्रावधान किया जाए तथा भारत के अन्य भागों में जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, उनके तथा अन्य अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक अधिकारों एवं अन्य हितों की सुरक्षा के लिए संविधान में उनके परामर्श से पर्याप्त प्रभावी तथा अनिवार्य संरक्षण का विशेष प्रावधान किया जाएगा।

5. यह अधिवेशन कार्यकारिणी समिति को पुनः प्राधिकृत करता है कि वह इन बुनियादी सिद्धांतों के अनुरूप संविधान की ऐसी योजना बनाए जिसमें विभिन्न क्षेत्रों जैसे रक्षा, विदेशी मामले, संचार, चुंगी और अन्य आवश्यक मामलों के संबंध में इन ईकाइयों को सभी अधिकार दिए जाने का समावेश हो।

इस प्रस्ताव में क्या परिकल्पित है? पैरा 3 से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्ताव में यह व्यवस्था है कि जो मुस्लिम बहुल क्षेत्र हैं, वे स्वतंत्र राज्यों में समाहित होंगे। ठोस शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि उत्तर–पश्चिम में पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत, बलूचिस्तान और सिंध तथा पूर्व में बंगाल ब्रिटिश भारत के प्रांत बने रहने के बजाए ब्रिटिश भारत से अलग स्वतंत्र राज्य बनेंगे। मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का यही निष्कर्ष और सार–संक्षेप है।

क्या इस प्रस्ताव में यह परिकल्पित है कि ये मुस्लिम प्रांत राज्यों में समाविष्ट किए जाने के बाद, इनमें से प्रत्येक एक स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न राज्य रहेगा अथवा ये एक संरचना के रूप में मिलकर एक राज्य बनेंगे और क्या उसका रूप संघीय

होगा या एकात्मक? इस मुद्दे पर यह प्रस्ताव अंतर्विरोधी भले ही न हो, अस्पष्ट तो है ही। इसमें क्षेत्रों को मिलाकर 'स्वतंत्र राज्य' बनाने की बात कही गई है, जिसमें 'संघटनात्मक इकाइयों' के स्वायत्त और सार्वभौम होने की बात भी है। 'इकाई' शब्द का प्रयोग यह संकेत देता है कि इसका तात्पर्य संघ से है। यदि ऐसा है तो 'सार्वभौम' शब्द का 'ईकाइयों' के रूप में प्रयोग निरर्थक है। ईकाइयों का संघ और ईकाइयों की प्रभुसत्ता परस्पर विरोधी हैं। यह हो सकता है कि जो कुछ परिकल्पित है, वह महासंघ या परिसंघ हो। मगर फिलहाल यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं है कि क्या ये स्वतंत्र राज्य संघ बनेंगे या महासंघ। महत्वपूर्ण बात तो यह बुनियादी मांग है कि ये क्षेत्र भारत से पृथक स्वतंत्र राज्य बनें।

प्रस्ताव की शब्दावली कुछ ऐसी है कि इसमें उल्लिखित योजना बिल्कुल नई मालूम पड़ती है। परंतु इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह प्रस्ताव उस योजना को पुनर्जीवित करने की मांग करता है जो सर मुहम्मद इकबाल ने दिसंबर 1930 में लखनऊ में आयोजित मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में पेश की थी। परन्तु तब लीग ने इसे स्वीकार नहीं किया था। मगर श्री रहमत अली एम.ए.एल.एल.बी. ने इसे उठाया, जिन्होंने इसे 'पाकिस्तान' का नाम दिया, और जिस नाम से यह जानी जाती है। श्री रहमत अली ने 1933 में पाकिस्तानी आंदोलन की नींव डाली। उन्होंने भारत को दो भागों, अर्थात् पाकिस्तान और हिंदुस्तान में विभाजित किया। उनके पाकिस्तान में पंजाब, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, कश्मीर, सिंध और बलूचिस्तान शामिल थे। उनकी राय में शेष भाग हिंदुस्तान था। उनका विचार था कि उत्तर में पांच मुस्लिम प्रांतों को मिलाकर एक 'स्वतंत्र और पृथक पाकिस्तान के रूप में स्वतंत्र राज्य* हो। यह सुझाव गोलमेज सम्मेलन के सदस्यों में वितरित किया गया था, परंतु आधिकारिक तौर पर यह कभी प्रस्तुत नहीं किया गया। यह निजी तौर पर ब्रिटिश सरकार की सहमति प्राप्त करने का प्रयास मालूम होता है। मगर ब्रिटिश सरकार ने इस पर विचार करने से मना कर दिया, क्योंकि उसकी राय में यह पुराने मुस्लिम साम्राज्य की ही थी।

लीग ने पाकिस्तान की अपनी मूल योजना का विस्तार मात्र ही किया है। उसने बंगाल और आसाम में मुसलमानों को शामिल करके पूर्व में एक और मुस्लिम राज्य की योजना बनाई है। शेष, इसका सार और सामान्य रूपरेखा वही है जो सर मुहम्मद इकबाल ने प्रस्तावित की थी और जिसका प्रचार रहमत अली ने किया था। पूर्व के इस नए मुस्लिम राज्य को कोई नाम नहीं दिया गया। इससे श्री रहमत अली की विचारधारा और सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं आया। कोई भी

---

*. हालिदे इदीब–इन्साइड इंडिया, पृ. 355

जिस जटिलता का अनुभव करता है वह यह है कि लीग ने इसे विस्तार देते हुए संक्षिप्त और कर्णप्रिय नामों वाले दो मुस्लिम राज्यों का नामकरण नहीं किया जैसा कि उससे आशा थी। उसने केवल पश्चिम में मुस्लिम राज्य और पूर्व में मुस्लिम राज्य के दो लंबे–चौड़े नाम दिए हैं। इस कठिनाई को हल करने के लिए पाकिस्तान नाम को सुरक्षित रखते हुए मेरा सुझाव यह है कि दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर आधारित इस विचारधारा और इसकी परिणत, अर्थात विभाजन की अभिव्यक्ति, के लिए उसे उत्तर –पश्चिम और उत्तर–पूर्वी पाकिस्तान कहा जाए।

इस योजना ने हिंदू भारत का ध्यान ही आकृष्ट नहीं किया, अपितु उसे आघात भी पहुंचाया है। अब यह पूछा जाना स्वाभाविक है इस योजना में नई और स्तंभित करने वाली बात कौन सी है?

II

क्या उत्तर–पश्चिम में प्रातों को मिलाने वाला विचार स्तंभित करने वाला है? यदि ऐसा तो यह स्मरण रखा जाए कि इन प्रांतों को मिलाना बहुत पुरानी परियोजना है, जिसे एक के बाद दूसरे वायसरायों, प्रशासकों और जनरलों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उत्तर–पश्चिम में (प्रस्तावित पाकिस्तान के प्रांतों में से) पजांब और उत्तर –पश्चिम सीमा प्रांत 1849 में अंग्रेजों द्वारा पंजाब पर विजय प्राप्त किये जाने के बाद से एक ही थे। ये दोनों 1901 तक एक ही प्रांत रहे। 1901 में लार्ड कर्जन ने इन्हें अलग कर दो प्रांत बनाए जो अब भी हैं। जहाँ तक पंजाब को सिंध से मिलाने का सवाल है, इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि सिंध विजय पंजाब से पहले होने के बजाय बाद में हुई होती, तो सिंध पंजाब में मिला दिया गय होता; क्योंकि ये दोनों प्रांत न केवल आपस में मिले हुए हैं बल्कि एक नदी से जुड़े हैं जिससे दोनों के बीच एक स्वाभाविक संबध स्थापित होता है। यद्यपि सिंध बंबई में मिलाया गया था, जो पंजाब के अलावा ऐसा एकमात्र अधार था, जिससे उसका शासन चलाया जा सकता था। सिंध को बंबई से अलग कर उसे पंजाब से मिलाने का विचार त्यागा नहीं गया था और उस दृष्टि से समय–समय पर योजनाएं पेश की जाती रहीं थीं। पहले यह योजना तब पेश की गई जब लार्ड डलहौजी गवर्नर जनरल थे, परन्तु वित्तीय कारणों से इसे कोर्ट ऑफ डॉयरेक्टर्स ने मजूर नहीं किया। विद्रोह के बाद इस सवाल पर पुनः विचार हुआ, परन्तु हिंदूकुश (इंडस) के साथ संचार की पिछड़ी दशा के कारण लार्ड केनिंग ने इसे मंजूरी देने से इंकार कर दिया। सन 1876 में लार्ड नॉर्थब्रुक ने राय दी कि सिंध को पंजाब से मिला दिया जाये। सन् 1877

में लार्ड लिटन ने , जो नार्थब्रुक के सीन पर आए थे, पंजाब के 6 सीमावर्ती जिलों और सिंध पार के जिलों को शामिल करके सिंध–पार एक प्रांत का गठन करना चाहा था। इसमें पंजाब के छह सीमावर्ती जिले, अर्थात् हजारा, पेशावर, कोहाट, बन्नू (सिस–सिंध नदी पट्टी को छोड़कर) डेरा इस्माइल खान (उसी छूट के साथ) डेरा गाजी खान और सिंध नदी पार का सिंध (कराची को छोड़कर) शामिल होते। लिटन का यह भी सुझाव था कि बंबई में पूरा मध्य प्रांत या उसका एक भाग शामिल किया जाना चाहिए ताकि सिंधु नदी के पार के सिंध की भरपाई को सके। ये प्रस्ताव सेक्रेटी ऑफ स्टेट के मंजूर नहीं किए। जब लार्ड लेंसडाउन वायरस थे (1888–94) तो यही परियोजना, अर्थात् सिंध को पंजाब में मिलाने का सुझाव, अपने मूल रूप में पुनर्जीत हुआ, परंतु बलूचिस्तान एजेंसी का गठन होने के कारण सिंध एक सीमांत जिला नहीं रहा और उस विचार ने जो अपने मकसद में सामरिक था, अपना दावा खो दिया और सिंध पंजाब में शामिल नहीं किया जा सका। यदि अंग्रेजों ने बलूचिस्तान अधिगृहीत नहीं किया होता और लार्ड कर्जन ने पंजाब से उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत को अलग करने का विचार नहीं बनाया होता तो बहुत पहले ही पाकिस्तान एक प्रशासनिक इकाई के रूप में सामने आ गया होता। जहां बंगाल में एक राष्ट्रीय मुस्लिम राज्य के निर्माण के दावे का मामला है, इसमें भी कोई नई बात नहीं है। अनेक लोगों को याद होगा कि 1905 में तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल और आसाम, को इन दो प्रांतो में विभाजित किया था–1. पूर्वी बंगाल और आसाम, जिसकी राजधानी ढाका थी, और 2. पश्चिमी बंगाल, जिसकी राजधानी कलकता थी। पूर्वी बंगाल और आसाम के नए प्रांत में आसाम शामिल था और बंगाल तथा आसाम के ये पुराने जिले शामिल थे – 1. ढाका 2. मैमन सिंह, 3. फरीदपुर, 4. बाकरगंज, 5. टिपरा, 6. नोआखली, 7. चिटगांव, 8. चिटगांव पहाड़ी क्षेत्र, 9. राजशाही, 10. दिनाजपुर, 11. जलपाईगुड़ी, 12. रंगपुर, 13. वोगस, 14. पटना और 15. मालदा। पश्चिम बंगाल मं पुराने बंगाल प्रांत के शेष जिले और आसाम के अन्य जिलों के अलावा मध्यप्रांत का संबलपुर जिला पश्चिम बंगाल को दिया गया था।

एक प्रांत का दो भागों में बंटवारा, जिसे भारतीय इतिहास में बंगाल का विभारन कहा जाता है, पूर्वी बंगाल में एक प्रकार से एक मुस्लिम राज्य के गठन का ही प्रयास था, क्योंकि पूर्वी बंगाल और आसाम का नया प्रांत असम के भागों को छोड़कर एक मुस्लिम बहुल राज्य ही था। किंतु हिंदुओं के प्रबल विरोध के कारण ब्रिटिश सरकार ने 1911 में यह विभाजन रद्द कर दिया, क्योंकि वह हिंदुओं के सामने झुक गयी और उसने मुसलमानों की इच्छा की परवाह नहीं की, क्योंकि वे अपनी आवाज उठाने के लिहाज से काफी कमजोर थे। यदि बंगाल

का विभाजन उस समय रद्द नहीं हुआ होता, तो पूर्वी बंगाल में मुस्लिम राज्य एक नई परियोजना नहीं होती, बल्कि वह 39 वर्ष पुराना राज्य हो गया होता।*

III

क्या हिंदुस्तान से पाकिस्तान के अलग हो जाने का विचार घातक है? यदि ऐसा है, तो मैं उन तथ्यों का स्मरण कराना चाहूंगा जो उन मुद्दों से संगति रखते हैं जो कांग्रेस की नीति के बुनियादी सिद्धांत के अनुरूप हैं। यह स्मरण करना होगा कि श्री गांधी ज्यों ही कांग्रेस पर काबिज हुए, उन्होंने इसे लोकप्रिय बनाने के लिए दो काम किए। इनमे से पहला था सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश।

भारतीय राजनीति में श्री गांधी के पदार्पण से पहले सत्ता प्राप्ति के लिए सक्रिय पक्ष थे : कांग्रेस, लिबरल्स (उदारवादी) और बंगाल के आतंकवादी (क्रांतिकारी)। कांग्रेस और लिबरल्स एक ही पार्टी थे और उनके बीच आज की तरह कोई अंतर नहीं था। अतएव हम निरापद रूप से कह सकते हैं कि भारत में मात्र दो दल थे – उदारवादी और आतंकवादी। इन दोनों दलों में प्रवेश की शर्त बड़ी कठोर थी। लिबरल (उदारवादी) पार्टी में प्रवेश की शर्त मात्र शिक्षा ही नहीं, अपितु उच्चस्तरीय ज्ञान भी थी। अध्ययन की दृष्टि से सुप्रतिष्ठित हुए बिना कोई भी लिबरल पार्टी की सदस्यता लेने की कल्पना नहीं कर सकता था। उस दल ने अशिक्षितों को राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने से प्रभावी ढंग से रोका था। आतंकवादियों ने, जहां तक भी सोचा जा सकता है, कठोरतम परीक्षा लेने का मार्ग निर्धारित किया था। केवल वहीं लोग, जो उद्देश्य के लिए अपना जीवन ही नहीं, प्राण भी समर्पित करने को तैयार होते थे, उनके संगठन के सदस्य बन सकते थे। अतएव कोई भी भीरू या पाखंडी आतंकवादी (क्रांतिकारी) संगठन में प्रवेश नहीं पा सकता था। सविनय अवज्ञा के लिए किसी ज्ञान या अध्ययन की जरूरत नहीं है। इसमें जीवन न्यौछावर करने का भी आह्वान नहीं है। यह उस विशाल बहुमत क लिए एक सरल मध्यम मार्ग है, जिसने कोई विद्वता हासिल नहीं की और जो यातना की पराकाष्ठा झेलने को भी तैयार नहीं, साथ ही देशभक्त होने का पाखंड भी कर सकता है। इस मध्यम मार्ग ने ही कांग्रेस को लिबरल पार्टी और आतंकवादी (क्रांतिकारी) पार्टी की तुलना में अधिक लोकप्रिय बनाया।

श्री गांधी ने जो दूसरी बात की, वह भाषाई राज्यों के सिद्धांत को लागू करना था। श्री गांधी की प्रेरणा और मार्गदर्शन में जो संविधान कांग्रेस ने बनाया, उसके अंतर्गत भारत को भाषायी आधार पर निम्नलिखित प्रांतों में विभाजित किया गया, जिनके मुख्यालय भी यहां उल्लिखित हैः

---

* भारत सरकार की गजट अधिसूचना क्रम–संख्या 2832, दिनांक 1 सितंबर, 1905. 16 अक्टूबर, 1905 से ये दो प्रांत पृथक प्रशासनिक ईकाइयां बन गए।

प्रांत	भाषा	मुख्यालय
अजमेर–मेरवाड़ा	हिंदुस्तानी	अजमेर
आंध्र	तेलुगु	मद्रास
आसाम	असमी	गोहाटी
बिहार	हिंदुस्तानी	पटना
बंगाल	बंगाली	कलकत्ता
बंबई (नगर)	मराठी–गुजराती	बंबई
दिल्ली	हिंदुस्तानी	दिल्ली
गुजरात	गुजराती	अहमदाबाद
कर्नाटक	कन्नड़	धारवाड़
केरल	मलयालम	कालीकट
महाकौशल	हिंदुस्तानी	जबलपुर
महाराष्ट्र	मराठी	पूना
नागपुर	मराठी	नागपुर
उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत	पुश्तो	पेशावर
पंजाब	पंजाबी	लाहौर
सिंध	सिंधी	कराची
तमिलनाडु	तमिल	मद्रास
संयुक्त प्रांत	हिंदुस्तानी	लखनऊ
उत्कल	उड़िया	कटक
विदर्भ (बरार)	मराठी	अकोला

इस वितरण में क्षेत्र, जनसंख्या अथवा राजस्व संबंधी पक्ष पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। प्रांतीयता के उद्देश्यों से क्षेत्रों के वितरण संबंधी इस योजना में इस विचार को दृष्टिगत नहीं रखा गया कि प्रत्येक प्रशासनिक इकाई सभ्य जीवन का न्यूनतम स्तर उपलब्ध कराने और जुटाने में समर्थ होनी चाहिए, जिसके लिए यह जरूरी है कि उसमें समुचित क्षेत्र व पर्याप्त जनसंख्या हो तथा अपेक्षित राजस्व की व्यवस्था हो। निर्णायक पक्ष भाषा ही था। इस संभावना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि ऐसा होने से भारतीय सामाजिक जीवन के पहले से ही ढीले–ढाले ढांचे में एक विघटनकारी तत्व समाविष्ट हो सकता है। निस्संदेह यह योजना लोगों की स्थानीय देशभक्ति को जगाकर उन्हें कांग्रेस के पक्ष में लाने के एकमात्र उद्देश्य से पेश की गई थी। भाषायी प्रांतों का विचार घर कर चुका है और क्रियान्वित करने की मांग इतनी प्रबल और अप्रतिरोधी हो चुकी है कि जब कांग्रेस सत्ता में आएगी तो उसे इस योजना को क्रियान्वित करने को बाध्य

होना पड़ेगा। उड़ीसा को बिहार से अलग किया जा चुका है।* आन्ध्र मद्रास से पृथक राज्य की मांग कर रहा है। कर्नाटक महाराष्ट्र से अलग होने की मांग कर रहा है। गुजरात ही एकमात्र ऐसा भाषायी प्रांत है जो महाराष्ट्र से पृथक होने की मांग नहीं कर रहा है। या फिर गुजरात ने फिलहाल पृथकता का विचार त्याग दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि गुजरात को यह अहसास हो गया है कि महाराष्ट्र से जुड़े रहना, राजनीतिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी एक बेहतर स्थिति है।

चाहे जो भी, यह तथ्य है कि भाषायी आधार पर पृथकता कांग्रेस के लिए अब एक मान्य सिद्धांत है। यह कहने का कोई, लाभ नहीं कि कर्नाटक और आंध्र प्रांत के बंटवारे की मांग भाषा के आधार पर की जा रही है और पाकिस्तान का पृथकतावादी दावा सांस्कृतिक भेदों पर आधारित है। इस अंतर के बिना एक वैशिष्ट्य और है। भाषायी अंतर सांस्कृतिक अंतर का ही दूसरा नाम है।

यदि कर्नाटक और आंध्र की पृथकतावादी मांग में कोई परेशानी की बात नहीं है, तो पाकिस्तान को पृथक कर देने की मांग में ही क्या परेशानी है? यदि वह प्रभाव के लिहाज से विघटनकारी भी है तो महाराष्ट्र से कर्नाटक अथवा मद्रास से आंध्र जैसे हिंदू प्रांतों की पृथकता से अधिक अनिष्टकारी नहीं है। पाकिस्तान जो उस सांस्कृतिक ईकाई का प्रादुर्भाव है जो अपने विशिष्ट सांस्कृतिक विकास के लिए स्वतंत्रता की मांग कर रहा है।

* ऐसा भारत सरकार के अधिनियम 1935 के अंतर्गत किया गया था।

† कर्नाटक भी मद्रास प्रेसीडेंसी के कुछ जिले चाहता है।

अध्याय : 2

एक राष्ट्र का अपने घर के लिए आह्वान

I

पृथकता की इन मांगों के पीछे कुछ ऐसे प्रमुख प्रशासनिक, भाषायी अथवा सांस्कृतिक तथ्य हैं, जो सभी को मान्य और स्वीकार्य हैं। इन मांगों के बारे में किसी को भी आपत्ति नहीं और हर कोई उन्हें मान लेने को तैयार है परन्तु हिन्दू कहते हैं कि मुसलमान पृथकता के मुद्दों से भी आगे जा रहे हैं और सवाल उठाते हैं कि वे यह मार्ग क्यों अपना रहे हैं, विभाजन क्यों मांग रहे हैं और सांझे बंधन को तोडने के लिए पाकिस्तान और हिंदुस्तान के कानूनी अलगाव अथवा विभाजन जैसी मांग क्यों कर रहे हैं?

इसका जवाब मुस्लिम लीग द्वारा अपने प्रस्ताव में की गई घोषणा में खोजना होगा, जिसमें कहा गया है कि मुसलमान एक पृथक राष्ट्र हैं। मुस्लिम लीग की इसी घोषणा का हिंदुओं ने प्रतिरोध किया है और इसे उपहासारपद बताया है।

हिन्दुओं का आक्रोश स्वाभाविक ही है। भारत एक राष्ट्र है या नहीं, यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होने के साथ ही एंग्लो–इंडिया (आंग्ल–भारतीयों) और हिंदू राजनीतिज्ञों के बीच विवाद का विषय रहा है। एंग्लो–इंडियन यह जताते हुए कभी नहीं अघाए कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, 'भारतीय' तो भारत के लोगों के लिए एक अन्य संज्ञा मात्र ही है। एक एंग्लो–इंडियन के शब्दों म भारत को जानने के लिए यह भूलना होगा कि भारत जैसी कोई चीज है। दूसरी ओर, हिंदू राजनीतिज्ञ और देशभक्त इस बात पर समान रूप से जोर देते रहे है कि भारत एक राष्ट्र है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि एंग्लो–इंडियन के कथन में सार्थकता है। यहां तक कि बंगाल के राष्ट्रीय कवि डॉक्टर टैगोर भी उनसे सहमत हैं। परंतु इस मुददे पर हिंदू कभी डॉ. टैगोर के समक्ष भी नहीं झुके। इसके–दो कारण हैं। प्रथमतः–हिंदू यह स्वीकार करने में लज्जा महसूस करते हैं कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। ऐसे विश्व में, जिसमें लोगों में राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद विशेष वरदान के रूप में मान्य हैं हिंदुओं के लिए यह महसूस

करना स्वाभाविक है, जिसे एस.जी. वेल्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारत के लिए राष्ट्रीयता के बिना होना उतना ही अनुचित होगा जितना कि किसी आदमी का भीड़ में निर्वस्त्र होना। दूसरे यह कि उन्होंने यह महसूस किया था कि राष्ट्रीयता का स्वराज्य के दावे से गहन संबंध है। वह जानते थे कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह एक मान्य सिद्धांत हो गया था कि जो लोग एक राष्ट्र के रूप में रहते हैं, वे स्वशासन के अधिकारी हैं और यदि कोई भी देशभक्त जो अपनी जनता के लिए स्वशासन की मांग करता है, उसे यह सिद्ध करना होगा कि वह जनता एक राष्ट्र है। इन कारणों से हिंदू ने यह जांचना कभी नहीं छोड़ा कि क्या भारत वास्तव में एक राष्ट्र रहा है या नही। उसने इस बारे में कभी विचार किया कि क्या राष्ट्रीयता महज लोगों को राष्ट्र कह देने का सवाल अथवा वास्तव में राष्ट्र होने का सवाल भी है। वह एक बात जानता है कि यदि उसे भारत के लिए स्वशासन की अपनी मांग से सफलता पानी है, तो उसे इस बात पर कायम रहना होगा कि भारत एक राष्ट्र है, भले ही वह इसे सिद्ध न कर सके।

उसके इस दावे का किसी भारतीय ने कभी खंडन नहीं किया। यह दावा इतना ग्राह्य रहा कि भारतीय इतिहास के गंभीर अध्येता भी उसके समर्थन में प्रचारात्मक साहित्य की रचना करते रहे, निस्संदेह देशभक्ति की भावना से हिंदू समाज–सुधारक जो यह जानते थे कि यह एक घातक विभ्रम है, खुलकर इस दावे का खंडन नहीं कर सके, क्योंकि जो कोई भी इस पर सवाल करता, उसे तत्काल ब्रिटिश नौकरशाही के पिट्ठू और देश के शत्रु की संज्ञा दी जाती थी। हिंदू राजनीतिज्ञ एक लंबे अरसे तक अपने दृष्टिकोण का प्रचार करता रहा। उसके विरोधी एंग्लो–इंडियनों ने उसका जवाव देना बंद कर दिया। उसका प्रचार प्रायः सफल हो रहा था। जब यह सफलता के सन्निकट था, तभी मुस्लिम लीग की यह घोषणा सामने आई जिसने इसमें व्यवधान डाला। यह स्वर क्योंकि एंग्लो–इंडियनों की ओर से नहीं गूंजा, अतएव एक भीषण प्रहार है। हिंदू राजनीतिज्ञों ने वर्षों में जो काम किया था, यह उसे ही तबाह करता है। यदि भारत में मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं, तो भारत निश्चय ही एक राष्ट्र नहीं है। यह कल्पना हिंदू राजनीतिज्ञों के पैरों तले की जमीन ही खिसका देती है। यह स्वाभाविक ही है कि वे क्षोभ का अनुभव करे और इसे पीठ में छुरा घोंपे जाने की संज्ञा दें।

छुरा घोंपा गया हो या नहीं, मुद्दा तो यह है कि क्या यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों का कोई राष्ट्र है? अन्य बातों का इस मुद्दे से कोई संबंध नहीं है। इससे सवाल उठता है राष्ट्र क्या है? इस विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जो जिज्ञासु हैं, वे उसे पढ़ सकते हैं और विभिन्न बुनियादी अवधारणाओं तथा विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर सकते हैं। मगर यह जानना पर्याप्त होगा कि

विषय का सार–तत्व क्या है और इसे कुछ शब्दों में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। राष्ट्रीयता एक सामाजिक सोच है। यह एकत्व की एक समन्वित भावना की अनुभूति है, जो उन लोगों में जो इससे अभिभूत हैं परस्परता की भावना और उनमें यह अनुभूति जगाती है कि वे एक ही तरुवर के फूल हैं। यह राष्ट्रीय अनुभूति एक दुधारी अनुभूति है। यह जहां अपने प्रियजनों के प्रति अपनत्व की अनुभूति है, वहीं जो एक व्यक्ति के अपने प्रियजन नहीं हैं, उनके प्रति अपनत्व–विरोधी अनुभूति भी है। यह एक प्रकार के बोध की अनुभूति है, जो एक ओर जिनमें यह है, उन्हें एकता के इतने मजबूत सूत्र में बांधती है कि आर्थिक विभिन्नताओं अथवा सामाजिक वर्गीकरण से उद्‌भूत सभी मतभेदों पर विजय पा जाती है। दूसरी ओर, उन्हें यह उन लोगों से अलग भी करती है जो उनके जैसे नहीं हैं। यह किसी अन्य समूह से संबद्ध नहीं होने का भावबोध भी जगाती है। यही राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय भावना का सार–तत्व है।

अब इस कसौटी पर मुस्लिम दावे को कसिए। क्या यह तथ्य है या नहीं कि भारत का मुसलमान एक विशिष्ट समुदाय है? क्या यह हकीकत है या नहीं कि उनमें एक प्रकार की संचेतना है? क्या यह वास्तविकता है या नहीं कि हर मुसलमान यह सोच रखता है कि वह अपने स्वयं के समुदाय से संबद्ध है, किसी गैरमुस्लिम समुदाय से नहीं?

यदि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक है, तब तो विवाद समाप्त ही हो जाना चाहिए और मुसलमानों का यह दावा बिना किसी संकोच के मान लिया जाना चाहिए।

हिन्दुओं को यह दर्शाना चाहिए कि कुछ मतभेदो के बावजूद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पर्याप्त समानताएं हैं, जिससे वे एक राष्ट्र की रचना कर सकते हैं। अथवा सरल भाषा में, मुसलमानों और हिंदुओं की उस एकजुटता को यह दर्शाती है, जो बहुत समय से चली आ रही है।

जो हिंदू इस दृष्टिकोण से असहमत हैं कि मुसलमान अपने आपको एक पृथक राष्ट्र मानते हैं, वे भारतीय सामाजिक जीवन की कतिपय विशिष्टताओं पर निर्भर करते हैं, जो मुस्लिम और हिदू समाज को एकता के सूत्र में बांधती हुई लगती है।

पहली बात जो कही जाती है, वह यह है कि हिंदुओं और मुसलमानों में जाति का कोई अंतर नहीं है; कि पंजाबी मुसलमान और पंजाबी हिंदू, बिहारी मुसलमान और बिहारी हिंदू, बंगाली मुसलमान और बंगाली हिन्दू, मद्रास का मुसलमान और वहां का हिंदू, बंबई का मुसलमान और बंबई का हिंदू जातीय तौर पर एक ही समूह के हैं। वस्तुतः मद्रास के मुसलमान और मद्रास के ब्राह्मण

में–मद्रासी ब्राह्मण आर पंजाबी ब्राह्पण की अपेक्षा कहीं अधिक सजातीयता पाई जाती है। दूसरी बात यह है कि हिंदुओ और मुसलमानों के बीच भाषायी एकता पर जोर दिया जाता है। यह कहा जाता है कि मुसलमानों की अपनी कोई समान भाषा नहीं है जो उन्हें हिंदुओं से पृथक एक अलग भाषायी समूह के तौर पर चिन्हित कर सके। इसके विपरीत, दोनों के बीच पूर्ण भाषायी ऐकता है। पंजाब में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पंजाबी बोलते हैं। सिंध में दोनों सिंधी बोलते हैं। बंगाल में दोनों बंगाली बोलते हैं। गुजरात में दोनों–गुजराती बोलते हैं। महाराष्ट्र में दोनों मराठी बोलते हैं। ऐसा ही हर प्रांत में है। केवल नगरों में ही मुसलमान उर्दू बोलते हैं, जबकि हिंदू प्रांतीय भाषा का प्रयोग करते हैं। परंतु बाहर, विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पूर्ण भाषायी सादृश्य है। तीसरी बात यह कही जाती है कि भारत वह भूमि है जिसमें हिंदू और मुसलमान सदियों से साथ–साथ रहते रहे हैं। यह मात्र जातीय एकता की ही नहीं अपितु दोनों समुदायों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की कतिपय और सांझी विशेषताओं की बात भी की जाती है। यह भी कहा जाता है कि अनेक मुस्लिम वर्गों का सामाजिक जीवन हिंदू रीति–रिवाजों से परिपूरित है। उदाहरण के लिए,पंजाब के अवास'। हालांकि ये लगभग सभी मुस्लमान हैं, लेकिन अपने हिंदू नाम कायम रखे हुए हैं और अपनी वंशावलियां, ब्राह्मण विधि से ही रखते हैं। मुसलमानों में भी हिंदू उपनाम पाए जाते हैं। उदाहरणत : चौधरी' एक हिदु उपनाम है, परंतु संयुक्त प्रांत और उत्तरी भारत के मुसलमानों में भी यह सामान्य उपनाम है। विवाह के मामले में भी कुछ मुस्लिम समुदाय तो नाममात्र के ही मुसलमान हैं। वे विवाह–समारोह में या तो हिंदू–विधि का पालन करते हैं अथवा पहले हिंदू रीति–रिवाज के अनुसार विवाह संपन्न करते हैं और फिर काजी को बुलाकर मुस्लिम विधि से संपन्न कराते हैं। मुसलमानों के कतिपय वर्गों में विवाह, संरक्षकता और उत्तराधिकारिता के मामलों के कतिपय वर्गों में विवाह, संरक्षकता और उत्तराधिकारिता के मामलों में हिंदू कानून ही लागू होता है। शरीयत अधिनियम पारित होने से पहले पंजाब और उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत में इसका चलन था। सामाजिक क्षेत्र मे हिदू समाज की भांति ही मुस्लिम समाज में भी जाति–प्रथा पाई जाती हैं। धार्मिक क्षेत्र में यह पता चलता है कि अनेक मुसलमान पीरों के हिंदू शिष्य रहे हैं और उसी तरह से हिंदू योगियों के अनेक मुस्लिम शिष्य हैं। दोनों मतों के संतो के बीच मैत्री के उदाहरणों को भी आधार बनाया जाता है। पंजाब के गिरोट में दो तपस्वियों, जमाली सुल्तान और दियाल भवन, की कब्रें साथ –साथ हैं, जो उन्नीसवी सदी के प्रारंभ में अत्यंत घनिष्टता से रहते थे और हिंदु व मुसलमान समान रूप से वहां नतमस्तक होते है। सन् 1700 के करीब बाबा फत्थू एक मुस्लिम संत थे जिनकी मजार कांगड़ा जिले में रानीताल में उन्हें एक हिंदू संत सोढी गुरु गुलाब सिंह से नबी की उपाधि मिली थी।

दूसरी ओर, एक हिंदू संत बाबा शाहाना का मत झंग जिले में माना जाता है कहा जाता है कि वह एक मुस्लिम पीर के चेले थे, जिसने अपने हिंदू अनुयायी का मूल का मूल नाम (मिहर) बदलकर मीर शाह कर दिया था।

ये सब बाते निस्संदेह सच है। इस बारे में तो कोई प्रश्नचिन्ह ही नही लगाया जा सकता कि मुसलमानो की विशाल जनसंख्या उसी वंश की है, जिसके हिंदू हैं और यह भी कि सभी मुसलमान एक ही भाषा नहीं बोलते । उनमें से अनेक वही भाषा बोलते हैं जो हिदुओं द्वारा बोली जाती है, इस वास्तविकता से भी इंकार नहीं किया जा सकता। इस बात का भी खंडन नहीं किया जा सकता कि कतिपय सामाजिक रीति–रिवाज दोनों में ही समान है। कुछ धार्मिक परिपाटियां और पद्धतियां दोनों में समान हैं, यह भी एक वास्तविकता है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या इंस सबसे इस निष्कर्ष को समर्थन मिलता है कि हिंदू और मुसलमान मिलकर एक राष्ट्र हैं और इन बातों ने उनमें यह अनुभूति जगाई है कि वे एक दूसरे के पूरक हैं।

हिंदू तर्क में अनेक खामियां है। पहली तो यह है कि जिन बातों को समान वैशिष्ट्य के रूप में पेश किया जाता है, वे सामाजिक संश्लेशण–लाने हेतु एक दूसरे के तौर –तरीकों को अपनाने या उनका अनुगमन करने के किसी सजग प्रयास का परिणाम नहीं हैं। दूसरी ओर यह एकरूपता कतिपय विशुद्ध नैसर्गिक कारणों क परिणाम है। अधूरा धर्मांतरण भी ऐसा होने का एक कारण है। भारत जैसे देश में जहां अधिकांश मुस्लिमकरण न तो पूर्ण था और न ही प्रभावी। ऐसा होने का कारण विद्रोह का भय अथवा मनाने के तरीकों अथवा उपदेशों की अपर्याप्तता के कारण प्रचारकों की कमी भी था। अतएव यदि मुस्लिम समुदाय के अनेक वर्ग अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन में अपने हिंदू मूल को उद्घाटित करते हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आंशिक तौर पर इसका एक कारण समान परिवेश को भी माना जा सकता है, जिसमें हिंदू और मुसलमान सदियों से रहते आए हैं। समान माहौल से समान प्रतिक्रिया व्यक्त करते जाने से समान ढंग भी पनपता है। इन समान विशेषताओं का आशिक कारण यह भी माना जा सकता है कि सम्राट अकबर ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जिस धार्मिक सामंजस्य का सूत्रपात किया था, ये उसी कालखंड के अवशिष्ट हैं। वे ऐसे अतीत का परिणाम हैं। जिसका न वर्तमान है और न भविष्य।

जहां तक जाति की एकता, भाषा की एकता और एक ही देश में रहने के मामले पर आधारित तर्क की बात है, तो यह मामला अलग ही है। यदि ये कारण राष्ट्र के बनाने या बिगाड़ने में निर्मायक हों तो हिंदुओं का यह कहना सही होगा

कि जाति, भाषा, समुदाय और निवास के कारण हिंदू और मुसलमान एक ही राष्ट्र के घटक हैं। जहां तक ऐतिहासिक अनुभव का सवाल है, जाति, भाषा अथवा देश – इनमें से कोई भी लोगों को एक राष्ट्र का रूप नहीं दे पाता। इस तर्क को रेनन ने इतने सुसंगत ढंग से रखा है कि उनकी भाषा में किसी प्रकार का परिमार्जन करना असंभव है। बहुत पहले, राष्ट्रीयता के बारे में अपने सुप्रसिद्ध निबंध में रेनन ने टिप्पणी की थी –

> "जाति को राष्ट्र के रूप में नहीं मान लिया जाना चाहिए। सच्चाई यह है कि कोई भी शुद्ध जाति नहीं है और राजनीति को मानवजातीय विश्लेषण पर निर्भर बनाना एक असंगत कल्पना मात्र हैं। जातीय तथ्य जो कि प्रारंभ में महत्वपूर्ण होते हैं, उनमें अपना महत्व खोये जाने की एक सतत प्रवृत्ति होती है। मानव इतिहास अनिवार्यतः ही प्राणी विज्ञान नहीं है। जाति ही सब कुछ नहीं है, जैसा कि चूहे और बिल्ली के मामलों में होता है।"

भाषा के बारे में रेनन कहते हैं –

> "भाषा पुनर्मिलन को आमंत्रण देती है, किंतु यह उनके लिए बाध्य नहीं करती। यूनाइटेड स्टेट्स और इंगलैंड, स्पेनिश अमरीका और स्पेन एक ही भाषा बोलते हैं, किंतु वे मिलकर एक राष्ट्र नहीं हैं। इसके विपरीत, स्विटजरलैंड की स्थिरता का आधार वह तथ्य है कि उसकी स्थापना उसके विभिन्न भागों की सहमति से हुई थी, जिनमें तीन या चार भाषाएं बोली जाती हैं। मनुष्य में भाषा से भी ऊपर एक और चीज है– इच्छा। भाषाओं की विविधता के बावजूद, स्विटजरलैंड की संगठित होने की 'इच्छा' भाषायी साम्य की अपेक्षा, जो प्रायः दमन से बनता है, कहीं अधिक महत्वपूर्ण ।

जहां तक समान देश को बात है, रेनन का तर्क यह है –

> "भूमि राष्ट्र–निर्माण के मामले में जाति से ऊपर नहीं है। भूमि, रणभूमि और कार्य के लिए आधारस्थल उपलब्ध कराती है; व्यक्ति आत्मा प्रदान करता है, जिसके कारण उस पवित्र वस्तु के सृजन में मानव ही सब कुछ है, जिसे जनता कहा जाता है। उसके लिए कोई भी भौतिक स्वरूप यथेष्ट नहीं हैं।"

यह दर्शाने के बाद कि जाति, भाषा और देश ही राष्ट्र–निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है, रेनन ठोस ढंग से सवाल करते हैं – तो फिर राष्ट्र–निर्माण के लिए और क्या आवश्यक है? उनके उत्तर को उनके ही शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है:

"राष्ट्र एक सजीव आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धांत है। दो चीजें, जो एक ही हैं, इस आत्मा, इस आध्यात्मिक सिद्धांत का सृजन करती हैं। एक अतीत से जुड़ी है और दूसरी वर्तमान से। एक है स्मृतियों की समृद्धि विरासत का समान अधिकार, दूसरी है वास्तविक सहमति, एक साथ रहने की आकांक्षा, जो अविभाज्य विरासत सौंपी गई है, उसको निष्ठा सहित कायम रखने की इच्छा। मनुष्य अचानक नहीं आता। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र भी प्रयासों के एक सुदीर्घ अतीत का प्रतिफल हैं। इसीलिए पितृ–पूजन भी सर्वथा वैध है। हम आज जो कुछ हैं, उसमें हमारे पूर्वजों का ही योगदान है। एक शौर्यपूर्ण अतीत, महापुरूष गौरव – मेरा तात्पर्य सही ढंग के गौरव से है – ये ही उस सामाजिक पूँजी का सृजन करते हैं जिस पर राष्ट्रीयता का विचार सृजित हो सकता है। अतीत का समान गौरव, वर्ममान मे समान आकांक्षा, साथ–साथ मिलकर किए गए महान कार्य, वैसे ही कार्यों को पुनः करने की इच्छा–ये सभी किसी व्यक्ति को राष्ट्र भाव से प्रेरित करने वाली अनिवार्य स्थितियां हैं। हम जितने अधिक कष्ट सहन कर त्याग करते हैं, उसी अनुपात में उनके प्रति हमारी आसक्ति होती है। हम जो मकान बनाते हैं, और जिसे हमें अपने वंशधरों को सौंपना है, उससे हम प्यार करते हैं। स्पार्टन श्लोक 'हम वहीं हैं जो आप थे, हम वहीं बनेंगे जो आप हैं', यही सरल शब्दों में हर देश का राष्ट्रगान है।

"अतीत की कीर्ति और संतापों में हम सहभागी हैं, भविष्य में भी इच्छित आदर्श की प्राप्ति की जानी है, हमने साथ–साथ पीड़ा भोगी है, साथ ही आह्लादित हुए हैं और हमारी आशाएं भी समान हैं। ये सभी बातें कई अन्य समान तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं और अनुकूल विचारों के अनुरूप ही इनका परिवेश है। जाति और भाषा की विभिन्नताओं के बावजूद इन सबका महत्व समझा जा सकता है। मैंने अभी–अभी कहा है कि साथ–साथ पीड़ा भोगी है, वास्तव में ही साथ–साथ पीड़ा भोगना आह्लाद की तुलना में एकता का अधिक मजबूत बंधन है। जहां तक राष्ट्रीय स्मृतियों का संबंध है, विजयों की अपेक्षा शोक के अवसरों का महत्व अधिक है, क्योंकि वे हम पर दायित्व डालते हैं, वे सांझा प्रयासों की मांग करते हैं।"

क्या ऐसे कोई सामूहिक ऐतिहासिक पूर्व–दृष्टांत हैं, जिनके बारे में यह कहा जा सके कि हिन्दू और मुस्लिम गर्व अथवा दुख के विषयों में सहभागी बनते हैं? यही इस प्रश्न का सार है। यदि हिंदू यह चाहते हैं कि हिंदू और मुसलमान

मिलकर एक राष्ट्र का गठन करें तो इस प्रश्न का उत्तर हिंदुओं को देना ही होगा। जहां तक उनके संबंधों का मामला है, तो वे एक दूसरे के खिलाफ संघर्ष–रत सशस्त्र बटालियनों जैसे रहे हैं। सामूहिक उपलब्धि के लिए योगदान का कोई भी सामूहिक चक्र नहीं चला। उनका अतीत तो पारस्परिक विनाश का अतीत है– पारस्परिक शत्रुता का अतीत, राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में जैसा कि भाई परमानंद ने 'हिंदू राष्ट्रीय आंदोलन' शीर्षक वाले अपने पत्रक में इंगित किया है – "इतिहास में हिंदू लोग पृथ्वीराज, प्रताप, शिवाजी और वीर वैरागी का आदर सहित स्मरण करते हैं, जो इस भूमि के सम्मान और स्वतंत्रता के लिए मुसलमानों के विरूद्ध लड़े थे, जबकि मुसलमान भारत पर हमला करने वाले मुहम्मद बिन कासिम और औरंगजेब सरीखे शासकों को अपना राष्ट्र–पुरुष स्वीकार करते हैं।" धार्मिक क्षेत्र में हिंदू रामायण, महाभारत और गीता से प्रेरणा लेते हैं, तो दूसरी ओर मुसलमान कुरान और हदीस से प्रेरणा लेते हैं। इस तरह, जोडने वाले तत्वों की तुलना में अलग करने वाली बातें अधिक हावी हैं। हिंदू और मुस्लिम सामाजिक जीवन में समान भाषा समान जाति और समान देश जैसे कतिपय सांझा अभिलक्षणों पर भरोसा करके, तथा जो कुछ संयोगजनित और दिखावटी है उसे अनिवार्य और मौलिक मानकर, हिंदू भूल कर रहे हैं। राजनीतिक और धार्मिक प्रतिद्वंद्विता उन तथाकथित सामूहिक बधनों की अपेक्षा अधिक गहन है जो उन्हें एक सूत्र में बांध सकते हैं। यह संभावना उस स्थिति में संभवतः भिन्न हो सकती है जब दोनों ही समुदाय इस अतीत को विस्मृत कर दें। रेनन विस्मृत कर देने की प्रवृत्ति को राष्ट्र के निर्माण में अधिक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। उनका कथन है:

> "बिस्मरणीयता, और मैं तो यह भी चाहूंगा कि ऐतिहासिक भूल, राष्ट्र के निर्माण में एक अनिवार्य घटक है और यह इसलिए कि ऐतिहासिक अध्ययनों की प्रगति राष्ट्रीयता के लिए अक्सर खतरनाक भी हो सकती है। ऐतिहासिक अनुसंधान, वस्तुतः हिंसा के उन कृत्यों को पुनः उजागर करता है जो सभी राजनैतिक रचनाओं के अवसर पर होते हैं, ऐसे मामलों में भी जिनकी परिणतियां अत्यंत लाभदायक हो सकती थी। क्रूरता से एकता कभी स्थापित नहीं हो पाती। उत्तरी और दक्षिणी फ्रांस का संघ विध्वंस और आतंक के एक दौर का परिणाम था। यह दौर लगभग एक सौ वर्ष तक चला। फ्रांस नरेश, जिसके बारें में कहा जा सकता है कि वह धर्मनिरपेक्ष आदर्श का स्रष्टा था फ्रांस नरेश जिसने पूर्ण राष्ट्रीय एकता को स्थापित किया था, उस समय अपनी गरिमा खोता हुआ लगा जब उसे उत्यंत निकटता से देखा गया। उसने जिस राष्ट्र का गठन किया था, वही उसके लिए अभिशाप बन गया और

जो कुछ किया, उसका ज्ञान आज केवल संस्कृत जन को ही है।

"तुलना करने से ही पश्चिमी यूरोपीय इतिहास के ये महान कानून स्पष्ट हो पाते हैं। फ्रांस नरेश ने अंशतः अपने न्याय से जो प्रशंसनीय उपलब्धियां अर्जित कीं, वे अनेक देशों के लिए विनाशक सिद्ध हुईं। सेंट स्टीफन के ताज के तहत, मगयार और स्लाव उतने ही पृथक रहे जितने कि आठ सौ वर्ष पूर्व थे। अपने प्रभुत्व-काल के तहत विभिन्न तत्वों को एकजुट करने की अपेक्षा हाप्सवर्ग गृह ने उन्हें परस्पर अलग और एक दूसरे के प्रायः विरुद्ध ही रखा। बोहमिया में 'चैक' तत्व एक ही गिलास में तेल और पानी मिलाने की तरह थोप दिए गए। धर्म के आधार पर राष्ट्रों की पृथकता संबंधी तुर्की-नीति के परिणाम तो और भी अधिक गंभीर थे। उससे पूरब का विनाश हुआ। सालोनिका अथवा स्मीइरना जैसे नगरों को ही लें। आप पाएंगे कि पांच-छह समुदायों में से प्रत्येक की अंपनी ही स्मृतियां हैं और उनमें शायद ही कोई वात सांझा हो। परंतु राष्ट्र का सार-तत्व तो यह है कि उसके सभी सदस्यों में कई समानताएं हों और यह भी कि वे सभी अनेक बातों को विस्मृत कर चुके हों। कोई भी फ्रांसिसी नागरिक यह नहीं जानता कि वह बर्गांडियन है, एलना है अथवा विसिगोवा है। हर फ्रांसिसी नागरिक को सेंट बर्थोलोमेव और तेरहवीं शताब्दी में दक्षिण में हुए नरसंहारों को भूल जाना चाहिए। फ्रांस में ऐसे दस परिवार भी नहीं हैं जो फ्रांसिसी मूल का प्रमाण पेश कर सकें, और यदि ऐसे प्रमाण दिए भी जाएं तो निश्चित रूप से दोषपूर्ण होंगे, क्योंकि हजारों ऐसी अज्ञात विषमताएं होंगी जो समग्र आनुवंशिक प्रणाली को ही असफल बनाने में सक्षम हैं।"

खेद का विषय यह है कि दोनों समुदाय अपने अतीत को सर्वथा भूल नहीं सकते अथवा उसका उन्मूलन भी नहीं स्वीकार कर सकते। उनका अतीत उनके धर्म में समाहित है और उनमें से प्रत्येक का अपने अतीत को विस्मृत करना धर्म को त्यागना है। इसलिए ऐसा होने की आशा संजोना भी मात्र कपोल-कल्पना है।

सामूहिक ऐतिहासिक घटनाक्रमों के अभाव में यह हिंदू दृष्टिकोण कि हिंदू और मुसलमान एक राष्ट्र हैं, धूल-धूसरित हो जाता है। उसे कायम रखना मतिभ्रम बनाए रखना है। हिंदुओ और मुसलमानों के बीच एकता की ऐसी कोई उत्कट लालसा नहीं है, जैसी कि भारत के मुसलमानों के बीच है।

यह कहना निरर्थक है कि मुसलमानों का एक राष्ट्र होने का दावा उनके

नेताओं की परवर्ती सोच का परिणाम है। आरोप के तौर पर तो यह सच है। मुसलमान अब तक अपने आपको एक समुदाय कहने में ही पूर्ण संतुष्ट रहते थे। यह तो हाल में ही हुआ है कि उन्होंने अपने आपको एक राष्ट्र के रूप में पेश करना शुरू कर दिया है। परंतु किसी व्यक्ति के इरादों पर चोट करने से ही उसके सिद्धांत का खंडन नहीं हो जाता। यह कहना कि मुसलमान खुद को कभी समुदाय कहते थे, अतएव उन्हें अब स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में संबोधित किए जाने से रोका जा सकता है, राष्ट्रीय अनुभूति के रहस्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक कार्यकरण के बारे में गलतफहमी पालना है। ऐसी दलील का आधार यह पूर्वानुमान है कि जहां कहीं भी ऐसे लोग रहते हैं जिनमें एक राष्ट्र का गठन करने वाले तत्व मौजूद हैं, उनमें राष्ट्रीयता की वह भावना अभिव्यक्त होनी ही चाहिए जो एक स्वाभाविक परिणति है, और यदि कुछ समय के लिए वे उसे अभिव्यक्त करने में असफल रहें, और बाद में एक राष्ट्र होने का दावा करें, तो वह सारहीन है। परन्तु इस तरह की धारणा के लिए कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जैसा कि प्रो० टोयेन्बी ने भी कहा है:

> "राष्ट्रीयता के अस्तित्व के लिए एक अथवा ऐसे अनेक मदों की मौजूदगी को एक ठोस दलील के तौर पर पेश करना असंभव तर्क देने के समान है। हो सकता है कि वे युगों से रहे हों और कोई प्रतिक्रिया नहीं हो पाई हो। किंतु एक मामले का दूसरे में बतौर तर्क इस्तेमाल करना असंभव है। क्योंकि मदो का वही समूह यहां राष्ट्रीयता का नियामक भी बन सकता है, जो वहां निष्प्रभावी रहा हो।"

ऐसा सम्भवतः इस तथ्य के कारण है जिसकी ओर प्रो. बार्कर ने इशारा किया है। उनका कहना है कि यह संभव है कि राष्ट्र शताब्दियों से अस्तित्व में रहते हुए भी एक अदृश्य-सा मौन धारण किए रहें, हालांकि उनमें राष्ट्र जीवन का वह आध्यात्मिक सार विद्यमान हो जिससे उसके सदस्य अवगत नहीं हैं। इसी तरह की कोई बात मुसलमानों के मामले में भी निसंदेह हुई है। वे इस तथ्य से अवगत नही थे कि उनमें राष्ट्रीय जीवन का आध्यात्मिक सार विद्यमान है। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने एक राष्ट्र होने का दावा इतने विलंब से पेश किया है। परंतु इसका यह अर्थ तो नही हो सकता कि राष्ट्रीय जीवन का आध्यात्मिक सार अस्तित्व में था ही नहीं।

यह कहना निरर्थक है कि ऐसे मामले भी हैं जिनमें राष्ट्रीयता का बोध तो रहता है, परंतु पृथक राष्ट्रीय अस्तित्व की आकांक्षा नहीं होती। कनाडा में फ्रांसीसियों और दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों का उदाहरण इस तरह के मामलों में दिया जा सकता है। यह स्वीकार करना ही होगा कि कुछ ऐसे उदाहरण मौजूद हैं, जहां लोग अपनी राष्ट्रीयता से अवगत रहे है, परंतु उनकी इस सजगता ने

भी उनमें वह आवेग पैदा नहीं किया, जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद से अनुप्राणित हुए बिना भी राष्ट्रों जैसी चेतना विद्यमान हो सकती है। इसी दलील के आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि मुसलमान यह सोच तो सकते हैं कि वे एक राष्ट्र हैं, परंतु उन्हें उसी कारण एक पृथक राष्ट्रीय अस्तित्व की मांग उठाने की जरूरत नहीं है, वे वैसे ही स्थिति से संतुष्ट क्यों नहीं हो सकते जो कनाडा में फ्रांसिसियों और दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों को प्राप्त है, ऐसी स्थिति तो काफी मजबूत स्थिति है। मगर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी स्थिति मुसलमानों से विभाजन पर जोर देने क' आग्रह करके अपनाई जा सकती है। यदि वे विभाजन पर जोर ही दें, तो उनके दावे के विरूद्ध यह कोई दलील नहीं हो सकती।

कहीं यह दलील नकारने का भ्रम पैदा न कर दे, इसलिए दो बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहली यह कि राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद में फर्क है। ये मानव मस्तिष्क की दो अलग-अलग मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं हैं। राष्ट्रीयता से तात्पर्य एक तरह की संचेतना से है, जातीय बंधन के अस्तित्व के प्रति सजगता से है। राष्ट्रवाद से तात्पर्य है "उन लोगों के लिए एक पृथक राष्ट्रीय अस्तित्व की आकांक्षा, जो इस जातीय बंधन में बंधे हैं।" दूसरी यह कि यह सही है कि राष्ट्रीयता की भावना के बिना राष्ट्रवाद हो ही नहीं सकता। परंतु इस बात को भी ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीयता की भावना की मौजदूगी के बावजूद राष्ट्रवाद की सोच सर्वथा अनुपस्थित हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीयता से राष्ट्रवाद उजागर होने के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम, एक राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छा का जाग्रत होना, दूसरी, एक क्षेत्र का होना जिसे राष्ट्रवाद अधिगृहीत कर एक राज्य तथा राष्ट्र का सांस्कृतिक घर बना सके। ऐसे क्षेत्र के अभाव में क्या होगा, इसे स्पष्ट करने के लिए लॉर्ड ऐक्टन की इस उक्ति का उपयोग करना होगा कि "आत्मा एक ऐसे शरीर की खोज में भटकती है जिसमें वह पुनः जीवन का संचार करे, परंतु उसे न पाने पर वह मर जाती है।" मुसलमानों ने एक राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छा विकसित की है। उनके लिए प्रकृति ने एक ऐसा क्षेत्र तलाश लिया है जिसे अधिगृहीत कर वे नवजात मुस्लिम राष्ट्र का सांस्कृतिक गृह और राज्य बना सकते है। इन अनुकूल परिस्थितियों में यदि मुसलमान यह कहते हैं कि वे ऐसी स्थिति अपनाने में संतुष्ट नहीं है जिसे कनाडा में फ्रांसिसियों ने अपनाया है अथवा दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों ने अपनाया है, और वे अपना एक राष्ट्रीय गृह चाहते हैं जिसे वे स्वयं का अपना कह सकें, तो उनके ऐसा कहने पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

अध्याय : 3

अधःपतन से मुक्ति

"भारत के विभाजन और पृथक मुस्लिम राज्यों की स्थापना के लिए भारतीय मुसलमानों द्वारा की जा रही मांग का औचित्य क्या है? यह विद्रोह क्यों है और शिकायत क्या है?" स्वाभाविक आक्रोश से हिंदू ये प्रश्न उठाते हैं।

जिस किसी को इतिहास का ज्ञान है, उसे यह अनुभूति हुए बिना नही रहेगी कि अब यह एक सुस्थापित सिद्धांत है कि राष्ट्रवाद राष्ट्रीय राज्य के निर्माण हेतु समुचित तर्कसंगत आधार है जैसा कि महान इतिहासकार लॉर्ड एक्टन ने कहा है–

> "पुरानी यूरोपीयन व्यवस्था मे सरकारों ने न तो राष्ट्रीयता के अधिकारों को मान्यता दी थी और न लोगों ने ही इस पर जोर दिया था। सीमाओं का नियमन शासक परिवारों के हित थे, न कि राष्ट्रों के, और प्रशासन का सचालन भी जनाकांक्षाओं की परवाह किए बिना ही होता था। जहां सभी तरह की स्वतंत्रता का दमन किया जाता था, वहा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की उपेक्षा होना तो अनिवार्य था ही; और फेनेलोन के शब्दों में, एक राजकुमारी अपने विवाह के भाग (दहेज) स्वरूप राजतंत्र को भी अपने साथ लाती थी।"

पहले–पहल राष्ट्रीयताएं किसी सूची में ही नहीं थीं। फिर जब उनमें (लोगों में) चेतना का सृजन हुआ तो :

> "सर्वप्रथम वे अपने वैध शासकों की रक्षा के लिए विजेताओं के विरूद्ध खडे हो गए। उन्होने सत्ता हडपने वाले विजेताओं द्वारा शासित होने से इंकार कर दिया। उसके बाद ऐसा समय आया जब उन्होंने शासको द्वारा अपने ऊपर किए गए अन्यायो के विरूद्ध विद्रोह किया। इन विद्रोंहो को उन विशिष्ट शिकायतों ने बढ़ावा दिया जिनका सुनिश्चित और न्यायसंगत आधार था। उसके बाद फ्रांस की क्रांति ने आमूलचूल परिवर्तन ही ला दिया। उसने लोगों को यह सिखाया कि वे जो कुछ

भी करना चाहते हैं, उस सब को करने के अपने अधिकार का सर्वोच्च मानदंड अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को बनाएं। इसने जनता की उस सार्वभौमिकता का आह्वान किया जो अतीत से भी अनियंत्रित थी और मौजूद राज्य से भी नियंत्रित नहीं थी। फ्रांसीसी क्रांति की यह शिक्षा सभी उदारवादी विचारकों के लिए एक मान्य सिद्धांत बन गई। मिल ने उसका समर्थन किया। मिल ने कहा कि शायद ही किसी को पता हो कि मानव जाति के किसी भाग को आचरण की छूट हो, भले ही उन्हें यह तय करने की छूट हो कि मानव के विभिन्न सामूहिक संगठनों में से वे खुद को किससे जोड़ना चाहते हैं।"

उन्होंने यहां तक कहा कि :

"सामान्यतः स्वतंत्र संस्थानो के लिए यह एक आवश्यक शर्त है कि सरकारों की सीमाएं राष्ट्रीयताओ के आधार के अनुरूप होनी चाहिए।"

इस प्रकार, इतिहास यह दर्शाता है कि राष्ट्रीयता का सिंद्धात जनाकांक्षा की प्रभुसत्ता के लोकतांत्रिक सिद्धांत में अंतर्भूत है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी राष्ट्रीयता द्वारा राष्ट्रीय राज्य की मांग के पीछे शिकायतो का होना जरूरी नहीं है। जन–आकांक्षा ही उसे न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

किंतु यदि मुसलमान अपने दावे के समर्थन में शिकायतों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं तो इन्हें सार–रूप में इस एक वाक्य में समाहित किया जा सकता है कि संवैधानिक संरक्षण उन्हें हिंदू बहुसंख्यकों के अत्याचार से बचाने मे असफल रहे हैं।

गोलमेज सम्मेलन में मुसलमानों ने अपने उन संरक्षणों की सूची पेश की थी जिनको बहुचर्चित चौदह सूत्रों के तहत समाहित किया गया था। गोलमेज सम्मेलन मे हिंदू प्रतिनिधियों ने उन्हें नहीं माना, अतएव गतिरोध उत्पन्न हो गया। ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप कर एक फैसला दिया, जिसे 'सांप्रदायिक निर्णय' (कम्यूनल अवार्ड) कहा जाता है। इस फैसले में मुसलमानो के सभी चौदह सूत्र मान लिए गए। सांप्रदायिक निर्णय को लेकर हिंदुओं में प्रबल कटुता पैदा हो गई। उसमें कांग्रेस सहभागी नहीं बनी, यद्यपि उसने इस निर्णय को राष्ट्र विरोधी बताने तथा मुसलमानों की सहमति से इसे परिवर्तित कराने का अपना अधिकार कायम रखा। मुसलमानों की भावनाओं को आघात नहीं लगने देने को लेकर कांग्रेस इतनी अधिक सतर्क थी कि जब केंद्रीय असेंबली में सांप्रदायिक निर्णय की भर्त्सना का प्रस्ताव पेश हुआ तो कांग्रेस ने उसका समर्थन तो नही किया, किंतु उसका विरोध भी नहीं किया और वह तटस्थ रही। मुसलमानों का कांग्रेस के इस रवैए को मैत्रीपूर्ण मानना उचित ही था।

हिंदू बहुल प्रांतों में कांग्रेस को चुनावों में मिली विजय से मुसलमानों की शान्ति में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ। उन्होंने महसूस किया कि कांग्रेस से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है और ऐसी संभावनाएं थीं कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग एकजुट होकर कार्य करेंगी। किंतु हिंदू प्रांतों में दो वर्ष और तीन माह के कांग्रेसी शासन ने उन्हें पूरी तरह निराश कर कांग्रेस का कट्टर शत्रु ही बना दिया। 22 दिसंबर, 1939 को मनाया गया मुक्ति दिवस उनके रोष की गहनता का परिचायक था। गोलमेज सम्मेलन में जो मुसलमान स्वराज्य की मांग में सहयोगी थे वही आज स्वराज के कट्टर विरोधी बन गए है।

कांग्रेस ने ऐसा क्या किया है जिससे मुसलमान उसके इतने अधिक विरोधी हो गए? मुस्लिम लीग का दावा है कि कांग्रेसी शासन के तहत मुसलमानों का वस्तुतः दमन हुआ है और उनका उत्पीड़न हुआ है। लीग ने इस मामले की जांच करने और अपनी रिपोर्ट देने के लिए दो समितियां नियुक्त की गई बताई हैं। किंतु इन मामलों के अलावा, जिनकी जांच एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा की जानी अपेक्षित है, दो बातें असंदिग्ध तौर पर सामने आई, जिनसे संघर्ष हुआ (1) कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि संगठन के रूप मे मुस्लिम लीग को मान्यता देने से इंकार (2) कांग्रेस शासित प्रांतों में कांग्रेस का मिले-जुले मंत्रिमंडलों का गठन करने से इंकार।

जहा तक पहला सवाल है, कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने कठोर रूप अपनाया है। कांग्रेस मुस्लिम लीग को अहरारों, दि नेशनल मुस्लिम तथा जमीयत-उल-उलेमा जैसे अनेक मुस्लिम राजनीतिक संगठनों मे से एक मानने को तैयार है, किंतु इसे वह मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि संगठन नही मानती। दूसरी ओर मुस्लिम लीग तब तक किसी विचार-विमर्श मे शामिल होने को तैयार नही है जब तक कि कांग्रेस उसे भारत के मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था नही मान लेती। लीग के इस दावे को हिंदू अतिरेकी बताते है और उसे हास्यास्पद जताने का प्रयास करते है। मुसलमान कह सकते है कि यदि हिंदू यह जांच-पड़ताल करना बंद कर दें कि राष्ट्रों के बीच संधियां कैसे होती है तो उन्हे अपने दृष्टिकोण की मूर्खता का अहसास हो जाएगा। यह दलील भी दी जा सकती है कि जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ संधि करने के लिए आगे बढ़ता है, तो वह दूसरे राष्ट्र की सरकार को पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली स्वीकार करता है। किसी भी देश में विद्यमान कोई सरकार समग्र जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती, सभी जगह बहुमत का ही प्रतिनिधित्व करती है। परंतु राष्ट्र केवल इसी कारण अपने विवादों को निपटाना अस्वीकार नही कर देते कि सरकारे, जो लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, संपूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व नही करतीं। यदि एक सरकार अपने यहा के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है तो यही पर्याप्त है।

मुसलमान यह तर्क दे सकते हैं कि इस मामले में यह बात कांग्रेस व लीग के विवाद पर लागू होनी चाहिए। लीग भले ही संपूर्ण मुसलमानों का प्रतिनिधित्व न करे, परंतु यदि वह उनके बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है तो कांग्रेस को हिंदू–मुस्लिम सवाल पर समझौता करने के उद्देश्य से उसके साथ विचार–विमर्श में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। वस्तुतः किसी भी देश की सरकार को यह अधिकार है कि वह दूसरे ऐसे देश की सरकार को मान्यता न दे जहां एक से अधिक पक्ष या संगठन सरकार के दावेदार हों। उसी तरह कांग्रेस भले ही लीग को मान्यता न दे, मगर वह नेशनल मुस्लिम्स अथवा अहरारों या जमीयत–उल–उलेमा में से किसी एक को तो मान्यता दे और दोनों समुदायों के बीच समझौते की शर्तें तय करें। वास्तव में उसे इस बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर काम करना चाहिए कि लीग से समझौते अथवा अन्य मुस्लिम दलों से समझौते में से किसे मुसलमानों द्वारा ठुकरा दिए जाने की अधिक आशंका है। कांग्रेस को किसी न किसी से बात करनी ही होगी। किसी से भी बात नहीं करना तो मूर्खतापूर्ण ही नहीं, शरारतपूर्ण भी माना जाएगा। कांग्रेस के इस रवैए से तो मुसलमानों में रोष ही बढ़ेगा और उन्हें विक्षुब्ध करेगा। मुसलमान कांग्रेस के इस रवैये की यह व्याख्या कर सकतें है कि यह उनके मोर्चे को कमजोर करने और उनमें भ्रम पैदा करने तथा फूट डालने का प्रयास है। दूसरे मुद्दे के बारे मे मुसलमानों ने मांग की है कि मंत्रिमंडलों में ऐसे मुस्लिम मंत्रियों को शामिल किया जाए, जिन्हें विधानमंडल के मुसलमान सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। उन्हें आशा थी कि यदि कांग्रेस सत्ता मे आई तो वह उनकी इस मांग को मान लेगी, परंतु वे अत्यंत निराश हुए हैं। इस मांग के बारे मे कांग्रेस ने वैधानिक मार्ग अपनाया। कांग्रेस ने मुसलमानों को अपने मंत्रिमंडलों में इस शर्त पर शामिल करना स्वीकार किया कि वे पहले अपने दलों से त्यागपत्र देकर कांग्रेस में शामिल हो और कांग्रेस के संकल्प पर हस्ताक्षर करें। इसका मुसलमानो ने तीन आधारो पर विरोध किया।

सर्वप्रथम, मुसलमानों ने इसे विश्वासघात की संज्ञा दी। मुसलमानों का कहना है कि उनकी मांग संविधान की भावना के अनुरूप है। गोलमेज सम्मेलन में इस बात पर सहमति हुई थी कि मंत्रिमंडल मे अल्पसंख्यक समुदायो के प्रतिनिधि शामिल किए जाएंगे। अल्पसंख्यकों ने इस बात पर जोर दिया कि इस आशय के प्रावधान को कानूनी स्वरूप दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर, हिंदू यह चाहते थे कि यह मामला सामान्य सम्मति के अनुसार निपटाया जाए। एक मध्यम मार्ग खोजा गया। इस पर सहमति हुई कि प्रांतों के गर्वनरो को दिए जाने वाले निर्देशों में इस बात का प्रावधान किया जाए और उन पर यह दायित्व सौपा जाए कि वे सुनिश्चित करें कि मंत्रिमंडलों के गठन में लोकसम्मति का आदर हो। मुसलमानों ने इस बात पर जोर नहीं दिया कि इस प्रावधान को कानूनी रूप

दिया जाए, क्योंकि उन्हें हिंदुओं की सद्भावना पर भरोसा था।

इस समझौते को उसी पार्टी ने तोड़ा जिसने मुसलमानों को आश्वासन दिया था कि उनके प्रति उसका रवैया सही ही नहीं, बल्कि संगत व अनुकूल भी होगा।

दूसरी बात यह है कि मुसलमानों ने यह महसूस किया कि कांग्रेस का दृष्टिकोण लोकसम्मति के वास्तविक दायरे का विकृत रूप है। वे निर्देशन–पत्र के अनुच्छेद* के मूल पाठ पर भरोसा करते हैं और उनकी यह दलील है कि उसमें 'अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्य' शब्दों का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह कि ऐसा व्यक्ति जिसे समुदाय का विश्वास प्राप्त हो। कांग्रेस द्वारा अपनाई गई स्थिति इस अनुच्छेद के अर्थों से सर्वथा विपरीत है और देश मे सभी दलों को तोड़ने के लिए किया जा रहा छद्म प्रयास है, जिसका उद्देश्य कांग्रेस को ही देश मे एकमात्र राजनीतिक दल बनाना है। कांग्रेस के संकल्प–पत्र पर हस्ताक्षर करने की मांग के पीछे इसके अलावा और कोई इरादा नहीं हो सकता। हिंदू ही ऐसे सर्वाधिकारीवादी राज्य की स्थापना के प्रयास का स्वागत कर सकते है, परंतु मुसलमानो के लिए तो यह एक स्वतंत्र समाज के रूप में मुसलमानों की राजनीतिक मृत्यु मात्र है।

मुसलमानो का यह रोष तब और अधिक बढ गया जब उन्होने देखा कि गवर्नरो ने, जिन्हे यह देखने का दायित्व सौपा गया था कि समझौता लागू हो, इस बारे में कोई कदम उठाने से ही इन्कार कर दिया। कुछ गवर्नरो ने तो इस आधार पर इन्कार किया कि वे इस वास्तविकता के कारण असहाय थे कि कांग्रेस ही एकमात्र बहुमत प्राप्त दल है जो स्थिर सरकार का गठन करने में समर्थ है, कि कांग्रेस की ही सरकार बनाना संभव है, और संविधान का निलंबन करने के अलावा इस स्थिति को टालने का अन्य कोई विकल्प नहीं है। अन्य गवर्नरों ने इसलिए इंकार कर दिया क्योंकि वे कांग्रेस सरकार के सक्रिय समर्थक हो गए थे और उन्होने काग्रेस की प्रशंसा करके अथवा खादी पहनकर, जो कांग्रेस पार्टी की अधिकृत वेशभूषा है, पक्षपात का परिचय दिया। कारण चाहे जो भी हो, मुसलमानो को ऐसा लगा कि एक महत्वपूर्ण संरक्षण उनकी रक्षा करने में असफल रहा है।

काग्रेस ने मुसलमानो के इन आरोपों का दो तरह से उत्तर दिया। पहला तो यह कि वे यह कहते हैं कि मिलाजुला मंत्रिमंडल, मंत्रिमंडलों के सामूहिक

---

* "हमारा राज्यपाल मंत्री–परिषद में मंत्रियों की नियुक्ति के मामले में ऐसे व्यक्ति के परामर्श से, जिसका विधानमंडल में स्थाई बहुमत होने की संभावना हो, ऐसे लोगों का चयन करेगा (महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्यों सहित) जिन्हें विधानमंडल का सामूहिक तौर पर विश्वास प्राप्त हो। इस विधि में वह इस बात का ध्यान रखेगा कि उसके मंत्रियों में सामूहिक दायित्व की भावना विद्यमान हो।"

दायित्व से असंगत है। इसे मुसलमान एक ईमानदार दलील मानने से इंकार करते हैं। अंग्रेज ही ऐसे पहले लोग हैं, जिन्होंने इसे अपनी शासन प्रणाली का सिद्धांत बनाया। परंतु वहां भी अब इसे त्याग दिया गया है। ब्रिटिश संसद ने इस मुद्दे पर चर्चा की* और वह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि यह अब उतना पावन नहीं रहा है जितना कि कभी इसे माना जाता था, और इसे त्याग देने से शासन–तंत्र के सुचारू और प्रभावी ढंग से काम–काज का प्रभावित होना जरूरी नहीं है। दूसरे, तथ्यतः कांग्रेस सरकार में कोई सामूहिक दायित्व है ही नहीं। यह सरकार तो विभागों द्वारा चलाई जाती है। प्रत्येक मंत्री दूसरे से स्वतंत्र है और प्रधानमंत्री भी मंत्री के ही तुल्य है। कांग्रेस द्वारा सामूहिक दायित्व की बात करना वास्तव में निरर्थक है। यह दलील असत्य भी है, क्योंकि यह एक हकीकत है कि जिन प्रांतों में कांग्रेस अल्पमत मे थी, वहां उसने मिला–जुला मंत्रीमंडल बनाया और अन्य दलों के मंत्रियो से कांग्रेस के संकल्प–पत्र पर हस्ताक्षर करने की मांग नहीं की। मुसलमान यह सवाल कर सकते है कि यदि मिलीजुली सरकार बुरी है तो वह एक स्थान पर बुरी और दूसरे पर अच्छी कैसे हो सकती है।

कांग्रेस का दूसरा जवाब यह है कि यदि उन्होंने अपने मंत्रिमंडल में ऐसे मुस्लिम मंत्री लिए भी है जिन्हे मुसलमानों के बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं है, तो भी वे उनके हितो की रक्षा करने में असफल नही रहे। वास्तव में उन्होंने मुसलमानो के हितों को बढ़ावा देने के लिए हर बात की है। निस्संदेह यह कथन पोप के उस दृष्टिकोण पर आधारित है जो उन्होंने सरकार के बारे में यह कहकर व्यक्त किया था:

> "सरकार के स्वरूप के बारे में मूर्खों को बहस करने दीजिए;
> जो क्षेष्ठतम प्रशासन दे सके, वहीं सरकार सर्वक्षेष्ठ है।"

ऐसा लगता है कि यह जवाब देते हुए कांग्रेस हाई कमान ने सही तौर पर यह समझा ही नही है कि मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों की वास्तविक धारणा क्या रही है। उनका विवाद इस बात को लेकर नहीं है कि कांग्रेस ने मुसलमानों और अल्पसंख्यकों का कुछ भला किया है या नहीं। उनका विवाद सर्वथा अलग मुद्दों को लेकर है। क्या स्वराज के तहत हिन्दू शासक हिन्दू जाति के होंगे और मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यक उनके प्रजाजन होंगे? मिलेजुले मंत्रिमंडल के लिए की गई मांग में यही मुद्दा निहित है। उस पर मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों ने निश्चित रवैया अपनाया है। वे प्रजाजनों की स्थिति स्वीकार करने को तैयार नही है।

* देखिए चुंगी के प्रश्न पर मंत्रिमंडल की असहमति के निर्णय के बाद ब्रिटिश प्रधानमंत्री की 22 जनवरी, 1932 की घोषणा और इस विषय पर संसद मे वाद–विवाद।

यह कहना कि सत्तारूढ़ समुदाय ने शासितों का भला किया है, मुद्दे से सर्वथा अलग है और इसे अल्पसंख्यकों की इस सोच का कोई जवाब नहीं कहा जा सकता कि वे शासित जन जैसा व्यवहार सहन करने को तैयार नहीं है। अंग्रेजों ने भारत मे भारतीयों की भलाई के लिए बहुत से काम किए है। उन्होनें सड़कों को सुधारा है, नहरें अधिक वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर बनाई है, रेल का निर्माण कर परिवहन को सुधारा है, नाममात्र के शुल्क पर पत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की व्यवस्था की है, तार भेजने की व्यवस्था की है, मुद्रा मे सुधार किया है, माप–तौल–प्रणाली का नियमन किया है, भूगोल, नक्षत्र–विद्या और औषधियों के बारे में उनकी सोच को सही किया है और उनके आंतरिक झगड़ो को रोका है, तथा उनकी आर्थिक हालत भी एक सीमा तक सुधरी है। सरकार के इन भलाई वाले कामों के बावजूद, क्या कोई भारतीयो से यह कहता है कि वे अंग्रेजो का आभार मानें और स्वशासन या स्वराज के लिए आंदोलन करना छोड़ दे? अथवा क्या सामाजिक उत्थान के इन कार्यों के कारण भारतीयो ने अंग्रेजों द्वारा उनसे किए जाने वाले शासित जाति के व्यवहार का विरोध करना छोड़ दिया है? स्पष्ट है कि भारतीयों ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। वे इन कल्याण–कार्यों से संतुष्ट नहीं हुए और अपना शासन स्वयं चलाने के अधिकार की प्राप्ति के लिए आंदोलन जारी रखा हुआ है। होना भी यही चाहिए जैसा कि आइरिश देशभक्त क्यूरेन ने कहा था, कोई भी व्यक्ति अपने आत्मसम्मान की कीमत पर किसी का आभारी नहीं हो सकता, कोई भी महिला अपने स्त्रीत्व की कीमत पर किसी का आभार व्यक्त नहीं कर सकती और कोई भी राष्ट्र अपनी गौरव–गरिमा की कीमत पर किसी का आभारी नहीं बन सकता। इसके विपरीत, कोई भी व्यवहार यही दर्शाएगा कि उसका जीवन–दर्शन वैसा ही है, जिसे कार्लाइल ने 'शूकर दर्शन' का नाम दिया है। ऐसा लगता है कि कांग्रेस हाईकमान को यह अनुभूति ही नहीं हो पा रही है कि मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक कांग्रेस के द्वारा दिए जा रहे सुझावों की अपेक्षा अपनी पहचान और आत्म–सम्मान को ज्यादा महत्व देते हैं। जो लोग अपने आत्म–सम्मान के बारे में अधिक सजग है, वे ऐसे 'शूकर' नही है जो सिर्फ ऐसे भोजन के लिए ही चिंतित रहते हैं जिससे उनका मोटापा और बढे। उनमें जो गौरव–बोध है, उसे वे स्वर्ग के बदले भी त्याग देने के लिए तैयार नहीं होंगे। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि 'भोजन से जीवन अधिक मूल्यवान है।'

यह कहने का कोई लाभ नहीं कि कांग्रेस हिंदू संगठन नही है। एक ऐसा संगठन जो अपने गठन में हिंदू ही है, वह हिंदू मानस की ही अभिव्यक्ति करेगा और हिंदू–आकांक्षाओं का ही समर्थन करेगा। कांग्रेस और हिंदू महासभा मे इतना ही अंतर है कि जहां हिंदू महासभा अपने कथनों में अधिक अभद्र है और अपने

कृत्यों में भी कठोर है, वहीं कांग्रेस नीति–निपुण और शिष्ट है। इस तथ्यगत अंतर के अलावा कांग्रेस और हिंदू महासभा के बीच कोई अंतर नहीं है।

इसी तरह, यह कहने का भी कोई लाभ नहीं कि कांग्रेस शासक और शासित के बीच कोई अंतर नहीं मानती। यदि ऐसा ही है तो कांग्रेस को अन्य समुदायों को स्वतंत्र औरं बराबर का सहभागी मानकर अपनी सदाशयता का परिचय देना चाहिए। ऐसी मान्यता की कसौटी क्या है? मेरी राय में तो एक ही कसौटी हो सकती है – वह है अल्पंसख्यक समुदायों के प्रभावी प्रतिनिधियों को सत्ता में भागीदारी देने की सहमति। क्या कांग्रेस इसके लिए तैयार है? प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का उत्तर जानता है। कांग्रेस किसी समुदाय के किसी ऐसे सदस्य के साथ सत्ता में हिस्सेदारी को तैयार नहीं है जो कांग्रेस के प्रति निष्ठावान हो। कांग्रेस के प्रति निष्ठा सत्ता में भागीदारी की पूर्व शर्त है। कांग्रेस का यही नियम प्रतीत होता है कि यदि कोई समुदाय कांग्रेस के प्रति निष्ठावान नहीं है, तो उसे राजनीतिक सत्ता से परे रखा जाए।

राजनीतिक सत्ता में शामिल नहीं किया जाना ही सत्तारूढ़ जाति और शासित जाति के बीच अंतर का सार है, और जब तक कांग्रेस इस सिद्धांत को कायम रखेगी, तब तक यही कहा जाएगा कि कांग्रेस जब गद्दी पर थी तो भी उसने इसी तरह का भेदभाव बरता था। मुसलमानों को यह शिकायत हो सकती है कि उन्होंने काफी कष्ट भोग लिया है और इस तरह उन्हें शासित जाति की स्थिति में पहुचा दिया जाना अंतिम प्रहार की लोकोक्ति को ही साकार करना है। देश पर ब्रिटिश अधिकार के साथ ही साथ भारत में उनका पराभव और पतन शुरू हो गया था। अंग्रेजों द्वारा लागू किए गए प्रत्येक व्यवस्थापन, प्रशासनिक अथवा कानूनी परिवर्तन, से मुस्लिम समुदाय पर अनेक प्रहार हुए हैं। भारत के मुस्लिम शासकों ने हिंदुओं को अपने कानून और नागरिक मामलों में अपनी प्रणाली कायम रखने की अनुमति दी थी। ब्रिटिश शासन ने जो पहला काम किया वह यह है कि उसने शनैः शनैः हिंदू फौजदारी कानून समाप्त किया और मुस्लिम फौजदारी कानून बनाया, जिसे हिंदुओं और मुसलमानों पर लागू किया। और फिर धीरे–धीरे मुस्लिम फौजदारी कानून के स्थान पर मैकाले की दंड–संहिता लागू करके अपने ही कानून थोप दिए।

मुस्लिम समुदाय की हैसियत और गौरव पर यह पहला आघात था। इसके बाद शरीयत अथवा मुस्लिम नागरिक कानून के क्षेत्राधिकार को घटाया गया। इसका क्रियान्वयन व्यक्तिगत संबंधों से संबंधित मामलों, जैसे विवाह और उत्तराधिकार तक ही सीमित कर दिया, और वह भी उसी हद तक जिसकी ब्रिटिश अनुमति दे। इसके साथ ही साथ, 1837 में फारसी भाषा को, जो अदालतों और

सामान्य प्रशासन की सरकारी भाषा थी, समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर अंग्रेजी और देशी भाषाओं को लागू किया गया। उसके बाद काजी हटाए गए, जो मुस्लिम शासन के दौरान शरीयत को लागू करते थे। उनके स्थान पर विधि–अधिकारी और न्यायाधीश नियुक्त किए गए, जो किसी भी धर्म के मानने वाले हो सकते हैं परंतु उन्हें मुस्लिम कानून की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त हो गया और उनके फैसलों को मानने के लिए मुसलमानों को बाध्य कर दिया गया। मुसलमानों को लगे ये प्रबल आघात थे। परिणामतः मुसलमानों को यह प्रतीत हुआ कि वे प्रतिष्ठा से वंचित हो गए, उनके कानून हटा दिए गए, उनकी भाषा त्याग दी गई और उनकी शिक्षा अपना वित्तीय महत्व गंवा बैठी। इनके साथ ही साथ सिंध और अवध के अधिग्रहण तथा विद्रोह के कारण भी उन पर प्रचंड प्रहार हुए। इनमें से अंतिम ने तो मुसलमानों के उन उच्च वर्गों को विशेष रूप से प्रभावित किया जिन्हें गदर में उनकी संदिग्ध लिप्तता के कारण दंडित करते हुए ब्रिटिश सत्ता ने व्यापक रूप से उनकी संपत्ति को जब्त कर लिया गया। गदर की समाप्ति के साथ ही साथ मुसलमानों और उनके गौरव को चाहे वे उच्च वर्ग के थे या निम्न वर्ग के, इन घटनाओ ने गहरे तक आहत किया। उनमे निराशा बढ़ी तथा निर्धनता ही उनका प्रारब्ध बन गई। प्रतिष्ठा, शिक्षा और संसाधनो से वंचित मुसलमानों को हिंदुओं का सामना करने के लिए छोड़ दिया गया। ब्रिटिश सत्ता ने तटस्थता का दावा किया था और वह दोनों समुदायों के बीच संघर्ष के परिणाम से भी उदासीन रही। नतीजा यह हुआ कि मुसलमान संघर्ष में पूर्णतः पिछड गए। भारत पर ब्रिटिश विजय ने दोनों समुदायों की सापेक्ष स्थिति में एक पूर्ण राजनीतिक क्रांति ही ला दी। मुसलमानों ने छह सौ वर्षों तक हिंदुओं पर हुकूमत की थी। ब्रिटिश सत्ता के आने से वे भी हिंदुओं के स्तर पर ही धकिया दिए गए। मालिकों से वे सहयोगी प्रजाजन बना दिए गए। यह पराभव ही बहुत था, किंतु सहयोगी प्रजाजनों की अपेक्षा हिंदुओं की प्रजा बन जाना तो निश्चय ही अपमानजनक है। मुसलमान पूछते हैं कि क्या यह अस्वाभाविक है यदि वे इस विषम स्थिति से बचने के लिए एक पृथक राष्ट्र की स्थापना की मांग करते हैं, जिसमें मुसलमान एक शांतिपूर्ण गृह प्राप्त कर सकें और जिसमें शासक जाति और शासित जाति के बीच के तनावो द्वारा उनकी जिंदगी को मुसीबत में डालने की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी।

भाग : II

पाकिस्तान के विरुद्ध हिंदू पक्ष

पाकिस्तान की इस योजना का विरोध करनेवाले हिंदुओं की सोच के तीन कारण प्रतीत होते हैं। वे निम्नलिखित कारणों से इस योजना पर आपत्ति व्यक्त कर रहे हैं:

1. क्योंकि इससे भारत की एकता खंडित हो जाएगी।

2. क्योंकि इससे भारत की प्रतिरक्षा कमजोर होगी।

3. क्योंकि इससे सांप्रदायिक समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।

क्या इन आपत्तियों में कोई सार है? यह भाग इन आपत्तियों की वैधता की जांच–पड़ताल से संबंधित है।

अध्याय : 4

एकता का विघटन

:

हिन्दुओं को एकता के विध्वंस की शिकायत करने से पूर्व उन्हें इस बारे में सुनिश्चित होना चाहिए कि जिस एकता पर वे जोर दे रहे हैं वह विद्यमान भी है या नहीं। पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच क्या एकता है?

जो हिंदू एकता के हामी हैं वे मुख्यतः इस तथ्य पर भरोसा करते हैं कि जिन क्षेत्रों को मुसलमान भारत से पृथक करना चाहते हैं, वे सदैव भारत का अंग रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चय ही यह सत्य है। यह क्षेत्र उस समय भारत का अंग था जब चंद्रगुप्त भारत के शासक थे, जब चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग ने अपनी डायरी में यह उल्लेख किया था कि भारत पांच विभागों में विभाजित था। यदि उनकी भाषा में ही कहा जाए तो यहां पांच इंडीज थे* – 1. उत्तरी भारत, 2. पश्चिमी भारत, 3. मध्य भारत, 4. पूर्वी भारत, 5. दक्षिणी भारत; और इन पांचों विभागों में 80 रियासतें थीं। ह्वेनसांग के अनुसार उत्तरी भारत में पंजाब था, जिसमें कश्मीर और उसके आसपास के पहाड़ी राज्य तथा सिंध–पार का समस्त पूर्वी अफगानिस्तान शामिल था और सरस्वती नदी के पश्चिम तक के वर्तमान सिस–सतलज राज्य शामिल थे। इसी तरह उत्तरी भारत में काबुल, जलालाबाद, पेशावर, गजनी और बन्नू के जिले शामिल थे, जिन पर कपिसा के शासक का शासन था, जो हिंदू क्षत्रिय था और जिसकी राजधानी संभवतः काबुल से 27 मील दूर स्थित चारीकार थी। खास पंजाब में तक्षशिला के पर्वतीय जिले सिंहपुरा, उरासा, पुंछ और राजौरी शामिल थे जो कश्मीर के राजा के शासन में थे; जबकि सारा मैदानी क्षेत्र, जिसमें मुलतान और शोरकोट शामिल थे, लाहौर के समीप बर्की अथवा संगला के शासक के अधीन थे। जिस

---

* कनिंघम की एनसिएंट ज्याग्राफी ऑफ इंडिया (संपा. मजूमदार) पृ. 13-14. पुराणों के लेखकों ने भारत को नौ भागों में विभाजित किया था।

समय ह्वेनसांग अपनी तीर्थयात्रा पर आए तब भारत क़ी उत्तरी सीमा का उपरोक्त विस्तार था। परंतु जैसा कि प्रोफेसर टोयनबी का कथन है–

> "हमें 'ऐतिहासिक भावना' के मामले में सतर्क रहना चाहिए, अर्थात् उन स्थितियों को लेकर जो कभी विद्यमान थीं अथवा जिनके होने की कल्पना की जाती है, परंतु जो इस समय वास्तविकता नहीं रह गई हैं। उन्हें अत्यंतिक उदाहरणों द्वारा तो बड़ी आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है। इतालवी अखबारों ने त्रिमोली पर अधिकार को' पितृभूमि को पुनः ले लेने की संज्ञा दी है, क्योंकि यह क्षेत्र कभी रोमन साम्राज्य का एक प्रांत था, और मकदूनिया के सम्पूर्ण क्षेत्र पर एक ओर यूनानी संकीर्णतावादियों का दावा रहा है, क्योंकि इसमें पेल्ला का स्थान भी है जो ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में सिकंदर महान की स्थली था, और दूसरी ओर बलगेरियनों का दावा है, क्योंकि ठीक दूसरी ओर के कोने में ओचरिदा स्थित है, जो दसवीं शताब्दी में बलगेरियाई जारशाही की राजधानी रहा, हालांकि समय के प्रवाह ने परवर्ती परंपरा को उतना ही गहरे दफना दिया है जितना कि 'इमाथियन विजेता' की उपलब्धियों को, जिन पर यूनानी राष्ट्रवादी इतना दृढ़ आग्रह करते हैं।"

यही तर्क यहां भी लागू होता है। यहां भी कभी विद्यमान रही उन स्थितियों के आधार पर तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं जो अब वास्तविकता नहीं रह गई हैं और जिनमें बाद के उन तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया जाता जिन्हें इतिहास ने ह्वेनसांग के वापस लौटने के बाद के वस्तुतः एक हजार वर्षों के दौरान प्रस्तुत किया है।

यह सत्य है कि जब ह्वेनसांग आए थे तो न सिर्फ पंजाब, अपितु आज का अफगानिस्तान भी भारत का भाग था और इसके अलावा पंजाब और अफगानिस्तान के निवासी वैदिक अथवा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। परंतु ह्वेनसांग के भारत से लौटने के बाद से क्या हुआ?

सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिमोत्तर से भारत पर मुस्लिम आक्रांताओं ने हमला किया। भारत पर पहला मुस्लिम आक्रमण अरबों ने किया, जिसका नेतृत्व मुहम्मद बिन कासिम ने किया था। यह हमला सन 711 में हुआ था और उसने सिंध पर विजय प्राप्त की। इस पहले मुस्लिम आक्रमण का परिणाम देश पर स्थाई अधिकार के रूप में सामने नहीं आया, क्योंकि बगदाद के खलीफा को, जिसके आदेश और आह्वान पर यह हमला हुआ था, नौंवी शताब्दी के मध्य में सिंध के इस सुदूर प्रांत से अपना प्रत्यक्ष नियंत्रण हटाने* पर बाध्य होना पड़ा

* सिंध पर मुहम्मद गोरी ने पुनः अधिकार कर लिया था।

था। इसके बाद सन् 1001 में गजनी के मुहम्मद के भीषण आक्रमणों का तांता लग गया। मुहम्मद की मृत्यु 1030 ई. में हो गई, परन्तु तीस वर्ष की अल्पावधि में ही उसने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किया था। उसके बाद 1173 ई. में मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया। वह 1206 ई. में मारा गया। तीस साल तक गजनी के मुहम्मद ने भारत को रौंदा और तीस साल तक उसी तरह मुहम्मद गोरी भी इस देश को रौंदता रहा। उसके बाद चंगेज़ खान के मंगोल झुंडों ने धावे बोले। ये आक्रांता 1221 ई. में आए। तब उन्होंने भारत की सीमाओं पर ही आक्रमण किए, भीतर प्रविष्ट नहीं हुए। लेकिन बीस वर्ष बाद उन्होंने लाहौर पर धावा बोला और उसे लूटा। उन हमलों में से सर्वाधिक भीषण हमला 1398 में तैमूर लंग के नेतृत्व में हुआ। उसके बाद बाबर के रूप में एक नया आक्रांता उभरा, जिसने 1526 ई. में भारत पर हमला किया। दो और आक्रमण भी हुए। 1738 ई. मे आक्रांता नादिर शाह के नेतृत्व में पंजाब पर चढ़ दौड़े। उनका यह आक्रमण नदी में आई भीषण बाढ या फिर सागर के रौद्र रूप जैसा था। उसके बाद 1761 ई. में अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर हमला किया। उसने पानीपत मे मराठों की सेनाओं को पराजित किया और हिंदुओं द्वारा मुस्लिम आक्रांताओं के हाथो गंवाए गए आधार को पुनः प्राप्त करने के लिए होने वाले प्रयासों की हमेशा के लिए कमर तोड़ दी।

मुस्लिम हमले मात्र लूटमार अथवा विजय की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही नही किए गए थे। इनके पीछे एक और उद्‌देश्य भी था। मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर जो हमला किया, उसका स्वरूप दंडात्मक भी था। वह सिंध सम्राट दाहिर को सज़ा देने के लिए हुआ था, जिसने देवल में, जोकि सिंध का एक बंदरगाह था, पकड़े गए एक अरब जहाज को मुक्त करने से इन्कार कर दिया था। परंतु इस बात मे भी कोई संदेह नहीं कि भारत में मूर्ति–पूजा और हिंदुओं के बहुदेववाद पर प्रहार कर यहां इस्लाम की स्थापना भी इन हमलों का एक उद्‌देश्य था। हज्जाज को भेजे गए एक पत्र में मोहम्मद बिन कासिम का यह उल्लेख है :

> "राजा दाहिर के भतीजे, उसके योद्धाओं और प्रमुख अधिकारियों को ठिकाने लगा दिया गया है और मूर्तिपूजकों को या तो इस्लाम में दीक्षित कर दिया गया है अथवा उन्हें तबाह कर दिया गया है। मूर्तियोंवाले मंदिरों के स्थान पर मस्जिद और अन्य इबादत–स्थल बनाए गए है, कुतबाह पढ़ी जाती है, अज़ान दी जाती है, ताकि निर्धारित घंटों पर इबादत हो सके। तकबीर और अल्लाह–हो–अकबर की सदाएं हर सवेरे–शाम गूंजती हैं।"[1]

1. 2, वही, पृ. 10

यह पत्र राजा के सिर के साथ भेजा गया था। इसे प्राप्त करने के बाद हज्जाज ने अपने सेनापति को निम्नलिखित पत्र भेजा थाः

> "इसके अलावा तुम सभी बड़े और छोटे को सुरक्षा दो। शत्रु और मित्र में भेद न करो। खुदा का कथन है कि मूर्तिपूजकों से कोई रियायत न बरतो, अपितु उनके गले काट दो।[1] यह समझ लो कि यही महान अल्लाह का आदेश है। तुम्हें अभयदान देने के लिए तुरंत तैयार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे तुम्हारा काम और बढ़ जाएगा। इसके बाद उन दुश्मनों के अलावा जो सामान्य सैनिक हैं किसी को न बख्शो।"

गज़नी के मुहम्मद ने भी भारत पर अपने अनेक हमलों को जिहाद छेड़ने की संज्ञा दी थी। मुहम्मद के इतिहासकार अल उतबी ने उसके हमलों के बारे में लिखा था :

> "उसने मंदिरो में मूर्तियों को तोड़ा और इस्लाम की स्थापना की। उसने शहरों पर कब्जा किया, नापाक कमीनों को मार डाला, मूर्ति-पूजकों को तबाह किया और मुसलमानों को गौरवान्वित किया। तदुपरांत वह घर लौटा और इस्लाम के लिए की गई विजयों का ब्यौरा दिया और यह संकल्प व्यक्त किया कि वह हर वर्ष हिंद के खिलाफ जिहाद करेगा"।[2]

मुहम्मद गोरी भी भारत पर हमलो मे उसी धार्मिक जोश से प्रभावित था। इतिहासकार हसन निजामी ने उसके क्रियाकलाप का विवरण इन शब्दों में दिया है :

> "उन्होंने अपनी तलवार से हिंद को कुफ्र की गंदगी से साफ किया और पाप से मुक्त किया तथा उस सारे मुल्क को बहुदेववाद के कंटक से स्वच्छ किया और मूर्तिपूजा की अपवित्रता से पाक किया, और अपने शाही शौर्य और साहस का प्रदर्शन करते हुए एक भी मंदिर को खड़ा नही रहने दिया।"[3]

तैमूर ने अपने संस्मरण मे स्पष्ट किया है कि उसे किन कारणों ने भारत पर हमला करने को प्रेरित किया। वह कहता है :

> "हिंदुस्तान पर हमलों का मेरा मकसद काफिरों के खिलाफ अभियान

---

1. 3. वही, पृ. 10
2. डॉ. टाइटस द्वारा उद्धृत पृष्ठ-11
3. वही, पृ. 11

> चलाना और मुहम्मद के आदेशानुसार उन्हें सच्चे दीन में धर्मांतरित करना है। (उस पर और उसके परिवार पर अल्लाह की दया और रहमत हो) उस धरती को मिथ्या आस्था और बहुदेववाद से पवित्र करना है। तथा मंदिरों और मूर्तियों का विध्वंस करना है, हम गाज़ी और मुजाहिद होंगे और अल्लाह की नजर में सहयोगी और सैनिक सिद्ध होंगे।"*

भारत पर मुसलमानों के हमले भारत के विरूद्ध हुए आक्रमण तो थे ही, साथ ही वे मुसलमानों में पारस्परिक युद्ध भी थे। यह तथ्य इसलिए छिपा रहा है क्योंकि सभी आक्रांताओं को बिना किसी भेदभाव के सामूहिक तौर पर मुसलमान करार दिया जाता है। परंतु तथ्य यह है कि वे तातार, अफगान और मंगोल थे। मुहम्मद गजनी तातार था। मुहम्मद ग़ौरी अफगानी था। तैमूर मंगोल था। बाबर तातार था, जबकि नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली अफगानी थे। अफगानों का भारत पर हमला करने के पीछे एक मकसद तातारों को तबाह करना था और मंगोल हमलावर तातारों व अफगानों को तबाह करना चाहते थे। उनका परस्पर प्रेम की भावना से संपुष्ट हुआ कोई ऐसा परिवार नहीं था जो मुस्लिम भाईचारे की भावना से एकजुट हो गया हो। वे एक–दूसरे के जानी दुश्मन थे और उनके युद्धों का मकसद एक दूसरे का सफाया करना भी था। मगर जिस बात को दिमाग में रखना महत्वपूर्ण है वह यह है कि अपने इन सभी विवादों और संघर्षों के बावजूद वे सभी इस एक सामूहिक उद्देश्य से प्रेरित थे – हिंदू धर्म का विध्वंस।

भारत पर आक्रमण करनेवाले मुसलमानों ने जो तरीके अपनाए, वे भी उनके हमलों के मकसद को देखते हुए भारत के बाद के इतिहास की दृष्टि से कम महम्वपूर्ण नहीं हैं।

मुहम्मद बिन कासिम ने मज़हबी जोश के साथ जो पहला कार्य किया, वह था देवल नगर पर अधिकार कर लेने के बाद वहां के ब्राह्मणों का खतना कराना। परंतु जब उसे यह पता लगा कि वे इस तरह के धर्मांतरण पर आपत्ति उठा रहे हैं तो उसने सत्रह वर्ष से अधिक की आयु वाले सभी लोगों का वध करा दिया और यह आदेश दिया कि अन्य सभी को, जिनमें औरतें और बच्चे भी शामिल थे, गुलाम बना लिया जाए। हिंदुओं के मंदिरों को लूटा गया और लूट की इस प्रचुर संपदा के पांचवें हिस्से को अलग करके, जोकि सरकार का कानूनी हिस्सा था, शेष सारी संपदा सैनिकों में बराबर–बराबर बांट दी गई।

मुहम्मद गज़नी ने प्रारंभ से ही ऐसी योजनाएं अपनाई जिनसे हिंदुओं के हृदय में आतंक व्याप्त हो सके। सन् 1001 में राजा जयपाल को पराजित करने के

---

* लेन पूल द्वारा 'मीडियल इंडिया' में उद्धरत, पृ. 155

बाद मुहम्मद ने आदेश दिया कि जयपाल को "सड़कों पर घुमाया जाए ताकि उसके बेटे और सरदार उसे लज्जा, कैद और अपमान की उस हालत में देख सकें और देश भर के काफिरों के दिलों में इस्लाम की ताकत का खौफ बैठ जाए।"

> "काफिरों का संहार एक ऐसी बात थी जिसमें मुहम्मद को खास तौर के आनंद का अनुभव होता था। 1019 ई. में चांदराय पर किए गए एक हमले में अनेक काफिरों को मौत के घाट उतार दिया गया अथवा बंदी बना लिया गया और मुसलमानो ने लूट के माल को तब तक कोई महत्व नहीं दिया जब तक कि उन्होंने स्वयं को काफिरों तथा सूर्य और चंद्रमा के उपासकों के संहार से तृप्त नहीं कर लिया। इतिहासकार ने बड़े सरल भाव से यह भी लिखा है कि हिंदू सेना के हाथी मूर्तियों को छोड़कर स्वतः मुहम्मद के पास आ गए और उन्होंने इस्लाम धर्म की सेवा करना ही श्रेयस्कर समझा।"*

हिंदुओं की बार–बार हत्याओं से, मुहम्मद बख्तियार खिलज़ी की बिहार–विजय की तरह, हिंदुओं की अपनी संस्कृति को गहरा आघात लगा। 'तबकाते–नसीरी' से हमें यह जानकारी मिलती है कि जब उसने नुदिदया (बिहार) पर कब्जा कर लिया तो क्या हुआः

> "विजेताओं ने भयंकर लूटपाट की। वहां के अधिकांश निवासी ब्राह्मण थे, जिनके सिर मुंडे हुए थे। उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। बहुत भारी संख्या में पुस्तकें प्राप्त हुईं, परन्तु उनके अर्थ स्पष्ट करने वाला कोई था ही नहीं, क्योंकि सभी लोग मार डाले गए थे, जबकि सारा किला और नगर ही अध्ययन का एक स्थान था।[1]

इस मुद्दे पर उपलब्ध साक्ष्य का सारांश प्रस्तुत करते हुए डॉ. टाइटस ने कहा है:

> "मंदिरों के विध्वंस और प्रतिमाओ को अपवित्र किए जाने के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है। हम देख चुके है कि मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध में बड़े योजनाबद्ध ढंग से विनाश की अपनी योजना को क्रियान्वित किया था। परंतु उसने राजस्व के मकसद से मुलतान के एक सुप्रसिद्ध मंदिर को छोड़ दिया था, क्योंकि यह मंदिर तीर्थयात्रियों का आवास स्थल था, जो प्रतिमा के सामने काफी बड़ी मात्रा में उपहार समर्पित

---

* डॉ. टाइटस : *इंडियन इस्लाम*, पृ. 22

\+ वही, पृ. 22

करते थे। साथ ही उसने जहां इस मंदिर को अपनी धनलोलुपता को संतुष्ट करने के लिए खड़ा रहने दिया, वहीं उसने गौ–मांस का एक टुकड़ा प्रतिमा की गर्दन में बांधकर अपनी विद्वेष–भावना को भी उज़ागर किया।

"मिन्हाज–अस–सिराज यह भी बताता है कि मुहम्मद किस तरह से एक हजार मंदिरों तथा सोमनाथ के मंदिरों को विध्वस्त करने वाले तथा उसकी प्रतिमा को ले जाने का साहसिक कृत्य करने वाले के रूप में व्यापक तौर पर चर्चित हो गया था। उसका यह भी दावा था कि मूर्ति के चार टुकड़े कर दिए गए थे। उसका एक भाग गज़नी की जामी मस्जिद में जमा कराया गया, एक को उसने शाही महल के प्रवेश द्वार पर रखा और तीसरा भाग मक्का तथा चौथा मदीना भेजा गया।"*

लेन पूल ने कहा है कि मुहम्मद गज़नी ने, जिसने यह संकल्प किया था कि वह हिंदुस्तान के काफिरों के खिलाफ हर वर्ष जिहाद करेगा और तब तक अपना मूर्ति–भंजन–अभियान चलाता रहेगा जब तक कि सोमनाथ का मंदिर अक्षत है। इसी विशेष उद्देश्य से उसने अपनी जीवन–लीला समाप्त होने से कुछ ही समय पूर्व मुलतान के अन्हलवाड़ा में तटवर्ती क्षेत्र के रेगिस्तान को पार कर भयानक चढ़ाई की और वह तब तक युद्ध करता रहा, जब तक कि उसने अंततोगत्वा इस सुप्रसिद्ध मंदिर को ध्वस्त नहीं कर दिया :

"वहां लाखों तीर्थ–यात्री एकत्रित होते थे, एक हजार ब्राह्मण इस देवालय में पूजन–वंदन करते थे और इसके कोष की रक्षा करते थे, सैकड़ों नर्तक और गायक उसके द्वार पर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इसके अंदर सुप्रसिद्ध लिंग था, जो पाषाण का एक स्थूल स्तंभ था। उस पर हीरे–जवाहरात जड़े हुए थे और वह रत्नजड़ित दीपाधार से सजे–धजे थे और इस देवालय को महिमामंडित करते थे। उसकी प्राचीरों पर काफिर ब्राह्मणों के झुंड एकत्रित रहते थे, जो उन विदेशी काफिरों के निष्फल दर्प का परिहास करते थे जिनके बारे में वे सोचते थे कि उन्हें सोमनाथ भगवान सुनिश्चित रूप से लील लेंगें। विदेशी निर्द्वंद्व दीवारों पर चढ़ गए। भगवान अपने सेवकों की प्रार्थनाओं पर भी मूक बना रहा। पचास हजार हिंदुओं ने अपनी आस्था के कारण यातना भोगी और इस पवित्र देवालय को सच्ची आस्था वालों ने

* डॉ. टाइटस, इंडियन इस्लाम, पृ. 22-23

सोल्लास लूटा। वह महान पाषाण ध्वस्त कर दिया गया और उसके खंडों को विजेता के महल की शोभा बढ़ाने के लिए ले जाया गया। मंदिर के द्वार गज़नी में लगाए गए और मूर्तिभंजकों को दस लाख पौंड मूल्य का खजाना पुरस्कार तुल्य प्राप्त हुआ।"*

गज़नी के मुहम्मद द्वारा किया गया कृत्य एक पावन परंपरा बन गया और उसके बाद के आक्रांताओं ने उसका निष्ठापूर्वक पालन किया। डॉ. टाइटस के शब्दों में :

"मोहम्मद ग़ोरी ने, जो मुहम्मद गज़नी का एक उत्साही उत्तराधिकारी था, अजमेर की विजय के दौरान मूर्तियों वाले मंदिरों के स्तंभों और आधारों को ध्वस्त किया और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करवाया और मकतब बनवाए और इस्लाम के नियम और कानून की प्रथाएं तैयार कर उन्हें स्थापित किया। दिल्ली नगर और उसके आसपास के क्षेत्रों को मूर्तियों और मूर्तिपूजकों से मुक्त कर दिया गया और देव–प्रतिमाओं के स्थान पर एक खुदा की इबादत करने वालों ने मस्जिद खड़ी कर दी।

"कहा जाता है कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने भी लगभग एक हजार मंदिरों को ध्वस्त कर उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी की थीं। उसी लेखक का कहना है कि उसने जामा मस्जिद दिल्ली का निर्माण कराया और उसे उन मंदिरों से प्राप्त हुए स्वर्ण तथा पाषाणों से सजाया जिन्हें हाथियों द्वारा तोड़ा गया था। उसे उन शिलालेखों से भर दिया जिनमें कुरान के आदेश उत्कीर्ण थे। दिल्ली की इस मस्जिद के पूर्वी प्रवेश द्वार पर जो शिलालेख अंकित है, उनमें यह बताया गया है कि इस मस्जिद के निर्माण में 27 मंदिरों की सामग्री का उपयोग किया गया था।

"जामा मस्जिद की कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा बनाई गई एक मीनार के मुकाबले अलाउद्दीन ने दूसरी मीनार बनाने के जोश में, अमीर खुसरो के कथनानुसार, पहाड़ियो से खोदकर पत्थर ही नहीं निकाले, अपितु सामग्री के लिए काफिरो के मंदिरो को भी तोड़ा। दक्षिण भारत की अपनी विजयों में भी अलाउद्दीन ने मंदिरों को उसी तरह तोड़ा जिस तरह उत्तर में उसके पूर्ववर्तियों ने तोड़ा था।

"सुलतान फिरोज शाह ने अपने फतुहात में विस्तृत वर्णन करके

---

* लेन पूल, 'मीडिवल इंडिया', पृ. 26

> यह बताया है कि उसने उन हिंदुओं के साथ किस तरह का व्यवहार किया जिन्होंने नए मंदिरों के बनाने का साहस किया था। जब उन्होंने पैगंबर के कानून के विरूद्ध जिसमें यह घोषित किया गया कि यह सब सहन नहीं किया जाना चाहिए, शहर (दिल्ली) और उसके पास–पड़ोस में ऐसा किया, तो मैंने खुदाई निर्देशों के तहत इन इमारतों को ध्वस्त कर दिया। मैंने काफिरों के उन नेताओं को मार डाला और अन्य को कोड़े लगवाकर तब तक दंडित किया कि जब तक उस बुराई का पूरी तरह उन्मूलन नहीं हो गया जिसमें काफिर और मूर्तिपूजक मूर्तियों की पूजा करते थे। खुदा के रहमोकरम से अब मुसलमान सच्चे खुदा के प्रति अपनी आस्थाओं का परिपालन करते हैं।"*

हमने पढ़ा है कि शाहजहां के शासनकाल में भी उन मंदिरों को तोड़ा गया था जिन्हें हिंदुओं ने पुनः बनाना शुरू किया था और इस तरह हिंदुओं की धर्मपरायणता पर इस सीधे हमले का उल्लेख 'बादशाह नामा' में भी सगौरव दर्ज है :

> "इतिहासकार कहता है कि बादशाह का ध्यान इस ओर दिलाया गया कि पिछले (अकबर के) शासन के दौरान अनेक मंदिरों का, जिनमें मूर्तियां हैं, बनारस में निर्माण शुरू हो गया था, जो अपूर्ण है। वह कुफ्र का सुदृढ़ केंद्र है। काफिर अब उन्हें पूरा करने के इच्छुक है। बादशाह सलामत, जो दीन के रक्षक हैं, ने आदेश दिया कि बनारस और उनकी पूरी सल्तनत में हर जगह उन मंदिरों को गिरा दिया जाए, जिनका निर्माण शुरू हुआ था। इलाहाबाद प्रांत से यह सूचना मिली है कि बनारस जिले में 76 मंदिरों को गिराया गया है।"†

मूर्तिपूजा को उखाड़ फेंकने का अंतिम प्रयास औरंगजेब के जिम्मे आया। 'माआथिर–ए–आलमगीरी' में हिंदू शिक्षा के उन्मूलन और उसके द्वारा मंदिरों का विध्वंस किए जाने का विस्तृत विवरण निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :

> "अप्रैल 1669 ई. में औरंगजेब को यह ज्ञात हुआ कि थट्टा, मुलतान और बनारस प्रांतों, खासतौर पर अंतिम में, मूर्ख ब्राह्मण अपनी पाठशालाओं में तुच्छ पुस्तकों की व्याख्याएं करते हैं और शिष्य, जिनमें मुसलमान और हिंदू दोनों हैं, लंबी दूरी तय कर वहां जाते हैं।

---

* डॉ. टाइटस, 'इंडियन इस्लाम', पृ. 23-24

† वही, पृ. 24

परिणामतः दीन के निगहबान ने सभी प्रांतों के सूबेदारों को यह आदेश दिया कि वे काफिरों की पाठशालाओं और मंदिरों को निस्संकोच गिरवा दें, और उन्हें यह काम भी सौंपा गया कि वे मूर्ति–पूजा की शिखा और चलन को पूरी तरह रोक दें........। बाद में दीन के रक्षक को यह बताया गया कि सरकारी अधिकारियों ने बनारस के विश्वनाथ मंदिर को ध्वस्त कर दिया है।"*

जैसा कि डॉ. टाइटस ने ही लिखा है :

"मुहम्मद और तैमूर जैसे आक्रांता बलात् धर्मांतरण के बजाए आर्थिक भावना अर्थात् लूट से धन–संग्रह, बंदी बनाए लोगों को गुलाम बनाने और धर्मांतरण की तलवार से काफिरों को दोजख भेजने पर ही ज्यादा ध्यान देते थे। परंतु जब शासक स्थाई तौर पर बस गए तो धर्मांतरितों का विश्वास पाना सर्वोच्च महत्व बन गया। राज्य की नीति का यह एक भाग ही बन गया कि सारे देश का धर्म इस्लाम ही बनाया जाए।

"कुतुबुद्दीन ऐबक ने, जिसकी ख्याति मंदिरों को तोड़ने में लगभग उतनी ही थी जितनी बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण और तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मुहम्मद की थी, धर्मांतरण के लिए ताकत का सहारा भी अक्सर लिया था। एक दृष्टांत दिया जा सकता है : जब वह 1194 ई. में कोइल (अलीगढ़) पहुंचा तो तोपखाने में जो लोग चतुर और निपुण थे, उन्हें इस्लाम में दीक्षित कर लिया गया और अन्य लोगों को तलवार से मौत के घाट उतार दिया गया।

"धर्मांतरण के लिए बाध्य करने हेतु जो कठोर कदम उठाए गए, वे अनेकानेक थे। एक हृदय–विदारक मामले का उल्लेख फिरोजशाह के शासन–काल (1351-1388) का है। दिल्ली के एक ब्राह्मण पर आरोप लगाया गया कि वह अपने घर में मूर्तियों की पूजा करता है और यह भी कि वह मुस्लिम महिलाओं को काफिर बना रहा है। उसको पकड़ा गया और उसका मामला न्यायाधीशों, चिकित्सकों, बुजुर्गों और वकीलों के समक्ष पेश किया गया। उन्होंने उत्तर दिया कि कानून के प्रावधान सुस्पष्ट हैं। ब्राह्मण या तो मुसलमान बन जाए अथवा उसे जला दिया जाए। उसे सच्चे दीन से अवगत करा दिया गया और सही राह भी उसे दिखा दी गई, परंतु उसने उसे मानने से इंकार कर दिया। परिणामस्वरूप सुलतान के आदेश से उसे जला दिया गया

* डॉ टाइटस : 'इंडियन इस्लाम', पृ. 22

और टिप्पणीकार ने लिखा है कि – कानून और इंसाफ के प्रति सुल्तान के गहन लगाव को देखो कि किस तरह से वह उसके आदेशों से तनिक भी नहीं डिगते।"[1]

मुहम्मद ने मंदिर ही नहीं तोड़े, अपितु जिन हिंदुओं पर उन्होंने विजय प्राप्त की थी, उन्हें गुलाम बनाना भी उन्होंने अपनी नीति बना ली। डॉ. टाइटस के शब्दों में :

"इस्लाम के भारत से संपर्क में आने की प्रारंभिक अवधि में ही न केवल काफिरों का संहार और उनके मंदिरों का विध्वंस ही किया गया, अपितु, जैसा कि हमने देखा है, पराजितों में से अनेक गुलाम भी बना लिए गए। इन आक्रमणों में लूट के माल का सरदारों और सामान्य सैनिकों के बीच बंटवारा एक विशेष आकर्षण था। प्रतीत होता है कि मुहम्मद ने काफिरों के संहार, उनके मंदिरों और पुजारियों की संपदा की लूट को अपने हमलों का एक विशेष उद्देश्य बना लिया था। बताया जाता है कि अपने पहले हमले में ही वह बहुत अधिक लूट का माल और आधे लाख सुंदर पुरुष और महिला हिंदुओं को गुलाम बनाकर गज़नी ले गया था"।[2]

1070 ई. में जब मुहम्मद ने कन्नौज पर कब्जा किया तो उसने इतनी अधिक संपदा लूटी और लोगों को बंदी बनाया कि "उनकी गणना करने वालों की उंगलियां थक गईं।" 1019 ई. कें आक्रमण के बाद गज़नी और मध्य एशिया में भारतीय गुलाम कितने आम हो गए थे, उसका विवरण करते हुए उस समय का एक इतिहासकार कहता है :[3]

"बंदियों की संख्या का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि हर गुलाम को दो से दस दिरहम तक बेचा गया। बाद में ये गज़नी ले जाए गए और सुदूर नगरों से व्यापारी उन्हें खरीदने आए और गोरे और काले, धनी और निर्धन एक सांझी दासता में जकड़ लिए गए।

"सन् 1202 ई. में जब कुतुबुद्दीन ने कालिंजर पर अधिकार कर लिया मंदिरों को मस्जिदों में बदलने और मूर्तिपूजा का नाम निशान मिटाने के बाद पचास हजार लोग गुलामी के बंधन में जकड़े गए और मैदान हिंदुओं से ठसाठस भरा काला सा दिखाई देने लगा।"

1. डॉ टाइटस : 'इंडियन इस्लाम', पृ. 31-32
2. वही, पृ. 24
3. वही, पृ. 26

जिहाद में जो हिंदू पकड़े जाते, गुलामी ही उनका प्रारब्ध बनती थी। परंतु जब युद्ध नहीं होता था तब भी हिंदुओं का अपमान मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा अपनाए गए हथकंडों का कम महत्वपूर्ण भाग नहीं था। अलाउद्दीन के शासनकाल में चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में कुछ इलाकों में हिंदुओं ने सुल्तान को काफी परेशान किया था। अतएव उसने उन पर ऐसे कर लगाने का फैसला किया जिससे वे पुनः विद्रोह करने का साहस न कर सकें।

> "हिन्दुओं को इस स्थिति में ला दिया गया था कि वे सवारी के लिए घोड़ा नहीं रख सकें, न ही अच्छे वस्त्र पहन सकें और न ही जीवन का कोई और सुखोपयोग कर सकें।"[1]

जजिया कर लगाए जाने के बारे में डा. टाइटस कहते हैं :

> "हिंदुओं द्वारा जजिया का चुकाया जाना मुसलमानों, बादशाहों और शाहों के शासनकाल में भारत के विभिन्न भागों में न्यूनाधिक नियमित ही था, हालांकि कानून अक्सर मात्र सिद्धांततः ही लागू था, क्योंकि यह बादशाह की अपनी मांगों को लागू कराने की योग्यता पर ही पूर्णतः निर्भर था। परंतु अंततः यह महान अकबर के शासनकाल के नौवें वर्ष (1665 ई.) में सारे मुगल साम्राज्य में हटा दिया गया, जबकि इससे पहले यह आठ शताब्दियों से भी अधिक तक भारत में मुस्लिम शासन का एक बुनियादी हिस्सा बना रहा था।"[2]

लेन पूल कहते हैं कि :

> "हिंदुओं पर कर उनकी भूमि के उत्पादन में से आधा तक था और उन्हें अपनी सभी भैंसों, बकरियों और अन्य दुधारू पशुओं पर भी कर चुकाना पड़ता था। धनी और निर्धन सभी को प्रति एकड़ और प्रति पशु की दर से समान रूप से कर चुकाना होता था। कोई भी संग्राहक या अधिकारी, जो रिश्वत लेता था, उसे सरसरी तौर पर सुनवाई के बाद बर्खास्त कर दिया जाता था और उसकी बेंतों, चिमटों से पिटाई की जाती थी और मुश्कें और हथकड़ियां–बेंड़ियां डालने जैसी कड़ी सजा दी जाती थी। नए नियमों को कड़ाई से लागू किया जाता था, ताकि एक राजस्व अधिकारी बीस विशिष्ट हिंदुओं को शिकंजे में कसकर उन पर घूसों से प्रहार करें और वसूली कर सकें। किसी भी हिंदू घर में सोना अथवा चांदी तो क्या, सुपारी, जिसे किसी खुशी

---

1. डॉ टाइटस : इंडियन इस्लाम, पृ. 29
2. वही, पृष्ठ 30

> के अवसर पर पेश किया जाता है, तक भी दिखाई नहीं देती थी; और असहाय बना दिए गए देशज अधिकारियों की पत्नियों को मुस्लिम परिवारों में नौकरी करके गुजारा करना पड़ता था। राजस्व अधिकारियों को प्लेग से भी ज्यादा घातक माना जाने लगा था और किसी का भी सरकारी लिपिक बनाया जाना मौत से भी बुरा माना जाता था, यहां तक कि कोई हिंदू ऐसे किसी व्यक्ति से अपनी बेटी का विवाह नहीं करना चाहता था।*

उस समय के इतिहासकार का कथन है कि ये राजाज्ञाएं इतनी कठोरता से लागू की गई थीं कि चौकीदार, खूट और मुकद्दिम घोड़े की सवारी नहीं कर सकते थे, हथियार नही रख सकते थे, न ही अच्छे कपड़े पहन सकते थे और पान भी नहीं चबा सकते थे....कोई भी हिंदू अपना सिर नहीं उठा सकता था.... वसूली करने के लिए घूंसे मारा जाना, माल भत्ता जब्त किया जाना, कैद और बेड़ियां डाले जाने आदि सभी तरीके अपनाए जाते थे। यह सब कुछ सनक अथवा नैतिक विकृति मात्र का ही परिणाम नहीं था। जो कुछ किया जाता था, वह व्यापक तौर पर इस्लाम के रहनुमाओं की हाकिमों के रूप मे सोच के अनुरूप होता था। सुलतान अलाउद्दीन ने मुस्लिम कानून के अंतर्गत हिंदुओं की स्थिति के बारे में काज़ी से सवाल किया तो काज़ी ने इन्हीं विचारों को भली-भांति स्पष्ट किया था। उसने कहा था :

> "उन्हें ख़िराज (कर) अदा करने वाला कहा जाता है, और जब राजस्व अधिकारी उनसे चांदी मांगे तो उन्हें बिना सवाल उठाए अति विनम्रता और आदर व्यक्त करते हुए सोना देना चाहिए। यदि अधिकारी उनके मुंह में मैला फेंके तो उन्हें संकोच किए बिना अपना मुख खोलकर उसे ले लेना चाहिए....। मुह में मैला फेंके जाने और इस विनम्र अदायगी से धर्म की अपेक्षित अधीनता ही व्यक्त होती है। इस्लाम का गरिमागान एक कर्तव्य है और दीन के प्रति अनादर दंभ है। खुदा उनसे नफरत करता है और उसका कथन है कि उन्हें दासता में रखो। हिंदुओं को अपमानित करना खासतौर पर एक मज़हबी फर्ज है, क्योंकि वे पैंगबर के सर्वाधिक कट्टर दुश्मन है और क्योंकि पैगंबर ने हमें उनका कत्ल करने, उन्हे लूटने और गुलाम बनाने का आदेश यह कहते हुए दिया है-- उन्हें इस्लाम में दीक्षित करो अथवा मार डालो और उन्हे गुलाम बनाओ और उनकी धन-संपदा को नष्ट कर दो। किसी अन्य धर्माचार्य ने नही, अपितु महान धर्माचार्य (हनीफ़) ने जिसकी राह

---

* लेन पूल, 'मिडियल इंडिया', पृ. 104

> के हम अनुगामी हैं, हिंदुओं पर जज़िया लगाए जाने की इजाजत दी है, अन्य पंथों के धर्माचार्य भी किसी अन्य विकल्प की नहीं अपितु 'मौत या इस्लाम' की ही अनुमति देते हैं।"*

मुहम्मद गज़नी के आने और अहमदशाह अब्दाली की वापसी के बीच जो 762 वर्षों की अवधि व्यतीत हुई उसकी यही कहानी है।

हिंदुओं को यह कहने का हक कहां तक है कि उत्तरी भारत आर्यवर्त का भाग है? हिंदुओं को यह कहने का कितना अधिकार है कि चूंकि एक बार यह क्षेत्र उनका था, अतएव हमेशा ही भारत का अविभाज्य अंग रहना चाहिए? जो लोग पृथकता का विरोध करते हैं और अफगानिस्तान सहित उत्तरी भारत जो कभी भारत का भाग था और उस क्षेत्र के लोग बौद्ध अथवा हिंदू थे इस प्राचीन तथ्य से उद्‌भूत 'ऐतिहासिक भावना' पर बल देते हैं, उनसे यह पूछा ही जाना चाहिए कि क्या 762 वर्षों से अनवरत मुस्लिम आक्रमणों की घटनाओं को, जिस उद्‌देश्य से वे किए गए थे और अपने मकसद को पूरा करने के लिए इन आक्रांताओं ने जो हथकंडे अपनाए थे, क्या उन्हें महत्वहीन मान लिया जाए?

इन आक्रमणों की जो अन्य परिणतियां हुई, उनके अलावा भी मेरी राय में उन उत्तरी क्षेत्रों की संस्कृति और स्वरूप में बहुत ठोस बदलाव आया है जिसे अब पाकिस्तान में शामिल करना प्रस्तावित है। स्थिति यह है कि इस क्षेत्र और शेष भारत के बीच एकता तो है ही नहीं, अपितु दोनों के मध्य वास्तविक विद्वेष एक तथ्य बन गया है।

इन आक्रमणों की पहली परिणति उत्तरी भारत और शेष भारत की एकता का विखंडन थी। मुहम्मद गज़नी ने उत्तरी भारत की अपनी विजय के बाद इसे शेष भारत से अलग कर दिया और इस पर गज़नी ने शासन किया। जब एक विजेता के तौर पर मोहम्मद गोरी सामने आया तो उसने इसे पुनः भारत में मिला दिया और इस पर पहले लाहौर से और फिर दिल्ली से शासन किया। अकबर के भाई हाकिम ने काबुल और कंधार को भारत से पृथक किया। अकबर ने उसे पुन. उत्तरी भारत में मिला दिया। सन् 1738 में नादिरशाह ने इन्हें पुनः अलग कर दिया और यदि सिखों के उत्थान ने अवरोध पेश नहीं किया होता तो समूचा उत्तरी भारत ही भारत से कट गया होता। अतएव उत्तरी भारत एक रेलगाड़ी मे लगे डिब्बे जैसा रहा है, जिसे संचालन की परिस्थितियों के अनुसार जोड़ा या अलग किया जा सकता है। यदि सादृश्य ही अपेक्षित हो तो अलसास लौरेन का उदाहरण दिया जा सकता है। अलसास लौरेन मूलतः जर्मनी का एक भाग था,

* डॉ. टाइटस : 'इंडियन इस्लाम', पृ. 29

जैसे कि शेष स्विट्जरलैंड और निचले देश थे। उसकी यही स्थिति 1680 ई. तक बनी रही, जब उसे फ्रांस ने ले लिया और फ्रांसिसी क्षेत्र में विलीन कर लिया। 1871 तक यह फ्रांस का भाग रहा। उसी वर्ष इसे जर्मनी ने अलग कर अपने क्षेत्र का एक हिस्सा बनाया। 1918 ई. में वह फिर जर्मनी से अलग होकर फ्रांस का हिस्सा बना और 1940 ई. में फिर जर्मनी का भाग बना दिया गया।

आक्रांताओं ने जो हथकंडे अपनाए थे, वे अपने पीछे भविष्य में आने वाले परिणाम छोड़ते गए। उनमें से ही एक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की कटुता है, जो उन उपायों की देन है। दोनों के बीच यह कटुता इतनी गहराई से पैठी हुई है कि एक शताब्दी का राजनीतिक जीवन इसे न तो शांत कर पाने में सफल हुआ है और न ही लोग उस कटुता को भुला पाए हैं। क्योंकि इन हमलों के साथ ही साथ मंदिरों का विध्वंस, बलात् धर्मांतरण, संपत्ति की तबाही, संहार और गुलामी तथा नर–नारियों और बालिकाओं का अपमान हुआ था, अतएव क्या यह कोई आश्चर्यजनक बात है कि ये हमले सदैव याद बने रहे हैं। ये मुसलमानों के लिए गर्व का स्रोत बने तो हिंदुओं के लिए शर्म का। परंतु इन बातों के अलावा, भारत का यह पश्चिमोत्तर कोना एक ऐसा मंच भी रहा है जिस पर एक निर्मम नाटक खेला जाता रहा। मुसलमानों के दल एक के बाद दूसरी लहर के रूप में इस क्षेत्र पर चढ़कर आते रहे और वहां से उन्होंने स्वयं को शेष भारत में छितराया। ये छोटी–छोटी धाराओ के रूप में शेष भारत में पहुंचे। समय आने पर वे अपनी सुदूरतम सीमाओं से पीछे भी हटे। जबकि वे वहां रहे तो उन्होंने भारत के इस पश्चिमोत्तर कोने में आर्य–संस्कृति पर इस्लामी संस्कृति का गहन प्रभाव भी छोड़ा, जिसने धार्मिक और राजनीतिक दोनो की दृष्टि से इसे एक सर्वथा अलग रंगत दे दी। मुस्लिम आक्रांता निस्संदेह हिंदुओं के विरूद्ध घृणा के गीत गाते हुए आए थे। परंतु वे घृणा का वह गीत गाकर और मार्ग में कुछ मंदिरों को आग लगा कर ही वापस नहीं लौटे। ऐसा होता तो यह वरदान माना जाता। वे ऐसे नकारात्मक परिणाम मात्र से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने इस्लाम का पौधा लगाते हुए एक सकारात्मक कार्य भी किया। इस पौधे का विकास भी उल्लेखनीय है। यह ग्रीष्म में रोपा गया कोई पौधा नहीं है। यह तो ओक (बांज) वृक्ष की तरह विशाल और सुदृढ़ है। उत्तरी भारत में इसका सर्वाधिक सघन विकास हुआ है। एक के बाद हुए दूसरे हमले ने इसे अन्यत्र कही की भी अपेक्षा अपनी 'गाद' से अधिक भरा है और उन्होंने निष्ठावान मालियों के तुल्य इसमें पानी देने का कार्य किया है। उत्तरी भारत में इसका विकास इतना सघन है कि हिंदू और बौद्ध अवशेष झाडियों के समान होकर रह गए हैं; यहां तक कि सिखों की कुल्हाड़ी भी इस ओक (बांज) वृक्ष को काट कर नहीं गिरा सकी। निस्संदेह सिख उत्तरी भारत के राजनीतिक स्वामी हो गए, परंतु वे उत्तरी भारत को वह आध्यात्मिक

और सांस्कृतिक एकता पुनः प्रदान नहीं करा पाए जिससे वह ह्वेनसांग के पूर्व शेष भारत के साथ आबद्ध था। सिखों ने इसे भारत को वापस तो दिला दिया, परन्तु यह राजीनतिक तौर पर एलसास लौरेन के तुल्य अलग हो सकने वाला और सांस्कृतिक रूप से पराया–सा ही बना रहा और जहां तक शेष भारत का संबंध था, उससे दूर–सा ही रहा। वह कल्पनाहीन व्यक्ति ही होगा जो इन तथ्यों पर ध्यान नहीं दे देगा अथवा इनकी विद्यमानता में इस बात पर आग्रह करेगा कि पाकिस्तान से तात्पर्य एक अखंड क्षेत्र का दो भागों में बंट जाना है।

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच हिंदू कौन सी एकता देखते हैं? यदि यह भौगोलिक एकता है तो वह कोई एकता नहीं है। भौगोलिक एकता प्रकृति–पोषित एकता होती है। भौगोलिक एकता के आधार पर राष्ट्रीयता के निर्माण में यह अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए कि यह 'प्रकृति सुझाती है, मानव निपटाता है' जैसा मामला है। यदि यह बाह्य बातों जैसे कि जीवन–संबंधी आदत और रिवाजों के मामले में हो, तो भी यह कोई एकता नहीं है। ऐसी एकता तो एक सांझे परिवेश का परिणाम होती है। यदि यह प्रशासनिक एकता है तो भी इसे एकता नहीं कहा जा सकता। बर्मा का उदाहरण सामने है। अराकान और तेनासेरिम पर येंदाबू की संधि के तहत 1826 ई. में अधिकार किया गया, पेगू और मातजिन को 1852 में कब्जे में लिया गया, जबकि 1886 में ऊपरी बर्मा को कब्जे में लिया गया। भारत और बर्मा के बीच प्रशासनिक एकता 1926 में स्थापित हो गई थी। यह प्रशासनिक एकता एक सौ दस वर्ष से भी अधिक तक रही। 1937 में वह गांठ काट दी गई जिसने दोनों को बांधा था और किसी व्यक्ति ने एक आंसू तक नहीं गिराया। भारत और बर्मा के बीच एकता कम आधारभूत तो नही थी। एकता यदि स्थाई स्वरूपवाली होनी है तो उसका बंधुता पर आधारित होना आवश्यक है, जो सजातीयता की अनुभूति से प्रेरित हो। संक्षेप मे, यह निश्चित रूप से आध्यात्मिक होनी चाहिए। यदि इन तर्कों और विचारों के आधार पर तोला और परखा जाए, तो पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच एकता एक कल्पित बात भर है। वास्तव में पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच की अपेक्षा हिंदुस्तान और बर्मा के बीच अधिक आध्यात्मिक एकता है। और यदि हिंदू बर्मा के भारत से अलग होने पर आपत्ति नही करते तो यह समझ में आ पाना कठिन है कि हिंदू पाकिस्तान जैसे उस क्षेत्र के अलग होने पर आपत्ति कैसे कर सकते हैं जो शेष भारत से राजनीतिक तौर पर वियोज्य, सामाजिक तौर पर विद्वेषी तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से परकीय है।

अध्याय : 5

रक्षा-व्यवस्था में कमजोरी

पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान की रक्षा के प्रश्न पर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह प्रश्न बहुत तात्कालिक महत्व का नहीं है, क्योंकि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि पाकिस्तान बनते ही वह तुरंत हिंदुस्तान से युद्ध छेड़ देगा। परन्तु चूंकि यह प्रश्न अवश्य उठाया जाएगा, इसलिए इस प्रश्न पर विचार किया जाना श्रेयस्कर होगा।

इस प्रश्न पर तीन शीर्षकों के अंतर्गत विचार, किया जा सकता है : 1. सीमाओं का प्रश्न, 2. संसाधनो का प्रश्न और 3. सशस्त्र सेनाओं का प्रश्न।

I

सीमाओं का प्रश्न

हिंदू यह बात जरूर कहेंगे कि पाकिस्तान से हिंदुस्तान एक तर्कसंगत सीमा के बिना हो जाएगा, तथापि इसका स्वाभाविक उत्तर यह है कि मुसलमानों को पाकिस्तान मांगने का अधिकार छोड़ने के लिए केवल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सीमाओं के मामले मे इसका हिंदुओ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। व्यंग की बात छोड़ दीजिए, परंतु वास्तव में दो बाते हैं जिन पर यदि ध्यान दिया जाए तो मालूम होगा कि इस संबघ मे हिदुओ की आशंकाएं या भय बिलकुल निराधार हैं।

पहली बात तो यह है कि क्या कोई भी देश यह आशा कर सकता है कि उसकी सीमांए ऐसी हों जिन्हें वैज्ञानिक कहा जा सके? जैसा कि नार्थ फ्रंटियर के लेखक मि. डेवीज ने लिखा है :

"यह असंभव होगा कि हमारे भारतीय साम्राज्य के उत्तर–पश्चिम में

> कोई ऐसी सीमा-रेखा बनाई जा सके जो ऐतिहासिक व सांस्कृतिक, राजनीतिक व सैनिक आवश्यकताओं को पूरा कर सके। यह सोचना महज काल्पनिक होगा कि ऐसा क्षेत्र बने जिसकी सुपरिभाषित भौगोलिक विशेषताएं हों, जो परस्पर निकट जनजातीय क्षेत्रों के टुकड़े करके नृ-जातीय सिद्धांतों की अवहेलना न करे और फिर भी राजनीतिक सीमा का काम करे।"

जहां तक इतिहास बताता है, भारत की कोई एक वैज्ञानिक सीमा नहीं रही और अलग-अलग लोगों ने भारत के लिए अलग-अलग सीमाओं का समर्थन किया है। सीमाओं के प्रश्न को लेकर दो नीतियां सामने आई हैं -'अग्रवर्ती या फारवर्ड' नीति और 'वापस सिंध तक' की नीति। सर जार्ज मैकमन के शब्दों में, अग्रवर्ती नीति के दो अभिप्राय है- व्यापक और संकुचित। व्यापक अभिप्राय का अर्थ है अफगानिस्तान के मामलों पर कड़ा नियंत्रण, जो भारत के लिए रक्षा-कवच का काम दे और भारतीय प्रभाव को आमू दरिया तक बढ़ा दे। इसका संकुचित अभिप्राय यह है कि, जैसा डुरेंडलाइन की परिभाषा में बताया गया है, प्रशासित क्षेत्र अर्थात् उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत और अफगानिस्तान के बीच की कबायली पहाड़ियों को मिला लिया जाए और ब्रिटिश नियंत्रण उस लाइन या सीमा तक प्रभावी रहे। भारत की सीमा का सुरक्षा के आधार के लिए अग्रवर्ती नीति का व्यापक अभिप्राय बहुत पहले ही त्याग दिया गया है। फलतः अब हमारे पास चुनने के लिए तीन संभावित सीमा रेखाएं बचती हैं - (1) सिंधु नदी, (2) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत की वर्तमान प्रशासनिक सीमा और (3) डूरेंड लाइन। पाकिस्तान से हिंदुस्तान की सीमा-रेखा वापस सिंघ नदी तक पहुंच जाएगी, बल्कि सिंघ के भी पीछे सतलज नदी तक। परंतु 'वापस सिंघ तक' नीति के समर्थकों की भी कमी नहीं थी। सिंध सीमा का सबसे बड़ा समर्थक था लॉर्ड लारेंस, जो इस बात का घोर विरोधी था कि सिंधु पार की पहाड़ियों की तलहटी से आगे बढ़ा जाए। वह इस बात का समर्थक था कि किसी भी आक्रमणकारी का मुकाबला सिंघ की घाटी में किया जाए। उसकी राय में यह भारी गलती और कमजोरी होगी कि युद्ध सिंध के आधार से बहुत दूरी पर किया जाए, और आक्रमणकारी सेना को अफगानिस्तान और कबायली इलाके में जितना अधिक फासला तय करना पडेगा उतनी ही ज्यादा वहां परेशानी होगी। निस्संदेह दूसरे लोगों का यह कहना है कि रक्षा की दृष्टि से नदी की सीमा काफी कमजोर लाइन या सीमा होती है। तथापि सिंध को सीमा न मानने का एक सुख्य कारण अन्यत्र प्रतीत होता है। मि. डेवीज ने इन शब्दों मे वास्तविक कारण बताया है :

> "जब हम वर्तमान उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के निवासियों की दृष्टि से देखते हैं तो वापस सिंध की आवाज महज एक बेतुकी बात लगती

> है। वहां से हट जाने से न केवल हमारी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा, बल्कि यह उन लोगों को भी भारी धोखा देना होगा जो हमारे कल्याणकारी शासन के अंतर्गत आ रहे हैं।"

वास्तव में इस बात पर जोर देने का कोई लाभ नहीं कि एक विशेष सीमा सबसे अधिक सुरक्षित होगी। इसका सीधासादा कारण यह है कि आज की दुनिया में भौगोलिक परिस्थितियां निर्णायक नहीं हैं और आधुनिक तकनीकों के सामने सीमाओं का पुराना महत्व बहुत कम हो गया है, चाहे वहां पर ऊंचे–ऊंचे शक्तिशाली पर्वत, बड़े–बड़े झरने, विशालकाय महासागर या दूर–दूर तक फैले रेगिस्तान क्यों न हों।

दूसरी बात यह है कि जिन देशों की प्राकृतिक सीमाएं नहीं होतीं, वे भी इस कमी पर काबू पा लेने के तरीके ढूंढ लेते हैं। ऐसे देशों की कमी नहीं जिनकी प्राकृतिक सीमाएं नहीं है, परन्तु सभी ने प्रकृति की कमी को दूर करने के लिए कृत्रिम बाधाएं खड़ी करके रक्षा–पंक्तियां मजबूत कर ली हैं, जो प्राकृतिक बाधाओं से अधिक अभेद्य हैं। यह मानने का कोई कारण नहीं कि हिंदू वह नहीं कर पाएंगे जो अन्य देशों ने किया है। साधन होने पर हिंदुओं को इस बात से डरने की कोई जरूरत नहीं कि उनके पास प्राकृतिक दृष्टि से सुरक्षित सीमाएं नहीं हैं।

II

संसाधनों का प्रश्न

प्राकृतिक सीमाओं से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न संसाधनों का है। यदि अपेक्षित उपकरणों के लिए पर्याप्त संसाधन हों तो अप्राकृतिक या कमजोर सीमाओं के कारण पैदा होनवाली कठिनाइयों पर काबू पाया जा सकता है। इसलिए हमें पाकिस्तान और हिंदुस्तान के तुलनात्मक संसाधनों के बारे में अवश्य विचार करना चाहिए। नीचे दिए गए आंकड़ों से इनके तुलनात्मक संसाधनों का पता चलता है :

पाकिस्तान के संसाधन

प्रांत	क्षेत्रफल	जनसंख्या	राजस्व*
उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत	13,518	2,425,003	1,90,11,842
पंजाब	91,919	23,551,210	12,53,87,730
सिंध	46,378	3,887,070	9,56,76,269
बलूचिस्तान	54,228	420,648	--------------
बंगाल	82,955	50,000,000	36,55,62,485
योग	288,998	80,283,931	60,56,38,326

* राजस्व के अंतर्गत प्रांतीय सरकारों द्वारा प्रांतीय स्रोतों से और केन्द्रीय सरकार द्वारा केंद्रीय स्रोतों से एकत्र किया गया राजस्व शामिल है।

हिंदुस्तान के संसाधन

प्रांत	क्षेत्रफल	जनसंख्या	राजस्व*
अजमेर–मेरवाड़	2,711	5,60,292	21,00,000
आसाम	55,014	8,622,251	4,46,04,441
बिहार	69,348	32,371,434	6,78,21,588
बम्बई	77,271	18,000,000	34,98,03,800
मध्यप्रांत (सी.पी.) और बरार	99,957	15,507,723	4,58,83,962
कुर्ग	1,593	163,327	11,00,000
दिल्ली	573	636,246	70,00,000
मद्रास	142,277	46,000,000	25,66,71,265
उड़ीसा	32,695	8,043,681	87,67,269
संयुक्त प्रांत	206,248	48,408,763	16,85,52,881
योग	607,657	178,513,919	96,24,05,206

* राजस्व के अंतर्गत प्रांतीय सरकारों द्वारा प्रांतों में प्रांतीय स्रोतों से तथा केंद्रीय सरकार द्वारा केंद्रीय स्रोतों से एकत्र किया गया राजस्व शामिल है।

ये सकल आंकड़े हैं। इनमें कुछ कमी–बेशी हो सकती है। केंद्रीय सरकार ने रेलों, मुद्रा और डाक–तार से जो राजस्व प्राप्त किया, उसे इसमें नहीं जोड़ा गया है; क्योंकि यह पता लगाना संभव नहीं कि हर प्रांत से कितना राजस्व इकट्ठा किया गया। जब यह पता चल जाएगा तो राजस्व के आंकड़ों में कुछ जोड़ना पड़ेगा। इस बारे में कोई संदेह नहीं कि राजस्व की इन मदों का जो हिस्सा हिंदुस्तान को मिलेगा, वह पाकिस्तान को मिलने वाले हिस्से से कहीं अधिक होगा। जैसे इन आंकड़ों में कुछ जोड़ना पड़ेगा, वैसे ही कुछ घटाना भी पड़ेगा। तथापि इनमें से अधिकांश पाकिस्तान के हिस्से में से घटाए जाएंगे, क्योंकि पंजाब का कुछ भाग पश्चिमी पाकिस्तान के हिस्से में से निकालना पड़ेगा। इसी तरह बंगाल का कुछ भाग प्रस्तावित पूर्वी पाकिस्तान के हिस्से से घटाया जाएगा, यद्यपि आसाम का एक ज़िला उसमें जोड़ना होगा। मेरे हिसाब से बंगाल से 15 जिले और पंजाब से 13 जिले अलग करने पड़ेंगे। पर्याप्त आंकड़ों के अभाव में इस बारे में कोई भी ठीक–ठीक नहीं बता सकता कि इन जिलों को निकालने से क्षेत्रफल, जनसंख्या और राजस्व के आंकड़ों में कितनी कमी आ जाएगी। तथापि बहुत मोटा अंदाज लगाया जा सकता है कि जहां तक पंजाब और बंगाल का सवाल है, उनका राजस्व आधा हो जाएगा। पाकिस्तान जो खोएगा, स्वभावतः वह हिंदुस्तान को मिलेगा। अगर इसे निश्चित रूप से बताना हो तो पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान का राजस्व 60 करोड़ रूपए में से 24 करोड़ रुपए कम हो जाएगा, अर्थात् 36 करोड़ रुपए, जबकि हिंदुस्तान का राजस्व 96 करोड़ जमा 24 करोड़, अर्थात् लगभग 120 करोड़ रुपए हो जाएगा।

मेरी टिप्पणियों के संदर्भ में इन आंकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि हिंदुस्तान के संसाधन पाकिस्तान के संसाधनों के मुकाबले कहीं अधिक हैं, चाहे क्षेत्रफल हो, राजस्व हो या जनसंख्या। इसलिए संसाधनों की दृष्टि से तो आशंका की कोई बात नहीं, क्योंकि पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान कमजोर स्थिति में नहीं आ जाएगा।

III

सशस्त्र सेनाओं का प्रश्न

किसी देश की रक्षा उसकी प्रकृति सीमाओं पर इतना निर्भर नहीं करती, जितना उसके संसाधनों पर। परंतु संसाधनों से भी कहीं अधिक यह निर्भर करती है उसके पास उपलब्ध लड़ाकू सेनाओं पर।

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के पास कितनी लड़ाकू सेनाएं उपलब्ध हैं?

साइमन कमीशन ने कहा था कि भारत की रक्षा समस्या का एक विशिष्ट पहलू यह है कि कुछ विशेष इलाके ऐसे हैं जहां से भारतीय सेना की भरती होती है और अन्य ऐसे इलाके हैं जहां से भरती बिल्कुल नहीं होती या न के बराबर होती है। निम्नलिखित सारणी में साइमन कमीशन की रिपोर्ट से जो आंकड़े दिए गए हैं, उनसे प्राप्त तथ्यों से निस्संदेह भारत की रक्षा में रुचि लेने वाले भारतीयों को आशातीत आश्चर्य होगा :

क्र. सं.	भरती के क्षेत्र	भरती किए गए सैनिकों की संख्या
1.	उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत	5,600
2.	कश्मीर	6,500
3.	पंजाब	86,000
4.	बलूचिस्तान	300
5.	नेपाल	19,000
6.	संयुक्त प्रांत	16,500
7.	राजपूताना	7,000
8.	सेंट्रल इंडिया (मध्य भारत)	200
9.	बम्बई	7,000
10.	मध्यप्रांत	100
11.	बिहार और उड़ीसा	300
12.	बंगाल	कुछ नहीं
13.	आसाम	कुछ नहीं
14.	बर्मा	3,000
15.	हैदराबाद	700
16.	मैसूर	100
17.	मद्रास	4,000
18.	विविध	1,900
	योग	1,58,200

साइमन कमीशन को लगा कि भारत के लिए यह स्थिति स्वाभाविक है और अपनी बात के समर्थन में उसने विश्व युद्ध के समय विभिन्न प्रांतों में भरती के आंकड़े उद्धृत किए, क्योंकि विशेषकर उस समय नहीं कहा जा सकता था कि किसी क्षेत्र विशेष में भरती को निरूत्साहित किया गया था।

प्रांत	भरती किए गए लड़ाकू सैनिक	भरती किए गए गैर-लड़ाकू सैनिक	योग
मद्रास	51,223	41,117	92,340
बम्बई	41,272	30,211	71,483
बंगाल	7,117	51,935	59,052
संयुक्त प्रांत	163,578	117,565	2,81,243
पंजाब	349,688	97,288	4,46,976
उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत	32,181	13,050	45,231
बलूचिस्तान	1,761	327	2,088
बर्मा	14,094	4,579	18,673
बिहार और उड़ीसा	8,576	32,976	41,552
मध्य प्रांत	5,376	9,631	15,007
आसाम	942	14,182	15,124
अजमेर–मेरवाड़	7,341	1,632	8,973
नेपाल	58,904	----	58,904
योग	742,053	414,493	1,156,546

उपयुर्क्त आंकड़ों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि भारत की रक्षा के लिए उपलब्ध लड़ाकू सेनाओं में से अधिकांश सेना उन क्षेत्रों में से आती है जिन्हें पाकिस्तान में शामिल किया जाना है। इस आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि बिना पाकिस्तान के हिंदुस्तान अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

साइमन कमीशन ने जो तथ्य दिए हैं, उन पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता। परंतु उसे उन निष्कर्षों का आधार भी नहीं बनाया जा सकता जिसका सुझाव साइमन कमीशन ने दिया था, अर्थात् केवल पाकिस्तान फौजी पदा कर

सकता है, हिंदुस्तान नहीं। जैसा कि नीचे दिए गए विचारों से पता चलता है, ऐसा निष्कर्ष पूर्णतः भ्रामक है।

पहली बात तो यह है कि साइमन कमीशन जिस बात को भारत के लिए विशिष्ट समझता है, वह वास्तव में इतनी विशिष्ट है नहीं। जो बात विशिष्ट लगती है, वह लोगों के किसी आंतरिक दोष के कारण नहीं है। गत वर्षों में अंग्रेज सरकार की भर्ती नीति के कारण यह विशिष्टता पैदा हुई हैं। हिंदुस्तानी फौज में उत्तर–पश्चिम के लोगों की प्रमुखता का कारण सरकारी तौर पर यह बताया गया कि वे बहादुर (मार्शल) होते हैं। श्री चौधरी[1] ने अपने अकाट्य तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह व्याख्या सच्चाई से कोसों दूर है। उन्होंने यह दिखाया है कि फौज में उत्तर–पश्चिम के लोगों की प्रमुखता 1857 के गदर के दिनों से ही हो गई थी, अर्थात् 1879 में स्पेशल आर्मी कमेटी द्वारा, जो उसी वर्ष नियुक्त हुई थी, पहली बार मार्शल और गैर–मार्शल जातियों के सिद्धात को अस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किए जाने से बीस वर्ष पहले;[2] और उनकी प्रमुखता का कारण इन जातियों की लड़ाई लड़ने की क्षमता नहीं, बल्कि यह था कि उन्होंने गदर को दबाने में अंग्रेजों की पूरी मदद की थी जिसमें बंगाल आर्मी पूरी तरह शामिल हो गई थी। श्री चौधरी के शब्दों में :

> "गदर–पूर्व बंगाल की फौज गंगा बेसिन की ब्राह्मण और क्षत्रिय फौज थी। जैसा कि इस लेख के पहले भाग में हमने बताया है, उन दिनों की तीनों प्रेसिडेंसी फौजें अपने क्षेत्रों की सैनिक क्षमताओं का पूरी तरह प्रतिनिधित्व करती थीं, तथापि उन्हें किसी भी तरह संबद्ध प्रांतों की राष्ट्रीय सेना की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि उन दिनों ऐसी कोई चेष्टा नहीं की गई थी कि जनता की परंपरागत युद्धजीवी जातियों के अतिरिक्त भी फौज में भरती की जाए। परंतु वे सब संभावित क्षेत्रों से अपने सैनिक भरती करते थे, जैसे मद्रास आर्मी तमिल और तेलगु क्षेत्रों से भरती की जाती थी, बंबई आर्मी पश्चिम भारत से, बंगाल आर्मी बिहार और संयुक्त प्रांत से और बहुत सीमित संख्या में बंगाल से। किसी कबीले या जाति या क्षेत्र से भरती करने पर कोई सरकारी पाबंदी नहीं थी, बशर्ते वे भरती के पात्र हों। कुछ देर के लिए बंबई

1. देखिए, 'द मार्शल रेसिज ऑफ इंडिया', शीर्षक से मॉडर्न रिव्यू के जुलाई 1930, सितम्बर 1930, जनवरी 1931, और फरवरी 1931 के अंकों में प्रकाशित लेख।
2. कमेटी ने जो प्रश्नावली जारी की थी, उसमें यह प्रश्न भी शामिल था–यदि ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक कुशल और उपलब्ध भारतीय फौज के रिजर्व को आवश्यक समझा जाए तो क्या उसे देश के उन भागों से भरती नहीं किया जाना चाहिए जहां से हमें सर्वोत्तम फौजी मिलते हैं, बजाय इसके कि वह देश की निर्बलतम और सबसे कम युद्धजीवी जातियों से भर्ती की जाए?

और मद्रास की फौज को छोड़ दें, तो इस नियम का एकमात्र अपवाद बंगाल फौज में था जो पंजाबियों और सिखों पर लागू होता था, जिन्हें उनकी शानदार सैनिक परंपरा के बावजूद उत्तरी भारत की सेना में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला था। इसके विपरीत एक सरकारी आदेश द्वारा उनकी भरती पर कड़े प्रतिबंध लगे हुए थे। आदेश के अनुसार एक रेजीमेंट में पंजाबियों की संख्या दो सौ से अधिक नही होनी चाहिए, उनमें से एक सौ से ज्यादा सिख नहीं होने चाहए। यह तो बंगाल आर्मी की हिंदुस्तानी रेजीमेंट के विद्रोह के कारण ही पंजाबियों को अंग्रेज अधिकारियों की आंखों में आने का मौका मिला। उस समय तक वे संदेह के पात्र थे और प्रतिबंध के शिकार थे। और गदर से पहले बंगाल आर्मी मे मुख्यतः अवध, उत्तर और दक्षिण बिहार– विशेषकर दक्षिण बिहार के धनबाद और भोजपुर – गंगा और जमुना के दोआब और रूहेलखंड से भरती की जाती थी। इन क्षेत्रों से भरती किए जानेवाले सैनिक मुख्यमतः ऊंची जातियों के लोग होते थे, अर्थात् सभी वर्णों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजपूत और अहीर। एक रेजिमेंट में जिस औसत अनुपात में इन वर्गों के लोग भरती किए जाते थे, वह इस प्रकार था – 1. ब्राह्मण 7/24, 2. राजपूत 1/4, 3. नीची जातियों के हिंदू, 1/6, 4. मुसलमान 1/6, 5. पंजाबी 1/8 ।

"इस फौज में आजकल जिस क्षेत्र से सबसे अधिक फौजी भरती किए जाते हैं वे हैं – पंजाब, नेपाल, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, कुमायूं और गढ़वाल के पहाड़ी इलाके। राजपूताना से या तो रंगरूट लिए ही नहीं जाते थे या बहुत ही कम लिए जाते थे। वस्तुतः भारत की सभी प्रसिद्ध लड़ाकू जातियों को फौज से बाहर रखा जाता था, जैसे सिख, गुरखा, पंजाबी, मुसलमान, डोगरा, जाट, पठान, गढ़वाली, राजपूताना राजपूत, कुमाउंनी, गूजर – ऐसे लोग जिन्हें आज हिंदुस्तानी फौज का मजबूत स्तंभ समझा जाता है। एक ही वर्ष में और एक ही विद्रोह से यह सब कुछ बदल गया। 1857 में शुरू हुए गदर ने पुरानी बंगाल फौज को उड़ा दिया तथा उसकी जगह पंजाबी और अन्य बर्बर लोगों ने ले ली। आज मोटे तौर पर हिंदुस्तान की फौज की रचना इसी अनुपात में है।

"हिंदुस्तानी रेजीमेंटों में बंगाल की फौज के विद्रोह के फलस्वरूप जो जगह खाली हुई, उसे तुरंत ही सिखों और अन्य पंजाबियों तथा पहाड़ी लोगों से भर दिया गया जो बदला लेने और हिंदुस्तान के शहरों को लूटने के लिए बेहद उत्सुक थे। अंग्रेजों ने उन सब पर

हिंदुस्तानी फौजियों की मदद से विजय पाई थी और उन्हें अपने अधीन किया था, और उन्होंने अपनी अज्ञानतावश मुट्ठी भर अंग्रेजों की जगह हिंदुस्तानी फौजियों को ही अपना असली दुश्मन समझ लिया। अंग्रेज अधिकारियों ने गदर को दबाने के लिए इस दुश्मनी का भरपूर उपयोग किया। जब लॉर्ड डलहौजी को इंगलैंड में गुरखों की भरती का समाचार मिला तो उसने बहुत संतोष व्यक्त किया और अपने एक दोस्त को लिखा कि विश्वासपूर्वक इस बात की आशा की जा सकती है कि अवध के सिपाहियों के विरूद्ध तो वे दानवों की तरह लड़ेंगे; और गदर के बाद हिंदुस्तानी फौज के सेनापति जनरल मैंस फील्ड ने सिखों के बारे में कहा कि यह इसलिए नहीं कि सिख हमसे प्यार करते थे, बल्कि इसलिए कि वे हिंदुस्तान से नफरत करते थे और बंगाल आर्मी से नफरत करते थे। बजाय इसके कि सिख अपनी आजादी के लिए दोबारा लड़ते, वे हमारे स्तर तक आ गए थे। वे बदला लेना चाहते थे और हिंदुस्तानी शहरों को लूट कर अमीर बनना चाहते थे। वे महज दैनिक वेतन–भत्तों से आकृष्ट नहीं हुए थे, वे तो जी–भर कर लूट–मार करने और अपने दुश्मनों का सिर कलम करने के लिए भरती हुए थे। संक्षेप में इस तरह हमें रणजीत सिंह की पुरानी खालसा फौज की एकता और साझे हितों की भावना से लाभ हुआ, और जब तक उनके पुराने दुश्मनों के विरूद्ध उनकी सेवाओं का लाभ उठाया जाता रहेगा, तब तक सिख हमारे साथ जरूर ही बंधे रहेंगे।

"इस तरह स्थापित संबंध वास्तव में कहीं ज्यादा समय तक चले। गदर के दौरान गुरखों और सिखों ने जो सेवाएं कीं, उन्हें भुलाया नहीं गया और तभी से पंजाब और नेपाल को भारतीय फौज में सम्मानजनक स्थान मिला हुआ है।"

श्री चौधरी का यह कथन ठीक है कि यह 1857 का गदर ही था जिसके कारण हिंदुस्तानी फौज में उत्तर–पश्चिम के लोगों की बहुतायत हुई है और इस पर संदेह की कोई गुंजाइश नही हो सकती। श्री चौधरी की यह राय भी निर्विवाद है कि उत्तर–पश्चिम के लोगो की बहुतायत उनके लड़ाकू गुणो की श्रेष्ठता के कारण नहीं है, जैसा कि उनके द्वारा एकत्र नीचे दिए गए आंकड़ों से भी स्पष्ट होता है कि गदर से पहले और गदर के बाद हिंदुस्तानी पैदल फौज के गठन का स्वरूप क्या था।

हिंदुस्तानी पैदल फौज के गठन में परिवर्तन

विभिन्न भागों के लोगों का प्रतिशत

वर्ष	उत्तर–पश्चिमी भारत		उत्तर पूर्वी भारत	दक्षिण	बर्मा
	पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत, कश्मीर	नेपाल गढ़वाल कुमाऊं	संयुक्त प्रांत, बिहार	भारत	
1856	10 से कम	नगण्य	90 से कम नहीं	—	शून्य
1858	47	6	47	—	शुन्य
1883	48	17	35	—	शून्य
1893	53	24	23	—	शून्य
1905	47	15	22	16	शून्य
1919	46	14.8	25.5	12	1.7
1930	58.5	22	11.0	5.5	3

इन आंकडों से पता चलता है कि सन् 1856 में, गदर से एक साल पहले तक हिंदुस्तानी फौजी में उत्तर–पश्चिम के लोगों की संख्या नहीं के बराबर थी। परंतु गदर के एक साल बाद सन 1858 में उन्हें सेना में बहुत प्रमुख स्थान मिल गया, जिसे फिर कभी धक्का नहीं लगा।

इस तरह यह देखा जा सकता है कि एक सिद्धांत के नाते जब पहली बार 1879 में लड़ाकू जातियो में भेद किया गया, जिसे बाद में लॉर्ड राबर्ट्स* ने गंभीर विचार योग्य बताया, और जिले अंततः लॉर्ड किचनर ने हिंदुस्तानी फौज में भर्ती के सिद्धांत के रूप में अपना लिया, उससे इस बात को कोई संबंध नहीं कि हिंदुस्तानी फौज में उत्तर–पश्चिम के लोगों को इतना प्रमुख स्थान मिलने की शुरूआत कैसे हुई। निस्संदेह इस बात के महत्वपूर्ण परिणाम निकले कि भाग्यवश उत्तर–पश्चिम के लोगों को लड़ाकू जाति का घोषित

* अपनी 'फोर्टीवन ईयर्स' में उसने लिख – हरेक सर्दी के मौसम में यह पता लगाने के लिए मैं लंबे–लंबे दौरे करता था कि मद्रास आर्मी के जवानों की जरूरतें और क्षमताएं क्या हैं। मैने यह पता लगाने के लिए बड़ी मेहनत की कि उनमें ऐसे कौन से लड़ाकू गुण हैं जो उन्हें पिछली और इस शताब्दी के शुरू में होनेवाले युद्धों में अलग से विशिष्ट बनाते है, और विवश होकर मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ा कि उनसे प्राचीन सैनिक भावना कर चुकी है, उसी तरह जैसे कि वह बंगाल के आम हिंदुस्तानी और बम्बई के मराठा मे भर चुकी है। और उन्हें बिना खतरे के अन्य लड़ाकू जातियों के विरूद्ध या दक्षिणी भारत की सीमा के बाहर लड़ाई में नही भेजा जा सकता।

कर दिया गया और शेष भारत के अधिकांश लोगों का दुर्भाग्य कि उन्हें गैर–लड़ाकू जातियां घोषित कर दिया गया। फौज में नियमित रूप से नौकरी मिलने के कारण उत्तर–पश्चिम के लोगों ने समझ लिया कि फौज की नौकरी उनकी जीविका है जिसमें उन्हें सुरक्षा भी मिली हुई है, और वह उनका पेशा भी है जो भारत के शेष भागों के लोगों को उपलब्ध नहीं था। इसलिए उत्तर–पश्चिम के लोंगों की फौज में भरती होने वालों की भारी संख्या इसके सिवाय और कुछ नहीं दिखाती कि ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण फौज की नौकरी उनके लिए जीविका बन गई थी और यदि भारत के अन्य भागों के लोग अपने आप फौज में भरती होने नहीं आते तो इसका कारण यह है कि सरकार उन्हें फौज में भरती ही नहीं करती थी। लोग चाहे पसंद करें या न करें, पर वे अपना पुश्तैनी धंधा अपनाते हैं। जब लोग कोई नया धंधा नहीं अपनाते तो उसका मतलब जरूरी तौर पर यह नहीं होता कि वे नया धंधा अपनाने के योग्य ही नहीं हैं। इसका तात्पर्य केवल यह होता है कि यह उनके पुरखों का धंधा नहीं है।

लड़ाकू और गैर–लड़ाकू जातियों के बीच का विभाजन पूर्णतः मनमाने और कृत्रिम ढंग से किया गया है। यह हिंदुओं की जाति–प्रथा जैसा ही मूर्खतापूर्ण है, जिसमें योग्यता के बजाय जन्म के आधार पर मान्यता मिलती है। एक समय था जब सरकार इस बात पर जोर देती थी कि उसने जो विभेद किया है, वह वास्तविक विभेद है और लड़ाकू गुणों के आधार पर इसका तात्पर्य होता है लड़ाकूपन की अमुक मात्रा। वास्तव में इसी तर्क के आधार पर वह भारत के उत्तर–पश्चिम से ज्यादा लोगों के भरती करने को न्यायोचित ठहराते थे। पर इस विभेद का लड़ाकू गुणों से कोई मतलब नहीं था जो अब भारत के पिछले प्रधान सेनापति सर फिलिप चेटवीड* ने भी स्वीकार कर लिया है। भारतीय सेना की संरचना के बारे में लंदन से एक प्रसारण में उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की कि पंजाब से बड़े अनुपात में भरती का यह अर्थ नहीं कि प्रायद्वीप के अन्य लोगों में लड़ाकू गुण होते ही नहीं। सर फिलिप चेटवीड ने बताया कि हिंदुस्तानी फौज में उत्तर के लोग बड़ी संख्या में जिस कारण से भरती किए जाते थे वह था जलवायु का, क्योंकि दक्षिण के लोग उत्तर भारत की कड़ाकेदार सर्दी और झुलसानेवाली् गर्मी सहन नहीं कर सकते। कोई भी जाति ऐसी नहीं हो सकती जिसमें स्थाई तौर से लड़ाकू गुण न हो। लड़ाकूपन की भावना कोई जन्मजात सहज वृत्ति नहीं होती। यह तो प्रशिक्षण से आती है और प्रशिक्षित किसी भी व्यक्ति को किया जा सकता है।

परंतु इस धारणा के अतिरिक्त भी, हिंदुस्तान में काफी बड़ी संख्या में लड़ाकू

---

* इंडियन सोशल रिफार्मर, 27 जनवरी,1940

गुणों वाले लोग हैं जो विशेष प्रशिक्षण से तैयार किए जाने वाले लोगों से अलग हैं। इनमें सिख भी हैं, जिसके लड़ाकू गुणों के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। फिर राजपूत हैं जिन्हें अब भी लड़ाकू जातियों के वर्ग में शामिल किया जाता है। इनके अतिरिक्त मराठे हैं, जिन्होंने पिछले यूरोपियन युद्ध में एक लड़ाकू जाति के रूप में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी थी। फौजी उद्देश्यों की दृष्टि से मद्रास प्रेसीडेंसी के लोगों पर भी भरोसा किया जा सकता है। भारत में एक समय प्रधान सेनापति रहे जनरल फ्रेडरिक पी. हाएनेस ने फौजी के रूप में मद्रासियों के बारे में ये शब्द कहे थे:

> "यह कहना एक आदत सी बन गई है कि मद्रास फौज ऐसे जवानों से बनी है जो बंगाल फौज के जवानों से शारीरिक दृष्टि से हीन हैं परन्तु और यदि केवल कद–काठी को देखा जाए तो यह बात सच है। यह भी कहा जाता है कि परिस्थितियों के कारण मद्रास फौज मे वह लड़ाकू भावना और गुण अब नहीं पाए जाते जो असली फौजी मे होने चाहिए। मैं उक्त धारणाओ और ऐसी सभी धारणाओं को अस्वीकार करता हूं जो मद्रास के फौजियों को अपेक्षाकृत घटिया बताती है। यह सच है कि हाल के वर्षों में उन्होंने कोई लड़ाई नहीं देखी, क्योंकि सफरमैना के अतिरिक्त उन्हें विशेष रूप से युद्ध के काम से अलग रखा गया है। मैं एक क्षण के लिए भी यह स्वीकार नहीं कर सकता कि कोई ऐसी बात हुई जिससे पता चले कि मद्रासी सिपाही एक लड़ाकू जवान के रूप में घटिया होता है। ऐतिहासिक तथ्य तो हमें इसकी उल्टी बात बताते हैं। कवायद के प्रशिक्षण और अनुशासन में मद्रासी सिपाही किसी से घटिया नहीं हैं। जहां तक स्वास्थ्य की बात है, जैसा कि रिपोर्टों से पता चलता है, वह तुलनात्मक दृष्टि से अपने पड़ोसियों से कम नहीं हैं। उनके सफरमैनों और साथियों ने खैबर में यह दिखा दिया है, और उनके सफरमैन भी उसी जाति के हैं जिस जाति के कि सिपाही हैं।"

इसलिए हिंदुस्तान को इस बारे में कोई आशंका नहीं होनी चाहिए कि अपने लोगों में से उसे लड़ाकू फौज के लिए पर्याप्त लोग नहीं मिलेंगे। पाकिस्तान के अलग होने से वह इस दृष्टि से कमजोर नहीं होगा।

साइमन कमीशन ने हिंदुस्तानी फौज के तीन गुणों की ओर ध्यान दिलाया, जो उसे हिंदुस्तानी फौज की अलग विशेषता और विशिष्टता लगती थीं। उसने कहा था कि हिंदुस्तानी फौज के दो तरह के काम हैं। एक तो अफगानिस्तान

की सीमा से लगते भारतीय इलाके के आजाद कबायलियों को निचले मैदानी इलाकों में रहनेवाले शांतिप्रिय नागरिकों पर हमला करने से रोकना। दूसरा, उन देशों के आक्रमणों से हिंदुस्तान की रक्षा करना जो इन अनिर्धारित सीमाओं के पीछे या उसके और पार के हैं। कमीशन ने इस जानकारी पर ध्यान दिया कि 1850 से 1922 के बीच आजाद कबायलियों कि विरूद्ध 72 बार कार्रवाई की गई, अर्थात् औसतन साल में एक बार। कमीशन ने इस तथ्य पर भी ध्यान दिया कि इस अनिर्धारित सीमा के पीछे के तथा उसके और पार देशों में वह रास्ता है, जहां से युगों–युगो से हिंदुस्तान की प्रादेशिक अखंडता पर खतरा मंडराता रहा है। इस हिस्से मे ऐसे देश हैं जो कमीशन के अनुसार लीग ऑफ नेशंस के सदस्य नहीं है। और इसलिए अब वे पहले की अपेक्षा हिंदुस्तान के लिए अधिक बड़ा खतरा बन बए है। कमीशन बराबर इस बात पर जोर देता रहा कि ये दो तथ्य हिंदुस्तान की सैनिक सुरक्षा की समस्या का विशिष्ट पहलू हैं। और जहां तक इस समस्या के तात्कालिक महत्व और काबलियत का सवाल है, तो ब्रिटिश साम्राज्य में उससे मिलती–जुलती समस्या कही भी नहीं है जिसके कारण स्वायत्त शासन का विकास करने में ऐसी कठिनाई हो रही है जो तुलनात्मक रूप में अन्य स्वायत्तशासी उपनिवेशों के सामने नहीं आईं?

भारतीय सेना की एक दूसरी अनूठी विशिष्टता के बारे मे कमीशन ने टिप्पणी की :

> "हिंदुस्तान में फौज की व्यवस्था और संगठन न केवल इसलिए किया जाता है कि वह अपवाद–स्वरूप होनेवाले आक्रमणों से रक्षा करे, बल्कि इसे सारे देश मे फैलाकर इसलिए भी रखा जाता है कि वह देश में शांति बनाए रखे, या उसे पुनः बहाल करे। सभी देशों में.... सामान्यतया फौज इस तरह तैनात नहीं की जाती और न ही वह इस काम के लिए सगठित की जाती है। किंतु भारत का मामला बिल्कुल अलग है। वर्ष में कई बार फौज का प्रयोग भीतरी गड़बड़ी को रोकने के लिए किया जाता है और यदि जरूरी हो तो इसे कुचल डालने के लिए भी किया जाता है। पुलिस अपने वर्तमान रूप में यद्यपि बडे अच्छे ढंग से संगठित है, परंतु उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि धर्मांधता के कारण जब कोई भीड़ अचानक हिंसा पर उतारू हो जाए तो वह उसका सामना कर सके। इसलिए भारत मे पुलिस और फौज दोनों इस बात को अच्छी तरह समझती हैं, और उससे भी बढकर जनता समझती है, कि सैनिको को बुलाया जा सकता है। आंतरिक व्यवस्था बनाए रखने अथवा बहाल करने के लिए सेना का प्रयोग घटने की बजाए बढ रहा था और इन परिस्थितियों में वस्तुतः

> सर्वदा ब्रिटिश टुकड़ियों के लिए अनुरोध किया जाता था। वास्तव में, शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में इन कार्यों में तैनाती के लिए भारतीय टुकड़ियों की अपेक्षा ब्रिटिश टुकड़ियों का अनुपात बढ़ गया। इसका कारण ब्रिटिश सैनिक की निष्पक्षता थी तथा उस पर यह संदेह नहीं किया जा सकता था कि वह मुस्लिमों के विरूद्ध हिन्दुओं या हिन्दुओं के विरूद्ध मुस्लिमों का पक्ष लेगा। .....इतना ही नहीं, अधिकांश दंगे जिनमें सेना के हस्तक्षेप की जरूरत होती है वे साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक प्रकृति के होते हैं, और इसलिए यह स्वाभाविक और अनिवार्य हो जाता है कि सरकारी हस्तक्षेप निष्पक्ष, प्रभावी तथा दोनों पक्षों के संदेह से परे हो। इस सम्बन्ध में यह ध्यान आकृष्ट कराने वाला तथ्य है कि सम्पूर्ण भारत में सेना की नियमित यूनिटों में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या कम है और उनका अनुपात 2½ और 1 का है। किंतु आंतरिक सुरक्षा के लिए आवंटित टुकडी में यह अनुपात विपरीत हो जाता है और इस उद्देश्य के लिए ब्रिटिश टुकडियों की तैनाती में प्रधानता होती थी। आंतरिक सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट टुकड़ियों में सात भारतीय सैनिकों के अनुपात में लगभग 310 ब्रिटिश सैनिक होते थे। इस काम के लिए मुख्यत: अंग्रेज टुकडियों का उपयोग किया जाता है – आतरिक सुरक्षा बनाए रखने वाली टुकडियों में आठ अंग्रेज सिपाहियों के मुकाबले सात हिंदुस्तानी सिपाही होते हैं।"

हिंदुस्तानी फौज की इस विशिष्टता की चर्चा करते हुए कमीशन ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

> "अब जब कोई गंभीरतापूर्वक भारत के भविष्य पर विचार करता है, जिसमें वर्तमान फौजी संगठन की जगह देश की रक्षा करने और वहां अमन–चैन बनाए रखने का काम केवल हिंदुस्तानी टुकड़ियों को सौंप दिया जाएगा, जैसे कनाडा में कनाडियन टुकडियां होती है, और आयरलैंड में आयरिश टुकड़ियां, तो यह जरूरी है कि भारत में अमन–चैन बनाए रखने की समस्या की इस विशिष्टता और आजकल देश में शांतिपूर्ण सरकार का समर्थन करने में अंग्रेज फौजी जो भूमिका निभाते हैं, उसे ध्यान में रखा जाए, और कुछ इस तरह कि देश के ग्रामीण क्षेत्रों की संतुष्टि हो सके।"

हिंदुस्तानी फौज की तीसरी अनूठी विशेषता, जिसकी चर्चा साइमन कमीशन ने की थी यह है कि इसमें उत्तर–पश्चिम के लोगों का भारी बाहुल्य है। इस

बाहुल्य की शुरूआत कैसे हुई और इसकी सरकारी व्याख्या के पीछे जो कारण हैं, उन पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

किंतु हिंदुस्तानी फौज की एक और बड़ी विशेषता की चर्चा तक साइमन कमीशन ने नहीं की। कमीशन ने या तो इसकी उपेक्षा की, या उसे इसकी जानकारी नहीं थी। यह इतनी महत्वपूर्ण है कि कमीशन ने बाकी जिन तीन विशिष्टताओं की चर्चा की है, वे महत्व और सामाजिक–राजनीतिक परिणामों की दृष्टि से इसके सामने फीकी पड़ जाती हैं।

यदि इस विशिष्टता का व्यापक रूप से पता चल जाए तो अनेक लोग गम्भीर रूप से सोचने लगेंगे। इससे निश्चित रूप से ऐसे सवाल पैदा होंगे जिनका जवाब नहीं दिया जा सकता और उससे हिंदुस्तान की राजनीतिक प्रगति का रास्ता आसानी से बंद हो जाएगा। ये प्रश्न महत्व और जटिलता की दृष्टि से फौज के भारतीयकरण से संबद्ध प्रश्नो से भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।

यह उपेक्षित विशिष्टता है हिंदुस्तानी फौज की सांप्रदायिक संरचना। श्री चौधरी ने अपने लेखों में इस बारे में प्रासंगिक आंकड़े एकत्रित किए हैं जो हिंदुस्तानी फौज के इस पहलू पर पर्याप्त रोशनी डालते हैं। नीचे दी गई सारणी में हिंदुस्तानी फौजों का क्षेत्रवार और संप्रदायवार आनुपातिक ब्यौरा दिया गया है :

हिंदुस्तानी फौज की संप्रदायवार संरचना में परिवर्तन

क्षेत्र और संप्रदाय	1914 में प्रतिशत	1918 में प्रतिशत	1919 में प्रतिशत	1930 में प्रतिशत
I पंजाब, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत और कश्मीर	47	46.5	46	58.5
1. सिख	19.2	17.4	15.4	13.58
2. पंजाबी मुसलमान	11.1	11.3	12.4	22.6
3. पठान	6.2	5.42	4.54	6.35
II नेपाल, कुमाऊं और गढ़वाल	15	18.9	14.9	22.0
1. गुरखा	13.1	16.6	12.2	16.4

III उत्तरी भारत				
(अपर इंडिया)	22	22.7	25.5	11.0
1 संयुक्त प्रांत के राजपूत	6.4	6.8	7.7	2.55
2 हिंदुस्तानी मुसलमान	4.1	3.42	4.45	शून्य
3 ब्राह्मण	1.8	1.86	2.5	शून्य
IV दक्षिण भारत	16	11.9	12	5.5
1. मराठा	4.9	3.85	3.7	5.33
2. मद्रासी मुसलमान	3.5	2.71	2.13	शून्य
3. तमिल	2.5	2.0	1.67	शून्य
V बर्मा				
1. बर्मी	शून्य	नगण्य	1.7	3.0

इस सारणी से यह साफ पता चल जाता है कि विशेषकर 1919 के बाद हिंदुस्तान फौज की सांप्रदायिक संरचना में जो उल्लेखनीय परिवर्तन होते रहे हैं वे हैं 1. पंजाबी मुसलमानों और पठानों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि, 2. सिखों का स्थान घटकर पहले से तीसरा हो जाना, 3. राजपूतों का घटकर चौथे स्थान पर आना, और 4. संयुक्त प्रांत के ब्राह्णों, मद्रासी मुसलमानों और तमिलों (ब्राह्मण और गैरब्राह्ण, दोनों) को फौज में भरती न किया जाना।

1930 के आंकड़ों का और अधिक विश्लेषण करने से हिंदुस्तानी पैदल सेना और घुड़सवार सेना की सांप्रदायिक संरचना पर श्री चौधरी ने निम्नांकित सारणी* में और अधिक प्रकाश डाला है :

* इस सारणी में भारतीय पैदल सेना (82 सक्रिय और 18 ट्रेनिंग बटालियनों), भारतीय घुड़सवार सेना या रेजीमेंट और गुरखा पैदल सेना की 20 बटालियनों में हर हिंदुस्तानी पात्र वर्ग का प्रतिशत दिखाया गया है। इस सारणी में (क) पहाड़ी तोपखाने की 19 बटालियनों, (ख) सफरमैना और सुरंगें साफ करनेवालों की तीन रेजीमेंटों, (ग) इंडियन सिग्नल कोर, और (घ) दी कोर ऑफ इंडियन पायोनियर्स के हिंदुस्तानी कार्मिक शामिल नहीं हैं। इन सभी में पंजाबी मुसलमान, सिख, पठान, हिंदुस्तानी हिंदू और मुसलमान, सभी वर्गों के मद्रासी और हजारो अफगान क्लास टुकड़ियों या क्लास कंपनियों में भिन्न–भिन्न अनुपातों में शामिल हैं। सेना के इन अंगों की कुछ टुकड़ियां मद्रासी और हज़रा लोगों की बनी हुई हैं और अब उन्हें हिंदुस्तानी फौज़ की दूसरी टुकड़ियों में शामिल कर लिया गया है, परंतु इससे हिन्दुस्तानी फौज की वर्गवार रचना में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। इस सारणी में ब्रिटिश पैदल सेना और तोपखाना टुकड़ियों से जुड़े हुए हिंदुस्तानी कार्मिक भी शामिल नहीं है।

1930 में हिंदुस्तानी फौज की सांप्रदायिक संरचना

वर्ग	क्षेत्र	पैदल सेना में प्रतिशत		घुड़सवार सेना में प्रतिशत
		गुरखों को छोड़कर	गुरखों को मिलाकर	
1. पंजाबी मुसलमान	पंजाब	27	22.6	14.28
2. गुरखा	नेपाल	—	16.4	—
3. सिख	पंजाब	16.24	13.58	23.81
4. डोगरा	उत्तर पंजाब और कश्मीर	11.4	9.54	9.53
5. जाट	राजपूताना संयुक्त प्रांत, पंजाब	9.5	7.94	19.06
6. पठान	उ.प. सीमाप्रांत	7.57	6.35	4.76
7. मराठा	कोंकण	6.34	5.33	—
8. गढ़वाली	गढ़वाल	4.53	3.63	—
9. संयुक्त प्रांत के राजपूत	संयुक्त प्रांत	3.04	2.54	—
10. राजपूताना के राजपूत	राजपूताना	2.8	2.35	—
11. कुमाऊंनी	कुमाऊं	2.44	2.05	—
12. गूजर	उत्तरपूर्वी राजपूताना	1.52	1.28	—
13. पंजाबी हिंदू	पंजाब	1.52	1.28	—
14. अहीर	पंजाब	1.22	1.024	—
15. मुसलमान, राजपूत, रंगढ़	दिल्ली के आसपास	1.22	1.024	7.14
16. कायमखानी	राजपूताना	—	—	4.76
17. कचिन	बर्मा	1.22	1.024	—
18. चिन	बर्मा	1.22	1.024	—
19. करेन	बर्मा	1.22	1.024	—
20. दखनी मुसलमान	दक्षिण	—	—	4.76
21. हिंदुस्तानी मुसलमान	संयुक्त प्रांत	—	—	2.38

यदि इन आंकड़ों को विभिन्न संप्रदायों में बांटा जाय तो 1930 में उनका निम्नलिखित प्रतिशत था :

सम्प्रदाय	पैदल सेना में प्रतिशत		घुड़सवार सेना में प्रतिशत
	गुरखों को मिलाकर	गुरखों को छोड़कर	
1. हिंदू और सिख	60.55	50.554	61.92
2. गुरखा	---	16.4	---
3. मुसलमान	35.79	29.974	30.08
4. बर्मी	3.66	3.072	---

इन आंकड़ों से हिंदुस्तानी फौज की सांप्रदायिक संरचना का पता चलता हैं। श्री चौधरी के अनुसार, भारतीय पैदल सेना में 36 प्रतिशत मुसलमान थे और भारतीय तोपखाने में 30 प्रतिशत। ये आंकड़े 1930 के हैं। अब हमें देखना चाहिए कि उसके बाद से इस अनुपात में क्या परिवर्तन आया है।

हिंदुस्तान के फौजी इतिहास की एक अत्यंत विस्मयजनक बात यह है कि 1930 के बाद से इस बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह जानना असंभव है कि इस समय सेना में मुसलमान का अनुपात क्या है। ऐसा कोई सरकारी प्रकाशन नहीं है जिससे यह जानकारी उपलब्ध हो सके। इससे पहले ऐसे प्रकाशनों की कोई कमी नहीं थी जिनसे यह जानकारी मिलती थी। यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि ये सब अब विलुप्त हो गए हैं, और यदि वे मिलते भी हैं तो उनमें यह जानकारी नहीं होती। न केवल इस मुद्दे पर जानकारी देने वाला कोई सरकारी प्रकाशन उपलब्ध नहीं है, परंतु जब केंद्रीय विधान सभा में सदस्यों ने इस विषय पर प्रश्न पूछे तो सरकार ने कोई जानकारी देने से ईकार कर दिया। केंद्रीय विधान सभा की कार्रवाइयों से लिए गए इन प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट होता है कि इस मुद्दे पर जानकारी हासिल करने के हर प्रयास का सरकार कितना जोरदार विरोध करती है।

15 सितम्बर, 1938 को निम्नलिखित प्रश्न पूछे गए और उनके जो उत्तर मिले, वे नीचे दिए गए हैं :

हिंदुस्तान के लिए रक्षा की व्यवस्था*

प्रश्न 1360 : श्री बद्रीदत्त पांडे (श्री अमरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय की ओर से)

1. केंद्रीय विधान सभा वाद–विवाद, 1938 खंड VI पृ. 2462

(क)	×	×	×	×
(ख)	×	×	×	×
(ग)	×	×	×	×

(घ) 1937 और 1938 में पैदल फौज में और घुड़सवार फौज में क्रमशः कितने हिंदुस्तानी सिपाही और 1937–38 में कितने हिंदुस्तानी अफसर भरती किए गए हैं? भरती किए गए अफसरों और सिपाहियों में से कितने पंजाबी, सिख, पठान, गढ़वाली, मराठा, मद्रासी, बिहारी, बंगाली, और संयुक्त प्रांत के हिंदुस्तानी तथा गुरखा हैं?

(ङ) यदि अन्य कोई नहीं, केवल पंजाबी सिख, पठान और गढ़वाली भरती किए गए हैं तो क्या माननीय सदस्य का विचार है कि भारत की रक्षा के लिए सभी प्रांतों से सिपाही भरती किए जाएंगे और उन्हें समुचित फौजी ट्रेनिंग दी जाएगी।

(च) क्या रक्षा सचिव यह बताएंगे कि क्या भारत की रक्षा के लिए प्रांतीय रेजीमेंटें बनाई जाएंगी, उन्हें ट्रेनिंग दी जाएगी और उन्हें पूरी तरह असले से लैस किया जाएगा? यदि नहीं, तो भारत की रक्षा के लिए एक कुशल फौज बनाने के बारे में उनकी योजना क्या है?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः (क) माननीय सदस्य इस बात से सहमत होंगे कि ऐसी व्यवस्थाओं की जानकारी देना सार्वजनिक हित में नहीं है।

(ख) 5 कैडेट और 33 हिंदुस्तानी अप्रेंटिस 1937–38 में एयर फोर्स में भरती किए गए थे।

(ग) 1937–38 में 5 हिंदुस्तानियों को रॉयल इंडियन नेवी में कमीशन रैंकों में भरती किया गया है, 4 को अक्तूबर 1938 में प्रतियोगी परीक्षा के बाद लिया जाएगा और केवल डफरिन जहाज के कैडटों में से विशेष परीक्षा द्वारा तीन अन्य कैडटों को भी लिया जाएगा। इसी अवधि में 314 हिंदुस्तानियों को रॉयल इंडिया नेवी के भिन्न–भिन्न कमीशंड वर्गों में भरती किया गया है।

(घ) 31 मार्च, 1938 को समाप्त होनेवाले वर्ष में 54 हिंदुस्तानियों को हिंदुस्तानी कमीशंड अफसरों के रूप में भरती किया गया था। अब उन्हें ब्रिटिश टुकड़ियों के साथ सम्बद्ध करके ट्रेनिंग दी जा रही है और अभी तक यह बताना संभव नहीं है कि इनमें कितने पैदल सेना में और कितने घुड़सवार सेना में लगाए जाएंगे। इसी अवधि में 961 भारतीय सिपाही घुड़सवार सेना में ओर 7,970 पैदल सेना में भरती किए गए थे। फौज के हैडक्वार्टर्स में विभिन्न वर्गों

के अनुसार उनका विवरण उपलब्ध नहीं है, और उसकी जानकारी प्राप्त करने में जितना समय और श्रम लगेगा, उसे देखते हुए यह एकत्रित करना उचित नहीं लगता।

(ङ) नहीं।

(च) प्रश्न के पहले भाग का उत्तर 'नहीं' में है और यहां तक दूसरे भाग के उत्तर का संबध है, भारत के पास पहले से ही एक कुशल फौज है, और जितने आर्थिक साधन हैं उनके अनुरूप उन्हें सभी तरह से लैस रखने की चेष्टा की जाती है।

श्री एस. सत्यमूर्तिः प्रश्न के भाग (घ) और (ङ) के संदर्भ में, क्या मैं जान सता हूँ कि क्या सरकार का ध्यान बहुत से जनप्रतिनिधियों के इन वक्तव्यों की ओर गया है कि फौज का अधिकांश हिस्सा पंजाब से और एक विशेष संप्रदाय से लिया गया है? क्या सरकार ने इन तथ्यों पर विचार किया है और क्या सरकार इस पर भी विचार करेगी कि अन्य सभी प्रांतों और सभी संप्रदायों के लोगों को भरती करके फौज को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय बनाया जाए ताकि सैनिक तानाशाही द्वारा राजनीतिक सत्ता हथियाए जाने के खतरे से, जो सभी देशों में विद्यमान है, बचा जा सके?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः मुझे समझ में नहीं आया कि इस सवाल से यह बात कैसे पैदा हुई, परंतु मैं यह कहने के लिए तैयार हूं कि सरकार के हिसाब–किताब में प्रांतीय सीमाएं कतई नहीं आईं। किसी प्रांत को नहीं, बल्कि हिंदुस्तान को सर्वोत्तम फौजे देने के लिए सर्वोत्तम सिपाहियों का चुनाव किया जाता है और इसके लिए राष्ट्रीय महत्व प्रांतीय महत्व से ऊपर है। जहां सर्वोत्तम फौजी जवान उपलब्ध होंगे, वहीं से लिए जाएंगे; और कहीं से नहीं।

श्री एस. सत्यमूर्तिः क्या मैं यह जान सकता हूँ कि अधिकांश फौजी पंजाब से हैं और क्या सरकार अभी हाल ही में हिंदुस्तानी फौज में मेरे प्रांत के लोगों के बहादुर कारनामों को भूल गई है और क्या मैं यह जान सकता हूँ कि मद्रासियों को फौज से लगभग अलग रखा जाता है और कई अन्य प्रांतों के लोगों को सेना में बिल्कुल ही नहीं लिया जाता?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः मद्रास को सेना से अलग नहीं रखा जाता। सरकार बड़ी खुशी से मद्रासियों की वीरतापूर्ण सेवाओं को स्वीकार करती है और अब उन्हें उन टुकड़ियों में भरती किया जाता है जहां अनुभव ने उन्हें सर्वोत्तम सिद्ध किया है। लगभग 4,500 मद्रासी मुख्यतः सफरमैनों और सुरंगें साफ करनेवालों और तोपखानों में हैं।

श्री एस. सत्यमूर्तिः कुल 1,20,000 में से?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः लगभग, इतने में से।

श्री सत्यमूर्तिः क्या मैं यह मान लूं कि मद्रास की जनसंख्या और क्रेंद्रीय राजकोष में मद्रास से मिले राजस्व को देखते हुए, और सभी प्रांतों से भरती करके एक राष्ट्रीय फौज बनाने की आवश्यकता को देखते हुए, यह अंनुपात उचित है?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः हम केवल इस आवश्यकता को मानते हैं कि फौज में केवल सर्वोत्तम लोग होने चाहिए।

श्री एस. सत्यमूर्तिः क्या मैं यह जान सकता हूं कि कैसी जांच से सरकार इस नतीजे पर पहुंची है कि पंजाब को छोड़कर अन्य प्रांत फौज के लिए सर्वोत्तम सिपाही नहीं दे सकते?

श्री आगिल्वीः अनुभव से।

डा. सर जियाउद्दीन अहमदः क्या मैं यह पूछ सकता हूं कि क्या यह एक तथ्य नहीं है कि अकाउंट्स (लेखा विभाग) की सभी शखाओं में मद्रासियों का एकाधिकार है और हिंदुसतान में उनकी संख्या को देखते हुए क्या सरकार तत्काल उनकी संख्या में कमी करेगी?

श्री आगिल्वीः मैं नहीं समझता कि उक्त प्रश्न से यह बात कैसे पैदा हो गई, परंतु सरकार फिर भी किसी प्रांत की खातिर कुशलता छोड़ने को तैयार नहीं है।

*हिंदुस्तानी रेजीमेंटों में विभिन्न जातियों के हिंदुस्तानी**

प्रश्न 1078: श्री अनांतशयम आयंगर (श्री मनु सूबेदार जी की ओर से):

(क) क्या रक्षा सचिव यह बताएंगे कि क्या अंग्रेजी शासन में कोई ऐसा प्रयोग किया गया है कि एक ऐसी हिंदुस्तानी रेजीमेंट बनाई जाए जिसमें विभिन्न प्रांतों से विभिन्न जातियों और वर्गों जैसे सिख, मराठा, राजपूत, ब्राह्मण और मुस्लिम लोग लिए जाएं।

(ख) यदि भाग (क) का उत्तर नहीं में है तो क्या सरकारी नीति के बारे में एक वक्तव्य दिया जाएगा, जिसमें यह बताया जाए कि ऐसा करना क्यों उचित नहीं समझा गया?

---

* केंद्रीय विधानसभा वाद–विवाद, 1938 खंड VI पृ. 2478

(ग) क्या महामहिम प्रधान सेनापति इंगलैंड की सरकार से इस बारे में चर्चा करने के लिए तैयार है?

(घ) क्या सरकार को यह पता है कि यूनिवर्सिटी कोर में और बंबई स्काउट आंदोलन में तथा देश के पुलिस बलों में जाति या नस्ल के आधार पर कोई भिन्नता नहीं की जाती?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः (क) नहीं।

(ख) सरकार इस संगठन का एक बुनियादी आधार यह समझती है कि फौजी उप–टुकड़ियां, जैसे कंपनियां और स्क्वाड्रन, समजातीय होने चाहिए।

(ग) नहीं, उल्लिखित कारण से।

(घ) हां।

श्री एस. सत्यमूर्तिः क्या मैं यह जान सकता हूं कि समजातीय से सरकार का क्या तात्पर्य है – क्या इसका अर्थ एक ही प्रांत से है या एक ही संप्रदाय से?

श्री सी.एम. जी. आगिल्वीः इसका अर्थ है कि वे एक ही वर्ग के लोग हैं।

श्री एस. सत्यमूर्तिः क्या मैं इस मुद्दे के विस्तार में जा सकता हूं? क्या वे एक वर्ग और दूसरे वर्ग में अंतर करते है?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः निश्चित रूप से।

श्री एस. सत्यमूर्तिः किस आधार पर? क्या यह धार्मिक वर्ग है या जातीय वर्ग या प्रांतीय वर्ग?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः ऐसा कोई भी आधार नहीं है। यह मुख्यतः जातीय वर्ग है।

श्री एस. सत्यमूर्तिः किन जातियों को वरीयता दी जाती है और किन्हें नहीं?

श्री सी.एस.जी. आगिल्वीः माननीय सदस्य इस बारे में आर्मी लिस्ट देखें।

हिंदुस्तानी फौज में भर्ती

प्रश्न 1162, श्री ब्रजेन्द्र नारायण चौधरीः क्या रक्षा सचिव यह बताने की कृपा करें कि –

(क) क्या सरकार का ध्यान पंजाब के प्रधानमंत्री माननीय सर सिकंदर हयात

खान के उस भाषण की ओर है, जिसमें उन्होंने अपने फौजी भाइयों को इन शब्दों में संबोधित किया था– कोई भी देशभक्त पंजाबी यह कभी नहीं चाहेगा कि सेना में पंजाबियों की प्रभुता पर कोई रोक लगे।' इस भाषण की यह रिपोर्ट 5 सितम्बर, 1938 को ही हिंदुस्तान टाइम्स में एसोसिएटिड प्रेस ऑफ इंडिया ने प्रकाशित की थी; और

(ख) क्या यह सरकार की नीति पंजाब से भारी संख्या में सैनिकों की भर्ती चालू रखकर फौज में पंजाबियों की प्रभुता बनाए रखना है या फिर सरकार की नीति यह कोशिश करने की है कि भरती सभी प्रांतों से बिना जाति या प्रांत का ध्यान किए की जाए?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः (क) हां।

(ख) मैं इस संबंध में माननीय सदस्य का ध्यान मिस्टर अमरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय द्वारा पूछे गए तारांकित प्रश्न संख्या 1060 के पूरक प्रश्नों के उत्तर की ओर दिलाना चाहता हूं।

श्री एस. सत्यमूर्तिः प्रश्न के भाग (ख) के संदर्भ में, मेरे माननीय दोस्त ने पिछले उत्तरों का जिक्र किया है। जहां तक मुझे याद है, वक्तव्य सदन के सम्मुख आने के बाद कोई उत्तर नहीं दिए गए थे। मैं यह जानना चाहूंगा कि क्या भारत सरकार ने पंजाब के प्रधानमंत्री के इस वक्तव्य पर कोई विचार किया है – 'कोई भी देशभक्त पंजाबी यह कभी नहीं चाहेगा कि सेना में पंजाबियों की प्रभुता पर कोई रोक लगे?' क्या मैं जान सकता हूं कि सरकार ने इस बयान के खतरनाक निहितार्थों पर विचार किया है और क्या वह एक उत्तरदायी मंत्री को ऐसे वक्तव्य देने से रोकने के लिए कदम उठाएगी जो हिंदुस्तानी फौज में प्रांतीय या सांप्रदायिक प्रभुता की बात करता है, जब कि हिंदुस्तानी फौज को सबसे पहले भी हिंदुस्तानी होना चाहिए और सबसे अंत में भी।

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः मैं माननीय सदस्य द्वारा 15 सितंबर का पूछे गए एक बिलकुल ऐसे ही प्रश्न का उत्तर बिलकुल उन्हीं शब्दों में दूंगा जिन शब्दों में मैंने उस समय दिया था। भरती के बारे में सरकार की नीति कई बार दोहराई गई हैं और यह बिलकुल स्पष्ट है।

श्री एस.सत्यमूर्तिः नीति तो यह है कि सेना में सर्वोत्तम लोग भरती किए जाएं और इसीलिए मैं अपने माननीय मित्र से यह बात विशेष रूप से पूछ रहा हूं। मुझे आशा है कि आप पंजाब के प्रधानमंत्री के बयान के निहितार्थों को अच्छी तरह समझते हैं। मैं जानना चाहता हूं कि क्या सरकार ने किसी प्रांतीय प्रधानमंत्री के फौज में प्रांतीय प्रभुतावाले उनके दावे के खतरनाक निहितार्थों पर विचार किया

है और क्या सरकार इस खतरनाक आशंका को दूर करने के लिए यथोचित कदम उठाएगी?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः सरकार का विचार है कि इसके कोई खतरनाक निहितार्थ नहीं हैं, बल्कि बात इसकी उल्टी है।

श्री एस. सत्यमूर्तिः चाहे यह तथ्य ही क्यों न हो, फिर भी क्या सरकार एक उत्तरदायी सार्वजनिक व्यक्ति द्वारा व्यक्त किसी प्रांत या संप्रदाय की प्रभुता के विचार को वांछनीय समझती है, और क्या सरकार का यह विचार नहीं है कि इससे फौज में प्रांतीय और सांप्रदायिक विवाद होंगे और ईर्ष्या बढ़ेगी और शायद देश में फौजी तानाशाही की संभावना बढ़ेगी।

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः सरकार इनमें से किसी भी आशंका का कोई कारण नहीं देखती।

श्री एम.एस. अणेः क्या सरकार सर सिकंदर हयात खां के वक्तव्य में कही गई नीति से सहमत है?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः इस बारे में सरकार की नीति बार–बार दोहराई जा चुकी है और स्पष्ट की जा चुकी है।

श्री एम.एस. अणेः क्या सरकार की नीति है कि फौज में पंजाब का वर्चस्व रहे?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः सरकार की नीति है कि फौज में सर्वोत्तम व्यक्ति भरती किए जाएं।

श्री एम.एस. अणेः मैं अपना प्रश्न फिर दोहराता हूं– क्या सरकार की यह नीति है कि फौज में पंजाब का वर्चस्व रहे?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः मैंने बार–बार इस प्रश्न का उत्तर दिया है। नीति यह है कि फौज में सभी प्रांतों से सर्वोत्तम व्यक्ति लिए जाएं और सरकार इस बारे में संतुष्ट है कि आजकल फौज में सर्वोत्तम व्यक्ति हैं।

श्री एम.एस. अणेः इसलिए क्या यह जरूरी नहीं है कि सरकार सर सिकंदर· हयात खां द्वारा सुझाई गई नीति को संशोधित करते हुए एक वक्तव्य दे?

श्री सी. एम.जी. आगिल्वीः सरकार का अपनी नीति बदलने का कोई विचार नहीं है।

एक बार फिर 23 नवंबर, 1938 को इस बारे में निम्नलिखित प्रश्न पूछा गया।

*मध्य प्रांत और बरार से फौज में भर्ती।**

प्रश्न 1402: श्री गोविंद वी. देशमुखः क्या रक्षा सचिव यह बताने की कृपा करेंगे कि :

(क) हिंदुस्तानी फौज में भरती करने के लिए मध्य प्रांत और बरार में कितने भरती केंद्र हैं?

(ख) किन वर्गों में से लोग भरती किए जाते हैं?

(ग) फौज की कुल संख्या के मुकाबले मध्य प्रांत और बरार से भर्ती किए गए लोगों का अनुपात कितना है? साथ ही इन प्रांतों की जनसंख्या के मुकाबले फौज में इनका कितना अनुपात है? और

(घ) भरती की वर्तमान नीति क्या है और क्या इसमें संशोधन किया जा रहा है, और यदि नहीं, तो क्यों नहीं?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः (क) मध्य प्रांत या बरार में कोई भरती–केंद्र नहीं है। मध्य प्रांत में रहने वाले लोग दिल्ली के भरती–अफसर के कार्यक्षेत्र में आते हैं और बरार में रहने वाले पूना के भर्ती के कार्यक्षेत्र में।

(ख) बरार के मराठों को एक अलग वर्ग के रूप में भरती किया जाता है। मध्य प्रांत और बरार से जो अन्य लोग भर्ती किए जाते हैं, उन्हें हिंदू या मुसलमान के रूप में वर्गीकृत किया जाता है और उन्हें किसी अलग वर्ग के नाम से नहीं लिया जाता।

(ग) फौज की कुल संख्या के मुकाबले उनका प्रतिशत .03 है और इन प्रांतों में रहने वाले पुरूषों की संख्या का .0004 प्रतिशत है।

(घ) अभी वर्तमान नीति में संशोधन करने का कोई विचार नहीं है। इसका कारण 15 सितंबर, 1938 को श्री सत्यमूर्ति द्वारा पूछे गए तारांकित प्रश्न संख्या 1060 के उत्तर में और उसी तारीख को मियां गुलाम कादिर मुहम्मद शाहबान के तारांकित प्रश्न सं. 1086 के भाग (क) के उत्तर में मैं बता चुका हूँ। 21 फरवरी, 1938 को महामहिम कमांडर–इन–चीफ द्वारा भी काउंसिल ऑफ स्टेट में मि. सुशीलकुमार राय चौधरी के हिंदुस्तानियों को फौजी ट्रेनिंग देने के प्रस्ताव के संदर्भ में दिए गए उत्तर में और अप्रैल 1935 में माननीय श्री पी.एन. सप्रू के भारतीय फौज में सभी वर्गों की भर्ती के प्रस्ताव के संदर्भ में दिए गए उत्तर में इसका कारण बताया जा चुका है।

---

* विधान सभा वाद–विवाद, 1938 खण्ड–VII, पृ. 3313

इसके बाद फिर एक बार 6 फरवरी, 1939 को नीचे दिया गया प्रश्न पूछा गया।

*हिंदुस्तानी फौज में भरती**

प्रश्न 129 : श्री एस सत्यमूर्तिः क्या डिफेंस सेक्रेटरी यह बताने की कृपा करेंगेः (क) क्या इस प्रश्न के बारे में अपने पिछले उत्तर दिए जाने के बाद से सरकार ने हिंदुस्तानी फौज में सभी प्रांतों, सभी वर्गों तथा सभी संप्रदायों से भर्ती करने के प्रश्न पर पुनर्विचार किया है?

(ख) क्या कोई ऐसी कसौटी है जिसके आधार पर सरकार इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि जिन प्रांतों और संप्रदायों के लोग भर्ती नहीं किए जाते, वे हिंदुस्तानी फौज के लिए निर्धारित कुशलता के उस स्तर तक नहीं पहुंच पाते जिस स्तर तक भर्ती किए जानेवाले प्रांतों और संप्रदायों के लोग पहुंच पाते हैं?

श्री सी.एम.जी. आगिल्वीः (क) नहीं।

(ख) प्रश्न नहीं उठता।

(ग) और (घ) कारण स्पष्ट रूप से 15 सितंबर, 1938 को पूछे गए तारांकित प्रश्न संख्या 1060 और 1086 के उत्तर में, तथा काउंसिल ऑफ स्टेट में माननीय श्री पी.एन. सप्रु द्वारा हिंदुस्तानी फौज में सभी वर्गों की भर्ती के बारे में, तथा माननीय श्री सुशीलकुमार चौधरी द्वारा हिंदुस्तानियों को फौजी ट्रेनिंग देने के प्रस्तावों पर क्रमशः 13 मार्च, 1935 और 21 फरवरी, 1938 को हुई बहस का उत्तर देते हुए माननीय कमांडर इन चीफ बता चुके हैं।

भारत सरकार ने चुप रहने का जो षड्यंत्र किया हुआ था उसे अभी हाल में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया ने समाप्त कर दिया, जब उन्होंने इस अत्यंत महत्वपूर्ण और आवेश पैदा करनेवाले विषय पर पूर्ण जानकारी हाउस ऑफ कामन्स में एक प्रश्न के उत्तर में दे दी। 8 जुलाई, 1943 को उनके द्वारा दिए गए उत्तर से पता चल जाता है कि हिंदुस्तानी फौज की प्रांतवार और संप्रदायवार संरचना इस प्रकार हैः

---

* विधानसभा वाद–विवाद–1939, खंड 1, पृ. 253

I हिन्दुतानी फौज की प्रांतवार संरचना

क्र.स.	प्रांत	प्रतिशत
1.	पंजाब	50
2.	संयुक्त प्रांत	15
3.	मद्रास प्रेसिडेंसी	10
4.	बंबई प्रेसिडेंसी	10
5.	उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत	5
6.	अजमेर और मेरवाड़	3
7.	बंगाल प्रेसिडेंसी	2
8.	मध्य प्रांत और बरार	--
9.	आसाम	5
10.	बिहार	--
11.	उड़ीसा	--
12.	नेपाल	8

II हिन्दुतानी फौज की संप्रदायवार संरचना

1.	मुस्लिम	34 प्रतिशत
2.	हिंदू और गोरखा	50 प्रतिशत
3.	सिख	10 प्रतिशत
4.	ईसाई और अन्य	6 प्रतिशत

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा दी गई जानकारी वास्तव में अत्यंत स्वागत योग्य है। परंतु हिंदुस्तानी फौज की यह संरचना युद्धकाल की है। शांतिकाल में यह निश्चित रूप से बहुत भिन्न थी। यह लड़ाकू और गैर–लड़ाकू जातियों में अंतर पर आधारित थी। युद्धकाल में इस अंतर को समाप्त कर दिया गया। पर इस बात का कोई भरोसा नहीं है कि अब शांति स्थापित हो जाने के बाद यह अंतर फिर अमल में नहीं आएगा। हम तो शांतिकाल में फौज की संरचना के बारे में जानना चाहते हैं और अब तक भी यह बात अज्ञात है और इस विषय पर केवल अनुमान ही लगाए जाते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध से पहले मुस्लिमों का सामान्य अनुपात 60 और 70 प्रतिशत के बीच था। अन्य लोगों का कहना है कि यह 50 प्रतिशत के आसपास था। सही जानकारी के अभाव में बाद वाले आंकड़े को अधिक सही स्थिति दर्शाने वाला मान लेना चाहिए, विशेषकर उस समय जब ऐसे लोगों से पूछताछ की गई जो इस बारे में कुछ जानते थे। परंतु यदि यह अनुपात

50 प्रतिशत भी हो तो भी इतना अधिक है कि हिंदुओं के लिए खतरे की घंटी है। यदि यह सच है तो यह गदर के बाद अपनाई गई ब्रिटिश फौजी नीति के सुस्थापित सिद्धांतों का खुला उल्लंघन है।

गदर के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिंदुस्तानी फौज के संगठनात्मक ढांचे के बारे में जांच के दो आदेश दिए थे। पहली जांच पील कमीशन ने की जिसकी नियुक्ति 1859 में की गई थी। दूसरी जांच स्पेशल आर्मी कमेटी नामक एक कमेटी ने की, जिसकी नियुक्ति 1879 में की गई और जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

पील कमीशन ने जिस मुख्य प्रश्न की जांच की, वह था बंगाल फौज की कमजोरी का पता लगाना जिसके कारण 1857 का गदर हुआ। कमीशन को एक के बाद एक साक्ष्य देने वालों ने बताया कि जिस बंगाल फौज ने गदर किया, उसकी कमजोरी निम्नलिखित थी:

> "नियमित फौज के सिपाही संयोगवश घुलमिल गए। फौजी कंपनियां वर्ग या वर्ण के हिसाब से अलग–अलग नहीं थी............(फौजी) लाइन्स में हिंदू और मुसलमान, सिख और पूरविया सब एक साथ मिलकर रहते थे, जिसमें वे सब कुछ हद तक अपने जातिगत पूर्वाग्रहों को भूलकर एक ही भावना से प्रेरित होने लगे।"*

इसलिए सर जान लारेंस ने सुझाव दिया कि हिंदुस्तानी फौज की टुकड़ियां बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि उनकी विशिष्टता बनी रहे, जो इतनी महत्वपूर्ण या मूल्यवान है, और जब तक यह विशिष्टता बनी रहेगी, एक देश का मुसलमान दूसरे देश के मुसलमान से नफरत करता रहेगा, डरता रहेगा या उसे नापसंद करता रहेगा। भविष्य में फौजी टुकड़ियां प्रांतीय आधार पर बननी चाहिए, जिनमें भौगोलिक सीमाओं को ध्यान में रखा जाए और जिनमें उनके अंतर और प्रतिद्वंद्विता की भावना जोरदार ढंग से नजर आए। हमें एक प्रांत की ही तमाम जातियों को, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, एक ही रेजीमेंट में रखना चाहिए और किसी और प्रांतवाले को उस रेजीमेंट में नहीं रखना चाहिए और इस तरह अलग–अलग रेजीमेंट बनाकर हमें उन्हें वैसा ही रखना चाहिए, जो जरूरत पड़ने पर काम आए.... इस तरह सुझाई गई प्रणाली में दो बड़ी बुराइयों को दूर किया जा सकेगा। पहली, सारी देसी फौज में समुदाय की भावना; और दूसरे, अन्य प्रांतों की जातियों से मिलने और अन्य प्रांतों की यात्रा करने से होने वाली खुराफाती राजनीतिक गतिविधियां और षड्यंत्र।†

---

* मेगन और लायेट, दि आर्मीज, आफ इंडिया, पृ. 84-85, चौधरी द्वारा उद्धत।

† जैसा कि चौधरी ने उद्धृत किया।

पील कमशीन के सामने बहुत से सैनिकों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और उसने इसे हिंदुस्तानी फ़ौज की नीति का सिद्धांत मानने की सिफारिश की। इस सिद्धांत को वर्ग–संरचना (क्लास–कंपोजीशन) के सिद्धांत के नाम से जाना गया।

1879 में नियुक्त स्पेशल आर्मी कमेटी के सम्मुख एक बिलकुल ही भिन्न समस्या थी। कमेटी ने जो प्रश्नावली जारी की, उससे यह समस्या अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। प्रश्नावली में एक प्रश्न निम्नलिखित था:

> "यदि साम्राज्य की रक्षा के लिए हिंदुस्तानी फौज के कुशल और उपलब्ध रिजर्व सैनिकों को आवश्यक समझा जाता है, तो क्या इसे देश के ऐसे भागों से भर्ती और पोषित नहीं करना चाहिए जहां से सर्वोत्तम सिपाही मिलते हैं, बजाए इसके कि उन्हें सबसे कमजोर और सबसे कम लड़ाकू जातियों से भर्ती किया जाए। निःसंदेह इस बात पर आवश्यक ध्यान जरूर दिया जाना चाहिए कि किसी एक विशेष जाति को या धार्मिक ग्रूप को बहुत अधिक ताकत या वर्चस्व प्राप्त नहीं और साम्राज्य की सुरक्षा का भी उचित ध्यान रखा जाये।"

स्पष्टतः इस प्रश्न का मुख्य भाग यह है कि यह जरूरी समझा गया है कि किसी एक विशेष जाति या धार्मिक ग्रुप को बहुत अधिक ताकत या वर्चस्व नहीं मिलना चाहिए। इस प्रश्न पर सरकारी अफसरों की यही सर्वसम्मत राय कमेटी के सम्मुख व्यक्त की गई थी।

बंबई फौज के कमांडर इन चीफ ले. जनरल एच.जे. वारेस ने कहा:

> "मेरे विचार से यह संभव नहीं है कि हिंदुस्तानी फौज के रिजर्व सैनिकों की हिंदुस्तान के केवल उसी भाग में से भर्ती की जाए जहां से सर्वोत्तम सिपाही मिलते हैं, अन्यथा इन भागों की जातियों और धार्मिक समुदायों को जरूरत से अधिक ताकत और वर्चस्व मिल जाएगा।

कमाडर इन चीफ सर फ्रेडरिक पी.हेन्स ने कहा:

> "जाति, भाषा और निहित स्वार्थों की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न और संख्या में भी अधिक बंगाल फौज को प्रतिसंतुलित करने के लिए इन फौजों (मद्रास और बंबई फौज) को बनाए रखना मेरी राय में अत्यंत नीतिसन्मत और बुद्धिमत्तापूर्ण होगा; और मैं किसी भी दशा में उनकी संख्या कम नहीं करूंगा, जिससे कि एक ऐसा रिजर्व बनाया जा सके जिसमें सबसे अधिक कुशल लड़ाकू ऐसे सिपाही हों (जिन्हें लेना संभव हो)। यदि इसका यह अर्थ है कि मद्रास और बंबई के सिपाहियों की

> जगह बंगाल फौज के रिज़र्व सिपाहियों को दे दी जाए और वे उन्हीं वर्गों के हों जो बंगाल फौज में हैं, तो मैं कहूंगा कि इससे अधिक बुद्धिहीनता और विवेकशून्यता की बात और क्या होगी।"

पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर भी इस राय से सहमत थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि "मैं पूरी भारतीय सेना के लिए एक ही क्षेत्र से भरती करने का विरोधी हूं।" उन्होंने कहा कि राजनीतिक कारणों से भी यह आवश्यक होगा कि किसी एक संप्रदाय के वर्चस्व को रोका जाए।

स्पेशल कमेटी ने इस राय को स्वीकार कर लिया और सिफारिश की कि हिंदुस्तानी फौज का नियमन इस तरह से किया जाए कि फौज में किसी एक संप्रदाय या कौम का वर्चस्व न हो।

हिंदुस्तानी फौज संबंधी नीति इन्हीं दो सिद्धांतों से नियंत्रित होती है। 1879 की स्पेशल आर्मी कमेटी ने जो सिद्धांत निर्धारित किया था, उसे ध्यान में रखते हुए आजकल हिंदुस्तानी फौज की सांप्रदायिक संरचना में परिवर्तन किए गए हैं। उन्हें पूर्ण क्रांति कहा जा सकता है। यह क्रांति कैसे होने दी गई, यह बिल्कुल समझ में नहीं आता। यह ऐसी क्रांति है जो एक सुस्थापित सिद्धांत के विरूद्ध जाकर की गई है। वास्तव में यह सिद्धांत हिंदुस्तानी फौज में उत्तर–पश्चिम के लोगों की बढ़ती हुई प्रमुखता के कारण सुझाया गया था और इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने की दृष्टि से इसे लागू किया गया था। यह सिद्धांत न केवल मार्गदर्शक नियम की तरह अपनाया गया था, बल्कि इसे बड़ी कड़ाई से लागू भी किया गया था, लार्ड राबर्ट्स यद्यपि इस सिद्धांत का विरोधी था क्योंकि इसके कारण उत्तर–पश्चिम के उसके चहेते लोगों की भर्ती पर एक हद तक रोक लग जाती थी, तथापि तत्कालीन भारत के कमांडर–इन–चीफ के रूप में उसे इसके आगे झुकना पड़ा था। इस सिद्धांत का इतना अधिक आदर किया जाता था कि 1903 में जब लार्ड किचनर ने 15 मद्रासी रेजीमेंटों को पंजाबी रेजीमेंटों में बदलने की परियोजना पर काम शुरू किया, तो उसने मुसलमान और सिख रेजीमेंटों का प्रतिसंतुलन बनाये रखने के लिए गुरखा और पठान लोगों का अनुपात बढ़ा दिया। उसके जीवनी लेखक सर जार्ज आर्थर का कहना है:

> "गदर ने जो पाठ सिखाया था, उसके बाद सरकार इस बारे में सचेत हो गई थी कि हिंदुस्तानी फौज में किसी एक तत्व को जरूरत में ज्यादा प्रमुखता देना कितना खतरनाक हो सकता है। पंजाबी पैदल सेना में वृद्धि करने का एक अनिवार्य परिणाम यह निकला कि गुरखा लोगों की और भर्ती की गई तथा सीमावर्ती क्षेत्रों के पठानों को फ्रंटियर मिलिशिया में लिया गया।"

वह सिद्धांत, जो विश्वयुद्ध से पहले इतना अधिक सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया और इतनी अधिक कड़ाई से लागू किया गया, उसे विश्वयुद्ध के बाद इतने अनौपचारिक ढंग से बिना किसी पछतावे के चुपके से तिरस्कृत कर दिया गया, इसका कोई कारण आसानी से समझ में नहीं आता। ऐसा क्या कारण हुआ कि अंग्रेज हिंदुस्तानी फौज में मुसलमानों की इतनी प्रमुखता को स्वीकार करने लगे? इसकी दो व्याख्याएं संभव लगती हैं। एक तो यह कि विश्वयुद्ध में मुसलमानों ने यह साबित कर दिया कि वे हिंदुओं के मुकाबले बेहतर फौजी होते हैं। दूसरी व्याख्या यह है कि अंग्रेजों ने यह नियम इसलिए तोड़ा और फौज में मुसलमानों को इतनी प्रमुखता इसलिए दी कि वे अंग्रेजों के हाथों से राजनीतिक सत्ता छीननेवाली हिंदू आंदोलनकारी शक्तियों के प्रति संतुलन बनाना चाहते थे।

चाहे कोई भी व्याख्या हो, उल्लिखित सर्वेक्षण से दो तथ्य स्पष्ट उभरकर आते हैं। एक तो यह कि हिंदुस्तानी फौज में मुसलमानों की बहुलता है। दूसरा यह कि जिन मुसलमानों की बहुलता है, वे पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के हैं। हिंदुस्तानी फौज की इस संरचना का मतलब यह हुआ कि केवल पंजाब और पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमानों को ही हिंदुस्तान पर बाहर से होने वाले हमलों से रक्षा करने का काम सौंपा गया है। यह तथ्य इतना अधिक स्पष्ट होकर उभरा है कि पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमान इसे अच्छी तरह जानते हैं कि अंग्रेजों ने उन्हें यह गौरवशाली स्थान दिया है, यद्यपि इसका कारण सिर्फ अंग्रेज ही जानते हैं। अक्सर उन्हें यह कहते हुए सुना जा सकता है कि वे हिंदुस्तान के द्वारपाल हैं। हिंदुओं को इस महत्वपूर्ण तथ्य को अवश्य ध्यान में रखते हुए ही भारत की रक्षा-समस्या पर विचार करना चाहिए।

हिंदू इन द्वारपालों पर कितना निर्भर कर सकते हैं कि दरवाजे पर जमें रहेंगे और हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और आजादी की रक्षा करेंगे? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से इस बात पर निर्भर करेगा कि दरवाजे को खोलने के लिए ताकत कौन लगा सकता है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि केवल दो देश ऐसे हैं जो हिंदुस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर से प्रवेश करना चाहेंगे – रूस या अफगानिस्तान, क्योंकि इन दोनों देशों की सीमाएं हिंदुस्तान की सीमाओं को छूती हैं। इनमें से कौन और कब हमला करेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि यह हमला रूस की ओर से हुआ तो यह आशा की जा सकती है कि भारत के ये द्वारपाल बड़ी मजबूती से और वफादारी से द्वार की रक्षा करेंगे और हमलावर को रोक देंगे। यदि अफगान अकेले अपने बूते पर या अन्य मुस्लिम देशों के साथ मिलकर हमला करे, तब ये द्वारपाल हमलावर को रोकेंगे या उन्हें भीतर आने देंगे? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी कोई भी हिंदू उपेक्षा नहीं कर सकता। और चूंकि यह अत्यंत ही महत्वपूर्ण निर्णायक विषय है, और

अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णायक प्रश्न, इसलिए हर हिंदू को इस बारे में पूरी तरह आश्वस्त होना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि अफगानिस्तान भारत पर हमला करने की बात कभी नहीं सोचेगा, परंतु किसी सिद्धांत की सबसे बड़ी परीक्षा तब होती है जब वह बुरी से बुरी स्थिति का भी सामना कर सके। पंजाबी और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमानों की फौज की वफादारी और विश्वसनीयता की जांच तभी की जा सकती है, जब यह पता चले कि अफगानों के हमले की दशा में वे क्या करेंगे। यदि हम आधारभूत सुरक्षा चाहते हैं, तो इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना ही होगा कि अफगान हमले की दशा में क्या वे अपनी जन्मभूमि की रक्षा को महत्व देगें या मजहब के नाम पर बह जाएंगे। यह मान लेना सुरक्षित नहीं है कि जब तक हिंदुस्तान को अंग्रेजों का संरक्षण मिला हुआ है, तब तक हमें इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार की पलायनवादी वृत्ति अपनाकर इन परेशान करने वाले कठिन प्रश्नों का उत्तर देने से बचना सुरक्षित नहीं हैं। स्वयं को संतुष्ट करनेवाले इस दृष्टिकोण को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि पिछले विश्वयुद्ध ने दिखा दिया है कि ऐसी स्थिति आ सकती है जब ग्रेट ब्रिटेन उस समय हिंदुस्तान की रक्षा करने की स्थिति में न हो जबकि उसे अपनी रक्षा की सबसे ज्यादा जरूरत हो। दूसरी बात, किसी संस्था की योग्यता स्वाभाविक परिस्थितियों में आंकी जानी चाहिए न कि कृत्रिम परिस्थितियों में। ब्रिटिश नियंत्रण में हिंदुस्तानी सिपाही का बर्ताव कृत्रिम होता है। उसका बर्ताव उस समय स्वाभाविक होता है जब वह हिंदुस्तानी नियंत्रण में होता है। ब्रिटेन का नियंत्रण इस बात की अनुमति नहीं देता कि फौज के सिपाही अपनी स्वाभाविक इच्छाओं और स्वाभाविक सहानुभूति को प्रकट कर सकें। इसीलिए फौज के सिपाही इतना अच्छा बर्ताव करते हैं। किंतु यह एक कृत्रिम परिस्थिति है, स्वाभाविक नहीं। हिंदुस्तानी फौज ब्रिटिश नियंत्रण में अच्छा बर्ताव करती है, परंतु यह इस बात की गारंटी नहीं कि हिंदुस्तानी नियंत्रण में भी उसका बर्ताव उतना ही अच्छा होगा। एक हिंदू को इस बात के प्रति बहुत संतुष्ट होना चाहिए कि फौज ब्रिटिश नियंत्रण हट जाने के बाद भी उतना अच्छा बर्ताव करेगी।

यह प्रश्न कि हिंदुस्तान पर अफगान हमले के समय पंजाबियों और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमानों की यह सेना कैसा बर्ताव करेगी, अत्यंत प्रासंगिक और निर्णायक महत्व का है और चाहे यह कितना ही नाखुशगवार क्यों न हो, हमें इसका सामना करना ही चाहिए।

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि हम यह मानकर ही क्यों चलें कि फौज में मुसलमानों का इतना अधिक अनुपात बना ही रहेगा, क्या इसे कम नहीं किया

जा सकता है? जो इस अनुपात को कम कर सकते हैं, और इस दिशा में वे जो कोशिश कर सकते हैं, उन्हें करने देनी चाहिए। परंतु जहां तक नजर आता है, इसे कम नहीं किया जा सकता। इसके उलट, मुझे तो लगता है कि जब संशोधन होगा तो मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर संशोधन करते समय संविधान में भी इसे शामिल कर लिया जाएगा। यह निश्चित है कि मुसलमान यह मांग जरूर उठाएंगे और किसी न किसी तरह हिंदुओं के मुकाबले मुसलमानों को सदैव सफलता मिलती है। इसलिए हमें यह मानकर ही चलना चाहिए कि हिंदुस्तानी फौज की संरचना वैसी ही बनी रहेगी जैसी आज है। जब आधार वही बना रहेगा तो हमारा प्रश्न भी वैसे ही बना रहेगा कि क्या हिंदू लोग अफगानिस्तान के आक्रमण के समय ऐसी फौज पर निर्भर रह सकते हैं? केवल तथाकथित राष्ट्रवादी इस प्रश्न का उत्तर हां में देंगे। परंतु यथार्थवादियों में सबसे साहसी लोग भी इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले अवश्य सोचेंगे। यथार्थवादी इस बात को अवश्य नोट करेंगे कि मुसलमान हिंदुओं को काफिर समझते हैं; जिनकी रक्षा करने की जगह उनका उन्मूलन कर देना चाहिए। एक यथार्थवादी को इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मुसलमान यूरोपियों को अपने से श्रेष्ठ मान लेता है, परंतु हिंदुओं को अपने से घटिया मानकर चलता है। यह बात संदेहजनक है कि मुसलमानों की कोई रेजीमेंट आखिर तक हिंदु अफसरों के मातहत काम करेगी और उन्हें स्वीकार करेगी। एक यथार्थवादी को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सभी मुसलमानों में उत्तर–पश्चिम का मुसलमान हिंदुओं से अपने संबंधों के कारण सबसे कम प्रभावित होता है। एक यथार्थवादी को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पंजाबी मुसलमान सर्व–इस्लामवाद के प्रचार से बहुत अधिक प्रभावित होता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, इस बारे में कोई संदेह नहीं रहता कि बेहद साहसी हिंदू ही यह कहने की हिम्मत करेगा कि मुस्लिम देशों के हमले की दशा में हिंदुस्तानी फौज के मुसलमानों के हमलावारों से मिल जाने का कोई खतरा नहीं। यहां तक कि थियोडोर मारिसन* ने भी 1899 में यह विचार प्रकट किया:–

> "मुसलमान (जो देश के लोगों में सबसे अधिक आक्रामक और लड़ाकू हैं) की यह राय है कि अकेले वे ही इसमें सक्षम हैं कि आजाद हिंदुस्तान की सरकार की स्थापना न होने दें। यदि एक स्वायत्तशासी भारत पर अफगान उत्तर से हमला करेंगे तो बजाए इसके कि वे हिंदुओं और सिखों के साथ मिलकर उनका मुकाबला करें, अपने स्वजनों और समान धर्मावलंबी अफगानों के झंडे तले आ जाएंगे।"

---

* इंपीरियल रूल इन इंडिया, पृ. 5

और जब हम यह देखते हैं कि खिलाफत आंदोलन चलाने वाले हिंदुस्तानी मुसलमानों ने वास्तव में अफगानिस्तान के अमीर को हिंदुस्तान पर हमला करने का न्यौता दिया था तो सर थियोडोर मारिसन का विचार और अधिक ठोस लगता है और अनिश्चितता समाप्त हो जाती है।

हिंदुओं को केवल इसी प्रश्न पर ध्यान नहीं देना होगा कि पंजाब और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत के मुसलमानों से बनी यह सेना अफगानिस्तान के हमले के समय कैसा व्यवहार करेगी। एक और उतने ही महत्वपूर्ण सवाल पर भी हिंदुओं को विचार करना होगा कि क्या हिंदुस्तान की सरकार को इस बात की आजादी होगी कि अफगानों की वफादारी की बात को भूलते हुए हिंदुस्तानी फौज का इस्तेमाल अफगान हमलावरों के विरूद्ध करें? इस संबंध में मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना होगा। लीग का दृष्टिकोण यह है कि हिंदुस्तानी फौज का इस्तेमाल मुस्लिम देशों के विरूद्ध नहीं किया जाएगा। इसमें कोई नई बात नहीं है। लीग के आने से पहले, खिलाफत कमेटी ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इसके अतिरिक्त यह सवाल भी बना रहता है कि भविष्य में मुसलमान इसे कहां तक अपनी आस्था का प्रश्न नहीं बनाएंगे। अंग्रेज सरकार के मुकाबले लीग को यदि इस दिशा में सफलता नहीं मिली तो इसका यह मतलब नहीं कि लीग को हिंदुस्तान की सरकार के विरूद्ध भी सफलता नहीं मिलेगी। संभावनाएं इस बात की हैं कि लीग को इसमें सफलता मिलेगी, क्योंकि हिंदुओं के दृष्टिकोण से यह बात भले बहुत गैर–देशभक्तपूर्ण हो, यह मुसलमानो की भावनाओं के बिलकुल अनुरूप है, और लीग को इसके बारे में हिंदुस्तान का मुसलमानों की आम समर्थन मिल जाएगा। यदि मुस्लिम लीग को हिंदुस्तान की अन्य फौजों के इस्तेमाल पर यह सीमा लगाने में सफलता मिल जाती है तो फिर हिंदुओं की क्या दशा हो जाएगी? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हिंदुओं को विचार करना ही चाहिए।

यदि हिंदुस्तान राजनीतिक दृष्टि से एक देश बना रहता है, और पाकिस्तान द्वारा निर्मित द्वि–राष्ट्र वाली मनोवृत्ति उस पर थोपी जाती रहती है, तो जहां तक रक्षा का प्रश्न है, हिंदुओं को लगेगा कि एक तरफ कुआं है और दूसरी तरफ खाई। फौज तो होगी, पर लीग की आपत्ति के कारण अपनी इच्छा से उसका उपयोग नहीं किया जा सकेगा। यदि इस्तेमाल भी किया जाएगा तो भी संदेहास्पद वफादारी के कारण उस पर निर्भर नहीं रहा जा सकेगा। यह स्थिति जितनी दयनीय है, उतनी ही संदिग्ध और खतरनाक भी। यदि फौज में उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और पंजाब के मुसलमानों का वर्चस्व बना रहा तो हिंदुओं को इसका खर्च तो उठाना पड़ेगा, परंतु वे उसका इस्तेमाल नहीं कर सकेंगे, और यदि इस्तेमाल किया भी तो उस पर निर्भर रहना खतरे से खाली नहीं होगा। यदि

लीग का यह विचार लागू कर दिया गया तो उन सैनिक सीमाओं में रहते हुए भारत अपनी फौज का इस्तेमाल मुस्लिम देशों के विरूद्ध करने को स्वतंत्र नहीं होगा, चाहे फौज में मुसलमानों का वर्चस्व न भी रहे, और उसे अपनी सीमाओं के मुस्लिम देशों के साथ अधीनस्थ के रूप में सहयोग करना पड़ेगा, जैसा कि हिंदुस्तानी रियासतें सर्वोपरि ब्रिटिश सत्ता से करती हैं।

हिंदुओं को एक कठिन विकल्प अपनाना है– सुरक्षित सेना हो या सुरक्षित सीमा। इस कठिनाई में हिंदुओं के सामने सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण तरीका क्या होगा? क्या उनका हित इस बात पर जोर देने में है कि मुस्लिम हिंदुस्तान हिंदुस्तान का एक भाग बना रहे, ताकि उसे एक सुरक्षित सीमा मिल सके। इस क्षेत्र के मुसलमान हिंदुओं के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया रखते हैं, इस बारे में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। तो फिर हिंदुओं के लिए बेहतर क्या है? मुसलमानों के बिना और उन्हें अपना विरोधी बनाकर रखा जाए या मुसलमानों को साथ रखकर उन्हें अपना विरोधी बनाकर रखा जाए? यदि यह प्रश्न किसी दुनियादार विवेकवान पुरूष से पूछा जाए तो वह इसका केवल एक ही उत्तर देगा – यदि मुसलमानों को विरोधी बनाकर रखना ही है तो अच्छा यही होगा कि मुसलमानों के बिना उनका विरोधी बनकर रहा जाए, न कि उन्हें साथ रखकर। यह एक पुख्ता चाह है कि मुसलमानों के बिना रहा जाए। हिंदुस्तानी फौज को मुसलमानों की बहुलता से छुटकारा पाने का यही तरीका हैं

ऐसा किस तरीके से किया जा सकता है? इसका एक ही तरीका है, और वह यह कि पाकिस्तान की योजना का समर्थन किया जाए। एक बार जब पाकिस्तान बन जाएगा तो हिंदुस्तान के पास जन और धन के रूप में पर्याप्त संसाधन होने के कारण वह एक ऐसी फौज रख सकेगा जिसे वह अपना कह सके और उसे यह हुक्म देने वाला कोई नहीं होगा कि उसका इस्तेमाल कैसे किया जाए और किसके विरूद्ध किया जाए। इस तरह, पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान की रक्षा कमजोर होने की जगह निश्चित रूप से सुधर जाएगी।

ऐसा लगता है कि हिंदुओं ने इस बात को अच्छी तरह समझा नहीं है कि फौज से अलग रखे जाने के कारण अपनी रक्षा के दृष्टिकोण से वे कितनी हानिकारक स्थिति में हैं, और इस बात को वे और भी कम जानते हैं, जो यद्यपि विचित्र लगता है, कि अपने लिए यह हानिकारक स्थिति खरीदने की वे भारी कीमत अदा कर रहे हैं।

वर्तमान हिंदुस्तानी फौज का मुख्य भर्ती–क्षेत्र, अर्थात् पकिस्तान क्षेत्र, केंद्रीय राजकोष में बहुत कम योगदान देता है, जैसा कि नीचे दिए गए आंकड़ों से पता चलता है:

केंद्रीय राजकोष में योगदान

प्रांत	रूपयों में
पंजाब	1,18,01,385
उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत	9,28,294
सिंध	5,86,46,915
बलूचिस्तान	कुछ नहीं।
योग	7,13,76,594

इसके मुकाबले हिंदुस्तान के प्रांत निम्नलिखित रूप में योगदान देते हैं:

प्रांत	रूपयों में
मद्रास	9,53,26,745
बंबई	22,53,44,247
बंगाल*	12,00,00,000
संयुक्त प्रांत	4,05,53,000
बिहार	1,54,37,742
मध्य प्रांत और बरार	31,42,682
आसाम	1,87,55,967
उड़ीसा	5,67,346
योग	51,91,27,729

यह देखा जा सकता है कि पाकिस्तान–प्रांतों का योगदान बहुत कम होता है। अधिकांश योगदान हिंदुस्तान के प्रांतों से आता है। वास्तव में तो हिंदुस्तान के प्रांतों से मिले योगदान के कारण ही हिंदुस्तान की सरकार पाकिस्तान के प्रांतों में अपनी गतिविधियां चला सकती हैं। पाकिस्तान के प्रांत हिंदुस्तान के प्रांतों से एक निकासी नाले की तरह जुड़े हुए हैं। वे न केवल केंद्रीय सरकार को बहुत कम[1] योगदान देते हैं, बल्कि केंद्रीय सरकार से बहुत अधिक हासिल करते हैं। केंद्रीय सरकार का कुल राजस्व 121 करोड़ रूपए होता है। इसमें से लगभग 52 करोड़ रूपए प्रतिवर्ष फौज पर खर्च किए जाते हैं। फौज पर ये जो 52 करोड़ रूपए खर्च किए जाते हैं, उसका अधिकांश पाकिस्तान–क्षेत्र की मुस्लिम फौज पर खर्च किया जाता है। अब इस 52 करोड़ रूपए में से अधिकांश हिंदू प्रांतों से मिलता है और वह एक ऐसी फौज पर खर्चा जाता है जिसमें अधिकांश गैर–हिंदू हैं। इस खेदजनक स्थिति को कितने हिंदू जानते हैं? कितने लोग जानते हैं कि यह खेदजनक स्थिति किसकी कीमत पर बनाई जा रही है? आज हिंदू इसके लिए इसलिए जिम्मेदार नहीं हैं कि वे इसे रोक नहीं सकते। प्रश्न यह है कि क्या वे इस खेदजनक स्थिति को चलते रहने देंगे? यदि वे इसे रोकना चाहते हैं तो इसका सबसे निश्चित तरीका गह है कि पाकिस्तान की योजना को प्रभावी होने दिया जाए। इसका विरोध करना अपने विनाश के लिए स्वंय सहायक हथियार खरीदना है। सुरक्षित सीमा से सुरक्षित फौज बेहतर होती है।

1. केवल आधा राजस्व दिखाया गया है, क्योंकि लगभग आधी जनसंख्या हिंदू है।

अध्याय : 6

पाकिस्तान और सांप्रदायिक शांति

प्रत्येक हिंदू एक प्रश्न निश्चित रूप से पूछेगा कि क्या पाकिस्तान से सांप्रदायिक समस्या हल हो जाएगी। इस प्रश्न का ठीक–ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिए इस समस्या के गहन विश्लेषण की आवश्यकता है। पहले हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि जब हिंदू और मुसलमान सांप्रदायिक प्रश्न की बात करते हैं, तो उसका वास्तव में क्या तात्पर्य है। इसके अभाव में यह बताना संभव नहीं होगा कि क्या पाकिस्तान से सांप्रदायिक समस्या हल होगी या नहीं होगी।

यह बात आम तौर पर नहीं समझी जाती कि सीमा के लिए "अग्रगण्य नीति" की तरह सांप्रदायिक प्रश्न के भी अधिक व्यांपक और कम व्यापक अभिप्राय हैं और जब लघु अभिप्राय में इसका एक अर्थ होता है तो अधिक व्यापक अभिप्राय में इसका बिल्कुल भिन्न अर्थ हो जाता है।

I

पहले हम सांप्रदायिक प्रश्न के लघु अभिप्राय वाले पहलू पर विचार करेंगे। लघु अभिप्राय के अंतर्गत सांप्रदायिक प्रश्न का हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व से संबंध है। इस दृष्टि से इस प्रश्न के अंतर्गत इन दो विशिष्ट समस्याओं पर विचार करना होगा – (क) विभिन्न विधानमंडलों में हिंदुओं और मुसलमानों को कितने–कितने स्थान दिए जाएं, और (ख) इन स्थानों को भरने के लिए निर्वाचक–मंडल या मतदाता कैसे हों।

गोलमेज सम्मेलन में मुसलमानों ने ये दावे पेश किए थे :

(1) सभी प्रांतीय और केंद्रीय विधानमंडलों में उनके प्रतिनिधि पृथक चुने जाएं।

(2) जिन प्रांतों में मुसलमानों की जनसंख्या अल्पमत में है, वहां उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसके अतिरिक्त जिन प्रांतों में वे बहुमत में हैं जैसे कि पंजाब, सिंधु, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत और बंगाल, वहां उन्हें एक कानूनी

गारंटी दी जाए कि सीटों में बहुमत उनका होगा।

हिंदुओं ने शुरू से ही मुसलमानों की इन मांगों का विरोध किया। उन्होंने जोर दिया कि सभी केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों के चुनावों के लिए हिंदुओं और मुसलमानों के संयुक्त निर्वाचक-मंडल होने चाहिए और जहां कहीं वे अल्पमत में हों, वहां हिंदुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात से हो। उन्होंने इस बात पर घोर आपत्ति की कि किसी विशिष्ट संप्रदाय को कानूनन बहुमत प्राप्त हो।

ब्रिटिश सरकार ने अपने कम्यूनल एवार्ड द्वारा इसका एक सरल, स्थूल और त्वरित हल ढूंढ निकाला और मुसलमानों को वह सब कुछ दे दिया गया जो वे चाहते थे और हिंदुओं के विरोध की कतई परवाह नहीं की गई। एवार्ड द्वारा मुसलमानों को अधिक प्रतिनिधित्व भी मिल गया और पृथक निर्वाचक-मंडल भी। इसके अतिरिक्त, जिन प्रांतों की जनसंख्या में उनका बहुमत था वहां उन्हें कानूनन सीटों में बहुमत देने की व्यवस्था भी कर दी गई।

इस एवार्ड में ऐसी कौन सी बात है जिसके आधार पर कहा जा सके कि इस एवार्ड से समस्या पैदा हो गई? क्या ब्रिटिश सरकार के कम्यूनल एवार्ड के विरोध में हिंदुओं द्वारा उठाई गई आपत्तियों में कोई दम है? इस प्रश्न पर हमें सावधानीपूर्वक विचार करना होगा ताकि यह पता लगाया जा सके कि एवार्ड के बारे में हिंदुओं की आपत्तियों में वास्तविकता कितनी है।

प्रथमतः जहां तक मुस्लिम अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व में वज़न दिए जाने के प्रति आपत्ति का संबंध है, अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने का जो भी तरीका ठीक हो, हिंदू इस बात पर सही आपत्ति नहीं कर सकते कि मुसलमानों को वजन दिया गया है क्योंकि जिन प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्या में हैं और जहां वजन की गुंजाइश है, वहां उन्हें भी वजन दिया गया है। सिंध और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में हिंदुओं को वही महत्व दिया गया है।

दूसरे, उन्हें मुसलमानों को वैधानिक बहुमत प्रदान करने पर जो आपत्ति है उसके पीछे भी कोई ठोस आधार नजर नहीं आता। सैद्धांतिक और दार्शनिक विवेचन में तो गारंटीशुदा प्रतिनिधित्व को गलत, कुचक्री और पूरी तरह अन्यायपूर्ण बताया जा सकता है। परंतु हिंदुस्तान में आजकल जैसी परिस्थितियां हैं, संवैधानिक बहुमत देने की बात को अपरिहार्य मानना ही पड़ता है। एक बार जब यह मान लिया जाए कि अल्पसंख्यकों को दिए गए प्रतिनिधित्व से बहुमत को अल्पमत में नहीं बदल देना चाहिए, तो उसका प्रतिकार करने के लिए बहुमत को बहुमत में बनाए रखने के लिए वैधानिक व्यवस्था करनी जरूरी है। कारण, अल्पसंख्यकों की सीटें निर्धारित करते समय बहुमत की सीटें भी निर्धारित करनी पड़ेंगी। यदि हम

यह स्वीकार करते हैं कि अल्पसंख्यकों को इतना प्रतिनिधित्व नहीं देना चाहिए कि अल्पमत बहुमत में बदल जाए, तो वैधानिक बहुमत बनाए रखने की प्रणाली से बचा नहीं जा सकता। इसलिए पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत, सिंध और बंगाल के मुस्लिम–बहुल प्रांतों में मुसलमानों के संवैधानिक बहुमत के बारे में हिंदुओं द्वारा की गई आपत्ति में कोई बहुत दम नहीं है। कारण, जिन प्रांतों में हिंदू बहुमत में हैं, और मुस्लिम अल्पमत में, हिंदुओं को मुसलमानों के मुकाबले वैधानिक बहुमत मिला हुआ है। जो भी हो, स्थिति में दोनों को समानता मिली हुई है और इसलिए शिकायत का कोई कारण नहीं है।

इसका यह मतलब नहीं कि चूंकि हिंदुओं की आपत्ति में कोई सार नहीं है, इसलिए कम्यूनल एवार्ड के विरोध करने का कोई ठीक कारण ही नहीं बनता। कम्यूनल एवार्ड पर आपत्ति के कई कारण हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि हिंदुओं ने उन्हें एवार्ड पर आक्रमण करने का आधार नहीं बताया।

इस आपत्ति को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। हिंदू प्रांतों के मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने पृथक निर्वाचक–मंडल बनाने पर जोर दिया। कम्यूनल एवार्ड से उन्हें इस मुद्दे के बारे में अधिकार मिल जाता है। और स्थिति यही बन जाती है जब यह याद किया जाये कि क्या रुख अपनाया गया अर्थात मुस्लिम अल्पसंख्यकों को बिना उनकी सहमति के पृथक निर्वाचक–मंडल से वंचित नहीं किया जा सकता और बहुसंख्यक हिंदू को मुसलमानों के इस संकल्प को मानना ही होगा। मुस्लिम प्रांतों में अल्पसंख्यक हिंदुओं ने जोर दिया कि संयुक्त निर्वाचक–मंडल होने चाहिए। उनके इस दावे को स्वीकार करने की जगह उन पर पृथक निर्वाचक–मंडल थोप दिया गया, जिस पर उन्हें आपत्ति थी। यदि हिंदू प्रांतों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया तो प्रश्न उठता है कि मुस्लिम प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों को निर्वाचक–मंडल के बारे में आत्मनिर्णय का अधिकार क्यों नहीं दिया गया? इस प्रश्न का उत्तर क्या है? और यदि इसका कोई उत्तर नहीं, तो ब्रिटिश सरकार के कम्यूनल एवार्ड में निस्संदेह घोर पक्षपात किया गया है और उसे दूर किया जाना चाहिए।

इसका यह कोई जवाब नहीं है कि पृथक निर्वाचक–मंडल के आधार पर जिन प्रांतों में मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं, वहां हिंदुओं को वैधानिक बहुमत प्राप्त है।* मामूली–सी जांच से ही पता चल जाएगा कि इन दो मामलों में कोई समानता नहीं है। हिंदू प्रांतों में हिंदुओं के बहुमत के लिए पृथक निर्वाचक मंडल उनकी

---

* शायद हिंदू निर्वाचक–मंडल की बात करना पूरी तरह ठीक नहीं है। यह निर्वाचक–मंडल आम निर्वाचक–मंडल है, जिसमें वे सब लोग शामिल हैं जो पृथक निर्वाचक–मंडल में नहीं आते। परंतु चूंकि आम निर्वाचक–मंडल में हिंदू बहुमत में हैं, इसलिए इसे हिंदू निर्वाचक–मंडल कहा जाता है।

मर्जी से नहीं बनाए गए। यह तो मुस्लिम अल्पमत के संकल्प के फलस्वरूप बने, जिन्होंने अपने लिए पृथक निर्वाचक–मंडल का दावा किया था। एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों में अल्पसंख्यक सोच सकते हैं कि उनके आत्मसंरक्षण के लिए पृथक निर्वाचक–मंडल बनाना बेहतर तरीका है और स्वयं अपनी मर्जी और अपने कृत्यों से पृथक निर्वाचक–मंडल बनाकर विरोधी पार्टी को वैधानिक बहुमत देने से उन्हें कोई डर या खतरा नहीं है। एक दूसरा अल्पमत या अलग प्रकार की परिस्थितियों में वही अल्पमत अपनी कार्रवाई से और अपने ही विरोध में पृथक निर्वाचक–मंडल द्वारा वैधानिक बहुमत को पसंद नहीं भी कर सकता है और आत्मसंरक्षण के लिए पृथक निर्वाचक–मंडल की जगह संयुक्त निर्वाचक–मंडल को बेहतर तरीका समझकर तरजीह दे सकता है। स्पष्टतया अल्पसंख्यकों के फैसले को प्रभावित करने वाला मार्गदर्शक सिद्धांत यह होगा – क्या बहुसंख्यक अपनी बहुसंख्या का उपयोग सांप्रदायिक ढंग से और सांप्रदायिक उद्देश्यों से करेंगे? यदि वह निश्चित रूप से अनुभव करे कि बहुसंख्यक संप्रदाय अपने बहुमत का उपयोग सांप्रदायिक कार्यों के लिए करेगा, तो वह संयुक्त निर्वाचक–मंडल को चुनेगा, क्योंकि उसके पास यही एकमात्र तरीका है जिसे अपनाकर वैधानिक बहुमत की कट्टरता को दूर करने के लिए विधान मंडल में बहुसंख्यक संप्रदाय के प्रतिनिधियों के चुनावों को प्रभावित करने की आशा की जा सकती है। दूसरी ओर, हो सकता है कि बहुसंख्यक संप्रदाय सांप्रदायिकता को पुख्ता करने वाली शक्ति न हो जिसकी बदौलत ही वह अपने बहुमत का उपयोग सांप्रदायिक उद्देश्यों के लिए करे और ऐसी परिस्थिति में अल्पसंख्यक संप्रदाय को वैधानिक बहुमत से कोई डर न रहे और वह अपने पृथक निर्वाचक–मंडल की मांग करे। यदि निश्चित शब्दों में कहा जाए, तो मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने पृथक निर्वाचक–मंडल को इसलिए चुना है, कि पृथक निर्वाचक–मंडल और हिंदुओं के वैधानिक बहुमत से उन्हें कोई खतरा नहीं, क्योंकि वे इस बात से आश्वस्त हैं कि जाति और वर्ण संबंधी मतभेदों के कारण हिंदू मुसलमानों के विरुद्ध अपने बहुसंख्यक होने का उपयोग नहीं कर पाएंगे। दूसरी ओर, मुस्लिम प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों को इस बारे में कोई संदेह नहीं कि अपनी सामाजिक एकता और सुदृढ़ता के कारण मुसलमान अपने बहुमत का उपयोग एक कट्टर मुस्लिम सरकार बनाने के लिए करेंगे, जो लॉर्ड सेलिसबरी द्वारा आयरलैंड के लिए होम रूल के विकल्प के रूप में बनाई गई योजना जैसी होगी। अंतर केवल यह होगा कि लॉर्ड सेलिसबरी की कट्टर सरकार केवल तीस वर्ष तक रहनी थी, जबकि मुसलमानों की कट्टर सरकार तब तक बनी रहेगी जब तक कम्यूनल एवार्ड लागू रहेगा। इसलिए दोनों परिस्थितियां एक जैसी नहीं हैं। पृथक निर्वाचक–मंडल पर आधारित हिंदुओं का वैधानिक बहुमत मुस्लिमों द्वारा किए गए चुनाव के परिणामस्वरूप बना है, पृथक निर्वाचक–मंडल पर आधारित नहीं है। एक मामले में हिंदू संप्रदाय के बहुमत से

बनी मुस्लिम अल्पसंख्यक सरकार मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सहमति से बनी है। दूसरे मामले में, मुस्लिम बहुमत द्वारा बनाई गई हिंदू अल्पसंख्यक सरकार हिंदू अल्पसंख्यकों की सहमति से नहीं बनी, बल्कि वह ब्रिटिश सरकार की ताकत से थोपी गई है।

कम्यूनल एवार्ड पर किए गए इस विचार–विमर्श के निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक समस्या के 'कम व्यापक' अभिप्राय या पहलू का हल यह हो सकता है कि एवार्ड में इस कारण कोई पक्षपात न हो। इसमें हिंदू प्रांतों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को वज़न दिया गया है। अतः इससे मुस्लिम प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों को भी वज़न मिलता है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि इस एवार्ड में कोई पक्षपात नहीं है क्योंकि यह मुस्लिम प्रांतों में मुस्लिमों को वैधानिक बहुमत प्रदान करता है, जहां वे बहुसंख्यक हैं। यदि मुस्लिम स्थानों की संख्या पर वैधानिक सीमा लगाई गई है तो यह हिंदुओं को भी हिंदू बहुमत वाले प्रांतों में वैधानिक बहुमत प्रदान करता है। परंतु निर्वाचक–मंडलों के संदर्भ में, एवार्ड के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। कम्यूनल एवार्ड इस लिहाज से अवश्य अन्यायपूर्ण है कि निर्वाचक–मंडलों के मामलों में हिंदुओं और मुसलमानों से एक–सा बर्ताव नहीं किया गया। यह हिंदू प्रांतों में. मुस्लिम अल्पसंख्यकों को निर्वाचक मंडलों के बारे में आत्मनिर्णय का अधिकार देता है, जबकि मुस्लिम प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों को यह अधिकार नहीं दिया गया। हिंदू प्रांतों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद का निर्वाचक मंडल चुनने का अधिकार दिया गया है और हिंदू बहुमत को कुछ बोलने नहीं दिया गया। परंतु मुस्लिम प्रांतों में मुस्लिम बहुमत को यह अधिकार दिया गया है कि वे अपनी पसंद का निर्वाचक मंडल चुने और हिंदू अल्पसंख्यकों को कुछ कहने नहीं दिया गया। इस तरह मुस्लिम प्रांतों में मुस्लिमों को वैधानिक बहुमत भी दिया गया है और पृथक निर्वाचक–मंडल भी। परन्तु हिंदू अल्पसंख्यकों पर मुस्लिम शासन थोपा गया है, जिसे न तो वे बदल सकते हैं और न ही प्रभावित कर सकते हैं।

कम्युनल एवार्ड में यही मूलभूत त्रुटि है; और स्वीकार करना चाहिए कि यह बहुत बड़ी त्रुटि है। कारण, यह कुछ ऐसे राजनीतिक सिद्धांतों के विपरीत है जिन्हें अब स्वयंसिद्ध माना जाता है। पहला यह कि किसी पर इतना विश्वास न करो कि उसे असीमित राजनीतिक सत्ता मिल जाए। ठीक ही कहा गया है :

> "यदि किसी राज्य या देश में कुछ लोगों के संगठन के पास असीमित राजनीतिक सत्ता हो तो, जिन पर वे शासन करते हैं, वे कभी स्वतंत्र नहीं हो सकते। इतिहास के अध्ययन से यह निश्चित सबक मिला है कि जिनके हाथ में अनियंत्रित सत्ता आती है, वह उनके हाथों में

> अनिश्चित रूप से विषैली बन जाती है। वे सदा अपने सिद्धांत उन पर थोपने का प्रयत्न करते हैं और अंत में यह मान लेते हैं कि जनता का भला इसी में है कि वे शासन करते रहें। स्वतंत्रता की हमेशा यह मांग होती है कि राजनीतिक सत्ता पर अंकुश रखा जाए ....।"

दूसरा सिद्धांत यह है कि जैसे राजा के पास शासन करने का कोई दैविक अधिकार नहीं होता, उसी तरह बहुमत को भी सदैव शासन करने का दैविक अधिकार नहीं होता। बहुमत के शासन को लोग इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि वह एक सीमित अवधि के लिए होता है और इसे बदला जा सकता है। दूसरे, इसलिए कि यह एक राजनीतिक बहुमत का शासन होता है, अर्थात एक ऐसा बहुमत जो सांप्रदायिक बहुमत के आधार पर नहीं, बल्कि अल्पमत के मतों से बना है। यदि राजनीतिक अल्पमत पर राजनीतिक बहुमत की सत्ता का कार्यक्षेत्र इतना सीमित होता है तो एक संप्रदाय के अल्पसंख्यकों को एक दूसरे समुदाय के बहुसंख्यकों के सदा अधीन किस तरह रखा जा सकता है? एक संप्रदाय के बहुमत को दूसरे संप्रदाय के अल्पमत के वोटों की चिंता किए बिना ऐसा होने देना और वह भी तब जब अल्पसंख्यक इस बात की मांग करते हों, लोकतांत्रिक सिद्धांतों को विकृत करना होता है और यह हिंदू अल्पमत की सुरक्षा और हिफाजत की रत्ती-भर भी चिंता न करने के समान है।

II

अब हम सांप्रदायिक समस्या के "व्यापक अभिप्राय" पर विचार करेंगे। हिंदू किस बात को लेकर इसे एक समस्या मानते हैं? सांप्रदायिक समस्या का व्यापक अभिप्राय मुस्लिम प्रांतों का सोद्देश्य निर्माण करना है। लखनऊ पैक्ट के समय मुसलमानों ने सांप्रदायिक समस्या को केवल कम व्यापक अभिप्राय के रूप में उठाया था। गोलमेज सम्मेलन के समय मुस्लिमों ने पहली बार एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जिसमें सांप्रदायिक समस्या को व्यापक अभिप्राय के रूप में रखा गया। 1935 के एक्ट से पहले अधिकांश प्रांत ऐसे थे जहां हिंदू बहुमत में थे और मुस्लिम अल्पमत में। केवल तीन प्रांत ऐसे थे जिनमें मुस्लिम बहुमत में थे और हिंदू अल्पमत में। ये थे पंजाब, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत। इनमें से उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में मुस्लिम बहुमत प्रभावकारी नहीं था, चूंकि उस प्रांत में उत्तरदायी शासन नहीं था, और क्योंकि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार उस प्रांत पर लागू नहीं किए गए थे। इस तरह, व्यवहार में केवल दो प्रांत, अर्थात् पंजाब और बंगाल, ऐसे थे जहां मुस्लिम बहुमत में थे और हिंदू अल्पमत में। मुस्लिमों की इच्छा थी कि मुस्लिम प्रांतों की संख्या बढ़ाई जाए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मुस्लिमों ने मांग की कि सिंध को बंबई प्रेसिडेंसी से अलग कर दिया जाए और उसे एक

स्वशासी प्रांत बना दिया जाए; और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत का, जो पहले से ही एक अलग प्रांत है, दर्जा बढ़ाकर स्वशासी प्रांत कर दिया जाए। अन्य बातों के अतिरिक्त, विशुद्ध वित्तीय दृष्टि से भी इस मांग को स्वीकार करना संभव नहीं था। न तो सिंध, और न उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत वित्तीय दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े हो सकते थे। परंतु मुस्लिम मांग को पूरा करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने यह जिम्मेदारी भी स्वीकार कर ली कि सिंध[1] और उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत[2] को केंद्रीय राजस्व में से अनुदान दिया जाए ताकि वे अपने वित्त में बजट–संतुलन स्थापित कर सकें और वित्तीय दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े हो सकें।

अब मुस्लिम बहुमत और हिंदू अल्पमत वाले ये चार प्रांत स्वायत्तशासी और स्वशासी प्रांतों की तरह काम करने लगे हैं, परंतु इनका निर्माण न तो प्रशासनिक सुविधा के लिए किया गया था और न ही उनसे कोई वास्तुकीय संतुलन स्थापित हो सका – हिंदू प्रांतों के मुकाबले मुस्लिम प्रांत खड़े करना। यह भी सच है कि मुस्लिम प्रांतों की योजना मुस्लिम अहम को संतुष्ट करने के लिए नहीं थी जो यह मांग कर रहा था कि मुस्लिम बहुमत के अधीन रहनेवाले हिंदू अल्पमत से वे हिंदू बहुमत के अधीन रहनेवाले मुस्लिम अल्पमत को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति का बदला ले सकें। तब फिर मुस्लिम प्रांत बनाने की योजना के पीछे क्या उद्देश्य था? हिंदू कहते हैं कि मुसलमानों द्वारा वैधानिक बहुमत और पृथक निर्वाचक मंडल बनाने पर जोर देने का उद्देश्य यह था कि मुस्लिम प्रांतों में रहनेवाले मुस्लिमों को संगठित करके एक प्रभावशाली मुस्लिम सत्ता बनाई जाए, जो पूरी तरह और यथासंभव अधिकतम मुस्लिम हो। इस तरह मुस्लिम राजनीतिक सत्ता को संगठित करने का तात्पर्य क्या हो सकता था? हिंदू इसका उत्तर यह देते हैं कि इस तरह मुस्लिम प्रांतों में मुस्लिम अपने हाथ में एक कारगर हथियार रखना चाहते हैं, जिससे यदि हिंदू प्रांतों ने मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक हिंदू अत्याचार किए तो वे भी मुस्लिम प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों पर अत्याचार कर सकें। इस तरह यह योजना संरक्षण की एक ऐसी प्रणाली बन जाएगी जिसमें धमाके का उत्तर धमाके से, आतंक का उत्तर आतंक से और अत्याचार का उत्तर अत्याचार से दिया जा सके। यह योजना निश्चित रूप से बड़ी डरावनी है, जिसमें शांति और न्याय की रक्षा के लिए प्रतिकार का तरीका अपनाया जाएगा, ताकि निर्दोष हिंदू अल्पसंख्यकों को मुस्लिम प्रांतों में और मुस्लिम अल्पसंख्यकों को हिंदू प्रांतों में उनके धर्मावलंबियों द्वारा की गई गलतियों की सजा दी जा सके। यह तो सांप्रदायिक बंधक प्रणाली के माध्यम से सांप्रदायिक शांति स्थापित करने की योजना है।

---

1. सिंध को प्रतिवर्ष 1,05,00,000 रु. का अनुदान मिलता है।
2. उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत को प्रतिवर्ष 1,00,00,000 रु. का अनुदान मिलता है।

मुस्लिम इस बात को शुरू से ही जानते थे कि सांप्रदायिक आधार पर बनाए गए प्रांतों में इस ढंग से काम किया जा सकता है। यह मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के उस भाषण से स्पष्ट है जो उन्होंने 1927 में मुस्लिम लीग के कलकत्ता–अधिवेशन में अध्यक्ष के रूप में दिया था। अपने भाषण में मौलाना ने घोषणा की:

> "लखनऊ पैक्ट के द्वारा उन्होंने अपने हित बेच दिए थे। पिछले मार्च के दिल्ली–प्रस्तावों से पहली बार हिंदुस्तान में मुसलमानों के वास्तविक अधिकारों को स्वीकार करने का दरवाजा खोल दिया गया। 1916 के पैक्ट द्वारा जो पृथक निर्वाचक–मंडल प्रदान किया गया उससे केवल मुस्लिम प्रतिनिधत्व सुनिश्चित हुआ था, परंतु इस समुदाय के अस्तित्व के लिए सबसे महत्पूर्ण बात यह थी कि उनकी कुल जनसंख्या की शक्ति को ध्यान में रखा गया। दिल्ली प्रस्तावों से पहली बार ऐसी परिस्थितियां बनाने का मौका मिला जिससे उन्हें भविष्य में हिंदुस्तान से समुचित हिस्सा मिलता रहेगा। जनसंख्या के आंकड़ों के हिसाब से बंगाल और पंजाब में उनका थोड़ा ही बहुमत है, पर दिल्ली प्रस्तावों से उन्हें पांच प्रांत मिल गए, जिनमें तीन प्रांतों (सिंध, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और बलूचिस्तान) में मुस्लिमों का भारी बहुमत है। यदि मुसलमान इस महत्वपूर्ण कदम को नहीं समझते तो वे जीवित रहने के लायक ही नहीं हैं। अब पांच मुस्लम प्रांतों के मुकाबले नौ हिंदू प्रांत होंगे और इन नौ प्रांतों में हिंदू मुस्लिमों से जैसा बर्ताव करेंगे, पांच प्रांतों में मुस्लिम हिंदुओं से वसा ही बर्ताव करेंगे। क्या यह एक बहुत बड़ा लाभ नहीं है? क्या वह मुस्लिम अधिकारों को जताने का नया हथियार नहीं मिल गया?"

जिन लोगों के पास इन मुस्लिम प्रांतों का प्रभार है, वे इस योजना के लाभ जानते हैं और जिस अभिप्राय से इसे लागू किया गया था उसका इस्तेमाल करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होगा। यह बंगाल के प्रधानमंत्री फजलुल हक के भाषणों से स्पष्ट होता है।

इस बारे में कोई भी संदेह नहीं है कि सांप्रदायिक प्रांतो की इस योजना को सांप्रदायिक समस्या के व्यापक अभिप्राय से सांप्रदायिक अत्याचार का साधन बनाने मे इस्तेमाल किया जा सकता है। सांप्रदायिक प्रांतों की योजना का मूल आधार ही बंधक रखने की प्रणाली है, और पृथक निर्वाचक–मंडलों द्वारा इसे जो और मजबूत बनाया गया, इसका किसी भी तरह समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि अधिक मुस्लिम प्रांत बनाने के पीछे केवल यही भावना थी, तो यह प्रणाली निस्संदेह बड़ी कुचक्रपूर्ण है।

इस विश्लेषण से इस बारे में कोई संदेह नहीं रहता कि पृथक निर्वाचक मंडल पर आधारित वैधानिक सांप्रदायिक बहुमत और सांप्रदायिक प्रांत विशेष रूप से इसलिए बनाए गए हैं कि वैधानिक रूप से बनाया गया बहुमत अल्पसंख्यकों पर अत्याचार कर सके। ये दो बुराइयां हैं, जो मिलकर सांप्रदायिक समस्या पैदा करती हैं।

इस सांप्रदायिक समस्या के लिए हिंदू मुस्लिमों को और मुस्लिम हिंदुओं को दोषी ठहराते हैं। हिंदू लोग मुस्लिमों पर दुराग्रह का दोष लगाते हैं, मुस्लिम हिंदुओं पर नीचता का आरोप लगाते हैं, तथापि दोनों यह भूल जाते हैं कि सांप्रदायिक समस्या पैदा होने का यह कारण नहीं कि मुस्लिम अपनी मांगें बहुत बढ़ा–चढ़ाकर, बहुत गुस्ताखी से रखते रहे हैं और हिंदू रियायतें देते समय बहुत नीचता और अनिच्छा व द्वेष–भावना रखते रहे हैं। यह समस्या तब तक बनी रहेगी जब तक एक शत्रुतापूर्ण बहुमत का शत्रुतापूर्ण अल्पमत सामना करता रहेगा। पृथक बनाम संयुक्त निर्वाचक–मंडल संबंधी विवाद, जनसंख्या का अनुपात बनाम वजन संबंधी विवाद में सब उस परिस्थिति में बने रहेंगे जहां अल्पसंख्यक संप्रदाय बहुसंख्यक संप्रदाय से टक्कर लेने को तैयार खड़ा है। सांप्रदायिक समस्या का सर्वोत्तम हल यह है कि अल्पसंख्यक समुदाय और बहुसंख्यक समुदाय, दोनों ही एक–दूसरे से टक्कर लेने के लिए एक ही सरकार, एक फौलादी ढांचे, में न बने रहें।

पाकिस्तान सांप्रदायिक समस्या के हल के कितने निकट पहुंचता है?

इस प्रश्न का उत्तर बिलकुल स्पष्ट है। यदि पाकिस्तान की स्कीम में उत्तर–पश्चिम के प्रांतों और बंगाल की वर्तमान सीमाएं बनी रहें, तो सांप्रदायिक समस्या के मूल में जो बुराइयां हैं, वे दूर नहीं होतीं। इसमें वे सारे तत्व मौजूद हैं जिनके कारण यह समस्या पैदा हुई, अर्थात् बहुसंख्यकों के मुकाबले अल्पसंख्यकों को खड़ा कर देना। वर्तमान स्थिति की सबसे विकट बुराइयां हैं हिंदू अल्पमत पर मुस्लिम बहुमत का शासन और मुस्लिम अल्पमत पर हिंदू बहुमत का शासन। यदि पाकिस्तान वाले प्रांतों की वर्तमान सीमाएं बनी रहीं तो पाकिस्तान में भी यह बुराई जारी रहेगी। इसके अतिरिक्त, जिस बुराई से सांप्रदायिक समस्या अपने व्यापक अभिप्राय में प्रकट होती है, वह न केवल बनी रहेगी बल्कि और भी अधिक जटिल हो जाएगी। वर्तमान प्रणाली के अंतर्गत, सांप्रदायिक प्रांतों की अपने बंधकों को परेशान करने की शक्ति प्रांतीय सरकारों पर केंद्रीय सरकार की सत्ता के कारण सीमित है। आजकल तो हिंदू एक ऐसी केंद्रीय सरकार के अंतर्गत आते हैं जिसकी हिंदू संरचना है और जिसके हाथ में ऐसी सत्ता है जो हिंदुओं के संरक्षण के लिए हस्तक्षेप कर सकती है। परंतु जब पाकिस्तान मुस्लिम देश बन

जाएगा और आंतरिक और बाह्य मामलों पर उसकी पूर्ण प्रभुता होगी, तो वह केंद्रीय सरकार के नियंत्रण से बाहर होगा। हिंदू अल्पसंख्यकों के पास तब कोई ऐसा रास्ता नहीं रहेगा कि वे किसी ऐसी बाहरी सत्ता के पास जा सकें जिसके पास उसे दबाकर रखने की शक्ति हो और जो (हिंदुओं की ओर से) हस्तक्षेप कर सके और उनका अनिष्ठ न होनें दें, क्योंकि उसमें उन्हें दबाकर रखने वाली सत्ता की व्यवस्था ही नहीं है। इस तरह पाकिस्तान में हिंदुओं की दशा आसानी से वैसी ही बन जाएगी, जैसी तुर्कों के अधीन आर्मेनियनों की है या यहूदियों की जार के रूस और नाजी जर्मनी में हैं। ऐसी कोई भी योजना असहनीय होगी और हिंदू यह अवश्य ही कह सकते हैं कि उन्हें पाकिस्तान स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वे अपने असहाय सहधर्मियों को एक मुस्लिम राष्ट्र में धर्मांधों का शिकार बनते नहीं देख सकते।

III

पाकिस्तान की योजना को लागू करने के परिणामों के बारे में यह एक सुस्पष्ट वर्णन है। परंतु हमें यह जानने की सावधानी बरतनी ही होगी कि इन परिणामों का उद्‌गम क्या है? क्या वे पाकिस्तान की स्कीम के ही परिणाम हैं या उन सीमाओं के जो पाकिस्तान के लिए निर्धारित की जानी हैं? यदि ये पाकिस्तान की योजना के हैं, अर्थात् वे उसी में अंतर्निहित हैं, तो हिंदुओं को इस पर विचार करने में भी अपना समय बरबाद नहीं करना चाहिए। यदि वे इसे देखते ही रद्द कर दें, तो यह न्यायोचित ही होगा। परंतु यदि ऐसा उसकी सीमाओं के कारण होता है, तो पाकिस्तान का प्रश्न केवल उसकी सीमाओं के परिवर्तन का मुद्दा बन जाता है।

पाकिस्तान के प्रश्न का अध्ययन करने से इस विचार को बड़ा बल मिलता है कि पाकिस्तान की बुराइयां उसमें अंतर्निहित नहीं हैं और यदि उसके कुछ बुरे परिणाम निकलते हैं तो वे उसकी सीमाओं के कारण ही हो सकते हैं। अगर हम पाकिस्तान की जनसंख्या के वितरण का अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। यदि ये बुराइया पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान में पनपती हैं, तो उसका कारण यह है कि वर्तमान सीमाओं से वे एक जाति वाले (सजातीय) देश नहीं बन जाते। वे पहले की तरह मिले–जुले देश बने रहते हैं जहां मुसलमान बहुसंख्यक होंगे और हिंदू अल्पसंख्यक। ये बुराइयां ऐसी बुराइयां हैं जो किसी मिली–जुली जनसंख्या वाले देश से अलग की ही नहीं जा सकतीं। यदि पाकिस्तान को पूरी तरह एकजातीय देश बना दिया जाता है तो ये बुराइयां अपने आप समाप्त हो जाएंगी। तब पाकिस्तान में अलग निर्वाचक मंडल बनाने का प्रश्न ही नहीं रहेगा, क्योंकि एकजातीय पाकिस्तान मे शासन करने वाले बहुसंख्यक और संरक्षण पाने

वाले अल्पसंख्यक रहेंगे ही नहीं। इसी तरह वहां एक बहुसंख्यक संप्रदाय नहीं होगा जो एक विरोधी संप्रदाय को अपनी मुट्ठी में कसकर रखे।

इसलिए यह प्रश्न है सीमांकन का, जिसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: क्या पाकिस्तान की सीमाएं इस तरह निर्धारित की जा सकती हैं कि पाकिस्तान बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक संप्रदायों के मिलेजुले देश की जगह (जिसमें उल्लिखित सभी बुराइयां होती हैं) एक सजातीय देश बन जाए, जिसमें केवल एकजातीय संप्रदाय अर्थात् मुसलमान ही रहें? इसका जवाब यह है कि लीग की योजनानुसार जो क्षेत्र प्रभावित होगा, उसके बड़े भाग को सीमाओं में हेरफेर करके उसे सजातीय बताया जा सकता है, जबकि शेष क्षेत्र में जनसंख्या में अदला–बदली करके सजातीयता लाई जा सकती है।

इस संदर्भ में मैं आपका ध्यान परिशिष्ट V, X और XI की ओर आकृष्ट करना चाहूंगा, जिनमें प्रभावित क्षेत्रों में जनसंख्या–वितरण के आंकड़े दिए गए हैं। ऐसे नक्शे भी दिए गए हैं, जिनमें दिखाया गया है कि सीमाओं में फेरबदल करके किस तरह सजातीय मुस्लिम राज्य बनाए जा सकते हैं। पंजाब के मामले में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए :

(1) कई जिले ऐसे हैं जि में मुसलमान बहुसंख्यक हैं। कुछ जिले ऐसे हैं जिनमें हिंदू बहुसंख्यक हैं। ऐसे जिले बहुत कम हैं जिनमें दोनों संप्रदाय लगभग बराबर संख्या में हों; और

(2) मुस्लिम बहुसंख्या वाले जिले और हिंदू बहुसंख्या वाले जिले छितरे हुए नहीं हैं। ये दोनों प्रकार के जिले दो अलग–अलग क्षेत्रों में हैं।

पूर्वी पाकिस्तान बनाने के लिए हमें बंगाल और आसाम दोनों प्रांतों में जनसंख्या के वितरण को ध्यान में रखना पड़ेगा। जनसंख्या के आंकड़ों की जांच करने से पता चलता है कि :

(1) बंगाल में कुछ जिले ऐसे हैं जिनमें मुस्लिम बहुसंख्या में हैं। अन्य जिलों में हिंदू बहुसंख्या में हैं।

(2) आसाम में भी कुछ जिलों में मुस्लिम बहुसंख्या में हैं और कुछ जिलों में हिंदू बहुसंख्या में हैं।

(3) मुस्लिम बहुसंख्या और हिंदू बहुसंख्या वाले जिले छितरे हुए नहीं हैं। वे अलग–अलग क्षेत्रों में हैं।

(4) बंगाल और आसाम के जिन जिलों में मुस्लिम बहुसंख्या में हैं, वे साथ–साथ लगे हुए हैं।

इन तथ्यों के रहते, पंजाब, बंगाल और आसाम के प्रांतों में सीमांकन इस तरह से किया जा सकता है कि हिंदू बहुसंख्या वाले क्षेत्रों को अलग कर दिया जाए और मुस्लिम बहुसंख्या वाले सजातीय देश का निर्माण किया जा सके। परिशिष्ट में दिए गए नक्शों से पता चलता है कि ऐसा करना संभव है।

उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध की स्थिति अपेक्षाकृत कठिन है। उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध की स्थिति को परिशिष्ट VI से IX में दिए गए आंकड़ों से समझा जा सकता है। इन परिशिष्टों से पता चलता है कि उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध में कोई ऐसे जिले नहीं हैं, जहां हिंदू केंद्रित हों। इन दोनों प्रांतों के सभी जिलों में हिंदू रहते हैं, पर वे थोड़ी या महत्वहीन संख्या में हैं। इन परिशिष्टों से बिना किसी संदेह के यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध के विभिन्न जिलों में हिंदू अधिकांशतया शहरी क्षेत्रों में रहते हैं। सिंध में अधिकांश शहरों में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से अधिक है, जबकि गांवों में मुस्लिम हिंदुओं से अधिक हैं। उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में मुस्लिम आबादी शहरों और गांवों दोनों में हिंदुओं से अधिक है।

इस तरह उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध का मामला पंजाब और बंगाल से बिल्कुल अलग है। पंजाब और बंगाल में चूंकि हिंदू और मुसलमान अलग–अलग क्षेत्रों में स्वाभाविक तौर से अलग–अलग रहते हैं, इसलिए वहां केवल सीमाओं में फेरबदल करके सजातीय राज्य बनाना संभव है और वहां जनता की अदला–बदली बहुत कम पैमाने पर करनी पड़ेगी। परंतु उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और सिंध में चूंकि हिंदू सब जगह बिखरे हुए हैं, इसलिए केवल सीमाओं में फेरबदल करके सजातीय राज्य नहीं बनाए जा सकते। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है, और वह है जनता की अदला–बदली।

कुछ लोग जनता की अदला–बदली के विचार का उपहास करते हैं। परंतु उपहास करने वाले लोग यह कतई नहीं समझते कि अल्पसंख्यकों की समस्या के कारण कितनी जटिलताएं उठ खड़ी होती हैं और उनकी रक्षा के लिए किए जानेवाले सभी प्रयास किस तरह असफल हो जाते हैं। युद्धोत्तर बने राज्यों और यूरोप के पुराने राज्यों में भी जहां अल्पसंख्यकों की समस्या थी, संविधानों में यह मान कर प्रावधान किए गए कि ऐसे संरक्षण उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त होंगे। इसलिए सभी नए राज्यों के बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों वाले संविधानों में उनके मौलिक अधिकारों और संरक्षणों की एक लंबी सूची लगा दी गई जिससे यह सुनिश्चित किया जाना था कि बहुसंख्यक उनका उल्लंघन नहीं करेंगे। परन्तु

अनुभव क्या बताता है? अनुभव से पता चला कि संरक्षणों से अल्पसंख्यकों की रक्षा नहीं हुई। अनुभव से यह भी पता चला कि अल्पसंख्यकों के विरुद्ध एक क्रूरतापूर्ण युद्ध छेड़ देने से भी समस्या हल नहीं हुई। तब ये राज्य इस बात पर सहमत हो गए कि समस्या का सर्वोत्तम हल यही है कि अपनी-अपनी सीमाओं में ही अपने से भिन्न अल्पसंख्यकों की अदला-बदली कर लें और अपनी सीमाओं में परिवर्तन न करें, ताकि समजातीय राज्य बन सकें। तुर्की, यूनान और बुल्गारिया में यही हुआ। जो जनसंख्या के तबादले का उपहास करते हैं, उनके लिए यह अच्छा होगा कि तुर्की, यूनान और बुल्गारिया के अल्पसंख्यकों की समस्या के इतिहास का अध्ययन करें। यदि वे इसका अध्ययन करेंगे तो उन्हें इस बात का पता चलेगा कि अल्पसंख्यकों की समस्या का एकमात्र प्रभावकारी हल जनसंख्या की अदला-बदली ही है। इन तीनों देशों ने जो काम अपने हाथों में लिया, वह कोई मामूली काम नहीं था। इसमें लगभग 2 करोड़ लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना था। किंतु बिना हिम्मत हारे हुए इन तीनों ने यह काम पूरा कर दिखाया, क्योंकि उन्हें लगा कि सांप्रदायिक शांति स्थापित करने का काम अन्य सब कामों से अधिक महत्वपूर्ण है।

यह बात निश्चित है कि सांप्रदायिक शांति स्थापित करने का टिकाऊ तरीका अल्पसंख्यकों की अदला-बदली ही है। यदि यही बात है तो फिर यह व्यर्थ होगा कि हिंदू और मुस्लिम संरक्षण के ऐसे उपाय खोजने में लगे रहें जो इतने असुरक्षित पाए गए हैं। यदि यूनान, तुर्की और बुल्गारिया जैसे सीमित साधनों वाले छोटे-छोटे देश भी यह काम पूरा कर सके, तो यह मानने का कोई कारण नहीं कि हिंदुस्तानी ऐसा नहीं कर सकते। फिर यहां तो बहुत कम जनता की अदला-बदली करने की आवश्यकता पड़ेगी, और चूंकि कुछ ही बाधाओं को दूर करना है, इसलिए सांप्रदायिक शांति स्थापित करने के एक निश्चित उपाय को न अपनाना अत्यंत उपहासास्पद होगा।

आलोचना के एक मुद्दे का अब तक उल्लेख नहीं किया गया है। चूंकि यह बात उठाई जा सकती है, इसलिए मैं यहां इसकी चर्चा करना चाहूंगा। यह निश्चित रूप से पूछा जाएगा कि हिंदुस्तान में बच रहे मुस्लिमों के बारे में पाकिस्तान क्या करेगा? यह प्रश्न स्वाभाविक है क्योंकि पाकिस्तान की योजना में बहुसंख्यक मुस्लिमों की चिंता तो की गई है, परंतु उन मुस्लिम अल्पसंख्यकों की उपेक्षा कर दी गई है जिन्हें वास्तव में संरक्षण की आवश्यकता है। परंतु मुद्दा यह है कि यह प्रश्न कौन उठाए? हिंदू तो निश्चित रूप से नहीं उठाएंगे। केवल पाकिस्तान या हिंदुस्तान के मुस्लिम इसे उठा सकते हैं। यह प्रश्न पाकिस्तान के मुख्य समर्थक श्री. रहमत अली से किया गया था और उन्होंने इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर दिया :

"खास हिंदुस्तान में रहनेवाले 4.5 करोड़ मुसलमानों की स्थिति पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? सच्चाई यह है कि इस संघर्ष में उनके बारे में हम बहुत अधिक चिंतित हैं। वे हमारा ही खून है, हमारी ही आत्मा है। न हम उन्हें भूल सकते हैं और न ही वे हमें। उनकी वर्तमान स्थिति और भावी सुरक्षा हमारे लिए अत्यधिक महत्व की है और भविष्य में भी बनी रहेगी। वर्तमान स्थिति खराब नहीं होगी। जनसंख्या के आधार पर चार हिंदुओं के पीछे एक मुसलमान विधानसभाओं में होगा और प्रशासनिक क्षेत्र में उनका उतना ही प्रतिनिधित्व बना रहेगा जितना कि आज मिला हुआ है। भविष्य में जो एकमात्र गारंटी हम उन्हें दे सकते हैं, वह है परस्पर आदान–प्रदान की। इसलिए हम सच्चे दिल से यह प्रतिज्ञा करते हैं कि पाकिस्तान में गैर–मुस्लिमों को वे सब सुरक्षाएं प्रदान करेंगे जो हिंदुस्तान में मुसलमानों को मिलेंगी।

"परंतु जो बात हमें सबसे अधिक बल प्रदान करती है, वह यह कि वे जानते हैं कि पाकिस्तान की घोषणा 'मिल्लत' के सर्वोत्तम हित में है। यह जितनी हमारे हित में है, उतनी ही उनके हित में। जहां हमारे लिए यह एक राष्ट्रीय किले के समान होगी, वहीं उनके लिए नैतिक लंगर का काम करेगी। जब तक यह लंगर टिका रहेगा, सब कुछ सुरक्षित रहेगा या सुरक्षित बनाया जा सकेगा। पर यदि लंगर ही टूट गया तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।"

हिंदुस्तान के मुस्लिमों ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है, वह भी काफी स्पष्ट है। उनका कहना है – "मुस्लिमों का पाकिस्तान और हिंदुस्तान में बटवारा कर देने से हम कमजोर नहीं होंगे, हम हिंदुस्तान की पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं पर अलग इस्लामी देश बन जाने से अधिक सुरक्षा का अनुभव करेंगे, बजाए इसके कि वे हिंदुस्तान में आत्मसात कर लिए जाएं"। कौन कह सकता है कि वे गलत हैं? क्या यह नहीं देखा जा चुका है कि जर्मनी अपने यहां रहने वाले सुडेटेन जर्मनों की अपेक्षा चेकोस्लोवाकिया में रहने वाले सुडेटेन जर्मनों की बेहतर सुरक्षा कर सका?*

जो भी हो, यह प्रश्न हिंदुओं के लिए चिंता का विषय नहीं हैं। हिंदुओं के लिए चिंतनीय प्रश्न यह है कि पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान में सांप्रदायिक समस्या किस हद तक सुलझेगी। यह बहुत उचित प्रश्न है, और इस पर विचार करना

* ऐसा लगता है कि मुस्लिम लीग ने सुडेटेन जर्मनों के हितों की रक्षा के लिए चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध जर्मनी की धौंसपट्टी के तरीकों का गहराई से अध्ययन किया है और यह भी सीखा है कि इन तरीकों से क्या सबक मिलता है। कराची अधिवेशन, 1937 में दिए गए लीग के धमकी भरे भाषण इस बारे में दृष्टव्य हैं।

चाहिए। यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान सांप्रदायिक समस्या से मुक्त नहीं हो जाएगा। सीमाओं का पुनर्निर्धारण करके पाकिस्तान को तो एक सजातीय देश बनाया जा सकता है, परंतु हिंदुस्तान तो एक मिश्रित देश बना ही रहेगा। मुसलमान समूचे हिंदुस्तान में छितरे हुए हैं – यद्यपि वे मुख्यतः शहरों और कस्बों में केंद्रित हैं। चाहे किसी भी ढंग से सीमांकन की कोशिश की जाए, उसे सजातीय देश नहीं बनाया जा सकता। हिंदुस्तान को सजातीय देश बनाने का एकमात्र तरीका है जनसंख्या की अदला-बदली की व्यवस्था करना। यह अवश्य विचार कर लेना चाहिए कि जब तक ऐसा नहीं किया जाएगा, हिंदुस्तान में बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की समस्या और हिंदुस्तान की राजनीति में असंगति पहले की तरह बनी ही रहेगी।

अगर यह मानकर चला जाए कि पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान में सांप्रदायिक समस्या हल होने वाली नहीं है, तो क्या इसी के चलते हिंदू को पाकिस्तान के लिए मना कर देना चाहिए? हिंदू जल्दबाजी में किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचें उससे पहले उन्हें पाकिस्तान बनने के निम्नलिखित प्रभावों पर विचार कर लेना चाहिए।

पहले यह देखिए कि पाकिस्तान बनने से सांप्रदायिक समस्या के परिमाण पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उसे सर्वोत्तम ढंग से आंकने का तरीका यह है कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान में मुस्लिमों की संख्या कितनी हो जाएगी:

पाकिस्तान में मुस्लिम आबादी		हिंदुस्तान में मुस्लिम आबादी	
1. पंजाब	13,332,460	1. ब्रिटिश भारत में कुल मुस्लिम आबादी (बर्मा और अदन को छोड़कर)	66,442,766
2. उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत	2,227,303		
3. सिंध	2,830,800		
4. बलूचिस्तान	405,309	2. पाकिस्तान और पूर्वी बंगाल में आनेवाली मुस्लिम आबादी	47,897,301
5. पूर्वी बंगाल			
(क) पूर्वी बंगाल	27,497,624		
(ख) सिलहट	1,603,805	3. ब्रिटिश भारत में शेष मुस्लिम आबादी	18,545,465
योग	47,897,301		

ये आंकड़े क्या दर्शाते हैं?

इनसे यह पता चलता है कि ब्रिटिश हिंदुस्तान में बची हुई मुस्लिम आबादी केवल 18,545,465 ही बचेगी और बाकी 47,897,301 मुस्लिम, जो मुस्लिम

आबादी का बड़ा भाग हैं, उससे अलग हो जाएंगे और पाकिस्तानी राज्यों की प्रजा बन जाएंगे। सांप्रदायिक समस्या की दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि बिना पाकिस्तान के 6½ करोड़ मुस्लिम सांप्रदायिक समस्या बनाए रहेंगे जबकि पाकिस्तान बन जाने के बाद समस्या केवल 2 करोड़ मुस्लिमों की रह जाएगी। क्या सांप्रदायिक शांति चाहनेवाले हिंदुओं के लिए यह बात विचारणीय नहीं है? मुझे तो लगता है कि यदि पाकिस्तान बनने से हिंदुस्तान में सांप्रदायिक समस्या सुलझ नहीं जाती तो भी इससे अनुपात में वह काफी कम हो जाती है, उसका (मुस्लिम आबादी का) महत्व घट जाता है और इसका शांतिपूर्ण हल निकालना कहीं आसान हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि हिंदुओं को इस पर विचार करना चाहिए कि पाकिस्तान बनने से केंद्रीय विधानसभा में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है। नीचे दी गई सारणी से पता चलता है कि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1935 के अंतर्गत केंद्रीय विधानसभा में किस प्रकार सीटें बांटी गई हैं, और यदि पाकिस्तान बनता है तो इन सीटों पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

	सीटों का वितरण			सीटों का वितरण		
	I जैसा कि आजकल है			II पाकिस्तान बनने के बाद		
सदन का नाम	कुल सीटें	गैर–मुस्लिम (हिंदू) क्षेत्रीय सीटें	मुस्लिम क्षेत्रीय सीटें	कुल सीटें	गैर–मुस्लिम (हिंदू) क्षेत्रीय सीटें	मुस्लिम क्षेत्रीय सीटें
राज्य परिषद	150	75	49	126	75	25
संघीय विधानसभा	250	105	82	211	105	43

पाकिस्तान बनने से सीटों के सांप्रदायिक वितरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसे और स्पष्ट रूप से समझने के लिए नीचे दी गई सारणी में ये आंकड़े प्रतिशत रूप में दिए गए हैं :

सदन का नाम	सीटों का वितरण		सीटों का वितरण	
	I जैसा कि आजकल है		II पाकिस्तान बनने के बाद	
	हिंदू सीटों के मुकाबले मुस्लिम सीटों का प्रतिशत	कुल सीटों के मुकाबले मुस्लिम सीटों का प्रतिशत	हिंदू सीटों के मुकाबले मुस्लिम सीटों का प्रतिशत	कुल सीटों के मुकाबले मुस्लिम सीटों का प्रतिशत
राज्य/परिषद	33	66	25	$33^1/_3$
संघीय/विधान सभा	33	80	21	40

इस सारणी से यह देखा जा सकता है कि पाकिस्तान बनने के बाद कितना बड़ा परिवर्तन आ जाएगा। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के अनुसार, दोनों सदनों में मुस्लिम सीटों का अनुपात कुल सीटों का 33 प्रतिशत है, परंतु हिंदू सीटों के मुकाबले राज्य परिषद में यह अनुपात 66 प्रतिशत और संघीय विधान सभा में 80 प्रतिशत है, अर्थात लगभग हिंदुओं के बराबर। पर यदि पाकिस्तान बना तो कुल सीटों के मुकाबले राज्य परिषद में मुस्लिम सीटों का अनुपात $33^1/_3$ प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत रह जाएगा और संघीय विधान सभा में 21 प्रतिशत, जबकि हिंदू सीटों के मुकाबले राज्य परिषद में यह अनुपात 66 प्रतिशत से घटकर $33^1/_3$ प्रतिशत और संघीय विधान सभा में 80 प्रतिशत के मुकाबले 40 प्रतिशत रह जाएगा। इन आंकड़ों में यह मानकर चला गया है कि हिंदुस्तान के पाकिस्तान से अलग होने के बावजूद मुस्लिमों को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व दिया जाता रहेगा। यदि मुस्लिमों को दिया जानेवाला वज़न रद्द कर दिया गया या कम कर दिया गया तो हिंदुओं का प्रतिनिधित्व और भी अधिक बढ़ जाएगा। परंतु मान लीजिए कि वज़न में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जाता, तो भी क्या केंद्र में हिंदुओं को प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कम लाभ होगा? मेरे विचार में केंद्र में हिंदुओं की स्थिति में बहुत अधिक सुधार हो जाएगा, परंतु यदि वे पाकिस्तान का विरोध करेंगे तो उन्हें यह लाभ नहीं मिलेगा।

ये तो पाकिस्तान बनने के भौतिक लाभ हैं। एक और मनोवैज्ञानिक लाभ भी है। दक्षिण और मध्य भारत के मुस्लिम उत्तर और पूर्व के मुस्लिमों से प्रेरणा लेते हैं। यदि पाकिस्तान बनने से उत्तर और पूर्व में सांप्रदायिक शांति स्थापित हो जाती है, क्योंकि तब कोई अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक नहीं रहेंगे, तो हिंदू ठीक ही यह आशा कर सकते हैं कि हिंदुस्तान में सांप्रदायिक शांति स्थापित हो जाएगी। उत्तर

और पूर्व के मुस्लिमों और हिंदुस्तान के मुस्लिमों के बीच का सूत्र समाप्त हो जाएगा और यह हिंदुस्तान के हिंदुओं के लिए एक और लाभ होगा।

पाकिस्तान बनने से होने वाले इन प्रभावों पर विचार किया जाए तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि पाकिस्तान से हिंदुस्तान के भीतर सांप्रदायिक समस्या पूरी तरह हल नहीं होती तो भी एक जोरदार भागीदार के रूप में मुस्लिमों की आपाधापी से हिंदू मुक्त हो जाएंगे। यह सोचना हिंदुओं का काम है कि क्या एक ऐसे प्रस्ताव को महज इसलिए रद्द कर दिया जाए कि इससे पूरा समाधान नहीं निकालता। ज्यादा नुकसान के मुकाबले कुछ फायदा भी बेहतर है।

IV

अब एक अंतिम प्रश्न, और उसके बाद सांप्रदायिक शांति के संदर्भ में पाकिस्तान के बारे में यह विचार–विमर्श समाप्त किया जा सकता है। क्या पंजाब और बंगाल के हिंदू और मुस्लिम अपने प्रांतों का सीमांकन नए सिरे से करने को तैयार हो जाएंगे, ताकि पाकिस्तान की योजना को अधिकाधिक दोषरहित बनाया जा सके?

जहां तक मुस्लिमों का सवाल है, उन्हें नए सिरे से सीमांकन करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि वे आपत्ति करते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि वे खुद अपनी मांग को नहीं समझते। ऐसा बिलकुल संभव है, क्योंकि पाकिस्तान के समर्थकों में जो चर्चा चल रही है वह बहुत ही गैर–जिम्मेदाराना और असंयत है। कुछ लोग पाकिस्तान को मुस्लिम कौमी वतन (मुस्लिम नेशनल होम) जबकि अन्य मुस्लिम कौमी रियासत (मुस्लिम नेशनल स्टेट) का नाम देते हैं। कौमी रियासत और कौमी वतन में अंतर होता है। और यह एक महत्वपूर्ण अंतर है। यह अंतर क्या होता है, इस बारे में फिलस्तीन में यहूदियों के लिए कौमी वतन बनाने के समय विस्तार से विचार किया गया था। यदि मुस्लिमों के सीमांकन के बारे में संभावित विरोध पर काबू पाना है तो इस भीतरी धारणा को स्पष्ट रूप से समझना जरूरी है। एक अधिकृत विद्वान के अनुसार :

> "कौमी वतन एक ऐसा क्षेत्र होता है जिसमें लोगों को राजनीतिक प्रभुता का अधिकार पाए बिना भी एक स्वीकृत वैध स्थिति मिली होती है, जहां उन्हें अपने नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक आदर्शों को पूरा करने का अधिकार होता है।"

1922 में स्वयं ब्रिटिश सरकार ने अपनी फिलस्तीन नीति के बारे में जारी वक्तव्य में कौमी वतन की धारणा की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की थी :

"जब यह पूछा जाता है कि फिलस्तीन में यहूदियों के कौमी वतन का विकास करने का क्या मतलब है, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि यह वहां के निवासियों पर यहूदी राष्ट्रीयता थोपना नहीं है, बल्कि वर्तमान यहूदी समुदाय का विश्व के अन्य भागों में रहनेवाले यहूदियों की सहायता से और अधिक विकास करना है, ताकि यह एक ऐसा केंद्र बन जाए, जिसमें तमाम यहूदी लोग धर्म और प्रजाति के आधार पर रुचि लें और गर्व करें। परंतु इस समुदाय को अपने मुक्त विकास के सर्वोत्तम अवसर मिल सकें, और यहूदी लोगों को अपनी क्षमताएं दिखाने का पूरा मौका मिल सके। यह आवश्यक है कि यहूदी लोग समझें कि वहां वे अपने अधिकार से रह रहे हैं, इसलिए नहीं कि लोग उन्हें सहन कर रहे हैं। ऐसा होना आवश्यक है। यही कारण है कि इस बात की अंतर्राष्ट्रीय गारंटी दी जाए कि फिलस्तीन यहूदियों का कौमी वतन है और इसे प्राचीन ऐतिहासिक संबंधों के आधार पर औपचारिक रूप से मान्यता दी जाए।"

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कौमी वतन और कौमी रियासत में एक महत्वपूर्ण अंतर होता है। यह अंतर इस तथ्य में होता है कि कौमी वतन में रहनेवाले लोगों को क्षेत्र के ऊपर राजनीतिक प्रभुता नहीं मिलती और उस क्षेत्र में रहनेवाले अन्य लोगों पर वे अपनी राष्ट्रीयता नहीं थोप सकते। उन्हें जो मिलता है वह यह है कि उनकी वैध स्थिति को स्वीकार करके यह गारंटी दी जाती है कि वहां उन्हें नागरिक के रूप में रहने तथा अपनी संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार होगा। कौमी रियासत में रहनेवाले लोगों को राजनीतिक प्रभुता मिलती है और यहां रहनेवाले दूसरे लोगों पर वे अपनी राष्ट्रीयता थोप सकते हैं।

यह अंतर बहुत महत्वपूर्ण है और इसे ध्यान में रखते हुए ही पाकिस्तान की उनकी मांग की जानी चाहिए। मुस्लिम लोग पाकिस्तान की मांग किसलिए करते हैं? यदि वे मुस्लिमों का कौमी वतन बनाने के लिए पाकिस्तान चाहते हैं, तो पाकिस्तान की कोई जरूरत नहीं। पाकिस्तानी प्रांतों में उन्हें पहले से ही कौमी वतन मिला हुआ है, जिसमें उन्हें रहने और अपनी संस्कृति को बढ़ाने के अधिकार मिले हुए हैं। यदि वे पाकिस्तान को कौमी मुस्लिम रियासत बनाना चाहते हैं, तो वे उसमें सम्मिलित क्षेत्र पर अपनी राजनीतिक प्रभुता चाहते हैं। इसका उन्हें अधिकार है। परंतु सवाल यह है कि क्या उन्हें इन मुस्लिम रियासतों के भीतर गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अपनी प्रजा बनाकर रखने की अनुमति देनी चाहिए और उन पर मुस्लिम रियासतों की कौमियत थोपने का अधिकार होना चाहिए? निस्संदेह यह अधिकार राजनीतिक प्रभुता के अनुषंगी रूप में स्वीकार किया जाता है। परंतु यह भी उतना ही सच है कि आधुनिक काल में और मिश्रित राज्यों

में यह अधिकार शरारतों का साधन बन गया है। पाकिस्तान बनने से ऐसी शरारतों की संभावना से इन्कार करना हालिया इतिहास के रक्तिम पृष्ठों को न पढ़ने जैसा होगा, जिनमें तुर्कों, यूनानियों, बुल्गारियनों और चैक लोगों द्वारा अपने अल्पसंख्यकों के विरुद्ध किए गए अत्याचारों, हत्याओं, लूटपाट और आगजनी की घटनाएं अंकित हैं। किसी रियासत से अपनी प्रजा पर अपनी राष्ट्रीयता थोपने का अधिकार वापस लेना संभव है, क्योंकि यह राजनीतिक प्रभुता से उपजा है। परंतु यह भी संभव है कि ऐसे अधिकार को अमल में लाने का अवसर ही न दिया जाए। ऐसा तब किया जा सकता है जब मुस्लिमों को ऐसी कौमी मुस्लिम रियासत बनाने की अनुमति दी जाए जो संप्रदाय की दृष्टि से पक्के तौर पर सजातीय हो। किसी भी परिस्थिति में उन्हें ऐसे मिश्रित राज्य बनाने की अनुमति नहीं दी जा सकती जिनमें हिंदुओं के विरोधी मुस्लिम हों और उनकी संख्या हिंदुओं से कहीं अधिक हो।

शायद पाकिस्तान के विचार के निर्माता मुस्लिमों ने इस बात पर कभी गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया। इस स्कीम के मूल प्रणेता सर मुहम्मद इकबाल ने तो निश्चित रूप से इस बारे में कभी नहीं सोचा था। 1930 में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि वह अंबाला डिवीजन और कुछ ऐसे जिलों को छोड़ देने के लिए राजी हो जायेंगे, जिनमें गैर–मुस्लिम अधिक संख्या में रहते हैं। इसका कारण यह था कि उन्हें छोड़ देने से उसका विस्तार कम हो जाएगा और उसकी आबादी में मुस्लिम अधिक हो जाएंगे। दूसरी ओर यह भी संभव है कि जो लोग पाकिस्तान की स्कीम प्रस्तुत कर रहे हैं उन्होंने यही सोचा हो कि इसमें पंजाब और बंगाल अपनी वर्तमान सीमाओं सहित रहेंगे। उनको यह बात साफ तौर पर समझ लेनी चाहिए कि वर्तमान सीमाओं पर जोर देने से वे ऐसे हिंदुओं को भी नाराज कर देंगे जो इस प्रश्न पर खुले दिमाग से सोचते हैं। हिंदुओं से इस बात की आशा कभी नहीं की जा सकती कि वे हिंदुओं को उस मुस्लिम रियासत में सम्मिलित करने की सहमति दे देंगे जो जान–बूझकर मुस्लिम मत और मुस्लिम संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए बनाई जा रही है। हिंदू निस्संदेह इसका विरोध करेंगे। मुसलमानों को यह कतई नहीं समझना चाहिए कि इसका पता चलने में बहुत देर लगेगी। यदि मुस्लिम वर्तमान सीमाओं को बनाए रखने पर जोर देंगे तो उन पर यह आरोप लग सकता है कि पाकिस्तान की मांग के पीछे एक कौमी वतन या कौमी रियासत बनाने के बजाए कोई निहायत घटिया चाल है। उन पर इस बात का इल्जाम लगेगा कि वे मुस्लिम क्षेत्रों में बहुसंख्यक मुस्लिमों के हाथों में हिंदू अल्पसंख्यकों को बंधक बनाकर रखना चाहते हैं।

इसलिए इन बातों पर मुस्लिमों को विचार करना चाहिए कि पाकिस्तान बनाने

के लिए प्रांतों की सीमाएं बदलना उनके लिए क्यों श्रेयस्कर है।

अब, पंजाब और बंगाल के हिंदुओं को किन विशिष्ट बातों पर विचार करना चाहिए? इस मुद्दे पर दो पार्टियों, अर्थात हिंदू और मुस्लिम, में हिंदू अधिक कठोर हैं। इस बारे में केवल ऊंची जातियों के हिंदुओं की प्रतिक्रिया जानना काफी है, क्योंकि वे ही हिंदू जनता का मार्गदर्शन करते हैं और हिंदू जनमत का निर्माण करते हैं। दुर्भाग्यवश, ऊंची जातियों के हिंदू लोग नेता के रूप में बहुत घटिया होते हैं। उनके चरित्र में कोई ऐसा गुण है जिससे हिंदू आमतौर पर घोर विपत्ति में पड जाते हैं। उनका यह गुण इस कारण बनता है कि वे सब कुछ स्वयं हासिल करना चाहते हैं और जीवन की अच्छी चीजें दूसरों से मिल–बांटना नहीं चाहते। उनके पास शिक्षा और शक्ति या अधिकार का एकाधिकार है, और शक्ति और शिक्षा से ही वे राज्य पर काबिज हो गए हैं। उनके जीवन की आकांक्षा और लक्ष्य यही है कि उनका यह एकाधिकार बना रहे। अपने वर्ग का प्रभुत्व बनाए रखने में ही उनका स्वार्थ है और इसीलिए वे नीची जातियों के हिंदुओं को अधिकार या शक्ति, शिक्षा और सत्ता से वंचित रखने के लिए हर संभव उपाय अपनाते हैं; और इसका सबसे निश्चित और प्रभावकारी उपाय है ऐसे धर्मग्रंथों की रचना जिनके द्वारा नीची जातियों के हिंदुओं के दिमाग में यह पाठ बिठा दिया जाता है कि उनके जीवन का कर्तव्य केवल ऊंची जातियों के हिंदुओं की सेवा करना है। अपने हाथों में यह एकाधिकार रख कर और नीची जातियों को इसमें से कुछ भी न देकर, ऊंची जातियों के हिंदू बहुत लंबे समय से इस काम में असीम सफलता प्राप्त करते रहे हैं। यह तो हाल की ही बात है कि नीची जातियों के हिंदू इस एकाधिकार के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। उन्होंने मद्रास में और बंबई प्रेसीडेंसी में और मध्य प्रांत में गैर–ब्राह्मण पार्टियां बनाई हैं। परंतु ऊंची जातियों के हिंदुओं ने अब भी विशेष सुविधाएं प्राप्त कर रखी हैं। उनका यही दृष्टिकोण है कि शिक्षा, शक्ति या अधिकार और सत्ता को अपने ही हाथों में रखा जाए और दूसरे किसी को इनका लाभ न उठाने दिया जाए। ऊंची जातियों के हिंदुओं ने नीची जातियों के हिंदुओं के बारे में अपना जो दृष्टिकोण बना रखा है, उसे ही वे मुस्लिमों पर भी लागू करना चाहते हैं। जो कुछ उन्होंने नीची जातियों के हिंदुओं के साथ किया है, उसी तरह वे मुस्लिमों को श्रेणी और सत्ता से अलग रखना चाहते हैं। ऊंची जातियों के हिंदुओं की राजनीति को समझने के लिए उनके इस गुण को समझना आवश्यक है।

दो उदाहरणों से उनका यह गुण स्पष्ट हो जाता है। 1929 में हिंदुओं ने साइमन कमीशन के आगे सिंध को बंबई प्रेसीडेंसी से अलग करने का जोरदार और डटकर विरोध किया। परंतु 1915 में सिंध के हिंदुओं ने उसके विपरीत तर्क प्रस्तुत किए थे और सिंध को बंबई से अलग करने की मांग की थी। इन दोनों

मांगों के पीछे कारण एक ही था। 1915 में सिंध में कोई प्रतिनिधि सरकार नहीं थी, परंतु यदि वहां कोई सरकार होती तो वह निस्संदेह मुस्लिम सरकार होती। हिंदुओं ने तब अलग होने का समर्थन इसलिए किया था कि मुस्लिम सरकार के अभाव में सरकारी नौकरियां उन्हें अधिक मात्रा में मिल सकेंगी। 1929 में उन्होंने सिंध को अलग करने का विरोध इसलिए किया क्योंकि वे यह जानते थे कि अलग सिंध मुस्लिम सरकार के अंतर्गत रहेगा, जो उनके इस एकाधिकार को तोड़ देगी और उनकी जगहें मुस्लिम उम्मीदवारों को देगी। बंगाली हिंदुओं द्वारा बंगाल–विभाजन का विरोध करना ऊंची जातियों के हिंदुओं के इसी गुण का एक और उदाहरण है। समूचा बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, यहां तक कि संयुक्त प्रांत भी बंगाली हिंदुओं के प्रभुत्व क्षेत्र बने हुए थे। उन्होंने उन सभी प्रांतों में सरकारी नौकरियों पर कब्जा जमा रखा था। बंगाल के विभाजन का अर्थ होता उनके इस प्रभुत्व–क्षेत्र में कमी होना। इसका अर्थ होता बंगाली मुसलमान को जगह देने के लिए पूर्वी बंगाल से बंगाली हिंदू को निकाला जाना, क्योंकि तब तक बंगाली मुसलमानों को सरकारी नौकरियों में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। बंगाली हिंदुओं द्वारा बंगाल–विभाजन का विरोध मुख्यतः इस कारण था कि वे नहीं चाहते थे कि बंगाल के मुसलमानों को पूर्वी बंगाल में उनका उचित स्थान मिले। उस समय बंगाली हिंदुओं ने सपने में भी यह नहीं सोचा था कि एक तरफ वे विभाजन का विरोध करके और साथ ही स्वराज की मांग करके मुसलमानों को पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल दोनों का शासक बनाने का रास्ता तैयार कर रहे थे।

ऐसे विचार मन में इस डर से आते हैं कि ऊंची जातियों के हिंदू अपने वंशानुगत गुणों के कारण पाकिस्तान का विरोध अन्य किसी कारण से नहीं, बल्कि अपने रोजगार की संभावनाएं सीमित होने के कारण ही करेंगे। पाकिस्तान बनने की राह में आनेवाले जो भी कारण बताए जाएं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इसका एक कारण ऊंची जाति के हिंदुओं का स्वार्थ है।

पंजाब और बंगाल के हिंदुओं के सामने दो विकल्प हैं, जिनका उन्हें सही ढंग से सामना करना होगा। पंजाब में मुस्लिमों की संख्या 1,33,32,460 है, जबकि सिखों और अन्य लोगों को मिलाकर हिंदुओं की संख्या 1,13,92,722 है। दोनों में अंतर केवल 19,39,728 का है। इसका मतलब यह हुआ कि पंजाब में मुसलमानों का बहुमत केवल 8 प्रतिशत का है। अब इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, क्या यह ठीक है कि पंजाब की एकता बनाए रखी जाए और 54 प्रतिशत मुसलमानों को 46 प्रतिशत हिंदुओं पर शासन करने दिया जाए या फिर नए सिरे से सीमांकन कर अलग–अलग कौमी रियासतें बना दी जाएं और इस तरह पूरे हिंदुओं को मुस्लिम शासन के अत्याचारों से बचाया जाए?

बंगाल में मुस्लिमों की संख्या 2,74,97,624 है और हिंदुओं की 2,15,70,407। इस तरह दोनों में केवल 59,27,217 का अंतर है। इसका अर्थ है कि बंगाल में मुस्लिम बहुमत केवल 12 प्रतिशत का है। इन तथ्यों को देखते हुए क्या बेहतर है – नया सीमांकन न करके पूर्वी बंगाल और सिलहट में मुस्लिम कौमी राज्य बनाने का विरोध करना और केवल 12 प्रतिशत बहुमतवाले मुस्लिमों को 44 प्रतिशत हिंदू अल्पसंख्यकों पर शासन करने देना, या फिर नए सीमांकन को स्वीकृति देकर मुस्लिमों और हिंदुओं को अलग–अलग कौमी रियासतों में रखकर 44 प्रतिशत हिंदुओं को मुस्लिम शासन के डरावने कारनामों से मुक्त रखना?

बंगाल और पंजाब के हिंदुओं को यह सोचना चाहिए कि उन्हें कौन से विकल्प को तरजीह देनी है। मुझे लगता है कि अब वह समय आ गया है जब बंगाल और पंजाब के ऊंची जातियो के हिंदुओं को बता देना चाहिए कि यदि वे पाकिस्तान का विरोध सिर्फ इसलिए कर रहे हैं कि इससे उनके लिए रोजगार कम हो जाएंगे तो वे सबसे भयंकर भूल कर रहे हैं। अपने हाथों में स्थान और ताकत का एकाधिकार रखने के दिन अब लद चुके हैं। राष्ट्रीयता के नाम पर वे नीची जातियों के हिंदुओं को धोखा दे सकते हैं, परंतु मुस्लिम प्रांतों में मुस्लिम बहुमत को धोखा देकर स्थान और सत्ता पर अपना एकाधिकार नहीं बनाए रख सकते। यदि पाकिस्तान के विरुद्ध हिंदुओं के चीत्कार को उनके इस संकल्प में देखा जाए कि वे मुस्लिम बहुमत के अंतर्गत रह लेंगे और आत्मनिर्णय का विरोध करेंगे, तो यह सचमुच एक बहुत ही साहसपूर्ण बात होगी। परंतु हिंदुओं का यह विश्वास करना कोई बुद्धिमानी नहीं होगी कि मुसलमानों को मूर्ख बनाकर वे अपना स्थान और सत्ता बनाए रख सकेंगे। जैसा कि लिंकन ने कहा था – यह संभव नहीं है कि तमाम लोगों को हर समय मूर्ख बनाए रखा जाए। यदि हिंदू लोग मुस्लिम बहुमत के अंतर्गत रहने का चुनाव करते हैं तो इस बात की संभावना है कि वे सब कुछ खो बैठें। दूसरी ओर, यदि बंगाल और पंजाब के हिंदू अलग होना स्वीकार कर लें तो यह तो सच है कि उन्हें अधिक नहीं मिलेगा, परंतु यह निश्चित है कि वे सब कुछ नहीं खो बैठेंगे।

भाग : III

पाकिस्तान नहीं तो क्या?

पाकिस्तान के लिए मुस्लिम दलील और उसके विरोध में हिंदू दलील का उल्लेख करने के बाद इस बात पर विचार करना अनिवार्य है कि क्या पाकिस्तान के कोई विकल्प हैं। पाकिस्तान पर अपनी राय बनाते समय उसके विकल्पों को भी ध्यान में रखना जरूरी है। या तो पाकिस्तान का कोई विकल्प नहीं है, या पाकिस्तान का विकल्प है, परन्तु यह पाकिस्तान से भी बदतर है। तीसरे हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि संबद्ध पार्टियों को पाकिस्तान या उसका विकल्प स्वीकार्य न हो तो उसके क्या परिणाम निकलेंगे। इस भाग में इन मुद्दों पर प्रभाव डालने वाले तथ्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत दिखाया गया है :

1. *पाकिस्तान का हिंदू विकल्प।*
2. *पाकिस्तान का मुस्लिम विकल्प।*
3. *विदेशों से सीख।*

अध्याय : 7

पाकिस्तान का हिंदू विकल्प

I

पाकिस्तान के हिंदू विकल्प पर विचार करते समय स्वर्गीय लाला हरदयाल द्वारा 1925 में प्रस्तुत योजना का स्मरण हो आता है। यह योजना एक वक्तव्य के रूप में लाहौर के 'प्रताप' समाचारपत्र में प्रकाशित हुई थी। इस वक्तव्य में, जिसे लाला हरदयाल ने अपने राजनीतिक वसीयतनामें की संज्ञा दी थी, कहा गया था :

> "मैं यह घोषणा करता हूं कि हिंदू जाति, हिंदुस्तान और पंजाब का भविष्य इन चार स्तंभों पर आधारित है : (1) हिंदू संगठन, (2) हिंदू राज, (3) मुस्लिमों की शुद्धि, और (4) अफगानिस्तान तथा सीमावर्ती क्षेत्रों पर विजय और उनका शुद्धिकरण। जब तक हिंदू जाति ये चारों बातें पूरा नहीं कर लेगी, तब तक हमारी भावी संतानों की सुरक्षा पर हमेशा खतरा मंडराता रहेगा और हिंदू जाति की सुरक्षा असंभव हो जाएगी। हिंदू जाति का एक ही इतिहास है और उसकी सभी संस्थाएं समरूपी या सजातीय हैं। परंतु मुसलमान और ईसाई हिंदुत्व की सीमाओं से बहुत परे हैं, क्योंकि उनके धर्म विदेशी हैं और वे फारसी, अरब और यूरोपियन संस्थाओं से प्यार करते हैं। अतः जैसे हम आंख में पड़ी किरकिरी को निकाल देते हैं, उसी तरह इन दोनों धर्मों की शुद्धि की जानी चाहिए। अफगानिस्तान और हमारे सीमांत के पहाड़ी क्षेत्र पहले भारत का ही अंग थे, परंतु आजकल वहां इस्लाम का प्रभुत्व है..... जैसे नेपाल में हिंदू धर्म है, उसी तरह अफगानिस्तान और सीमांत क्षेत्रों में भी हिंदू संस्थाएं होनी चाहिएं, अन्यथा स्वराज पाना व्यर्थ होगा। चूंकि पहाड़ी कबायली हमेशा युद्धप्रिय और भूखे होते हैं, इसलिए यदि वे हमारे शत्रु बन गए तो नादिरशाह और ज़मानशाह का जमाना फिर से वापस आ जाएगा। आजकल अंग्रेज अधिकारी सीमाओं की रक्षा क़र रहे हैं। परंतु यह हमेशा के लिए नहीं हो सकता..... यदि हिंदू

> अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें अफगानिस्तान और सीमांत क्षेत्रों पर विजय पानी चाहिए और सभी पहाड़ी कबायलियों का धर्म–परिवर्तित करना चाहिए।[1]"

मैं नहीं जानता कि कितने हिंदू पाकिस्तान के विकल्पस्वरूप लाला हरदयाल की इस योजना को समर्थन देंगे।

पहली बात तो यह है कि हिंदू धर्म धर्म–परिवर्तन करने वाला धर्म नहीं है। मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में अपने भाषण में ठीक ही कहा था :

> "लंबे समय से हिंदू धर्म के विरुद्ध मेरी एक शिकायत रही है एक बार 1907 में इलाहाबाद में अपने भाषण में मैंने हिंदुओं और मुसलमानों में फर्क बताते हुए कहा था कि एक मुस्लिम के बारे में सबसे खराब बात यह कही जा सकती है कि उसका खाना बेस्वाद होता है, परंतु वह उसे राजाओं के लायक बताता है और सबके साथ मिलकर खाना चाहता है, और वह उसे उनके मुंह में भी ठूंस देगा जो उसे पसंद नहीं करते और न खाना ही चाहते हैं। दूसरी ओर, उसका हिंदू मित्र, जिसे अपनी पाक–विद्या पर गर्व है, चुपके–से अपनी रसोई में घुसकर अकेले ही लपालप वह सब खा जाएगा, जो उसने पकाया है और उस पर वह अपने भाई की भी परछाई तक नहीं पड़ने देगा और उसके लिए एक कौर तक नहीं छोड़ेगा। यह बात हल्के ढंग से नहीं कही गई थी, और एक बार तो मैंने महात्मा गांधी से सचमुच यह पूछा था कि अपने धर्म की इस विशिष्टता का औचित्य बताएं।"

उनकें इस प्रश्न का महात्मा ने क्या उत्तर दिया, यह श्री मुहम्मद अली ने नहीं बताया; तथापि सच्चाई यह है कि हिंदू चाहे कितना भी क्यों न चाहें, हिंदू धर्म को वे इस्लाम या ईसाइयत की तरह उपदेशक धर्म नहीं बना सकते। यह बात नहीं है कि हिंदू धर्म कभी उपदेशक धर्म रहा ही नहीं; बल्कि एक समय तो यह उपदेशक धर्म था ही, अन्यथा इस बात की व्याख्या करना संभव नहीं कि विशाल भारतीय उपमहाद्वीप में यह कैसे फैल जाता।[2] किंतु जातिप्रथा (धर्म) परिवर्तन के साथ नहीं चल सकती थी। एक अपरिचित को अपने धर्म में परिवर्तित

---

1. देखिए, टाइम्स ऑफ इंडिया, 25.7.1925, 'थ्रू इन्डियन आईज़'।
2. इस सवाल के बारे में कि हिंदू धर्म मिशनरी धर्म था या नहीं, और यदि वह मिशनरी धर्म था तो फिर मिशनरी धर्म रहा क्यों नहीं, इसके लिए देखिए मेरा लेख 'कास्ट एंड कनवर्शन' जो तेलुगू समाचार के 1926 के वार्षिकांक में प्रकाशित हुआ था।

करने के लिए किसी समुदाय का उसे अपना धर्म ही देना पर्याप्त नहीं होता, जाति के नाते भी उसे इस स्थिति में होना चाहिए कि धर्म परिवर्तित व्यक्ति को अपने में मिलाकर अपनी बिरादरी में शामिल कर लिया जाए। धर्म–परिवर्तन की यह पूर्व शर्त पूरी करना हिंदू समाज के लिए संभव नहीं था। एक मिशनरी धर्म–प्रचारक की भावनावाले हिंदू को इस बात से कोई नहीं रोकता कि वह किसी अपरिचित को अपने धर्म में शामिल कर ले। किंतु जब वह अपरिचित को अपने धर्म में शामिल करता है, तो इस प्रश्न का सामना अवश्य करना पड़ेगा कि धर्म परिवर्तन वाले व्यक्ति की जाति क्या होगी। हिंदू धर्म के अनुसार, वह जिस जाति में पैदा हुआ है, वही उसकी जाति होगी। धर्म परिवर्तित व्यक्ति तो किसी जाति में पैदा नहीं हुआ। इसलिए वह किसी जाति का नहीं होता। यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। राजनीतिक या धार्मिक होने से भी अधिक, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। भले ही उसका कोई धर्म न हो, धर्म होने की जरूरत भी नहीं। उसे किसी राजनीतिक दल में शामिल होने की आवश्यकता नहीं है। पर उसका समाज होना चाहिए। वह बिना समाज के नहीं रह सकता। जब धर्म परिवर्तन वाले व्यक्ति के लिए कोई समाज ही नहीं होगा, तो फिर धर्म–परिवर्तन कैसे हो सकता है? जब तक हिंदू समाज स्वतंत्र और स्वजातीय वर्गों में बंटा रहेगा, हिंदू धर्म मिशनरी धर्म नहीं हो सकता। इसलिए अफगानों और पहाड़ी कबायलियों का धर्म–परिवर्तन करना महज एक स्वप्न है।

एक दूसरी बात यह है कि लाला हरदयाल की योजना के लिए इतने अधिक धन की जरूरत पड़ेगी जिसका हिसाब तक लगाना संभव नहीं है। अफगानों और सरहदी कबायलियों को हिंदू धर्म में परिवर्तित करने के लिए धन कौन देगा? हिंदुओं ने दीर्घ काल से अन्य लोगों का धर्म–परिवर्तन करके अपने धर्म में शामिल करना बंद कर दिया है, इसलिए उनमें धर्म–परिवर्तन के लिए कोई उत्साह भी नहीं है। इस उत्साह के अभाव में धन एकत्र करने पर भी प्रभाव पड़ेगा। इसके अलावा, चूंकि हिंदू समाज चतुर्वर्ण व्यवस्था पर आधारित है, इसलिए अत्यंत प्राचीन काल से ही हिंदू समाज में धन–संपदा का वितरण बहुत असमान है। हिंदुओं में केवल बनिए को ही धन–संपदा का वारिस समझा जाता है। निःसंदेह विदेशी आक्रमणकारियों या देशी विद्रोहियों के कारण जमींदारों का एक वर्ग बन गया है, किंतु उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं जितनी बनियों की है। बनिया पैसे का होता है और उसके सारे धंधे नफा कमाने के लिए होते हैं। उसे धन का सिर्फ एक ही उपयोग करना आता है कि उसे अपनी मुट्ठी में जकड़े रहो और मरने पर अपने वारिसों के लिए छोड़ जाओ। धर्म के प्रचार–प्रसार या संस्कृति को समझना और उसका संवर्धन करना उसके लिए कोई मायने नहीं रखते। उसके व्यय में तो अच्छी तरह रहना भी शामिल नहीं होता। यह उसकी युगों–युगों से

परंपरा रही है। यदि उसे धन मिलने की आशा हो तो उसके लिए जीवन का आचार–विचार और तरीका लगभग जल्लाद जैसा ही होता है। उसने अपने खर्चे में केवल एक और नए काम के लिए धन खर्च करना सीखा है और वह है राजनीति। यह बात तब शुरू हुई जब श्री गांधी ने राजनीति में एक राजनीतिक नेता के रूप में प्रवेश किया। यही नई सेवा या काम गांधीवादी राजनीति को बढ़ावा देता है। परंतु यहां भी उसका कारण राजनीति से प्यार नहीं है। कारण है सार्वजनिक कामों से भी अपने लिए मुनाफा कमाना। अब इस बात की क्या उम्मीद हो सकती है कि ऐसे लोग अफगानों और सीमावर्ती क्षेत्रों के कबायलियों में हिंदू धर्म के प्रचार जैसे व्यर्थ के कामों के लिए धन खर्चेंगे?

तीसरे, अफगानिस्तान में धर्म–परिवर्तन के लिए उपलब्ध सुविधाओं का प्रश्न उठता है। स्पष्ट है कि लाला हरदयाल यह सोचते थे कि तुर्की की तरह अफगानिस्तान में भी बिना किसी डर के वह इस बात का प्रचार कर सकेंगे कि कुरान गलत है या पुराना पड़ गया है। लाला हरदयाल की इस राजनीतिक खासियत के प्रकाशन से केवल एक वर्ष पूर्व, 1924 में, देवदूत माने जानेवाले कादियान के मिर्जा गुलाम अहमद के एक अनुयायी नियामतुल्ला को, जो अपने आपको एक मसीहा और महदी तथा एक किस्म का पैगंबर या नबी कहता था, काबुल में वहां की सर्वोच्च धार्मिक अदालत ने पत्थर मार–मारकर मार डालने का आदेश दिया।* एक समाचारपत्र 'खिलाफत' की रिपोर्ट के अनुसार, इस आदमी का कसूर इतना था कि वह ऐसे विचारों को मानता था और उनका प्रचार करता था जो इस्लाम और शरियत के अनुरूप नहीं थे। इसी समाचारपत्र के अनुसार पत्थर मारकर मौत की यह सजा पहली शरियत अदालत, केंद्रीय अपीलीय अदालत और न्याय मंत्रालय की निर्णायक अपीलीय कमेटी के उलेमाओं और धर्म–गुरूओं की सहमति से दी गई थी। इन कठिनाइयों को देखते हुए इस योजना को बर्बर अवधारणा कहा जा सकता है, और यह बहुत ही विनाशकारी सिद्ध होगी। यह बहुत दुस्साहसपूर्ण है, और शायद पंजाब के कुछ सिरफिरे आर्यसमाजियों के अतिरिक्त किसी भी समझदार आदमी को पसंद नहीं आएगी।

II

इस संबंध में हिंदू महासभा की जो विचारधारा है उसे उसके अध्यक्ष श्री बी.डी. सावरकर ने सभा के वार्षिक अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट किया। उनकी व्याख्या के अनुसार, हिंदू महासभा पाकिस्तान के विरूद्ध है और वह उसका सभी साधनों से विरोधी करेगी। हमें यह नहीं पता कि साधन कौन से होंगे। यदि

1. टाइम्स ऑफ इंडिया में 'थ्रू इंडियन आइज' शीर्षक के अंतर्गत 27.11.24 को प्रकाशित।

साधन बल–प्रयोग, दबाव और प्रतिरोध है, तो ये केवल नकारात्मक विकल्प सिद्ध होंगे और केवल हिंदू महासभा और श्री सावरकर ही बता सकते हैं कि ये कितने सफल होंगे।

तथापि यह कहना श्री सावरकर के प्रति न्याय नहीं होगा कि भारतीय मुस्लिमों के दावे के बारे में उनका दृष्टिकोण केवल नकारात्मक है। उनके प्रस्ताव के उत्तर में श्री सावरकर ने कुछ ठोस प्रस्ताव भी रखे हैं।

उन ठोस प्रस्तावों को समझने के लिए जरूरी है कि पहले हम उनकी कुछ बुनियादी धारणाओं को समझ जाए। श्री सावरकर इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि हमें हिंदुइज्म, हिंदुत्व और हिंदुडम, इन तीन शब्दों को अच्छी तरह समझना चाहिए। वे कहते हैं:

> "हिन्दू आंदोलन की विचारधारा की व्याख्या करते समय यह नितांत आवश्यक है कि इन तीन शब्दों को ठीक से समझ लिया जाए। 'हिंदू' शब्द से अंग्रेजी में एक शब्द 'हिंदुइज्म' बनाया गया है। इसका तात्पर्य है वह धार्मिक विचारधारा या धर्म का दर्शन, जिसका हिंदू लोग अनुकरण करते हैं। दूसरा शब्द 'हिन्दुत्व' कहीं अधिक व्यापक है और इसमें 'हिंदुइज्म' की तरह न केवल हिंदुओं के ही धार्मिक दर्शन को लिया गया है, बल्कि इसके अंतर्गत उनके सांस्कृतिक, भाषायी, साामजिक और राजनीतिक पहलू भी आ जाते हैं। यह शब्द कमोबेश 'हिंदू राजतंत्र' (हिंदू पोलिटी) के अधिक समीप है और इसका निकट अनुवाद हिंदुयन होगा। तीसरे शब्द 'हिंदुडम' का तात्पर्य सामूहिक रूप से हिंदू समुदाय की बात करना हैं। यह हिंदू जगत का सामूहिक नाम है, जैसे 'इस्लाम' मुस्लिम जगत का प्रतीक है।*

श्री सावरकर का मानना है कि हिंदू महासभा को एक धार्मिक संस्था कहना अत्यंत गलत निरूपण करना है। वह कहते हैं:

> "यह बात मेरे ध्यान में लाई गई है कि अधिसंख्य अंग्रेजी पढ़े–लिखे हिंदू इस गलतफहमी के कारण हिंदू महासभा में शामिल नहीं होते कि यह ईसाई मिशन की तरह महज एक धार्मिक संगठन है। यह बात एकदम असत्य है। हिंदू महासभा हिंदू मिशन नहीं हैं। इसने ईश्वरवाद और यहां तक कि अनीश्वरवाद या नास्तिकता जैसे धार्मिक प्रश्नों पर विचार करने और निर्णय लेने का काम विभिन्न हिंदू धार्मिक संगठनों पर छोड़ दिया है। यह हिंदू–धर्म महासभा नहीं है, बल्कि हिंदू

* 1 दिसम्बर 1939 को हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन में दिया गया भाषण, पृ. 14

> राष्ट्रीय महासभा है। परिणामस्वरूप, इसका विधान यह छूट नहीं देता कि यह हिंदू धर्म के ही किसी मत या संप्रदाय का या धार्मिक संस्था का साझीदार बने। एक राष्ट्रीय हिंदू संगठन होने के नाते, यह राष्ट्रीय हिंदू चर्च का प्रचार और उसकी रक्षा करेगा, जिसके अंतर्गत यह हिंदुस्तानी मूल के किसी एक हिंदू संप्रदाय या सभी हिन्दू संप्रदायों के ऊपर गैर–हिंदुओं द्वारा होनेवाले आक्रमणों या अतिक्रमणों से रक्षा करेगा। परंतु इसकी गतिविधियों का कार्यक्षेत्र मात्र धार्मिक संगठन से अधिक व्यापक व बोधगम्य है। हिंदू महासभा हिंदुडम (हिंदूपन), हिंदू जगत के सांगोपांग राष्ट्रीय जीवन से अपने आपको जोड़ती है, उसके सभी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सबसे बढ़कर राजनीतिक पहलुओं से जोड़ती है, और उन सब चीजों की रक्षा करने और उन्हें बढ़ावा देने के लिए कटिबद्ध है, जिनसे हिंदू राष्ट्र की स्वतंत्रता, शक्ति और सम्मान बढ़ता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति का एक अपरिहार्य साधन है : पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति, सभी वैध और उचित साधनों द्वारा हिंदुस्तान की पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता।"[1]

श्री सावरकर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि हिंदू महासभा मुस्लिम लीग का प्रतिरोध करने के लिए शुरू की गई थी और जैसे ही कम्यूनल एवार्ड से पैदा होने वाली समस्याओं का हिंदुओं–मुसलमानों दोनों को संतुष्ट करने वाला हल निकल आएगा, हिंदू महासभा तिरोहित हो जाएगी। श्री सावरकर इस बात पर जोर देते हैं कि भारत के राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी हिंदू महासभा को काम करते रहना चाहिए। वह कहते हैं :

> "कई अल्पज्ञ आलोचक इस बात की कल्पना करते हैं कि महासभा की स्थापना केवल मुस्लिम लीग पर काबू रखने या कांग्रेस के वर्तमान नेताओं की हिंदू–विरोधी नीतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप की गई थी, और जब उसका यह बनावटी बहाना खत्म हो जाएगा तो वह स्वतः समाप्त हो जाएगी। परंतु यदि महासभा के उद्देश्यों और लक्ष्यों का कोई अर्थ है तो उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि वह भावुकतावश व्यर्थ के विचारों के कारण नहीं बनाई गई थी, न ही वह किसी एक शिकायत विशेष को दूर करने के लिए या किसी मौसमी पार्टी का विरोध करने के लिए बनाई गई थी। सच्चाई यह है कि कोई भी सजीव रचना, चाहे व्यक्ति हो या संगठन हो, जो जीवित हो और जिसका जीवित रहना वांछनीय हो, जब उसे किसी प्रतिकूल वातावरण का सामना करना पड़ता है तो वह आक्रामक और सुरक्षात्मक, दोनों प्रकार के उपाय काम

1. दिसम्बर 1939 में हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन में दिया गया भाषण, पृष्ठ–25

में लाने लगता है। हिंदू राष्ट्र भी कांग्रेस की छद्म राष्ट्रीयता की विचारधारा की घातक जकड़ से मुक्त होकर स्वतंत्र होगा, आधुनिक युग की बदली हुई परिस्थितियों में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष का एक नया शस्त्र ढूंढ लेगा। यह था हिंदू महासभा का तात्पर्य। यह किसी क्षणिक घटना के फलस्वरूप नहीं, बल्कि राष्ट्रीय जीवन की एक बुनियादी आवश्यकता के कारण पनपी। इसके उद्देश्यों और लक्ष्यों के रचनात्मक पहलुओं से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इसका लक्ष्य भी उतना ही टिकाऊ है जितना राष्ट्र का जीवन। परंतु इसके अतिरिक्त भी, निरंतर परिवर्तनशील राजनीतिक धाराओं के कारण हिंदू जगत की दिन–प्रतिदिन की आवश्यकताओं को देखते हुए नीति को उसके अनुरूप ढालने के लिए भी हिंदुओं की एक संस्था बनाना अनिवार्य हो गया है जो किसी गैर–हिंदू या संयुक्त प्रतिनिधित्व वाली संस्था के अंतर्गत रहकर काम न करे, जो हिंदू–हितों की रक्षा करे और उन्हें किसी भी खतरे से बचाए। हमें केवल हिंदुस्तान की वर्तमान राजनीतिक स्थिति में हिंदू महासभा की आवश्यकता नहीं होगी, परंतु जब हिंदुस्तान पूर्णतया या आंशिक रूप से स्वतंत्र हो जाएगा और एक राष्ट्रीय संसद उसकी राजनीतिक नियति का फैसला करेगी, तब भी कम से कम आगामी शताब्दियों तक एक पूर्ण हिंदू संगठन, जैसे हिंदू महासभा या उस जैसी ही किसी संस्था की आवश्यकता बनी रहेगी, जो हिंदू जगत के लिए सब तरफ नजर रखने वाले स्तंभ का काम देगी। क्योंकि जब तक विप्लव जैसी कोई चीज आकर समस्त राजनीतिक ढांचे को अस्त–व्यस्त न कर दे, जिसकी वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में कल्पना नहीं की जा सकती, तब तर्कसंगत ढंग से यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में हम हिंदू इंगलैंड पर जोर डालकर उसे विवश करें कि वह ब्रिटिश कानून के अंतर्गत भारत को स्वायत्तशासी इकाई के रूप में स्वीकार कर ले। स्वायत्तशासी देश की ऐसी राष्ट्रीय संसद हिंदू और मुसलमान निर्वाचकों या मतदाताओं की कुछ सुधरे या कुछ बिगड़े संबंधों को प्रतिबिंबित या प्रकाशित कर सकती है। कोई भी यथार्थवादी इस बात की संभावना से इंकार नहीं कर सकता कि दूसरों के इलाके पर निगाह रखने की प्रवृत्ति तथा भारत को मुस्लिम देश बनाने की सुषुप्त आकांक्षा के कारण मुसलमान किसी भी समय स्वायत्तशासी हिंदुस्तानी देश में गृहयुद्ध फैला सकते हैं या विदेशी आक्रमणों की सहायता से विश्वासघात कर सकते हैं और फिर इस बात की भी पूरी संभावना है कि वे कम से कम एक शताब्दी तक तो इस बात का खतरा बना रहेगा कि मुस्लिम

अल्पसंख्यक दंगे कराते रहें, नौकरियों, विधानसभाओं आदि में सीटों के लिए झगड़े करते रहें, अपनी जनसंख्या के अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व की मांगें करते रहें और इस तरह आंतरिक शांति के लिए निरंतर खतरा बने रहें। यदि हम बुद्धिमान हैं तो इस संभावना पर नियंत्रण रखने के लिए हमें हमेशा इस बात को ध्यान में रखना होगा कि स्वायत्तशासी देश का दर्जा प्राप्त करने के बाद भी हिंदू जगत का हिंदू महासभा जैसा एक ऐसा मजबूत संगठन होना चाहिए जो हिंदुओं के लिए शक्ति का स्रोत हो, सुरक्षित बल जैसा हो, जिसकी मार्फत वे संयुक्त संसद की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली ढंग से अपनी शिकायतें सामने ला सकें, आगे आनेवाले खतरों का अनुमान लगा सकें, समय रहते हिंदुओं को उसके विरूद्ध चेतावनी दे सकें और आवश्यकता पड़ने पर किसी के नापाक इरादों के विरूद्ध लड़ सकें, क्योंकि संयुक्त राज्य तो अनजाने में इन चीजों का शिकार बन जाएगा।

कनाडा और फिलिस्तीन के इतिहास से और युवा तुर्कों के आंदोलन से आपको पता चलेगा कि जिस देश में भी भारत के हिंदुओं और मुसलमानों की तरह दो या अधिक परस्पर विरोधी गुट होते हैं, तो उनमें से जो अधिक बुद्धिमान होता है, उसे अपना एक अनन्य अक्षत, शक्तिशाली और चौकन्ना संगठन बनाए रखना होता है, जो विरोधी गुट के राज्य पर कब्जा करने के विश्वासघाती प्रयत्नों पर नजर रख सके और उसे विफल कर सके, विशेषकर उस समय जब उस गुट की बाहरी देशों के प्रति धार्मिक-सांस्कृतिक निष्ठा हो और विदेशी सीमांत राज्यों के साथ उसके संबंध हों।"*

हिंदुस्तान और हिंदू महासभा के बारे में अपना दृष्टिकोण देने के बाद श्री सावरकर यह बताते हैं कि स्वराज से उनका तात्पर्य क्या है। श्री सावरकर के अनुसार :

"स्वराज का तात्पर्य है कि हिंदुओं के लिए उनका अपना स्वराज्य होना चाहिए, जिसमें उनका हिंदुत्व प्रभावी हो, जिस पर गैर-हिंदू लोगों का प्रभुत्व न हो, चाहे वे हिंदुस्तान की सीमा में रहनेवाले हों, या उसकी सीमा के बाहर। कुछ अंग्रेज ऐसे हैं भी, और हो भी सकते हैं, जो भारत की सीमा में पैदा हुए हों। अतः क्या इन एंग्लो-इंडियनों का प्रभुत्व हिंदुओं के लिए 'स्वराज्य' हो सकता है? औरंगज़ेब या टीपू

1. वही भाषण, 1939, पृ. 24-27

> सुल्तान वंश–परंपरा की दृष्टि से हिंदुस्तानी थे, बल्कि धर्म–परिवर्तित हिंदू माताओं की संतान थे। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि औरंगजेब या टीपू का शासन हिंदुओं के लिए 'स्वराज्य' था? नहीं। यद्यपि क्षेत्रीय दृष्टि से वे हिंदुस्तानी थे, तथापि हिंदू जगत के सबसे बुरे शत्रु सिद्ध हुए। इसीलिए एक शिवाजी को, एक गोविंद सिंह को, एक प्रताप को या पेशवाओं को मुस्लिम प्रभुत्व के विरुद्ध लड़ना पड़ा और वास्तविक हिंदू स्वराज्य की स्थापना करनी पड़ी।"*

अपने स्वराज्य के लिए श्री सावरकर दो बातों पर जोर देते हैं। पहले तो यह कि इंडिया के लिए सही नाम हिंदुस्तान बनाए रखा जाए :

> "हमारे देश का नाम 'हिन्दुस्तान' बनाए रखा जाना चाहिए। बाकी नामों, जो मूल सिंधु शब्द से बने हैं, जैसे इंडिया, हिंद आदि, का भी प्रयोग किया जा सकता है, परंतु केवल उसी भावना से – अर्थात हिंदुओं की भूमि – एक ऐसा देश जो हिंदू राष्ट्र का निवास स्थान है। आर्यवर्त, भारत भूमि और ऐसे ही अन्य नाम हमारी मातृभूमि के प्राचीन नाम हैं और हम सब उन्हें चाहते हैं, और वे हमारे सुसंस्कृत वर्ग को बराबर आकर्षित करते रहेंगे। इस बात पर जोर देकर कि हिंदुओं की मातृभूमि को निश्चित रूप से 'हिंदुस्तान' कहा जाए, हम न तो अपने गैर–हिंदू देशवासियों को नीचा दिखाना चाहते हैं, न ही उनके अधिकारों का हनन करना चाहते हैं। हमारे पारसी और ईसाई देशवासी सांस्कृतिक दृष्टि से हमसे बहुत निकट हैं और इतने ही अधिक देशभक्त हैं, और एंग्लो–इंडियन इतने अधिक समझदार हैं कि इस अत्यंत उचित मांग पर वे हिंदुओं से सहमत हो ही जाएंगे। जहां तक हमारे मुस्लिम देशवासियों की बात है, यह छिपाना बेकार है कि कुछ मुस्लिम इसे ही तिल का ताड़ बनाना चाहते हैं और हिंदू–मुस्लिम एकता के बीच एक अलंघ्य पहाड़ बताते हैं। परंतु उन्हें यह याद रखना चाहिए कि मुस्लिम केवल हिंदुस्तान में नहीं रहते और न ही हिंदुस्तानी मुस्लिम ही इस्लाम के एकमात्र वफादार व बहादुर अवशेष हैं। चीन में करोड़ों मुस्लिम हैं। यूनान, फिलिस्तीन और यहां तक कि हंगरी और पोलैंड में भी हजारों–लाखों मुस्लिम हैं। परंतु चूंकि वहां वे अल्पसंख्यक हैं और केवल एक समुदाय हैं, इसलिए उन देशों में उनके रहने के ही कारण उन देशों के प्राचीन नाम बदलने की बात कभी नहीं कही गई, क्योंकि प्राचीन नाम यह दर्शाता है कि उन देशों में कौन–सी

1. उल्लिखित भाषण, पृ. 18

बहुसंख्यक जातियां रहती हैं। पोलों के देश को पोलैंड कहा जाता है और यूनानियों के देश को यूनान। वहां के मुस्लिमों ने इन नामों को बिगाड़ा नहीं, बिगाड़ने की हिम्मत तक नहीं की, और जब जरूरत पड़ती है तो वे अपने आपको पोलिश मुस्लिम, यूनानी मुस्लिम या चीनी मुस्लिम कहते हैं। इसलिए जब वे प्रादेशिक दृष्टि से अपने आपकी अलग पहचान बताना चाहें तो वे स्वयं को हिंदुस्तानी मुस्लिम कह सकते हैं। इससे उन्हें अपनी धार्मिक या सांस्कृतिक भिन्नता को दांव पर लगाने की जरूरत नहीं। बल्कि जबसे मुस्लिम हिंदुस्तान में रह रहे हैं, वे अपनी मर्जी से अपने को हिंदुस्तानी कह रहे हैं। परंतु इस सबके बावजूद, यदि हमारे देशवासियों में कुछ उग्र मुस्लिम वर्ग इस नाम पर भी आपत्ति करे तो यह उसकी कोई वजह नहीं कि हम अपनी अंतरात्मा के लिए भी कायर बन जाएं। हम हिंदुओं को अपने राष्ट्र की उस निरंतरता को नहीं तोड़ना चाहिए जो ऋग्वैदिक काल के 'सिंधु' से वर्तमान पीढ़ी के हमारे हिंदुओं तक चली आ रही है और जो 'हिंदुस्तान' में निहित है और जो हमारी मातृभूमि का स्वीकृत नाम है। जैसे जर्मनों की भूमि जर्मनी है, अंग्रेजों कीं इंग्लैंड है, तुर्कों की तुर्किस्तान है, अफगानों की अफगानिस्तान है, उसी तरह हमें विश्व के नक्शे पर अमिट रूप से 'हिंदुस्तान' शब्द अंकित कर देना चाहिए। अर्थात, हिंदुओं की भूमि।"[1]

दूसरी बात है संस्कृत को हिंदू जगत की देवभाषा के रूप में, हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में, और नागरी को लिपि के रूप में स्वीकार किया जाए।

"संस्कृत' हमारी देवभाषा[2] और संस्कृतनिष्ठ हिंदी[3] हमारी राष्ट्रभाषा होगी, जो संस्कृत से निकली है और उसी से समृद्ध होती है, चूंकि संस्कृत विश्व की प्राचीन भाषाओं में सबसे समृद्ध और सबसे सुसंस्कृत भाषा है और हम हिंदुओं के लिए सभी भाषाओं में सबसे अधिक पवित्र है। क्योंकि हमारे प्राचीन धर्मग्रंथ, इतिहास, दर्शन – सभी की जड़ें संस्कृत–साहित्य में इतनी गहरी जमी हुई हैं कि वह हमारी जाति का मस्तिष्क और बुद्धि बन गया है। संस्कृत हमारी अधिकांश मातृभाषाओं की जननी है और उसने अपने शब्द दान से इन भाषाओं को पोषित किया है। ये सभी हिंदू भाषाएं, जो या तो संस्कृत से निकली हैं या संस्कृत से जुड़ी हैं, संस्कृत से ही पनपती हैं और समृद्ध होती हैं।

1. वही भाषण, 1939, पृ. 19-20
2. देवताओं की वाणी।
3. मूलतः संस्कृत।

इसलिए संस्कृत भाषा हमेशा ही हिंदू युवकों के शास्त्रीय पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग होनी चाहिए।

हिंदी को हिंदू जगत (हिंदूडम) की राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने का यह अर्थ नहीं कि प्रांतीय भाषाओं से कोई अन्यायपूर्ण भेदभाव किया जा रहा है या उन्हें कोई नीचा दिखाया जा रहा है। हम सब अपनी प्रांतीय भाषाओं से उसी तरह जुड़े हुए हैं, जैसे हिंदी से और वे अपने–अपने क्षेत्रों में बढ़ेंगी और फूलें–फलेंगी। वास्तव में उनमें से कुछ तो साहित्य में बहुत प्रगतिशील और समृद्ध हैं। परंतु यदि सब बातों को ध्यान में रखें तो हिंदी ही राष्ट्रीय सर्व हिंदू भाषा के रूप में सर्वोत्तम बैठती है। यह भी याद रखना चाहिए कि हिंदी को जान–बूझकर राष्ट्रभाषा बनाने की बात नहीं कही गई। सच्चाई तो यह है कि अंग्रेजों के या मुसलमानों के भारत आगमन से पूर्व हिंदी अपने सामान्य रूप में समूचे हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा बन चुकी थी। हिंदू तीर्थ यात्री, व्यापारी, पर्यटक, सिपाही, पंडित – सभी बंगाल से सिंध और कश्मीर से रामेश्वरम तक जाते थे और हर जगह अपनी बात हिंदी में समझाते थे। जैसे संस्कृत हिंदू बुद्धिजीवियों की राष्ट्रभाषा थी, वैसे ही कम से कम पिछले एक हजार वर्षों से हिंदी हिंदू जन–समुदाय की राष्ट्रभाषा या हिंदुस्तानी बोली रही है ....।

तथापि हिंदी से हमारा तात्पर्य 'संस्कृतनिष्ठ हिंदी' से है। उदाहरण के लिए, वह हिंदी जिसमें महर्षि दयानंद सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा है। इसमें विदेशी भाषा का एक भी अनावश्यक शब्द नहीं है और यह कितनी अच्छी तरह अभिव्यक्ति करती है। चलते–चलते यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानंद जी पहले हिंदू नेता थे जिन्होंने इस विचार को समझते–बूझते हुए निश्चित रूप दिया कि हिंदी ही भारत की सर्वहिंदू राष्ट्रीय भाषा हो सकती है। इस 'संस्कृतनिष्ठ हिंदी' का तथाकथित संकर हिंदुस्तानी से कोई वास्ता नहीं, जिसे वर्धा–स्कीम के अंतर्गत बढ़ावा दिया जा रहा है। यह भाषा की विरूपता के सिवाय और कुछ नहीं और इसे सख्ती से दबा दिया जाना चाहिए। न केवल यही, बल्कि हमारा यह भी कर्तव्य है कि हर हिंदू भाषा से, चाहे वह प्रांतीय भाषा हो या कोई बोली, अरबी और अंग्रेजी के अनावश्यक शब्दों को जोरदार ढंग से निकाल दिया जाए ....।

हमारा संस्कृत का अक्षर–विन्यास ध्वन्यात्मक है और विश्व में विकसित सबसे संपूर्ण लिपि है; और हमारी लगभग सभी हिंदुस्तानी

> लिपियां इसका अनुकरण करती हैं। नागरी लिपि भी इसी अक्षरक्रम को स्वीकार करती है। हिंदी भाषा की तरह नागरी लिपि भी सारे हिंदुस्तान में कई शताब्दियों से प्रचलित है और हिंदू साहित्यिक क्षेत्रों में तो लगभग दो सहस्र वर्षों से चल रही है और इसे आमतौर पर 'शास्त्री लिपि' कहा जाने लगा है, अर्थात हमारे हिंदू शास्त्रों की लिपि। यह बात सर्वविदित है कि यदि बंगला या गुजराती देवनागरी लिपि में छापी जाएं तो कई अन्य प्रांतों के लोग भी उन्हें समझने लगेंगे। समूचे हिंदुस्तान के लिए एक ही झटके में एक सर्वसामान्य भाषा बना देना अव्यावहारिक और अबुद्धिमत्तापूर्ण है। परंतु समूचे हिंदू जगत (हिंदूडम) के लिए नागरी लिपि को सर्वसामान्य लिपि के रूप में अपनाना पूर्णतया संभव है। तथापि यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे विभिन्न प्रांतों में प्रचलित विभिन्न हिंदू लिपियों का अपना एक भविष्य है और वे नागरी के साथ–साथ फूलें–फलेंगी। इस समय तो समूचे हिंदू जगत के समान हित के लिए ऐसा करना तत्काल आवश्यक है कि हिंदू विद्यार्थियों के लिए हर स्कूल में हिंदी भाषा के साथ–साथ नागरी लिपि को भी अनिवार्य विषय बना दिया जाए।"*

श्री सावरकर की कल्पना के स्वराज में गैर–हिंदू अल्पसंख्यकों की क्या स्थिति होगी, इस प्रश्न को लेकर उनका कथन है :

> "जब हिंदू महासभा एक बार 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धांत को न केवल स्वीकार कर ले बल्कि उस पर टिकी रहे और सरकारी नौकरियां केवल योग्यता के आधार पर दी जायें और इस बात को बुनियादी अधिकारों और दायित्वों में शामिल कर लिया जाये जो सभी नागरिकों पर बिना धर्म या जाति का विचार किए लागू होंगी,.........
> तब सिद्धांततः अल्पसंख्यकों के अधिकारों का उल्लेख करना न केवल अनावश्यक है, बल्कि परस्पर विरोधी भी है क्योंकि इसमें पुनः सांप्रदायिक आधार पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक होने की बात उठ जाती है। परंतु जैसा कि व्यावहारिक राजनीति की जरूरत है, और चूंकि हिंदू संगठनवादी यह नहीं चाहते कि गैर–हिंदुओं में संदेह का एक कतरा भी रहे, अतः हम इस बात पर जोर देने को तैयार हैं कि अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायी वैध अधिकारों की स्पष्ट रूप से गारंटी दी जाएगी : केवल एक शर्त पर कि बहुसंख्यकों के समान अधिकारों में भी किसी किस्म का हस्तक्षेप या कमी न की जाए। हर

---

* वही भाषण, 1939, पृ. 21, 22-23.

अल्पसंख्यक वर्ग अपनी भाषा, अपने धर्म और संस्कृति की शिक्षा देने के लिए अलग स्कूल खोल सकता है और इनके लिए सरकारी सहायता भी प्राप्त कर सकता है – परतु सदा केवल उस अनुपात में जिसमें वे सरकारी खजाने में कर के रूप में धन जमा करते हों। वस्तुतः यही सिद्धांत बहुसंख्यकों पर भी लागू होना चाहिए।

इन सबके अतिरिक्त, यदि संविधान संयुक्त निर्वाचक मंडलों पर आधारित नहीं है और 'एक व्यक्ति एक वोट' के विशुद्ध राष्ट्रीय सिद्धांत पर आधारित नहीं है, तब जो अल्पसंख्यक वर्ग पृथक निर्वाचक मंडल या सुरक्षित सीटें चाहता है, उसे उसकी अनुमति दी जा सकती है, परंतु सदैव उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही, बशर्ते उससे बहुसंख्यक भी जनसंख्या में अपने अनुपात के आधार पर समान अधिकार से वंचित न हो जाएं।"[1]

अल्पसंख्यकों की ऐसी स्थिति का सिंहावलोकन करने के बाद श्री सावरकर स्वराज की अपनी स्कीम का निष्कर्ष इन शब्दों में बताते हैं :

"हिंदुस्तान में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को यह अधिकार होगा कि उन्हें समान नागरिक समझा जाए और उन्हें अपनी जनसंख्या के अनुपात में समान संरक्षण और नागरिक अधिकार प्राप्त हों। हिंदू बहुसंख्यक किसी भी गैर–हिंदू अल्पसंख्यक के वैध अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। परंतु बहुसंख्यक किसी भी दशा में अपना वह अधिकार नहीं छोड़ेंगे, जो किसी भी लोकतांत्रिक और वैध संविधान में बहुसंख्यक होने के नाते उन्हें मिलने चाहिए। विशेषकर मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने अल्पसंख्यक रहकर हिंदुओं पर कोई उपकार नहीं किया है और इसलिए जब उन्हें उनके अनुपात में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का वैध हिस्सा मिल जाता है, तो उन्हें अपनी उस स्थिति से संतुष्ट रहना चाहिए। यह बात तो एकदम हास्यास्पद होगी कि मुस्लिम अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के वाजिब अधिकारों पर भी व्यवहारतः वीटो का अधिकार दे दिया जाए और उसे 'स्वराज्य' कहा जाए। हिंदू केवल मालिकों में परिवर्तन नहीं चाहते, वे अपना युद्ध और संघर्ष और मृत्यु का वरण केवल इसलिए नहीं कर रहे कि एडवर्ड की जगह औरंगजेब महज इस आधार पर ले ले कि वह हिंदुस्तानी सीमाओं में पैदा हुआ है; बल्कि वे तो अपनी भूमि में अपने घर के मालिक स्वयं बनना चाहते हैं।"[2]

---

1. वही, पृष्ठ 4
2. वही, पृष्ठ 16

और क्योंकि श्री सावरकर यह चाहते हैं कि उनके स्वराज पर हिंदू राज कीछाप रहे, इसलिए वे उसे हिंदुस्तान नाम देना चाहते हैं।

मि. सावरकर द्वारा पोषित यह ढांचा कुछ उन प्रस्तावों पर आधारित है, जिन्हें वे आधारभूत मानते हैं।

पहला तो यह कि हिंदू स्वयं में एक राष्ट्र हैं। इस प्रस्ताव की व्याख्या वह बड़े विस्तार से और बड़े जोरदार शब्दों में करते हैं। श्री सावरकर का कथन निम्नलिखित है :

> "नागपुर अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण के अवसर पर आधुनिक राजनीति के इतिहास में मैंने पहली बार बड़े जोरदार शब्दों में यह कहा था कि कांग्रेस की समूची विचारधारा शुरू से ही इस गलत धारणा पर आधारित है कि केवल प्रादेशिक एकता और एक जगह रहना एकमात्र ऐसा कारक है जिससे राष्ट्र का निर्माण हो जाता है, होना चाहिए और है। प्रादेशिक राष्ट्रीयता की इस धारणा को तब से स्वयं यूरोप में भी भारी झटका लगा है, जहां से उठाकर यह भारत में लाई गई थी और वर्तमान युद्ध ने इस गलत धारणा का पूरी तरह खंडन करके मेरे इस दावे को सही सिद्ध कर दिया है। जितने भी देश केवल प्रादेशिक एकता के आधार पर बनाए गए थे, और जहां उन्हें राष्ट्र के रूप में बांधकर रखने के पीछे और कोई बात नहीं थी, वे सब नाश के द्वार तक चले गए हैं और ताश के पत्तों के महत्व की तरह गिर गए हैं। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया ऐसे प्रयासों के विरुद्ध कड़ी चेतावनी देते रहेंगे कि जहां किसी राष्ट्र को सांस्कृतिक, जातिगत या ऐतिहासिक साम्यताओं के सीमेंट से मजबूत न बनाया जा सके, जिसके फलस्वरूप उनमें एक – राष्ट्र की तरह रहने की इच्छा पैदा हो, तो एक–दूसरे से कतई भिन्न लोगों का प्रादेशिक राष्ट्रीयता के आधार पर बनाया गया गड़बड़ राष्ट्र केवल खिसकती हुई बालू पर बनाया गया घर होगा। संधियों के आधार पर बनाए गए ये राष्ट्र पहला मौका मिलते ही बिखर गए। उनका जर्मन भाग जर्मनी को मिल गया, रूसी भाग रूस को, चेक भाग चेक लोगों को और पोल भाग पोल लोगों के पास चला गया। सांस्कृतिक, भाषागत, ऐतिहासिक और अन्य सहज नैसर्गिक साम्यताएं क्षेत्रीयता से अधिक मजबूत सिद्ध हुईं। यूरोप में गत तीन या चार सदियों में केवल वही राष्ट्र अपनी राष्ट्रीयता, एकता और पहचान बरकरार रख सके हैं, जिन्होंने अपनी प्रादेशिक एकता के साथ–साथ, और कई बार तो

उसके बिना भी, अपने यहां जातिगत, भाषागत, सांस्कृतिक और ऐसी अन्य सहज नैसर्गिक साम्यताओं का विकास किया है जिसके फलस्वरूप वे समजातीय राष्ट्रीय इकाइयां बन सकें, जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी इटली, पुर्तगाल आदि।

इनमें से किसी एक या सभी कसौटियों पर परखने से जो तत्व अलग–अलग और सामूहिक समजातीय और एकीकृत राष्ट्र बनाते हैं, हम समझते हैं कि हिंदुस्तान में हम हिंदू ही अपने आप में एक स्थाई राष्ट्र हैं। हमारी न केवल एक ही पितृभूमि है, प्रादेशिक एकता है, बल्कि एक और बात तो विश्व–भर में दुर्लभ है, और यह हमारी पुण्यभूमि भी है, जिसे हम अपनी सांझी 'पितृभमि' कहते हैं। यह भारत भूमि, यह हिंदुस्तान, हमारी 'पितृभू' और 'पुण्यभू' दोनों है। इस तरह हमारी देशभक्ति दोहरे तौर पर निश्चित हो जाती है। फिर हम में कई साम्यताएं हैं – सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, भाषायी और जातीय – इन सबका असंख्य शताब्दियों से जो संबंध और मेल–मिलाप चला आ रहा है, उससे हम एक समजातीय और सहज नैसर्गिक राष्ट्र बन गए हैं, और सबसे बढ़कर हम सब में सामूहिक रूप से और समान रूप से राष्ट्रीय जीवन बिताने की इच्छा पैदा हो गई है। हिंदू कोई संधि से बने हुए राष्ट्र नहीं हैं, बल्कि एक सहज नैसर्गिक राष्ट्र हैं।

एक और प्रासंगिक बात बताने की भी जरूरत है, क्योंकि विशेषकर इससे हमारे कांग्रेसी हिंदू भाई भ्रम में पड़ जाते हैं। जिस समजातीयता से लोग एक राष्ट्र बन जाते हैं, उसका यह अर्थ नहीं होता कि सभी आंतरिक मतभेद – धार्मिक, जातिगत या भाषागत या विभिन्न वर्गों और संप्रदायों में – बिल्कुल नहीं रहते। इसका अर्थ केवल यह है कि अन्य लोगों से वे अपेक्षाकृत अधिक भिन्न होते हैं, और स्वयं राष्ट्रीय इकाई के अपने लोगों से अपेक्षाकृत कम भिन्न। आज के सबसे अधिक एकात्म राष्ट्र जैसे इंगलैंड या फ्रांस भी, धार्मिक, भाषागत, सांस्कृतिक, जातिगत या अन्य मतभेदों, वर्गों या संप्रदायों से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं और उनमें भी विद्वेष की भावना होती है। राष्ट्रीय समजातीयता का अर्थ लोगों के उस एकरूप होने से है जो कुल मिलाकर अन्य लोगों के मुकाबले अधिक होता है।

हम हिंदू आपस में हजार अंतरों के बावजूद ऐसे धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, जातिगत, भाषागत तथा अन्य क्षेत्रों में एक दूसरे से इतनी साम्यताओं से बंधे हुए हैं, जिनके कारण हम अन्य किन्हीं भी गैर–हिंदू

> लोगों, जैसे अंग्रेज, जापानी, यहां तक कि हिंदुस्तानी मुस्लिमों के सामने खड़े होने पर निश्चित रूप से समजातीय लगते हैं। यही कारण है कि आज हम हिंदुओं को कश्मीर से मद्रास तक और सिंध से आसाम तक स्वंय ही एक राष्ट्र बनाना होगा।"*

श्री सावरकर का दूसरा प्रस्ताव, जिसके आधार पर उन्होंने अपनी योज़ना बनाई है, हिंदू शब्द की परिभाषाओं के बारे में है। श्री सावरकर की राय में हिंदू वह व्यक्ति हैः

> "जो इस भारत भूमि को सिंधु से सागर तक अपना समझता है और उसे अपनी पितृभूमि और पुण्य भूमि मानता है, अर्थात् जहां उसंके धर्म का उदय हुआ, और जो उसकी आस्था का पालना बना।
>
> इसलिए वैदिक ब्रह्म (ब्राह्मों) समाज, जैन, लिंगायत, सिख, आर्यसमाज, और भारतीय मूल के अन्य सभी धर्मो को मानने वाले लोग हिंदू हैं और हिंदू मिलकर हिंदू जगत (हिंदूडम) का निर्णय करते है, अर्थात् सारे के सारे हिंदू लोग हैं।
>
> फलतः तथाकथित मूल निवासी (आदिमजाति) या पहाड़ी जनजातियों भी हिंदू हैं, क्योंकि भारत उनकी पितृभूमि भी है और पुण्यभूमि भी, भले ही वे धर्म को किसी भी रूप में मानते हों या पूजा करते हों। संस्कृत में इस परिभाषा को इस रूप में कहा जा सकता हैः
>
> **।।आसिंधु सिंध पन्यंता यस्म भारत भूमिका।।**
> **।।पितृभूः पुण्यभू श्रैव स वै हिंदुरितिस्मृतः।।**
>
> इसलिए इस परिभाषा को सरकार को स्वीकार कर लेना चाहिए और आगे होनेवाली सरकारी जन–गणनाओं में हिंदुओं की गणना करते समय इसे ही हिंदुत्व की कसौटी माना जाए।"

'हिंदू' शब्द की यह परिभाषा बड़ी समझदारी और सावधानी से की गई है। यह इस ढंग की गई है कि इससे श्री सावरकर के दो उद्देश्य पूरे होते हैं। हिंदू होने के लिए यह अनिवार्य है कि मुस्लिमों, ईसाइयों पारसियों और यहूदियों को अलग रखते हुए वे भारत को पुण्य भूमि स्वीकारें। दूसरे बौद्धों, जैनियों, सिखों आदि को शामिल करने के लिए वेदों की पवित्रता पर आस्था रखने को जरूरी नहीं बनाया गया। तो श्री सावरकर और हिंदू महासभा की योजना ऐसी है परन्तु इसको देखने से पता चलता है कि इसमें कई आपत्तिजनक पहलू हैं।

---

* वही पृ. 14-17

एक तो यह कि इस बात को बहुत जोर देकर कहा गया है कि हिंदू स्वयं में ही एक राष्ट्र हैं। तथापि इसका यह भी अर्थ निकलता है कि मुस्लिम अपने आप में एक अलग रांष्ट्र हैं। श्री सावरकर का यह विचार उनकी ठोस विचारधारा है, जिसका कोई और अर्थ नहीं निकाला जा सकता। वह इसे बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहते हैं और जितना भी जोर दे सकते हैं, उतना देकर कहते हैं। 1937 में अहमदाबाद में आयोजित हिंदू महासभा के अधिवेशन में बोलते हुए उन्होंने कहा था:

> "कई बचकाने राजनीतिज्ञ यह मानने की गंभीर गलती करते हैं कि हिंदुस्तान पहले से ही एक समन्वयवादी राष्ट्र के ढांचे में ढल चुका है या इच्छा होते ही इसे एक समन्वयवादी राष्ट्र बनाया जा सकता है। हमारे ये सदाशयी किंतु अविवेकी मित्र यथार्थ के स्वप्नद्रष्टा हैं। इसीलिए वे सांप्रदायिक झगड़ों से अधीर होते रहते हैं और उनका दोष सांप्रदायिक संगठनों पर डाल देते हैं। परंतु ठोस तथ्य यह है कि ये तथाकथित सांप्रदायिक प्रश्न हमें हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सदियों पुराने सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय टकराव के फलस्वरूप विरासत में मिले हैं। सही समय आने पर आप उन्हें हल कर सकेंगे, परंतु उन्हें स्वीकारने से इन्कार करके आप उन्हें दबा नहीं सकते। किसी पुरानी, गहरी जड़वाली बीमारी की उपेक्षा करने की जगह उसका निदान और उपचार करना बेहतर होता है। हमें अप्रिय तथ्यों का बहादुरी से सामना करना चाहिए। आज हिंदुस्तान को एकात्मक और समजातीय राष्ट्र नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसके विपरीत यहां हिंदू और मुस्लिम दो प्रमुख राष्ट्र हैं।"

यह बात सुनने में भले ही विचित्र लगे, पर एक राष्ट्र बनाम दो राष्ट्र के प्रश्न पर श्री सावरकर और श्री जिन्ना के विचार परस्पर विरोधी होने के बजाय एक–दूसरे से पूरी तरह मेल खाते हैं। दोनों ही इस बात को स्वीकार करते हैं, और न केवल स्वीकार करते हैं बल्कि इस बात पर जोर देते हैं कि भारत में दो राष्ट्र हैं : एक मुस्लिम राष्ट्र और एक हिंदू राष्ट्र। उनमें मतभेद केवल इस बात पर है कि इन दोनों राष्ट्रों को किन शर्तों पर एक दूसरे के साथ रहना चाहिए। जिन्ना कहते हैं कि हिंदुस्तान के दो टुकड़े कर देने चाहिए, पाकिस्तान और हिंदुस्तान। मुस्लिम कौम पाकिस्तान में रहे और हिंदू कौम हिंदूस्तान दूसरी ओर श्री सावरकर इस बात पर जोर देते हैं कि यद्यपि भारत में दो हैं, परंतु हिंदुस्तान को दो भागों में – एक मुस्लिमों के लिए और दूसर के लिए – नहीं बाँटा जाएगा। ये दोनों कौमें एक ही देश में रहेंगी ही संविधान के अंतर्गत रहेंगी। यह संविधान ऐसा होगा जिसमें f

वह वर्चस्व मिले जिसका वह अधिकारी है और मुस्लिम राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र के अधीनस्थ सहयोग की भावना से रहना होगा। राजनीतिक सत्ता के लिए इन दोनों राष्ट्रों के बीच चल रहे संघर्ष में श्री सावरकर सबके लिए, चाहे वह हिंदू हो या मुस्लिम, 'एक व्यक्ति–एक वोट' का नियम चाहते हैं। इस योजना में मुस्लिम को ऐसा कोई लाभ नहीं मिलता, जो हिंदू को न मिलता हो। अल्पसंख्यकों को उनका न्यायोचित अधिकार न देकर उन्हें दंडित करना न्यायोचित नहीं है। राज्य मुस्लिमों को इस बात की गारंटी देगा कि मुस्लिम धर्म और मुस्लिम संस्कृति के अनुसार उन्हें राजनीतिक सत्ता मिले। परंतु राज्य उन्हें विधान सभा और प्रशासन में सीटों और नौकरियों की गारंटी नहीं देगा। यदि मुस्लिम ऐसी गारंटी मांगने पर जोर देंगे तो गारंटी का कोटा देश की जनसंख्या में उनके अनुपात से अधिक नहीं होगा।* इस तरह मुस्लिमों को प्रतिनिधित्व में वज़न न देकर श्री सावरकर मुस्लिमों को उन सुविधाओं से भी वंचित कर देते हैं, जो उन्होंने अब तक प्राप्त की हैं।

पाकिस्तान के बारे में श्री सावरकर का विकल्प अधिक स्पष्ट, साहसपूर्ण और निर्णायक है, जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बारे में कांग्रेस की अनियमित, अस्पष्ट और अनिश्चित घोषणाओं से बिल्कुल भिन्न लगता है। श्री सावरकर की योजना में कम से कम यह विशेषता तो है ही कि उसमें मुस्लिमों को बता दिया गया है कि उन्हें इससे अधिक और कुछ नहीं मिलेगा। मुस्लिमों को यह पता है कि हिंदू महासभा की दृष्टि में उनकी क्या स्थिति है। दूसरी ओर, कांग्रेस के साथ मुसलमानों को यह पता ही नहीं होता कि उनकी क्या स्थिति है, क्योंकि कांग्रेस मुस्लिमों और अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर दोहरी नीति नहीं तो कम से कम कूटनीति अवश्य अपना रही है।

इसी के साथ यह भी कहना पड़ेगा कि श्री सावरकर का दृष्टिकोण यदि विचित्र नहीं, तो तर्कसगत भी नहीं है। श्री सावरकर यह मानते हैं कि मुस्लिम एक अलग राष्ट्र हैं। वे यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि उन्हें सांस्कृतिक स्वायत्तता का अधिकार है। वह उन्हें अपना पृथक राष्ट्रीय ध्वज रखने की भी अनुमति देते हैं। पर इसके बावजूद वे मुस्लिम राष्ट्र के लिए अलग कौमी वतन की अनुमति नहीं देते। यदि वे हिंदू राष्ट्र के लिए एक अलग कौमी वतन का दावा करते हैं, तो मुस्लिम राष्ट्र के कौमी वतन के दावे का विरोध कैसे कर सकते हैं?

यदि श्री सावरकर की एकमात्र त्रुटि उनकी असंगति ही होती तो यह कोई

---

* यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्री सावरकर मुस्लिमों के लिए पृथक निर्वाचक–मंडल के विरोधी नहीं है। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या वह वहां भी मुस्लिमों के लिए प्रथक निर्वाचक–मंडल के हामी हैं जहां वे बहुसंख्यक हैं।

बहुत चिंता का विषय नहीं था। परंतु अपनी योजना का समर्थन करके वे भारत की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा पैदा कर रहे हैं। जब एक बड़े राष्ट्र को एक छोटे राष्ट्र से उस हालत में वास्ता पड़ता है, जब वे उसी देश के नागरिक हैं और एक ही संविधान के अंतर्गत रहते हैं तो इतिहास में उनके लिए दो रास्तों का उल्लेख मिलता हैं। एक तो यह है कि छोटे राष्ट्र की कौमियत को खत्म कर दिया जाए और उनसे बड़ा राष्ट्र अपने में मिला ले, आत्मसात कर ले, जिससे दो की जगह एक राष्ट्र को उसकी भाषा, धर्म या संस्कृति के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है और उसके ऊपर बड़े राष्ट्र की भाषा, धर्म और संस्कृति थोप दी जाती है। दूसरा तरीका यह है कि देश का विभाजन कर दिया जाए और छोटे राष्ट्र को एक अलग स्वायत्तता और प्रभुसत्ता रखने दी जाए जिसका बड़े राष्ट्र से अलग स्वतंत्र अस्तित्व हो। दोनों तरीकों को आस्ट्रिया और तुर्की में अपनाने की चेष्टा की गई, दूसरा तरीका पहले तरीके की असफलता के बाद अपनाया गया।

श्री सावरकर इन दोनों में से कोई भी तरीका नहीं अपनाते। उनका विचार मुस्लिम राष्ट्र का दमन करने का नहीं है। इसके विपरीत वे तो उन्हें किसी राष्ट्र की ही तरह अपना धर्म, भाषा, और संस्कृति बनाए रखने की अनुमति देते हैं। परंतु इसी के साथ–साथ देश को विभाजित करने की अनुमति नहीं देते, जिससे दोनों राष्ट्र अलग हो जाएं, स्वायत्तशासी राज्य बनें और अपने–अपने प्रदेश में पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न हो सकें। वह चाहते हैं कि हिंदू और मुसलमान दो अलग–अलग राष्ट्रों की तरह एक ही देश में रहें और प्रत्येक अपना–अपना धर्म, भाषा और संस्कृति बनाए रखे। एक आदमी इस बात को तो समझ सकता है और इसकी सराहना भी कर सकता है कि बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र को दबा दे, क्योंकि अंततः लक्ष्य तो एक ही राष्ट्र बनाकर रखने का है। परंतु कोई आदमी इस बात के लाभ को नही समझ सकता कि ऐसे सिद्धांत का क्या लाभ जो यह कहे कि दो राष्ट्र तो हमेशा बने रहें, परंतु उनमें तलाक नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण का समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता है जब दोनों राष्ट्र भागीदारों की तरह मित्रतापूर्वक रहें और एक–दूसरे का आदर करें। परंतु ऐसा तो होगा नहीं, क्योंकि श्री सावरकर मुस्लिम राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र के बराबर अधिकार या सत्ता नहीं देंगे। वे चाहते हैं कि हिंदू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र के बीच शत्रुता के बीज बो देने के बाद वे एक साथ, एक ही विधान के अंतर्गत, एक ही देश में रहें। सावरकर यह क्यों चाहते हैं, इसकी व्याख्या करना कठिन है।

श्री सावरकर को यह श्रेय नहीं दिया जा सकता कि उन्होंने कोई नया सूत्र ढूंढ निकाला है। श्री सावरकर के इस विश्वास को समझना कठिन है कि उनका सूत्र ठीक है। उन्होंने-ने स्वराज की अपनी योजना को पुराने आस्ट्रिया और पुराने

तुर्की के नमूने और ढांचे पर आधारित किया है। उन्होंने देखा कि आस्ट्रिया और तुर्की में एक बड़े राष्ट्र की छाया में अन्य छोटे राज्य रहते थे, जो एक विधान से बंधे हुए थे और उस बड़े राष्ट्र का छोटे राष्ट्रों पर प्रभुत्व रहता था। फिर वे तर्क देते हैं कि यदि यह आस्ट्रिया या तुर्की में संभव है तो हिंदुस्तान में हिंदुओं के लिए वैसा करना क्यों संभव नहीं?

यह बात वास्तव में बड़ी विचित्र है कि श्री सावरकर ने पुराने आस्ट्रिया और पुराने तुर्की को (अपने विचार–प्रतिपादन के लिए) नमूने या आदर्श के रूप में अपनाया। ऐसा लगता है कि श्री सावरकर शायद यह नहीं जानते कि अब पुराना आस्ट्रिया और पुराना तुर्की बचे ही नहीं। शायद उन्हें उन ताकतों का तो बिल्कुल ही नहीं पता जिन्होंने पुराने आस्ट्रिया और पुराने तुर्की के टुकड़े–टुकड़े कर दिए। यदि वह अतीत की बातों का अध्ययन करने की जगह, जिसके वे बड़े शौकीन हैं, वर्तमान पर ध्यान देते तो उन्हें पता चल जाता कि चूंकि पुराने आस्ट्रिया और पुराने तुर्की ने जिस योजना को बनाए रखने पर भारी जोर दिया, उसी की वजह से उनका विनाश हो गया; और श्री सावरकर अपने हिंदू जगत से उसी योजना को अपनाने के लिए कह रहे हैं जिसके अंतर्गत एक ऐसा स्वराज स्थापित किया जाएगा जहां दो राष्ट्र एक ही विधान के अंतर्गत रहेंगे और जिसमें बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र को अपने अधीनस्थ रखने के लिए स्वतंत्र होगा।

भारत के लिए आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और तुर्की के विखंडन का इतिहास अत्यधिक महत्व का है और हिंदू महासभा के सदस्यों को उसे पढ़ने से बहुत लाभ होगा। मुझे यहां उसके बारे में कुछ कहने की जरूरत नहीं, क्योंकि उनके इतिहास के महत्वपूर्ण सबक की चर्चा मैं एक अन्य अध्ययन में कर चुका हूँ। यहां इतना कहना ही पर्याप्त है कि श्री सावरकर द्वारा तैयार की गई स्वराज की योजना से हिंदुओं को मुस्लिमों पर एक साम्राज्य स्थापित करने का मौका तो मिल जाएगा, जिससे उनका साम्राज्यवादी जाति बनने का अहम पूरा हो जाएगा, परन्तु इससे हिंदुओं के लिए स्थाई और शांतिपूर्ण भविष्य कभी सुनिश्चित नहीं हो सकेगा। जिसका सीधा–सादा कारण यह है कि मुस्लिम ऐसे खतरनाक विकल्प को कभी भी अपनी इच्छा से स्वीकार नहीं करेंगे।

III

श्री सावरकर को अपनी योजना के बारे में मुस्लिमों की प्रतिक्रिया की कोई चिंता नहीं है। वह अपनी योजना तैयार करते हैं और फिर उसे मुस्लिमों के मुंह पर मारते हुए कहते हैं – 'या तो इसे मान लो या इसे छोड़ दो।' स्वराज के लिए

संघर्ष में शमिल होने से मुसलमानों द्वारा इंकार करने से उन्हें कोई परेशानी नहीं है। वे हिंदुओं और हिंदू महासभा की ताकत के बारे में पूरी तरह आश्वस्त हैं और इस आशा में बिना किसी की सहायता के अपना संघर्ष अकेले ही चलाने को तैयार हैं कि हिंदू अंग्रेज से स्वराज प्राप्त कर लेंगे। वह मुसलमानों को यह बताने के लिए बिल्कुल तैयार हैः

> "यदि आप आते हैं, तो आप के साथ, यदि आप नहीं आते तो आपके बिना, और यदि आप विरोध करते हैं तो उसके बावजूद, हिंदू अपनी पूरी ताकत से राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष जारी रखेंगे।"

श्री गांधी ऐसा नहीं कहते। हिंदुस्तान के एक राजनीतिक नेता के रूप में अपना जीवन शुरू करते समय ही उन्होंने हिंदुस्तान के लोगों से यह वायदा कर उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया था कि वह छह महीने में ही स्वराज पा लेंगे। श्री गांधी ने कहा कि उनके इस करिश्मे को पूरा करने के लिए कुछ शर्तें पूरी की जानी जरूरी हैं। उनमें से एक है हिंदू–मुस्लिम एकता। श्री गांधी यह कहते हुए कभी नहीं थकते कि हिंदू–मुस्लिम एकता के बिना स्वराज हो ही नहीं सकता। उन्होंने यह नारा हिंदुस्तान की राजनीति के प्रचार मात्र के रूप में प्रचलित नहीं किया, बल्कि उसे पूरा करने के लिए प्रयत्न भी किया। कहा जा सकता है कि श्री गांधी ने भारत के राजनीतिक नेतृत्व का आरंभ 2 मार्च 1919 के उस घोषणापत्र के जरिए किया जिसमें उन्होंने रॉलेट एक्ट के विरूद्ध सत्याग्रह शुरू करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और आह्वान किया कि जो इसमें शामिल होना चाहते हैं, वे सत्याग्रह प्रतिज्ञा–पत्र पर हस्ताक्षर करें। सत्याग्रह का यह आंदोलन अल्पकालीन आंदोलन था और श्री गांधी ने इसे 18 अप्रैल, 1919 को स्थगित कर दिया था। अपने कार्यक्रम के एक भाग के रूप में श्री गांधी ने आह्वान किया कि 6 मार्च, 1919 सारे देश में रॉलेट एक्ट के विरोध–दिवस के रूप में मनाया जाए। उस दिन आमसभाएं की जानी थीं और श्री गांधी ने उन सभाओं में भाग लेने वालों को यह प्रतिज्ञा लेने के लिए कहा था:*

> "भगवान को साक्षी मानकर, हम हिंदू और मुसलमान यह घोषणा करते हैं कि हम एक ही माता–पिता की संतान की तरह आपस में व्यवहार करेंगे, हम आपस में कोई मतभेद नहीं रखेंगे, हममें से एक का दुख बाकी सबका दुख होगा और हममें से प्रत्येक उसे दूर करने की कोशिश करेगा। हम एक–दूसरे के धर्म और धार्मिक भावनाओं का आदर करेंगे और एक–दूसरे के धार्मिक रीति–रिवाजों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालेंगे। हम धर्म के नाम पर एक–दूसरे के विरूद्ध हिंसा करने से बचेंगे।"

* देखिए, दिनांक 23 मार्च, 1919 का उनका घोषणापत्र।

रॉलेट एक्ट के विरूद्ध सत्याग्रह–आंदोलन में ऐसा कुछ नहीं था जिससे हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच संघर्ष हो। इसके बावजूद श्री गांधी ने अपने अनुयायियों से यह प्रतिज्ञा लेने के लिए कहा। इससे पता चलता है कि वह शुरू से ही हिंदू–मुस्लिम एकता पर कितना जोर देते थे।

1919 में मुसलमानों ने खिलाफत आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन के दो उद्देश्य थे – खिलाफत को जीवित रखना और तुर्की साम्राज्य की अखंडता बनाए रखना। इन दोनों ही उद्देश्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता था। खिलाफत की रक्षा इस सीधी–सादी बात के कारण नहीं की जा सकती थी कि जिन तुर्कों के समर्थन में यह आंदोलन किया जा रहा था, वे स्वयं सुलतान को नहीं चाहते थे। जब वे एक गणराज्य चाहते थे तो यह बात एकदम अन्यायपूर्ण थी कि तुर्कों को तुर्की में राजतंत्र बनाए रखने के लिए मजबूर किया जाएं। तुर्की साम्राज्य की अखंडता पर जोर नहीं दिया जा सकता था, क्योकि इसका अर्थ यह होता कि विभिन्न राष्ट्रों के लोग तुर्क शासन, खास तौर पर अरबों, के अधीन रहते, विशेषकर उस समय जब सभी पक्षों ने यह स्वीकार कर लिया था कि आत्मनिर्णय के अधिकार को शांति–स्थापना का आधार बनाया जाए।

यह आंदोलन मुसलमानों द्वारा शुरू किया गया था। फिर जिस दृढ़ निश्चय और आस्था से श्री गांधी ने उस आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में ली, उससे बहुत से मुसलमान स्वयं भी आश्चर्यचकित रह गए थे। अनेक लोगों ने खिलाफत आंदोलन की नैतिकता के बारे में संदेह प्रकट किया और श्री गांधी को इस आंदोलन से अलग रहने के लिए कहा, क्योंकि इसका नैतिक आधार ही संदेहास्पद था। परंतु श्री गांधी स्वयं खिलाफत आंदोलन को इतना न्यायपूर्ण मानते थे कि उन्होंने इस सलाह को मानने से इंकार कर दिया। श्री गांधी ने कई बार तर्क दिए कि यह आंदोलन न्यायसंगत है और इसमें शामिल होना उनका कर्तव्य है। इस संबंध में श्री गांधी का पक्ष उनके अपने शब्दों में इस प्रकार है:

> "(1) मेरे विचार में तुर्की का दावा न केवल नैतिक और न्यायपूर्ण है, बल्कि पूरी तरह न्यायोचित है, क्योंकि तुर्की केवल वही चाहता है जो उसका अपना है। और मुस्लिम घोषणापत्र में निश्चित शब्दों में घोषणा की गई है कि गैर–मुस्लिम और गैर–तुर्की जातियां अपने संरक्षण के लिए जो भी गारंटी आवश्यक समझें, ले सकती हैं, ताकि तुर्की के आधिपत्य के अंतर्गत ईसाई अपना और अरब अपना स्वायत्तशासन चला सकें;

(2) मैं यह विश्वास नहीं करता कि तुर्क निर्बल या अक्षम या क्रूर हैं। वे निश्चित रूप से असगठित हैं और शायद उनके पास अच्छा नेतृत्व नहीं है। इस बारे में निर्बलता, अक्षमता और क्रूरता का जो तर्क अक्सर सुनाई पड़ता है, वह उन लोगों के बारे में दिया जाता है जिनसे सत्ता छीन ली जाती है। तथाकथित नरसंहार के बारे में कमीशन नियुक्त करने की मांग की गई थी परंतु उसे कभी स्वीकार नहीं किया गया। कुछ भी हो, दमन के विरुद्ध तो सुरक्षा मिल सकती है;

(3) मैं पहले ही कह चुका हूं कि यदि हिंदुस्तानी मुसलमानों में मेरी रुचि न होती तो मैं तुर्कों के कल्याण में उससे अधिक रुचि नहीं लेता जितनी मेरी आस्ट्रियन या पोल लोगों के कल्याण में है। परंतु एक हिंदुस्तानी होने के नाते, अपने साथी हिंदुस्तानियों के कष्टों और दुखों में भाग लेना मेरा कर्तव्य है। यदि मैं मुसलमान को अपना भाई समझता हूं तो मेरा कर्तव्य है कि यदि मैं उसके विचार को न्यायपूर्ण समझता हूं तो कष्ट के समय अपनी पूरी क्षमता से मैं उसकी सहायता करूं;

(4) चौथी बात यह है कि हिंदुओं को मुसलमानों का साथ किस सीमा तक देना चाहिए। इसलिए यह बात अपनी भावनाओं और अपनी राय की होती है। एक न्यायपूर्ण कार्य के लिए तो यह उपयुक्त है कि हम मुस्लिम भाइयों की खातिर अधिकतम कष्ट उठाएं। इसलिए जब तक उनके द्वारा अपनाए गए उपाय शुद्ध होंगे, मैं पूरे रास्ते उनका साथ दूंगा। मैं मुसलमान की भावनाओं पर नियंत्रण नहीं कर सकता। मैं तो उसके उस वक्तव्य को स्वीकार कर लेता हूं कि खिलाफत उसके लिए इस दृष्टि से धार्मिक प्रश्न है, कि वह अपनी जान पर खेलकर भी उस लक्ष्य तक पहुंचने की कोशिश करेगा।"*

श्री गांधी खिलाफत के लिए न केवल मुसलमानों से सहमत थे, बल्कि इस काम में वह उनके मार्गदर्शक और मित्र भी बन गए। खिलाफत आंदोलन में श्री गांधी ने जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और उस आंदोलन और असहयोग आंदोलन में जो संबंध था, वह क्षीण हो गया, क्योंकि अधिकतर लोग यह विश्वास

* यंग इंडिया, 2 जून, 1920

करते थे कि कांग्रेस ने ही असहयोग आंदोलन शुरू किया है, और वह इसलिए कि यह स्वराज पाने का एक साधन है। यह विचार सब जगह घर कर गया था क्योंकि अधिकांश लोग यही देखकर संतुष्ट हो गए थे कि असहयोग आंदोलन और 7 और 8 सितंबर, 1920 को कलकत्ता में होने वाले कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में संबंध था, परंतु जिस ने भी सितंबर 1920 के बाद की स्थिति का अवलोकन किया है वह जानता है कि यह विचार सही नहीं है। सच्चाई यह है कि असहयोग आंदोलन का उद्गम खिलाफत आंदोलन से हुआ था, न कि स्वराज के लिए कांग्रेसी आंदोलन से। खिलाफतवादियो ने तुर्की की सहायता के लिए इसे शुरू किया था और कांग्रेस ने उसे खिलाफतवादियों की सहायता के लिए अपनाया था। उसका मूल उद्देश्य स्वराज नहीं बल्कि खिलाफत था और स्वराज का गौण उद्देश्य बनाकर उससे जोड़ दिया गया था, ताकि हिंदू भी उसमें भाग लें और यह बात नीचे दिए गए तथ्यों से स्पष्ट हो जाती है।

खिलाफत आंदोलन की शुरूआत 27 अक्टूबर, 1919 को हुयी समझी जा सकती है क्योंकि इसी दिन देश भर में खिलाफत सम्मेलन हुआ। इस अधिवेशन में मुसलमानों ने इस बात की संभावना पर विचार किया कि क्या असहयोग करके अंग्रेज सरकार को खिलाफत की गलती दूर करने के लिए विवश किया जा सकता है। 10 मार्च, 1920 को कलकत्ता में खिलाफत सम्मेलन हुआ और उसमें यह फैसला कर लिया गया कि आंदोलन के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए असहयोग सर्वोत्तम हथियार हो सकता है।

9 जून, 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत सम्मेलन हुआ और वहां सर्वसम्मति से इस बात को दोहराया गया कि असहयोग का सहारा लिया जाए। सम्मेलन में इस काम के लिए एक कार्यकारी समिति गठित की गई जो विस्तृत कार्यक्रम तैयार करे और उसे लागू करे। 22 जून, 1920 को मुस्लिमों ने वायसराय को एक संदेश भेजा जिसमें कहा गया था कि यदि पहली अगस्त 1920 से पूर्व तुर्क लोगों की शिकायतें दूर न कर दी गईं तो वे असहयोग आंदोलन शुरू कर देंगे। 30 जून, 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी की बैठक हुई जहां यह तय किया गया कि वायसराय को एक महीने का नोटिस देकर असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया जाए। 1 जुलाई, 1920 को यह नोटिस दिया गया और 1 अगस्त 1920 से असहयोग आंदोलन शुरू हो गया। इस संक्षिप्त विवरण से यह पता चलता है कि असहयोग आंदोलन खिलाफत कमेटी द्वारा शुरू किया गया था और कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सिर्फ वही स्वीकार कर लिया गया जो खिलाफत सम्मेलन में पहले ही शुरू हो चुका था; और वह स्वराज के लिए नहीं, बल्कि खिलाफत आंदोलन को बढ़ाने में मुसलमानों की सहायता करने के

लिए था। कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में जो निम्न प्रस्ताव* पारित किया गया, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यद्यपि खिलाफत कमेटी द्वारा असहयोग आंदोलन छेड़ा गया था तथा कांग्रेस ने मूलतः खिलाफत की पुनर्स्थापना में सहयोग देने के लिए इसे स्वीकार कर लिया था, तथापि महात्मा गाँधी ने ही खिलाफत कमेटी को असहयोग आंदोलन का सुझाव दिया था तथा स्वयं इस कमेटी से जुड़े रहे, और इस आंदोलन को छेड़ने का बीड़ा उठाया तथा इसे कांग्रेस द्वारा स्वीकार भी कराया।

23 नवंबर, 1919 को दिल्ली में हुए पहले खिलाफत सम्मेलन में श्री गाँधी मौजूद थे। न केवल श्री गांधी वहां मौजूद थे, बल्कि उन्होंने ही मुस्लिमों को सलाह दी कि अंगेजों से अपनी खिलाफत संबंधी मांगों को मनवाने के लिए असहयोग आंदोलन को अपना लें। खिलाफत आंदोलन में श्री गांधी का शामिल होना अत्यंत महत्वूपर्ण है। मुस्लिम इस बात के लिए उत्सुक थे कि खिलाफत

---

* इस बात को देखते हुए कि खिलाफत के सवाल पर हिंदुस्तानी सरकार और शाही सरकार दोनों ही हिंदुस्तान के मुस्लिमों के प्रति अपना कर्तव्य निभाने में असफल रही हैं, और प्रधानमंत्री ने जानबूझकर उनको दिया हुआ अपना वचन तोड़ा है, और यह हर गैर–मुस्लिम हिंदुस्तानी का फर्ज है कि प्रत्येक वैध तरीके से मुस्लिम भाई की इस घोर धार्मिक विपत्ति को दूर करने में सहायता करें।

और इस बात को देखते हुए कि अप्रैल 1919 की घटनाओं में पंजाब के निर्दोष लोगों की रक्षा करने तथा गैर–फौजी और बर्बर व्यवहार करने वाले उन अफसरों को सजा देने मे उल्लिखित दोनों सरकारों ने घोर उपेक्षा बरती है और असफल रही है, और उस सर माइकेल ओडायर को माफ कर दिया है जो सरकारी अपराधों और अपने शासन में रहने वाले लोगों के कष्टों का सीधे जिम्मेदार था, और हाउस ऑफ लार्ड्स में हुए वाद–विवाद में हिंदुस्तान के लोगों के प्रति सहानुभूति का नितांत अभाव देखा गया, और पंजाब में जानबूझकर आतंक और डर पैदा किया गया, और हाल की वायसराय द्वारा की गई उद्घोषणा इस बात के प्रतीक हैं कि खिलाफत आंदोलन और पंजाब के मामले में सरकार को जरा भी पश्चाताप नहीं है।

"इस कांग्रेस का विचार है कि उपर्युक्त दो भूलों को सुधारे बिना भारत में असन्तोष बना रहेगा और स्वराज्य की स्थापना की राष्ट्र सम्मान को प्रमाणित करने तथा भविष्य में इसी तरह की भूलों को दोहराने से रोकने का एकमात्र प्रभावी माध्यम है।"

"इस कांग्रेस का आगे विचार है कि जब तक उक्त भूलों को सुधार नहीं लिया जाता और स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाती भारत की जनता के लिए महात्मा गांधी द्वारा शुरू किए गए प्रगामी अहिंसक असहयोग की नीति को मानने तथा इसका पालन करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रह गया है।

श्रीमती एनी बेसेंट का कथन है, "यह स्मरण होगा कि महात्मा गांधी ने मार्च 1920 में खिलाफत की रक्षा में असहयोग को अन्य सवालों से अलग रखा था; किन्तु देखा गया कि खिलाफत हिन्दुओं के लिए उतना लुभावना नहीं था," इसलिए 30 और 31 मई को बनारस में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में भड़काने वाले कारणों की सूची में पंजाब अत्याचार को और सुधार अधिनियम की कमियों को भी सम्मिलित कर लिया गया – द फ्यूचर ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स पृ. 250

आंदोलन की प्रक्रिया में हिंदुओं का सहयोग मिले। 23 नवंबर, 1919 को हुए सम्मेलन में भाग लेने के लिए मुस्लिमों ने हिंदुओं को निमंत्रित किया था। फिर 3 जून, 1920 को इलाहाबाद में हिंदुओं और खिलाफत आंदोलनकारी मुस्लिमों की एक बैठक हुई। इस बैठक में, अन्य लोगों के अलावा सप्रू, मोतीलाल नेहरू और ऐनी बेसेंट भी शामिल हुए थे। परंतु हिंदू मुस्लिमों को सहयोग देने में संकोच कर रहे थे। श्री गांधी अकेले हिंदू थे जो मुस्लिमों के साथ हो गए थे। न केवल वह उनके साथ शामिल हुए, बल्कि उनसे कदम मिला कर चले भी, यहां तक कि उनका नेतृत्व भी किया। 9 जून, 1920 को जब इलाहाबाद में खिलाफत सम्मेलन हुआ और उसमें असहयोग का विस्तृत कार्यक्रम बनाने तथा असली रूप देने के लिए एक कार्यकारी समिति बनाई गई तो उसमें श्री गांधी अकेले 'हिंदू थे। 22 जून, 1920 को मुस्लिमों ने वायसराय को एक संदेश भेजा कि यदि 1 अगस्त 1920 से पहले तुर्क लोगों की शिकायतें दूर नहीं की गईं तो वे असहयोग शुरू कर देंगे। उसी दिन श्री गांधी ने भी वायसराय को एक पत्र भेजकर बताया कि खिलाफत आंदोलन न्यायपूर्ण है और खिलाफतवादियों की मांगें पूरी करना क्यों जरूरी है। उदाहरण के लिए, पहली अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन शुरू करने के बारे में 1 जुलाई, 1920 को वायसराय को जो नोटिस दिया गया था वह श्री गांधी ने दिया था न कि खिलाफतवादियों ने। और जब खिलाफतवादियों ने 31 अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन शुरू किया तो उसके बारे में सबसे पहले श्री गांधी ने ही ठोस कदम उठाते हुए अपना मैडल वापस किया। खिलाफत आंदोलन का उद्घाटन करते हुए खिलाफत कमेटी के एक सक्रिय सदस्य के रूप में श्री गांधी ने अपनी पूरी शक्ति से कांग्रेस से आग्रह किया कि वह असहयोग आंदोलन को अपनाए और खिलाफत आंदोलन को मजबूत करे। इसी उद्देश्य से श्री गांधी ने पहली अगस्त से पहली सितंबर, 1920 तक खिलाफत के जन्मदाता अली बंधुओं के साथ सारे देश का दौरा किया और लोगों को असहयोग आंदोलन की आवश्यकता बताई। लोगों ने यह देखा कि इस बारे में श्री गांधी और अली बंधुओं के स्वर अलग-अलग हैं। जैसा कि 'मार्डन रिव्यू' ने लिखा, उनके भाषणों की पंक्तियों का अध्ययन करने पर यह जानना कठिन नहीं है कि एक के लिए तो दूर बसे तुर्की में खिलाफत की दयनीय दशा ही केंद्र बिंदु है, जब कि दूसरे की निगाह में हिंदुस्तान के लिए स्वराज प्राप्ति के लक्ष्य की ओर है।* तथापि खिलाफत के बारे में श्री गांधी कांग्रेस को अपने साथ

* श्री गांधी ने 'मॉडर्न रिव्यू' के इस सुझाव का खंडन किया और कहा कि यह क्रूरतम निर्दयता है। 20 अक्टूबर, 1921 के 'यंग इंडिया' में श्री गांधी ने 'मॉडर्न रिव्यू' की आलोचना का जवाब देते हुए लिखा कि हम दोनों के लिए ही खिलाफत केंद्र बिंदु है, मुहम्मद अली के लिए इसलिए कि यह उनका धर्म है, मेरे लिए इसलिए कि खिलाफत के लिए जान देकर मैं मुसलमानों के चाकू से गाय की सुरक्षा सुनिश्चित करता हूं, क्योंकि यह मेरा धर्म है।

लेने में सफल हो गए।[1]

काफी दिनों से हिंदू मुस्लिमों को अपनी तरफ करने के लिए बराबर प्रयास करते चले आए थे। कांग्रेस अपने और मुस्लिम लीग के बीच की खाई पाटने को बहुत उत्सुक थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 1913 में जो कदम उठाए गए और जिसके फलस्वरूप कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच लखनऊ पैक्ट पर हस्ताक्षर हुए, स्वामी श्रद्धानंद ने उस वर्ष लखनऊ में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के अपने संस्मरणों में उसका बहुत ही संजीव चित्रण किया है। उनके शब्दों में:

> "कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के मंच पर बैठ कर मैंने जो पहली बात देखी वह यह थी कि 1893 में हुए लाहौर कांग्रेस अधिवेशन की अपेक्षा यहाँ मुस्लिम प्रतिनिधियों की संख्या चौगुनी थी। अधिकांश मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अपनी सादी पोशाक के ऊपर सोने–चांदी और रेशमी कढ़ाई वाले चोगे पहने हुए थे। अफवाह यह थी कि ये चोगे कांग्रेसी तमाशे के लिए धनी हिंदुओं ने पहन रखे हैं। कुल 433 मुस्लिम प्रतिनिधियों में से केवल 30 के लगभग ही बाहर से आए थे, शेष सभी लखनऊ शहर के थे। और इनमें से अधिकांश को प्रतिनिधियों की सीटों पर मुफ्त में आने दिया गया और उनके लिए भोजन और निवास की व्यवस्था मुफ्त की गई। सर सैयद अहमद की एंटी कांग्रेस लीग ने मुसलमानों को कांग्रेस–प्रतिनिधि के रूप में शामिल होने से निरूत्साहित करने के लिए एक आम सभा का आयोजन किया था। इसका मुकाबला करने के लिए कांग्रेस के लोगों ने अधिवेशन शुरू होने से चार रात पहले से ही कांग्रेस शिविर में रोशनी करनी शुरू कर दी और यह इश्तहार निकाले कि वह रात मुफ्त होगी। इसका नतीजा यह हुआ कि उस रात लखनऊ के चंडूखाने खाली पड़े रहे और लगभग 30,000 हिंदुओं और मुसलमानों की भारी भीड़ को छह मंचों से संबोधित किया गया और उसी समय मुस्लिम प्रतिनिधियों का चुनाव या पहचान की गई। यह बात मुझे लखनऊ कांग्रेस के आयोजकों ने निजी रूप से बताई।
>
> मुस्लिम प्रतिनिधियों का यह एक दिखावा मात्र था। एक मुस्लिम प्रतिनिधि उर्दू में एक प्रस्ताव के समर्थन के लिए खड़ा हुआ। उसने बोलना शुरू किया – 'हज़रात, मैं एक मुसलमान प्रतिनिधि हूं।' कोई

* असहयोग आंदोलन के बारे में 884 के मुकाबले 1886 मतों से प्रस्ताव पारित हो गया। स्व. तायरसी ने मुझे बताया कि प्रतिनिधियों में से अधिकांश कलकत्ता के टैक्सी ड्रायवर थे, जिन्हें असहयोग के पक्ष में वोट देने के लिए धन दिया गया था।

> एक हिंदू प्रतिनिधि खड़ा हो गया और उसने मुसलमान प्रतिनिधियों के समर्थन में तालियां बजाने को कहा; और जितने उत्साहपूर्वक तालियां बजाई गईं वह वर्णनातीत है।"*

खिलाफत आंदोलन का मुद्दा उठाकर श्री गांधी ने दो उद्देश्यों की पूर्ति की। एक तो मुस्लिमों का समर्थन पाने की कांग्रेसी योजना को उन्हें पूरा कर दिखाया। दूसरे, उन्होंने कांग्रेस को देश में एक शक्ति बना दिया, और यदि मुस्लिम कांग्रेस में शामिल न होते तो वह शक्ति नहीं बन सकती थी। मुसलमानों को राजनीतिक सुरक्षाओं की जगह खिलाफत का मुद्दा कहीं अधिक आकर्षक लगता था। इसका नतीजा यह निकला कि जो मुसलमान कांग्रेस के बाहर थे, वे भी भारी संख्या में कांग्रेस में शामिल हो गए। हिंदुओं ने उनका स्वागत किया, क्योंकि उन्हें लगा कि इस तरह वे अंग्रेजों के विरूद्ध सांझा मोर्चा खोल सकते हैं जो कि उनका उद्देश्य था। इसका श्रेय तो निश्चित रूप से श्री गांधी को जाता है। निस्संदेह यह एक बड़ा साहसपूर्ण काम था।

1919 में जब मुसलमानों ने हिंदुओं से असहयोग आंदोलन में शामिल होने का अनुरोध किया, जो इसे तुर्की और खिलाफत के समर्थन में चलाना चाहते थे, उस समय हिंदू तीन अलग–अलग गुटों में बंटे हुए थे। उनमें से एक गुट तो असहयोग का सिद्धांततः विरोध करता था। दूसरा गुट ऐसे हिंदुओं का था जो असहयोग की हलचल में इस शर्त पर शामिल होने को तैयार था कि मुसलमान गोहत्या छोड़ने को तैयार हो जाएं। तीसरा गुट ऐसे हिंदुओं का था जो इस आशंका से भयभीत थे कि मुसलमान असहयोग का उपयोग अफगानिस्तान को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण देने के लिए न कर दें, क्योंकि ऐसी हालत में हिंदुस्तान में स्वराज की जगह मुस्लिम राज्य स्थापित हो जाएगा।

श्री गांधी ने ऐसे हिंदुओं की चिंता नहीं की जो असहयोग आंदोलन में मुस्लिमों का साथ देने के विरोधी थे। परंतु बाकी लोगों से उन्होंने कहा कि आपका दृष्टिकोण दुर्भाग्यपूर्ण है। जो हिंदू मुस्लिमों से इस शर्त पर सहयोग करना चाहते थे कि वे गोहत्या करना छोड़ दें, उनसे श्री गांधी ने कहा:

> "मेरा निवेदन है कि हिंदुओं को यहां गोरक्षा का प्रश्न नहीं उठाना चाहिए। दोस्ती की कसौटी यह होती है कि मुसीबत पड़ने पर सहायता की जाए और वह भी बिना शर्त। किसी सहयोग में शर्तें लगाई जाएं, वह मित्रता नहीं होती, बल्कि व्यापारिक समझौता होता है। सशर्त सहयोग मिलावटी सीमेंट जैसा होता है, जिससे कुछ जुड़ता नहीं। यह

* 1. 'लिबरेटर', 22 अप्रैल, 1926

हिंदुओं का कर्तव्य है कि यदि मुसलमानों की मांग उन्हें न्यायपूर्ण लगे, तो उन्हें सहयोग दें। यदि मुसलमान स्वयं यह अनुभव करें कि उन्हें हिंदुओं की भावनाओं का आदर करना है तो उन्हें गोहत्या बंद कर देनी चाहिए, भले ही हिंदू उन्हें सहयोग दें या न दें। इस तरह, यद्यपि मैं गाय की पूजा करने में किसी भी हिंदू से कम नहीं हूं, पर सहयोग देने से पूर्व गोहत्या-बंदी की शर्त नहीं लगाना चाहता। बिना शर्त सहयोग देने का मतलब है गाय की रक्षा करना।"*

जो हिंदू असहयोग आंदोलन में शामिल होने से इसलिए डरते थे कि मुस्लिम अफगानों को हिंदुस्तान पर आक्रमण करने के लिए निमंत्रण दे सकते हैं, उनसे श्री गांधी ने कहा:

"हिंदुओं की आशंका को समझना और उसे उचित ठहराना बहुत आसान है। मुसलमानों की स्थिति का विरोध करना कठिन है। मेरी राय में हिंदुस्तान को इस्लामी और अंग्रेजी शक्तियों का आपसी युद्धक्षेत्र बनने से रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हिंदू असहयोग आंदोलन को तत्काल और पूर्णतः सफल बनाएं, और मुझे इस बारे में रत्ती भर भी संदेह नहीं कि यदि मुस्लिम अपने घोषित विचारों पर दृढ़ रहें और अपने ऊपर नियंत्रण रख सकें तथा त्याग कर सकें, तो हिंदू भी इस कार्य में भागीदार बनेंगे और असहयोग आंदोलन में उनके साथ शामिल हो जाएंगे। मैं इस बारे में भी पूर्णतः निश्चिंत हूं कि हिंदू मुसलमानों की इस काम में कभी मदद नहीं करेंगे कि वे अंग्रेज सरकार और उसके मित्रों तथा अफगानिस्तान के बीच सशस्त्र संघर्ष को बढ़ावा दें, अथवा शुरू कराएं। ब्रिटिश सेनाएं इतनी सुसंगठित हैं कि हिंदुस्तान की सीमाओं पर कोई भी सफल आक्रमण नहीं होने देंगी। इसलिए मुसलमानों के सामने इस्लाम की इज्जत की खातिर अंग्रेज से प्रभावी संघर्ष करने का एकमात्र तरीका यह है कि असहयोग आंदोलन पूरी ईमानदारी से चलाया जाए। यदि लोग इसे व्यापक पैमाने पर चलाएं, तो यह न केवल पूरी तरह प्रभावकारी होगा, बल्कि इसमें व्यक्ति की अंतरात्मा की आवाज ध्वनित होगी। यदि मैं किसी व्यक्ति या संगठन द्वारा किए गए अन्याय को सहन नहीं कर सकता, और यदि मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस व्यक्ति या संगठन का समर्थन करता हूं, तो मुझे इसके लिए अपने नियंता के सामने जवाबदेह होना पड़ेगा। परंतु मैंने उस आचार-संहिता का, जो गलत काम करने वालों

* 'यंग इंडिया', 10 दिसम्बर, 1919

> को भी हानि नहीं पहुंचाना चाहती, इतना कड़ाई से पालन किया है, जितना कोई मनुष्य कर सकता है। इसलिए इतनी बड़ी शक्ति का प्रयोग करने में कोई जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए, कोई क्रोध नहीं दिखाना जाना चाहिए। असहयोग आंदोलन तो निश्चित रूप से एक स्वैच्छिक प्रयास है और वह ऐसा ही रहना चाहिए। सारी बात स्वयं मुस्लिमों पर निर्भर करती है। यदि मुस्लिम स्वयं अपनी सहायता करेंगे तो उन्हें हिंदुओं की सहायता मिलेगी ही, और सरकार को, भले ही वह कितनी बड़ी और ताकतवर क्यों न हो, समूचे राष्ट्र के रक्तहीन विरोध के सामने झुकना ही पड़ेगा।"*

दुर्भाग्यश श्री गांधी की यह आशा कि किसी भी सरकार को भले ही वह कितनी बड़ी और ताकतवर क्यों न हो, समूचे राष्ट्र के रक्तहीन विरोध के सामने झुकना ही पड़ेगा, सच्ची सिद्ध नहीं हुई। असहयोग आंदोलन शुरू करने के एक वर्ष के भीतर ही श्री गांधी को यह स्वीकार करना पड़ा कि मुसलमान अधीर हो गए थे, और:

> "अपने धीरतापूर्ण गुस्से के कारण मुसलमानों ने कांग्रेस ओर खिलाफत संगठनों से अधिक जोरदार और तत्काल कदम उठाने की मांग करनी शुरू कर दी। मुसलमानों के लिए स्वराज का अर्थ है, और होना भी चाहिए, खिलाफत के सवाल को सफलतापूर्वक हल करने में हिन्दुस्तान की योग्यता। इसलिए यदि स्वराज प्राप्ति का मतलब ऐसे कार्यक्रम में अनिश्चित विलंब होना है, जिसमें उन्हें यूरोपीय समुद्रों में नपुंसकों की तरह तुर्की का विनाश देखना पड़े, तो मुसलमान प्रतीक्षा करना अस्वीकार करते हैं।
>
> "इस दृष्टिकोण से, सहानुभूति न रखना असंभव है। यदि मुझे कोई प्रभावकारी तरीका समझ में आता तो मैं अविलंब प्रसन्नतापूर्वक उसका अनुमोदन कर देता। यदि स्वराज की गतिविधियों को मुल्तवी करने से हम खिलाफत के उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ सकें तो मैं खुशी से ऐसा करने को तैयार हूं। इस कारण करोड़ों मुसलमानों को जो पीड़ा हो रही है, उसे शांत करने के लिए यदि मुझे असहयोग के बाहर भी कोई मार्ग सूझेंगे तो मैं बड़ी खुशी से उन्हें अपनालूंगा। पर मेरी विनम्र सम्मति में खिलाफत की गलती को ठीक करने का फौरी तरीका स्वराज प्राप्ति है। इस तरह मेरे लिए खिलाफत के प्रश्न का हल स्वराज की प्राप्ति है और इसका विपरीत भी सच है। पीड़ित

---

* 'यग इंडिया', 20 जून 1920

> तुर्कों को सहायता देने का हिंदुस्तान के पास एकमात्र तरीका यह है कि वह पर्याप्त शक्तिशाली बने, जिससे कारगर प्रभाव डाल सके। यदि वह समय रहते इतना शक्तिशाली नहीं बन जाता, तो हिंदुस्तान के पास कोई तरीका नहीं बचता और जो हो उसे भुगतने के लिए उसको तैयार रहना चाहिए। एक लकवाग्रस्त व्यक्ति हाथ बढ़ाकर कैसे अपने पड़ौसी की सहायता कर सकता है, सिवाय इसके कि अपने लकवे का इलाज करे? केवल अज्ञानतावश अविवेकपूर्ण ढंग से, गुस्से में आकर हम हिंसा का सहारा ले लें, तो उससे हम अपना गुस्सा भले ही प्रकट करें, परंतु तुर्की को उससे कोई राहत पहुंचनेवाली नहीं।"

मुसलमान श्री गांधी की सलाह सुनने को तैयार नहीं थे। उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत की पूजा करने से इन्कार कर दिया। वे स्वराज की प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं थे। वे तुर्की की सहायता और खिलाफत को बचाने के लिए सबसे त्वरित तरीका अपनाना चाहते थे। और अपनी अधीरता में आकर मुस्लिमों ने बिल्कुल वही किया जिसकी हिंदुओं को आशंका थी, अर्थात् अफगानों को भारत पर हमला करने का निमंत्रण देना। यह जानना संभव नहीं कि खिलाफतवादी किस हद तक अफगानिस्तान के अमीर से अपने सलाह मशविरे में आगे बढ़े। परंतु इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि वे ऐसी घातक परियोजना पर चल रहे थे। यह कहने की कोई जरूरत नहीं कि भारत पर हमला कराने की यह परियोजना नितांत खतरनाक परियोजना थी और हर बुद्धिमान हिंदुस्तानी अपने आपको पागलपन भरी इस परियोजना से दूर ही रखेगा। इस परियोजना में श्री गांधी की कितनी भूमिका रही, यह पता लगाना संभव नहीं। परंतु यह बात निश्चित है कि उन्होंने अपने को इससे अलग नहीं रखा। इसके विपरीत, स्वराज पाने के भ्रांतिपूर्ण उत्साह और हिंदू–मुस्लिम एकता की सनक के कारण, क्योंकि वही उसका एकमात्र तरीका लगता था, वह इस परियोजना का समर्थन करने को भी तैयार हो गए। श्री गांधी ने न केवल अमीर को यह सलाह* दी कि वह अंग्रेज सरकार से किसी किस्म की संधि न करें, बल्कि यह भी घोषणा की:

> "यदि अफगानिस्तान का अमीर ब्रिटिश सरकार कि विरूद्ध युद्ध करता है, तो एक तरह से मैं उसकी निश्चित रूप से सहायता करूंगा। दूसरे शब्दों में, मैं अपने देशवासियों को खुल्लमखुल्ला यह बताऊंगा कि जो सरकार राष्ट्र का विश्वास खो चुकी है, उसे सत्ता में रहने का कोई अधिकार नहीं और ऐसी सरकार को सहायता देना एक अपराध होगा।"

* यंग इंडिया', 4 मई 1921

क्या कोई भी समझदार व्यक्ति हिंदू-मुस्लिम एकता की खातिर इतनी दूर जा सकता है? परंतु श्री गांधी हिंदू–मुस्लिम एकता पर इतने आसक्त थो कि उन्होंने यह समझने की भी तकलीफ नहीं की कि पागलपन भरे अपने इन कामों से वह असल में क्या करने जा रहे हैं। सच्चे ढंग से हिंदू–मुस्लिम एकता की नींव डालने के लिए श्री गांधी इतने उत्सुक थे कि राष्ट्रीय संकट के बारे में अपने अनुयायियों को सलाह देना नहीं भूले। 8 सितम्बर, 1920 के 'यंग इंडिया' में अपने एक लेख में श्री गांधी ने कहा:

> "अपने मद्रास दौरे के दौरान मुझे बेजवाड़ा में राष्ट्रीय संकट की चर्चा करने का मौका मिला और मैंने सुझाव दिया कि हमें व्यक्तियों की जगह आदर्शों के नारे लगाने चाहिए। मैंने अपने श्रोताओं से कहा कि 'महात्मा गांधी की जय' और 'मोहम्मद अली शौकत अली की जय' की जगह हमें 'हिंदू–मुस्लिम की जय' बोलनी चाहिए। भाई शौकत अली ने, जो मेरे बाद बोले, इसे बारे में पक्का नियम बना दिया। हिंदू–मुस्लिम एकता के बावजूद उन्होंने कहा कि यदि हिंदू 'वंदे मातरम्' बोलते हैं तो मुस्लिम 'अल्ला–हो–अकबर बोलते हैं; और इसके विपरीत भी होता है। उन्होंने ठीक ही कहा कि यह कानों को बड़ा खराब लगता है, और यह दिखाता है कि लोग एक ही तरह से नहीं सोचते। इसलिए केवल तीन ही नारे स्वीकार किए जाने चाहिए। हिंदुओं और मुसलमानों को खुशी–खुशी बोलना चाहिए 'अल्ला हो–अकबर', जो यह दिखाता है कि केवल ईश्वर ही बड़ा है, और कोई नहीं। दूसरा नारा होना चाहिए 'बंदेमातरम्' – हमारी 'मातृभूमि की जय या भारत माता की जय'। तीसरा नारा होना चाहिए – 'हिंदू–मुसलमान की जय' जिसके बिना भारत की विजय नहीं हो सकती और न भगवान की महानता का दर्शन हो सकता है। मैं भी चाहता हूं कि अख़बारों और जनता के नेताओं को मौलाना के सुझावों को अपनाना चाहिए और यही तीन नारे लगाने के लिए लोगों का नेतृत्व करना चाहिए। ये बड़े सार्थक नारे हैं। पहले तो यह प्रार्थना है, और यह स्वीकार करना है कि हम बहुत 'लघु' हैं, और इस तरह यह विनम्रता का प्रतीक है। यह एक ऐसा नारा है जो सभी हिंदुओं और मुसलमानों को बड़े आदरपूर्वक और निम्रता से लगाना चाहिए। हिंदुओं को अरबी शब्दों को लेकर नहीं ‹‹ड़ना चाहिए, क्योंकि उनका अर्थ न केवल पूरी तरह आपत्तिविहीन है, बल्कि महानतापूर्ण भी है। भगवान किसी विशेष भाषा का आदर नहीं करता। वंदे मातरम् का बहुत सी बातों से घनिष्ठ संपर्क होने के नाते मैं एक ही राष्ट्रीय इच्छा प्रकट करता हूं – हिंदुस्तान

> अपनी पूरी ऊंचाइयों तक उठे। और मैं भारत माता की जय की जगह वंदे मातरम् को प्राथमिकता दूंगा, क्योंकि इसके द्वारा हम बौद्धिक और भावनात्मक दृष्टि से बंगाल की श्रेष्ठता को माने लेते हैं। और 'हिंदू और मुसलमान की जय' एक ऐसा नारा है जो हमें कभी नहीं भूलना चाहिए।
>
> इन नारों के बारे में कोई भी मतभेद नहीं होना चाहिए। जैसे ही कोई इन तीनों में से एक भी नारा लगाए, तो केवल अपना प्रिय नारा बोलने की जगह सभी को बाकी नारे भी बोल देने चाहिए। जो इनमें शामिल नहीं होना चाहते, वे भले ही नारा न लगाएं, परंतु जब एक नारा लगाया जा चुका हो तो उसके बीच में अपना नारा लगाना तहजीब के खिलाफ माना जाना चाहिए। बेहतर तो यही होगा कि ये तीनों नारे एक के बाद एक इस तरह लगाए जायें जैसा ऊपर दिया गया है।"

हिंदू-मुसलमान एकता बनाने के लिए श्री गांधी ने सिर्फ यही बातें नहीं की। जब मुस्लिमों ने हिंदुओं के विरूद्ध घोर अपराध किए, तब भी उन्होंने मुसलमानों से उसके कारण नहीं पूछे।

यह सर्वविदित है कि कई प्रमुख हिंदुओं की, जिन्होंने अपनी लेखनी से या शुद्धि-आंदोलन में भाग लेकर, मुस्लिमों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुंचाया, उनकी कुछ कट्टर मुसलमानों ने हत्या कर दी। सबसे पहले स्वामी श्रद्धानंद की 23 दिसंबर, 1926 को अब्दुल रशीद ने गोली मारकर उस समय हत्या कर दी जब वे बिस्तर पर बीमारी की हालत में लेटे हुए थे। उनके बाद लाला नानकचंद की हत्या की गई, जो दिल्ली के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। 6 अप्रैल, 1929 को 'रंगीला रसूल' के लेखक राजपाल का उस समय कत्ल कर दिया गया जब वह अपनी दुकान पर बैठे हुए थे। सितंबर 1934 में अब्दुल कयूम ने नाथूरामल शर्मा की हत्या कर दी। यह एक बड़ा दुस्साहसिक कार्य था, क्योंकि उस समय शर्मा सिंध के जुडीशियल कमिश्नर की अदालत में इस्लामिक इतिहास के बारे में एक पैंफलेट प्रकाशित करने को लेकर भारतीय दंड संहिता की धारा 195 के अंतर्गत मिली सजा के विरूद्ध अपनी अपील की सुनवाई का इंतजार कर रहे थे। हिंदू महासभा के सेक्रेटरी खन्ना पर 1938 में हिंदू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन के बाद बुरी तरह हमला किया गया, और वह जान खोने से बाल बाल बचे।

यहां एक बहुत छोटी-सी सूची दी गई है और इसे आसानी से और लंबा किया जा सकता है। परंतु महत्व की बात यह है कि धर्मांध मुसलमानों द्वारा कितने प्रमुख हिंदुओं की हत्या की गई। मूल प्रश्न है उन लोगों के दृष्टिकोण

का, जिन्होंने यह कत्ल किये। जहां कानून लागू किया जा सका, वहां हत्यारों को कानून के अनुसार सजा मिली; तथापि प्रमुख मुसलमानों ने इन अपराधियों की कभी निंदा नहीं की। इसके विपरीत उन्हें 'गाजी' बताकर उनका स्वागत किया गया और उनके क्षमादान के लिए आंदोलन शुरू कर दिए गए। इस दृष्टिकोण का एक उदाहरण है लाहौर के बेरिस्टर मि. बरकत अली का, जिसने अब्दुल कयूम की ओर से अपील दायर की। वह तो यहां तक कह गया कि कयूम नाथूरामल की हत्या का दोषी नहीं है, क्योंकि कुरान के कानून के अनुसार यह न्यायोचित है। मुसलमानों का यह दृष्टिकोण तो समझ में आता है, परंतु जो बात समझ में नहीं आती, वह है श्री गांधी का दृष्टिकोण।

श्री गांधी हिंसा की किसी भी और प्रत्येक घटना की निंदा करने से नहीं चूके और उन्होंने कांग्रेस को भी, उसकी इच्छा के विपरीत, ऐसी घटनाओं की निंदा करने के लिए विवश किया। परंतु इन हत्याओं पर श्री गांधी ने कभी विरोध प्रकट नहीं किया।* न केवल मुसलमानों ने इन जघन्य अपराधों की निंदा नहीं की, अपितु श्री गांधी ने भी कभी मुसलमानों से यह नहीं कहा कि वे इन हत्याओं की निंदा करें। वह उनके बारे में चुप्पी साधे रहे। उनके इस दृष्टिकोण की केवल यही व्याख्या की जा सकती है कि श्री गांधी हिंदू-मुस्लिम एकता बनाए रखने को उत्सुक थे, और इसीलिए उन्होंने कुछ हिंदुओं की हत्या की कोई चिंता नहीं की बशर्ते उनके बलिदान से यह एकता बनी रहे।

मुस्लिमों की किसी भी गलती को माफ करने वाले इस दृष्टिकोण का, जब तक कि उससे हिंदू–मुस्लिम एकता को आघात न पहुंचे, सबसे अच्छा उदाहरण मोपला दंगों के बारे में श्री गांधी का वक्तव्य है।

मलाबार में मोपलाओं ने हिंदुओं पर जो हृदयविदारक अत्याचार किए थे, वे अवर्णनीय हैं। समग्र दक्षिण भारत में हरेक विचार के हिंदुओं में इनसे भय की एक भयानक लहर दौड़ गई थी, और जब खिलाफत के कुछ पथभ्रष्ट नेताओं ने मोपलाओं को मजहब की खातिर की जानेवाली इस जंग के लिए बधाई दी, तब दक्षिण भारत के हिंदू और भी उद्वेलित हो उठे। कोई भी व्यक्ति कह सकता था कि यह हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए जरूरत से ज्यादा कीमत चुकाना था। किंतु श्री गांधी हिंदू–मुस्लिम एकता की जरूरत के बारे में इतने ज्यादा सनकी

---

* बताया गया है कि स्वामी श्रद्धानंद के हत्यारे अब्दुल रशीद की आत्मा की शांति के लिए देवबंद के प्रसिद्ध इस्लामी कालेज के विद्यार्थियों और प्रोफेसरों ने पांच बार कुरान का पूरा पाठ किया और प्रतिदिन कुरान की सवा लाख आयतों की तिलावल की गई। उनकी प्रार्थना थी कि 'अल्लाह मियां मरहूम (अर्थात् अबदुल रशीद) को आला–ए–उलीयीन (सातवें बहिश्त) में स्थान दें'।
टाइम्स ऑफ इंडिया, 30-11-1927, 'थ्रू इंडियन आइज' नामक स्तंभ से।

हो चुके थे कि उन्होंने मोपलाओं के कारनामों और बधाई देनेवाले खिलाफतवादियों की हरकतों को अनदेखा कर दिया। मोपलाओं के बारे में उन्होंने कहा कि मोपला भगवान से डरनेवाले बहादुर लोग हैं और वे उस बात के लिए लड़ रहे हैं, जिसे धर्म समझते हैं; और उस तरीके से लड़ रहे हैं जिसे धार्मिक समझते हैं। मोपलाओं के अत्याचारों के बारे में मुसलमानों की चुप्पी के बारे में श्री गांधी ने हिंदुओं को बताया:

> "हिंदुओं में इतना साहस और इतनी आस्था होनी चाहिए कि धर्मांधों द्वारा की जानेवाली इन गड़बड़ियों के बावजूद वे अपने धर्म की रक्षा कर सकें। मोपलाओं के पागलपन की मुसलमानों द्वारा की जाने वाली निंदा को मुसलमानों की दोस्ती की कसौटी नहीं माना जा सकता। मोपला लोगों द्वारा किए गए जबरन धर्म–परिवर्तन और लूटपाट के बारे में मुसलमानों को स्वयं शर्मिंदगी होनी चाहिए और उन्हें चुप रहते हुए ऐसे प्रभावकारी ढंग से प्रयास करने चाहिए कि उनमें से अधिकतम धर्मांध व्यक्तियों के लिए ऐसे काम करने असंभव हो जाएं। मेरा यह विश्वास है कि हिंदुओं ने मोपला लोगों के पागलपन का बड़े धैर्य से सामना किया है और संस्कृत मुसलमान ईमानदारी से इस बात के लिए दुखी हैं कि मोपला लोगों ने हजरत की शिक्षाओं को गलत समझा है।"

कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने मोपलाओं के अत्याचारों के बारे में जो प्रस्ताव* पास किया, उससे पता चलता है कि कांग्रेस इस बारे में कितनी सावधान थी कि मुस्लिमों की भावनाओं को आघात न पहुंचे। प्रस्ताव इस प्रकार है:

> "वर्किंग कमेटी मलाबार के कुछ इलाकों में मोपला लोगों के हिंसात्मक कार्यों पर घोर दुःख प्रकट करती है। ये कृत्य इस बात के प्रमाण है कि हिंदुस्तान में अभी भी कुछ ऐसे लोग है जिन्होंने कांग्रेस और केंद्रीय खिलाफत कमेटी के संदेश को नहीं समझा है और वह कांग्रेस और खिलाफत के हर कार्यकर्ता से अनुरोध करती है कि वे हिंदुस्तान के चारों कोनों में अत्यधिक उत्तेजना के बावजूद अहिंसा के संदेश का प्रसार करें।
>
> तथापि जहां एक ओर वर्किंग कमेटी मोपलाओं द्वारा की गई हिंसा

---

* प्रस्ताव में कहा गया है कि जबरन धर्म–परिवर्तन के केवल तीन मामले हैं। केंद्रीय धारा सभा में एक प्रश्न के उत्तर में सर विलियम ने बताया कि मद्रास सरकार ने रिपोर्ट दी है कि जबरन धर्म परिवर्तन के शायद हजारों मामले हुए हैं। परंतु जैसा कि स्पष्ट है, बिल्कुल सही अंदाजा लगाना कभी संभव नहीं होगा। (डिबेट्स, 16 जनवरी, 1922)

की निंदा करती है, वहां वह यह भी बताना चाहती है कि उसके पास जो साक्ष्य हैं, उनके मुताबिक मोपलाओं को सहनशक्ति की सीमा के बाहर उत्तेजित किया गया था और इस बारे में सरकार ने जो रिपोर्ट पेश की है, वह इकतरफा है; और उसमें मोपलाओ द्वारा की गई गलतियों को बहुत बढ़ा–चढ़ा कर बताया गया है और फिर शांति और व्यवस्था कायम करने के नाम पर सरकार ने जनधन का जो अनावश्यक विनाश किया, उसके बारे में बहुत कम बताया गया है।

वर्किंग कमेटी को यह देखकर दुःख होता है कि मोपला लोगों में से कुछ धर्मांध व्यक्यिों द्वारा जबरन धर्म–परिवर्तन के कुछ मामले हुए हैं, किंतु वह जनता को चेतावनी देना चाहती है कि वह इस बारे में सरकार प्रेरित तथ्यों और उकसानेवाले वक्तव्यों पर न जाए। कमेटी के सामने जो रिपोर्ट है, उसमें कहा गया है:–

"जिन परिवारों को जबरन इस्लाम में परिवर्तित करने की रिपोर्ट है, वे मंजेरी के पड़ोस में रहते थे। यह स्पष्ट है कि हिंदुओं का जबरन धर्मपरिवर्तन एक धर्मांध गुट द्वारा कराया गया था, जो हमेशा से खिलाफत और असहयोग आंदोलन का विरोध रहा है, और जहां तक हमें सूचना है, ऐसे केवल तीन मामले हुए हैं।"

मुसलमानों के अत्याचारों के ऐसे मामलों के बारे में जहां श्री गांधी ने चुप्पी साध ली थी उनकी चर्चा स्वामी श्रद्धानंद ने अपने साप्ताहिक पत्र 'लिबरेटर' में की। 30 सितम्बर, 1926 के अंक में स्वामी जी ने कहा:

"जहां तक अस्पृश्यता को मिटाने की बात है, यह कई बार अधिकृत रूप से बताया जा चुका है कि हिंदुओं का कर्तव्य है कि वे अपने पिछले पापों का प्रायश्चित करें और गैर–हिंदुओं को इससे कुछ लेना–देना नहीं होना चाहिए। परंतु मुस्लिम और ईसाई कांग्रेसियों ने वेकोम और कई अन्य स्थानों में इस बारे में श्री गांधी के आदेश का खुला उल्लंघन किया है। श्री याकूब हसन जैसे निष्पक्ष नेताओं ने भी मद्रास की एक सभा की, जो मुझे मानपत्र देने के लिए बुलाई थी, अध्यक्षता करते हुए खुले आम मुसलमानों का आवाह्न करते हुए कहा कि उन्हें सारे अछूतों का धर्म–परिवर्तन करके इस्लाम में शामिल कर लेना चाहिए।"

परंतु श्री गांधी ने ईसाइयों या मुसलमानों की इस बात के विरोधस्वरूप एक शब्द भी नहीं कहा।

स्वामी जी ने जुलाई 1926 के अंक में लिखा है:

> "एक और महत्वपूर्ण तथ्य की ओर मैं महात्मा गांधी का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। एक रात हम दोनों इकट्ठे नागपुर की खिलाफत कांफ्रेंस में गए। उस मौके पर मौलानाओं ने कुरान की आयतें पढ़ीं, जिनमें बार–बार जिहाद और काफिरों को मारने का आदेश था। परंतु जब मैंने उनका ध्यान खिलाफत आंदोलन के इस पहलू की ओर दिलाया तो महात्मा जी मुस्कराए और कहने लगे कि वे ब्रिटिश नौकरशाही की ओर इंगित कर रहे हैं। उत्तर में मैंने कहा कि यह सब तो अहिंसा के विचार का विनाश करने जैसा है, और जब मुस्लिम मौलानाओं के मन में उल्टी भावनाएं आ गई हैं, तो उन्हें इन आयतों का इस्तेमाल हिंदुओं के विरूद्ध करने से कोई रोक नहीं सकेगा।"

स्वामी जी का तीसरा उदाहरण मोपलाओं के दंगों के बारे में है। 'लिबरेटर' के 26 अगस्त, 1926 के अंक में स्वामी जी ने लिखा है:

> "जब विषय समिति में हिंदुओ पर मोपलाओं के अत्याचारों की निंदा करने का प्रश्न आया, तब पहली बार चेतावनी दी गई थी। मूल प्रस्ताव में हिंदुओं की हत्याओं, हिंदू घरों को जलाने और हिंदुओं का जबर्दस्ती धर्म–परिवर्तन करने के लिए सारे मोपला लोगों की निंदा की गई थी। हिंदू सदस्यों ने स्वयं ही इसमें इतने संशोधन प्रस्तुत किए कि अंततः इन अपराधों के लिए कुछ थोड़े से व्यक्तियों की ही निंदा की गई। परंतु कुछ मुस्लिम नेताओं से इतना भी सहन नहीं हुआ। मौलाना फकीर और कुछ अन्य मौलानाओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और इससे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ। पर मुझे तो आश्चर्य तब हुआ जब मौलाना हसरत मोहानी जैसे पूरे राष्ट्रवादी ने भी इस आधार पर प्रस्ताव का विरोध किया कि मोपला इलाका अब 'दारुन अमन' नहीं रहा, बल्कि 'दारुन हरब' बन चुका है; और उन्हें हिंदुओं पर इस बात का शक था कि वे मोपलों के अंग्रेज दुश्मनों से मिले हुए हैं। इसलिए मोपलों ने यह ठीक ही किया कि हिंदुओं के सामने कुरान या तलवार का विकल्प रखा। इसलिए यदि हिंदू अपने आप को मौत से बचाने के लिए मुसलमान बन गए तो इसे स्वेच्छा से धर्म–परिवर्तन कहा जाएगा न कि जबरन धर्म–परिवर्तन। और इतना सरल प्रस्ताव, जिसमें केवल कुछ मोपलाओं की निंदा की गई थी, भी सर्वसम्मति से पास नही हो सका, बल्कि बहुमत से पास हुआ। और भी ऐसे कई संकेत

> थे, जिनसे पता चलता था कि मुस्लिम यह समझते हैं कि कांग्रेस उनके द्वारा उठाए गए कष्टों के सहारे चल रही है और यदि उनके सनकीपन की जरा सी भी अवहेलना की गई, तो यह बनावटी एकता टुकड़े–टुकड़े होकर बिखर जाएगी।"

अंतिम बात श्री गांधी द्वारा शुरू की गई विदेशी कपड़ों की होली जलाए जाने के बारे में हैं। 31 अगस्त, 1926 के 'लिबरेटर' में स्वामी जी लिखते हैं:

> "जब लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विदेशी कपड़ों की होली जलाना तमाम हिंदुस्तानियों का धार्मिक कर्तव्य है और सर्वश्री दास, नेहरू और अन्य बहुत से चोटी के नेताओं ने हजारों रूपए के विदेशी वस्त्र जला दिए, वहीं खिलाफतवादी मुसलमानों ने महात्मा जी से इस बात की विशेष अनुमति प्राप्त कर ली कि वे सारा विदेशी कपड़ा अपने तुर्की भाइयों के उपयोग के लिए भेज सकें। यह भी मेरे लिए बहुत बड़ा झटका था। जब सिद्धांत का प्रश्न आया तो महात्मा जी अड़ गए और उन्होंने हिंदुओं की भावनाओं की रत्ती भर परवाह नहीं की; परंतु जब कभी मुसलमानों ने अपना कर्तव्य निभाने में कोताही की, तो उनके लिए महात्मा जी के दिल में सदा एक कोमल जगह बनी रही।"

हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने वाले प्रयासों के इतिहास की दो घटनाओं का उल्लेख करना जरूरी है। एक उस उपवास या अनशन के बारे में है जो श्री गांधी ने 1924 में किया था। यह अनशन 21 दिन का था। अनशन शुरू करने से पहले श्री गांधी ने एक वक्तव्य जारी करके अनशन के कारणों के बारे में बताया। उसमें से कुछ उद्धरण नीचे दिए गए हैं:

> "यह तथ्य कि जो हिंदू और मुसलमान दो वर्ष पहले तक मित्रों की तरह काम कर रहे थे और अब कुछ जगहों पर कुत्तों और बिल्लियों की तरह लड़ रहे हैं, यह दर्शाता है कि जो असहयोग उन्होंने किया था, वह वास्तव में अहिंसक नहीं था। मैंने बंबई, चौरा–चौरी और कुछेक अन्य छोटे–मोटे मामलों में इसके लक्षण देखे। मैंने इसके लिए पश्चाताप् भी किया। इसका मामूली प्रभाव पड़ा। परंतु इस हिंदू–मुस्लिम तनाव के बारे में तो मैं सोच भी नहीं सकता था। कोहांट की दुखभरी त्रासदी सुनकर तो यह कतई असहनीय लगा। साबरमती से दिल्ली जाते समय सरोजिनी नायडू ने मुझे लिखा कि शांति के बारे में महज भाषणों और प्रवचनों से कुछ नहीं होनेवाला। मुझे इसके लिए कोई प्रभावकारी उपाय खोजना चाहिए। उन्होंने यह जिम्मेदारी मुझे सौंपकर ठीक ही किया। क्या मैं लोगों की विशाल शक्ति जागृत करने का

साधन नहीं बना? अब यदि यह शक्ति आत्मविनाश का कारण बन रही है, तो उसका उपचार भी मुझे ही ढूंढना होगा।

"अमेठी, संभल ओर गुलबर्गा की घटनाओं ने मुझे बुरी तरह झकझोर दिया है। मैंने अमेठी और संभल के बारे में हिंदू और मुसलमान दोस्तों द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट पढ़ी। मुझे गुलबर्गा जाने वाली हिंदू और मुसलमान दोस्तों द्वारा तैयार संयुक्त रिपोर्ट के बारे में भी पता चला। मैं गहरी पीड़ा से छटपटा रहा था और मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। कोहाट की रिपोर्ट ने तो मानों सुलगती सामग्री को भड़का दिया। कुछ न कुछ तो करना ही था। मैंने दो रातें बड़ी बेचैनी और पीड़ा में बिताई थीं। बुधवार को मुझे उपाय सूझ गया। मुझे पश्चाताप करना चाहिए।

"जो हिंदू और मुसलमान यह कहते हैं कि वे मुझसे प्यार करते हैं, यह उन दोनों के लिए एक चेतावनी है। यदि उन्होंने मुझे सच्चा प्यार किया है और मैं उनके प्यार का अधिकारी हूं, तो वे भी मेरे साथ इस घोर पाप के लिए प्रायश्चित करेंगे कि उन्होंने अपने दिलों में भगवान की उपस्थिति से इंकार कर दिया था।

"हिंदुओं और मुसलमानों का प्रायश्चित उपवास करना नहीं है, बल्कि अपने कदम से पीछे हटाना है। हरेक मुसलमान के लिए सच्चा प्रायश्चित यह होगा कि वह अपने हिंदू भाई के प्रति अपने दिल में कोई दुर्भावना न रखे। इसी तरह एक हिंदू के लिए भी सच्चा प्रायश्चित यही होगा कि वह अपने मुसलमान भाई के प्रति कोई दुर्भावना न रखे।

"मैंने मित्रों से परामर्श नहीं किया है – हकीम साहब से भी नहीं, जो बुधवार को काफी देर मेरे साथ रहे थे – न ही मौलाना मुहम्मद अली से, जिनकी मेहमाननवाज़ी का मैं लाभ उठा रहा हूं।

"परन्तु क्या मेरे लिए यह ठीक था कि मैं एक मुसलमान के घर में रहकर अनशन करूं (श्री गांधी उन दिनों दिल्ली में मौलाना मुहम्मद अली के मेहमान थे।) हां, यह ठीक था। मेरा अनशन किसी भी व्यक्ति के लिए दुर्भावना लिए हुए नहीं है। एक मुसलमान के घर रहने से यह निश्चित हो जाएगा कि उसका कोई ऐसा अर्थ नहीं निकाला जाये। यह उचित ही होगा कि यह एक मुसलमान के घर में शुरू भी किया जाए और खत्म भी।

"और यह मुहम्मद अली कौन हैं? अभी अनशन से दो दिन पहले

ही मैंने उनसे एक निजी बात के बारे में विचार–विमर्श किया था। उस समय मैंने उनसे कहा था कि जो कुछ मेरा है, वह आपका है और जो कुछ आपका है, वह मेरा हैं और मैं सब लोगों को बड़ी विनम्रतापूर्वक यह बता देना चाहता हूं कि मुहम्मद अली के घर की अपेक्षा और कहीं भी मेरा इतना अधिक सत्कार नहीं हुआ। मेरी हर इच्छा का अनुमान पहले से ही लगा लिया जाता है और उनके घर के सभी लोगों की यही इच्छा रहती है कि उनके यहां मेरा निवास बहुत सुखद और आरामदेह रहे। डॉ. अंसारी और डॉ. अब्दुर्रहमान दोनों मेरे डॉक्टरी सलाहकार बन गए हैं। वे प्रतिदिन मेरी जांच करते हैं। मैंने अपने जीवन में कई सुखद अवसर बिताए हैं। यह अवसर भी पिछले अवसरों से किसी तरह कम नहीं। रोटी ही सब कुछ नहीं होती। यहां मुझे सर्वोत्तम प्यार मिल रहा है। मेरे लिए यह रोटी से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

"ऐसी कानाफूसी सुनाई दे रही है कि क्योंकि मैं इतना अधिक मुसलमान दोस्तों के साथ रहता हूं, इसलिए मैं इस लायक नहीं रहा कि हिंदुओं के विचारों को समझ सकूं। हिंदुओं के विचार तो मेरे अपने विचार हैं। यह निश्चित है कि हिंदुओं के विचार जानने के लिए मेरा हिंदुओं के बीच रहना जरूरी नहीं है, क्योंकि मेरा रोम–रोम हिंदू है। यदि मेरा हिंदुत्व अत्यंत विपरीत प्रभावों के बीच बच या पनप नहीं सकता, तो वह अत्यंत घटिया चीज होगी। मैं तो अंतःप्रेरणा से ही समझ सकता हूं कि हिंदूपन के लिए क्या आवश्यक है। परंतु मुसलमानों के विचार समझने के लिए मुझे परिश्रम करना पड़ेगा। मैं सर्वोत्तम मुसलमानों के जितना अधिक निकट जाता हूं, उतना ही मुसलमानों और उनके कामों के बारे में मेरे विचार अच्छे होते जाते हैं। मैं दोनों समुदायों के बीच सर्वोत्तम सीमेंट बनने की चेष्टा कर रहा हूं। मेरी इच्छा दोनों को जोड़ने की है, भले ही उसके लिए आवश्यकता पड़ने पर मुझे अपना रक्त क्यों न बहाना पड़े। परंतु ऐसा करने से पहले मुझे मुसलमानों को इसका निश्चित प्रमाण देना पड़ेगा कि मैं मुसलमानों को भी प्यार करता हूं और हिंदुओं को भी करता हूं। मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि सबसे समान रूप से प्यार करो। भगवान मुझे ऐसा करने में सहायता दे। अन्य बातों के साथ–साथ मेरा अनशन मुझे इस योग्य बनाएगा कि मैं सबसे निःस्वार्थ और समान रूप से प्यार कर सकूं।"

इस अनशन से एकता–सम्मेलन पैदा हुए। परंतु एकता–सम्मेलनों से बढ़िया

शब्दावली वाले संकल्पों के सिवाय और कुछ पैदा नहीं हुआ जो इनकी घोषणा होने के साथ ही तोड़ दिए जाते थे।

श्री गांधी ने हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए जो भूमिका अदा की, यह उसका संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण है और इसके निष्कर्ष के रूप में सांप्रदायिक समझौते के समय हुई वार्ताओं में श्री गांधी के दृष्टिकोण का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों को एक कोरा चेक देने का प्रस्ताव किया। इस कोरे चेक की बात से मुसलमान और चिढ़ गए और उन्होंने इसे टरकाने का प्रयास बताया। गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने पृथक निर्वाचक–मंडलों का विरोध किया। जब कम्यूनल एवार्ड के अंतर्गत मुस्लिमों को ये अधिकार दे दिए गए तो श्री गांधी और कांग्रेस ने उस पर अपनी स्वीकृति नहीं दी। परंतु जब इस पर वोट लेने का सवाल आया, तो उन्होंने एक विचित्र दृष्टिकोण अपना लिया – न तो इसे स्वीकार किया और न ही इसका विरोध किया।

श्री गांधी के हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने के प्रयासों का यही इतिहास है। इन प्रयासों का क्या फल निकला? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस बात की जांच करनी चाहिए कि 1920–40 के बीच दोनों समुदायों के आपसी संबंध कैसे रहे, क्योंकि इन वर्षों के दौरान श्री गांधी ने हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए कड़ी मेहनत की थी। इन सबका शानदार वर्णन हिंदुस्तानी मामलों के बारे में दी गई वार्षिक रिपोर्टों से मिलता है, जो पुराने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के अंतर्गत हिंदुस्तान की सरकार ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रतिवर्ष प्रस्तुत करती थी। नीचे मैंने जो तथ्य दिए हैं, वे इन्हीं रिपोर्टों से लिए गए हैं।*

1920 से शुरू इन रिपोर्टों के अनुसार उस वर्ष मलाबार में होने वाले मोपला विद्रोह दो मुस्लिम संगठनों खुद्दम–ए–काबा और सेंट्रल खिलाफत कमेटी के आंदोलनों के कारण शुरू हुए। दरअसल आंदोलनकारियों ने इस सिद्धांत का प्रचार किया कि ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत हिंदुस्तान दारूल हरब था और मुसलमानों को इसके विरूद्ध अवश्य लड़ाई लड़ाई चाहिए और यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो उनके सामक्ष एकमात्र विकल्प 'हजरत' का सिद्धांत रह जाता है। मोपला लोग इस आंदोलन से अचानक मानों आभूत हो गए। यह मूल रूप से ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध एक विद्रोह था। इसका उद्देश्य था ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता उलटकर उसकी जगह इस्लामिक साम्राज्य की स्थापना करना। छुप–छुप कर चाकू, छुरे और भाले बनाए गए और ब्रिटिश सत्ता पर हमला करने के लिए दुस्साहसी लोगों के दल बनाए गए। 20 अगस्त को पीरूनांगडी में मोपलों और ब्रिटिश सैनिकों में भयंकर झड़पें हुईं। रास्तों में रुकावटें पैदा की गईं। तार की लाइनें काट दी गईं और कई जगह रेलें नष्ट कर दी गईं। जैसे ही प्रशासन अस्त–व्यस्त हुआ,

* '1920 में भारत सीरीज' के नाम से जानी जाती है, और इसी प्रकार आगे की सीरीज़।

मोपलों ने घोषणा कर दी कि स्वराज स्थापित हो गया है। अली मुदालियार नामक एक व्यक्ति के राजा बनने की घोषणा कर दी गई, खिलाफत के झंडे फहराए गए और इरनाडु तथा वालुराना खिलाफत सल्तनतें घोषित कर दी गईं। ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध यह विद्रोह ठीक से समझ में आता है। परंतु जिस बात से लोग चकरा गए थे, वह था मोपलों का मलाबार के हिंदुओं के साथ व्यवहार। हिंदुओं को मोपलों के हाथों भंयकर विपत्ति का सामना करना पड़ा। कत्लेआम, जबरन धर्म–परिवर्तन, मंदिरों का भ्रष्ट किया जाना, स्त्रियों पर भीषण अत्याचार, जैसे गर्भवती महिलाओं का पेट चीर देना, लूटमार, आगजनी और तबाही। संक्षेप में, वहां बर्बरता का बेलगाम नंगा नाच हुआ और मोपलों ने हिंदुओं पर तब तक बेइंतहा जुल्म ढाए, तब तक कि सेना उस दुर्गम इलाके में शीघ्रातिशीघ्र शांति स्थापित करने नहीं पहुंची। यह महज एक हिंदू–मुस्लिम दंगा नहीं था। यह तो बार्थोलोमेव (दैत्य) था। अनगिनत हिंदू मारे गए, जख्मी हुए और उनका धर्म–परिवर्तन हुआ। हिंदुओं की संख्या का पता ही नहीं। परंतु यह संख्या बहुत अधिक है।

1921–22 में सांप्रदायिक विद्वेष शांत नहीं हुआ। मुहर्रम के मौके पर पंजाब और बंगाल दोनों प्रांतों में भारी दंगे हुए। पंजाब में, विशेषकर मुलतान में, तो भीषण दंगे हुए जहां मृतकों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी, वहां संपत्ति को भारी नुकसान पहुंचाया गया।

यद्यपि वर्ष 1922–23 अपेक्षाकृत शांत रहा, परंतु समूचे 1923–24 के वर्ष में तनाव बना रहा। परंतु किसी भी अन्य इलाके में इस तनाव के इतने दुखद परिणाम नहीं हुए जितने कि कोहाट शहर में देखे गए। इन दंगों का तात्कालिक कारण था इस्लाम–विरोधी कविता के एक पेंफलेट का प्रकाशन और वितरण। 9 और 10 सितंबर, 1924 को वहां भीषण दंगे हुए, जिनमें कुल 155 व्यक्ति मारे गए और अनेक जख्मी हुए। लगभग 9 लाख रुपए की संपत्ति नष्ट की गई और भारी मात्रा में माल–असबाब लूटा गया। वहां आतंक का इतना भीषण साम्राज्य था कि सारे हिंदू कोहाट शहर छोड़कर भाग गए। दीर्घ काल तक वार्ता चलने के बाद दोनों समुदायों के बीच शांति–स्थापना के लिए तब एक समझौता हुआ जब सरकार ने आश्वासन दिया कि कुछेक अपवादों के अलावा दंगों में शामिल व्यक्तियों के विरूद्ध मामले वापस लिए जाएंगे। पीड़ितों को अपना व्यवसाय फिर शुरू करने के लिए तथा फिर से अपने मकान बनवाने के लिए कई मामलों में सरकार ने 5 लाख रुपए तक ब्याज मुक्त अग्रिम धन दिया। परंतु इस समझौते के होने और पलायनकर्ताओं के वापस कोहाट लौट आने के बावजूद 1924–25 में शांति स्थापित नहीं हुई और देश के विभिन्न भागों में हिंदू–मुसलमानों के बीच शोचनीय सीमा तक तनाव बढ़ गया। गर्मियों में बहुत ही गंभीर सांप्रदायिक दंगे हुए। जुलाई में दिल्ली में हिंदू–मुसलमानों के बीच जोरदार झड़पें हुईं, जिनमें

जानमाल की गंभीर क्षति हुई। उसी महीने में नागपुर में भी बहुत भयंकर दंगे हुए। अगस्त का महीना तो और भी खराब था। ब्रिटिश भारत में लाहौर, लखनऊ, मुरादाबाद, भागलपुर और नागपुर में दंगे हुए, और निजाम की रियासत में गुलबर्गा में गंभीर दंगे हुए। सितंबर–अक्तूबर में लखनऊ, शाहजहांपुर, काकिनाडा, और इलाहाबाद में गंभीर फसाद हुए। वर्ष का सबसे भयंकर दंगा कोहाट में हुआ, जिसमें हत्याएं, आगजनी और लूट सब कुछ शामिल था।

1925–26 में हिंदू–मुस्लिम वैमनस्य व्यापक रूप से फैल गया। इस वर्ष के हिंदू–मुस्लिम दंगों की विशेष बात यह थी कि ये व्यापक रूप से हुए और बार–बार हुए, कई बार तो छोटे–छोटे गांवों में भी हुए। कलकत्ता, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, और बंबई प्रेसिडेंसी सभी जगह दंगे हुए और दुख की बात है कि कई जगह लोग मारे भी गए। अगस्त में छोटे–छोटे और स्थानीय हिंदू त्यौहारों के अवसर पर कलकत्ता में, बरार में, गुजरात में, बंबई प्रेसीडेंसी में और संयुक्त प्रांत में दंगे हुए। इनमें से कई स्थानों पर दोनों समुदायों में झगड़े हुए, पर बाकी जगह विशेषकर काकिनाडा में, जो कलकत्ता की घनी आबादी वाला पटसन–मिलों का इलाका है, वहां पुलिस हस्तक्षेप से गंभीर दंगा नहीं हो सका। गुजरात में इन दिनों हिंदू–मुस्लिम भावनाएं बहुत भड़की हुई थीं और कम से कम एक मामले में एक मंदिर को भ्रष्ट किया गया। सितंबर के अंत में हिंदुओं के महत्वपूर्ण त्यौहार रामलीला के अवसर पर कई जगह गंभीर चिंता व्याप्त हो गई। संयुक्त प्रांत के एक महत्वपूर्ण स्थान अलीगढ़ में तो इस त्यौहार के अवसर पर वर्ष का सबसे गंभीर दंगा हुआ। इन दंगों ने इतना खतरनाक रूप धारण कर लिया कि शांति स्थापित करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी। पुलिस की गोली और दंगाइयों द्वारा पांच आदमी मारे गए। लखनऊ में इसी त्यौहार के मौके पर एक बार तो विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई थी, परंतु स्थानीय अधिकारियों ने दंगा होने से रोक दिया। अक्तूबर में बंबई में शोलापुर में गंभीर दंगा हुआ। वहां स्थानीय हिंदू एक कार में हिंदू मूर्तियों को शहर की सड़कों से ले जा रहे थे। जब वे एक मस्जिद के निकट पहुंचे, तो वहां हिंदू–मुसलमानों में विवाद हो गया, जो बाद में दंगों में बदल गया।

अप्रैल के शुरू में कलकत्ता में एक निंदनीय दंगा उस समय हुआ जब एक मस्जिद के बाहर मुस्लिमों और आर्यसमाजियों में ग्रर्मा–गर्मी हो गई, जो फैलती गई और 5 अप्रैल को तो एक अवसर ऐसा आया जब पुलिस या फौज को उस भीड़ का सामना करना पड़ा जो प्रतिरोध के लिए उतारू थी और तब उसे शाम के समय गोली चलानी पड़ी। आगजनी की भी घटनाएं हुईं, और आगजनी के पहले तीन दिनों में ही फायर ब्रिगेड को 110 स्थानों पर आग बुझानी पड़ी। इन दंगों की एक अभूतपूर्व बात यह थी कि मुस्लिमों ने मंदिरों पर हमले किए

और हिंदुओं ने मस्जिदों पर। सम्भवतः इससे कटुता बहुत ज्यादा बढ़ गई। कुल 44 लोग मारे गए और 584 जख्मी हुए। काफी कुछ लूट–मार भी हुई, जिसे व्यापार बंद कर देना पड़ा, जिसमें कलकत्ता को काफी आर्थिक हानि हुई। 5 अप्रैल के बाद दुकानें फिर से खुलनी शुरू हुईं, परंतु तनाव बना रहा। 14 अप्रैल को ईद थी। सिखों को 13 तारीख को एक जुलूस निकालना था, पर सरकार उसके लिए आवश्यक लाइसेंस नहीं दे सकी। सौभाग्यवश 13 और 14 अप्रैल के बारे में आशंकाएं ठीक साबित नहीं हुई, और 22 अप्रैल तक बाहरी तौर पर शांति बनी रही, जबकि एक गली में होने वाले मामूली से झगड़े के कारण यह भंग हो गई और दंगे पुनः भड़क उठे। छह दिनों तक दोनों समुदायों के गुटों में मामूली झड़पें और इक्के–दुक्के कत्ल और हमले होते रहे। इन दिनों मंदिरों या मस्जिदों पर कोई हमले नही हुए और कोई आगजनी या लूटपाट की घटना भी नहीं हुई। परंतु ऐसे कई मौके आए जब पुलिस के आ जाने के बाद भी उपद्रवी भीड़ तुरंत नही भागी और पुलिस को बारह बार गोली चलाना जरूरी हो गया। उपद्रवों के इस दूसरे दौर में 66 लोग मारे गए और 391 घायल हुए। पहले दंगों मे व्यापार कहीं ज्यादा अस्त–व्यस्त हो गया था और मारवाड़ी व्यापारी घरानों के बंद हो जाने का प्रभाव यूरोपीय व्यापारिक फर्मों पर भी पड़ा। डर के कारण कई बाजार पूरी तरह या आंशिक रूप से बंद हो गए थे और दो दिनों तक मांस की सप्लाई बंद सी हो गई। डर इतना ज्यादा था कि उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में कूड़ा हटाना तक बंद हो गया। तथापि इस बात की व्यवस्था की गई कि सप्लाई न रूके और म्यूनिसिपैलिटी ने जैसे ही पुलिस–संरक्षण की मांग की, म्युनिसिपैलिटी के सफाई–कर्मचारियों की कठिनाई भी दूर कर दी गई। यद्यपि उपद्रवों का क्षेत्र थोड़ा–सा बढ़ गया, परंतु कलकत्ता के आसपास के मिल क्षेत्रों में कोई दंगे नहीं हुए। उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों के हिस्सों में सुनियोजित ढंग से की गई पुलिस–कार्रवाई, गुंडो की गिरफ्तारी, हथियारों के पकड़े जाने और ब्रिटिश सिपाहियों को तैनात करके पुलिस कुमुक बढ़ाने का वांछित प्रभाव पड़ा और अप्रैल के आखिरी तीन दिनों में इक्के–दुक्के हमलों और हत्याओं के बावजूद स्थिति बराबर सुधरती गई। छिटपुट क़त्ल दोनों समुदायों के गुंडों के कारण हुए और पहली तथा दूसरी बार के दोनों दंगों में उनके कारनामों के कारण लोग यह जानने लगे कि ये गुंडे किराए के कातिल हैं। उन दंगों में एक और खास बात, जो बराबर देखने में आई, यह थी कि दोनों पक्षों द्वारा उत्तेजना फैलाने वाली मुद्रित सामग्री का वितरण और उसी के साथ किराए के गुंडों का उपयोग किया। इससे इस विश्वास को बल मिला कि दंगे कराने के लिए पैसा खर्च किया जाता है।

1926–27 के वर्ष में भी सांप्रदायिक दंगे बराबर होते रहे। अप्रैल 192? में

हर महीने दोनों समुदायों के समर्थकों में जोरदार झगड़े होते रहे और कानूनी भाषा के हिसाब से केवल दो ही महीने ऐसे गुजरे, जब वास्तविक दंगे नहीं हुए। जिन परिस्थितियों में ये दंगे और झगड़े हुए, उनकी जांच कराने से पता चलता हैं कि वे या तो कुछ व्यक्तियों के बीच होनेवाले छोटे–मोटे विवादों के कारण शुरू हुए, उदाहरण के लिए जैसे एक हिंदू दुकानदार और मुस्लिम ग्राहक के बीच गर्मागर्मी, या फिर इस अशांति का कारण होता था किसी धार्मिक त्यौहार का मनाया जाना या इबादत के किसी मुस्लिम स्थानों के पास–पड़ोस में हिंदू जुलूसवालों द्वारा बैंड आदि बजाना। एक या दो दंगे तो केवल इसी कारण शुरू हो गए कि लोगों में तनाव और उत्तेजना बनी हुई थी। इसका सबसे उल्लेखनीय उदाहरण था दिल्ली में 24 जून को हुआ झगड़ा। वह इस कारण शुरू हुआ कि एक भीड़–भाड़ वाले बाजार में एक खच्चर को कमरे में बंद कर दिया गया था। लोगों ने समझा कि दंगा शुरू हो गया है और दोनों पक्षों ने एक–दूसरे पर ईंटों और लाठियों से हमला करना शुरू कर दिया।

कलकत्ता में अप्रैल और मई 1926 में होने वाले दो दंगों सहित पहली अप्रैल 1927 को समाप्त होने वाले वर्ष में कुल 40 दंगे हुए, जिनमें 197 लोग मरे और जख्मी होने वालों की संख्या 1598 थी। वैसे तो ये घटनाएं व्यापक रूप से हुई, परंतु बंगाल, पंजाब और संयुक्त प्रांत में इनका गंभीर प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक हानि बंगाल को उठानी पड़ी, परंतु बंबई प्रेसिडेंसी और सिंध में भी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच काफी तनाव बना रहा। सारी गर्मियों कलकत्ता में आशंका बनी रही। पहली जून को एक मामूली–सी बात को लेकर दंगा भड़क उठा, जिसमें 40 लोग जख्मी हो गए। इसके बाद 15 जुलाई तक, जिस दिन हिंदुओं का एक महत्वपूर्ण त्यौहार था, हिंसा की कोई खुली घटना नहीं हुई। त्यौहार के समय जो जुलूस निकाला गया, उसमें कुछ मस्जिदों के पास बैंड बजाने के कारण दंगे भड़क उठे, जिनमें 14 आदमी मारे गए और 116 जख्मी हुए। अगले दिन मुसलमानो का महत्वपूर्ण त्यौहार मुहर्रम था। उस दिन भी दंगे भड़क उठे। कुछ शांति के बाद 19,20,21 और 22 तारीख को फिर दंगे हुए। छुरेबाजी की इक्की–दुक्की घटनाएं 23,24 और 25 तारीख को भी हुईं। इस अवधि के दंगों में 28 आदमी मारे गए और 226 घायल हुए। इसके बाद कलकत्ता में 15 सितंबर और 16 अक्तूबर को भी दंगे हुए और 16 अक्तूबर को तो पड़ौस के हावड़ा शहर में भी दंगे हो गए, जिनमें एक या दो आदमी मारे गए और 30 से अधिक जख्मी हो गए। अप्रैल और मई के दंगों में आगज़नी के कारण दंगों की विभीषिका बहुत बढ़ गई थी, परंतु सौभाग्यवश जुलाई के दंगों में आगज़नी की घटनाएं नहीं के बराबर हुईं। उदाहरण के लिए, आग पर काबू पाने के लिए फायर ब्रिगेड को केवल चार बार बुलाना पड़ा।

1927–28 में निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं। अप्रैल के शुरू से सितंबर 1927 के अंत तक कम से कम 25 दंगे हुए। इनमें से दस संयुक्त प्रांत में, 6 बंबई प्रेसीडेंसी में और दो–दो पंजाब, मध्य प्रांत, बंगाल और बिहार व उड़ीसा में और एक दिल्ली में हुआ। इनमें से अधिकांश दंगे धार्मिक त्यौहार मनाते समय एक या दूसरे समुदाय ने शुरू किए, जब कि कुछ मस्जिदों के पास बाजा बजाते समय हुए या मुस्लिमों द्वारा गाय मारे जाने के कारण हुए। इन दंगों में लगभग 103 व्यक्ति मारे गए और 1084 घायल हुए।

परंतु 1927 का सबसे भयंकर दंगा लाहौर में 4 और 7 मई के बीच हुआ। उपद्रव होने से कुछ समय पहले से दोनों समुदायों में भारी तनाव बना हुआ था और यह दंगा तब भड़क उठा जब अकस्मात एक मुसलमान और दो सिखों में टकराव हो गया और फिर उपद्रव बिजली की तेजी से फैले, जिनमें मृतकों की संख्या 27 और घायलों की 272 थी। ये हमले मुख्यतः असंगठित ढंग से इक्के–दुक्के व्यक्तियों पर किए जाते थे। दंगों की जगह पर पुलिस और फौज को तेजी से भेजा गया, और इसलिए बड़े गुटों के बीच व्यापक पैमाने पर झड़प नहीं हो सकी। तथापि कत्ल और हमले की छिटपुट घटनाएं 2–3 दिन तक होती रहीं और उसके बाद ही लाहौर की सड़कें और गलियां इक्के–दुक्के व्यक्तियों के लिए अकेले आने–जाने के लिए सुरक्षित हो सकीं।

मई में लाहौर के दंगों के बाद लगभग दो महीनों तक कोई सांप्रदायिक दंगा नही हुआ, सिवाय जून के मध्य में बिहार व उड़ीसा में होनेवाली एक छोटी सी घटना के अतिरिक्त। परंतु जुलाई में 8 से न्यून दंगे नहीं हुए, जिनमें सबसे भीषण था पंजाब के मुलतान में, जो मुहर्रम के मौके पर हुआ। इस दंगे में 13 आदमी मारे गए और 24 घायल हुए। परंतु अगस्त में और भी भयंकर दगे हुए। इस महीने में नौ दंगे हुए, जिनमें से दो में जान माल का भारी नुकसान हुआ। बिहार व उड़ीसा के एक कस्बे बेतिया में एक धार्मिक जुलूस निकालने पर हुए दंगे में 11 आदमी मारे गए और 100 से अधिक जख्मी हुए, जबकि संयुक्त प्रांत के बरेली में मस्जिद के सामने से जुलूस निकालने के मौके पर हुए दंगे में 14 आदमी मारे गए और 165 जख्मी हुए। सौभाग्यवश, यह दंगा वर्ष के सांप्रदायिक दंगों के लिए एक मोड़ सिद्ध हुआ और सितंबर में केवल 4 दंगे हुए। तथापि इनमें से नागपुर में होनेवाला दंगा लाहौर के दंगों से गंभीरता और जान माल की क्षति के नाते से कुछ ही कम था। जिस चिंगारी से आग लगी, वह एक मुस्लिम जुलूस था, पर दंगों के लिए सामग्री काफी समय से तैयार हो रही थी। इन दंगों के परिणामस्वरूप 19 आदमी मारे गए और 123 घायलों को अस्पताल में भरती कराना पड़ा। इन दंगों के दौरान मुस्लिम समुदाय के कई लोग नागपुर से अपने घर छोड़कर चले गए। इस वर्ष के हिंदू–मुस्लिम संबंधों की एक खास

बात यह थी, और जो दंगों से कम गंभीर नहीं थी, कि एक समुदाय के लोगों ने दूसरे समुदाय के लोगों पर घातक हमले किए। इनमें से कई भीषण अत्याचार 'रंगीला रसूल' और रिसाला वर्तमान' में हजरत मुहम्मद को लेकर की गई अश्लील टिप्पणियों के कारण हुए, जिनके फलस्वरूप अनेक निर्दोष लोगों को अपनी जान गंवानी पड़ी और कई बार तो उन्हें बड़ी बर्बरता का शिकार होना पड़ा। लाहौर में इक्के–दुक्के हमलों के कारण 1927 की गर्मियों में बहुत उत्तेजना और असुरक्षा की भावना फैल गई।

'रंगीला रसूल'* के कारण उत्पन्न उत्तेजना अपने मूल केंद्र से बढ़कर दूर–दूर तक फैल गई थी और जुलाई तक उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत से इसके दुखद परिणाम आने लगे। इस क्षेत्र में इस विपत्ति के आरंभिक लक्षण जून के शुरू में दिखाई देने लगे थे, परंतु जुलाई के अंत तक तो यह उत्तेजना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। सीमा के इस पार के ब्रिटिश साम्राज्य वाले इलाके में तो स्थानीय अधिकारियों द्वारा कड़े और बुद्धिमत्तापूर्ण कदम उठाने से शांति भंग होने का गंभीर खतरा टल गया। पर ब्रिटिश सीमा में आने वाले जिलों, विशेषकर पेशावर में इस बात का खुल्लम–खुल्ला प्रचार किया गया कि हिंदुओं का आर्थिक बहिष्कार किया जाए। परंतु इस आंदोलन को कोई सफलता नहीं मिली और यद्यपि एक दो गांवों में हिंदुओं से दुर्व्यवहार किया गया, किंतु अपराधियों की धर–पकड़ और फौजदारी कानून के अंतर्गत कदम उठाने से शीघ्र ही व्यवस्था कायम हो गई। तथापि सीमा के उस पार, हज़रत मोहम्मद की आलोचना के अधिक गंभीर परिणाम निकले। सीमावर्ती इलाकें के ये कबायली मजहब के नाम पर की गई अपीलों से शीघ्र ही भावुक हो जाते हैं और जब एक प्रसिद्ध मुल्ला ने खैबर दर्रे के पास रहनेवाले अफगानियों और शिनवारियों में हिंदुओं के विरूद्ध प्रचार शुरू कर दिया, तो उसका बहुत असर हुआ। मुल्ला ने अफरीदियों और शिनवारियों से कहा कि जो हिंदू उनके बीच में रहते हैं, वे जब तक लिखित रूप से यह घोषणा न करें कि वे अपने धर्मावलंबियों द्वारा अन्यत्र किए गए कारनामों से अपने आप को अलग नहीं करते तब तक उनका बहिष्कार किया जाए। जिन लोगों ने 22 जुलाई को सबसे पहले अपने हिंदू पड़ौसियों को भगाया वे थे खैबर अफरीदियों के दो कबीले कुइखेल और लक्काखेल। वहां से यह उत्तेजना उनके शिन्वारी पड़ौसियों में फैली, जिन्होंने दो दिन में हिन्दुओं को वह जगह छोड़ देने का नोटिस दे दिया। तथापि कुछेक हिंदुओं के वहां से चले जाने के बाद शेष हिंदुओं की वहीं रहने देने के लिए वे तैयार हो गए। खैबर छोड़नेवाले हिंदुओं

---

* 'रंगीला रसूल' एक मुस्लिम द्वारा लिखित 'सीता का छिनाला' शीर्षक पैम्फलेट के जवाब में लिखा गया था। 'सीता का छिनाला' में रामायण के नायक राम की पत्नी सीता को एक वेश्या बताया गया था।

के साथ बुरा बर्ताव किया गया। दो मामलो में पत्थर फेंके गए, यद्यपि सौभाग्यवश उनसे कोई नुकसान नहीं हुआ। तीसरे मामले में एक हिंदू जख्मी हो गया और बहुत बड़ी मात्रा में संपत्ति लूट ली गई, परंतु अफरीदी खसदारों ने यह पूरी की पूरी संपत्ति बरामद कर ली और अपराधियों पर इसके लिए जुर्माना किया। इसके बाद कबायली इलाका छोड़कर जानेवाले हिंदुओं की सुरक्षा के लिए सड़कों पर पुलिस तैनात कर दी गई। बाद में पालिटिकल एजेंट के दबाव में एक अफरीदी जिरगे ने जुलाई के अंत में हिंदुओं का बहिष्कार करने के आह्वान को रिसाला 'वर्तमान' के मुकदमें का फैसला होने तक स्थगित कर दिया। परंतु अगले सप्ताह खैबर दर्रे के सिरे पर लंदी कोतल में रहनेवाले हिंदू परिवार कबायलियों के मुखियों के आश्वासनों पर भरोसा न करते हुए पेशावर की ओर चले गए। पर वे हर परिवार से एक–एक व्यक्ति को यहा छोड़ गए, जो उनकी जायदाद आदि हितों की रक्षा करता रहे। कुल मिलाकर अगस्त के मध्य तक, जब उपद्रवग्रस्त स्थिति निश्चित रूप से अपेक्षाकृत शांत होने लगी थी, लगभग चार सौ–साढ़े चार सौ हिंदू पुरूष, स्त्री और बच्चे पेशावर पहुंच चुके थे। कुछ हिंदुओं को निश्चित रूप से निकाल दिया गया। कुछ हिंदू धमकियों के कारण अपने घर छोड़ गए थे। कुछ लोग भयभीत होकर पलायन कर गए और कुछ अपने पड़ौसियों के साथ सहानुभूति में चले गये। कबायली इलाकों से निष्कासन और स्वेच्छा से पलायन अपने आप में असाधारण घटना थी। हिंदू वहां कई–कई पीढ़ियों से रहते आए थे और वहां वे आदर और सम्मानपूर्वक रहते थे और कबायली रीति–रिवाजों के अभिन्न अंग थे। उनकी रक्षा करने के लिए कबायली एक–दूसरे से होड़ करते थे। उनके कुल–बैरियों को कबायली अपना बैरी समझते थे। उत्तेजनावश लगभग 450 हिंदू कबायली इलाका छोड़ कर चले गए थे और 1927 के अंत तक उनमें से 330 हिंदू कबायली क्षेत्र में अपने घरों को वापस आ गए। अधिकांश लोगों ने, कम से कम फिलहाल, ब्रिटिश हिंदुस्तान के अधिक सुरक्षित इलाके में रहना पसंद किया।

1928–29 का वर्ष अपेक्षाकृत अधिक शांतिपूर्ण रहा। हिज एक्सेलेंसी लार्ड इर्विन ने केंद्रीय विधान सभा में और अन्यत्र भी अपने भाषणों में दोनों समुदायों के बीच विशेषकर राजनीतिक महत्व के उन प्रश्नों के बारे में समझौता कराने के लिए कोई आधार ढूंढने पर भारी बल दिया जो दोनों संप्रदायों के आपसी तनावपूर्ण संबंधों का कारण थे। सौभाग्यवश, 1929 में नियुक्त साइमन कमीशन ने जिन प्रश्नों की जांच की और उससे जो समस्याएं या मुद्दे सामने आए, उन पर विभिन्न समुदायों की शक्ति और ध्यान लग गया, जिसके परिणामस्वरूप झगड़ों के स्थानीय कारणों को अधिक महत्व न दिया जाकर वैधानिक नीति संबंधी मामलों को अधिक महत्व दिया गया। इसके अलावा, 1927 में भारतीय विधान सभा के

शरदकालीन अधिवेशन द्वारा दोनों संप्रदायों के बैर–भाव को उकसाने और सांप्रदायिक तनाव बढ़ाने के समाचारों के लिए समाचारपत्रों (प्रेस) को दंडित करने संबंधित कानून पास किए जाने से विभिन्न संप्रदायों के बीच स्थिति सुधारने में मदद मिली। 31 मार्च, 1929 को समाप्त होनेवाले वर्ष में 22 दंगे हुए। यद्यपि दंगों की यह संख्या अपेक्षाकृत कम थी, तथापि हताहतों की संख्या बहुत अधिक थी, जो वास्तव में बंबई के गंभीर दंगों के कारण बढ़ गई थीं। इनमें कम से कम 204 व्यक्ति मारे गए और लगभग 1200 घायल हुए। इनमें से बंबई में एक पखवाड़े तक चलने वाले दंगों में ही 149 व्यक्ति मारे गए थे और 739 जख्मी हुए थे। इन 22 दंगों में से 7 अर्थात् करीब एक तिहाई मई के अंत में मुसलमानों के वार्षिक त्यौहार बकरीद के मौके पर हुए थे। यह त्यौहार हिंदू–मुस्लिम संबंधों के लिए हमेशा खतरनाक सिद्ध होता है। मुसलमान जिस पशु की बलि देते हैं, और जिसे चुना जाता है, वह लगभग हमेशा ही गाय होती है। इसलिए दोनों समुदायों में मामूली–सा तनाव भी विस्फोटक बन जाता है। बकरीद के मौके पर होनेवाले दंगों में केवल दो ही भंयकर थे, और दोनों ही पंजाब में हुए। पहला अंबाला जिले के एक गांव में हुआ, जिसमें 10 व्यक्ति मारे गए और 9 जख्मी हुए। दूसरा दंगा दक्षिणी पंजाब के गुड़गांव जिले के सोफता गांव में हुआ। इसके सनसनीखेज़ होने के कारण इसको पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। सोफता गांव दिल्ली से 27 मील दक्षिन में है और इसमें लगभग सभी मुस्लिम रहते हैं। इस गांव के चारों ओर हिंदू काश्तकारों के गांव है और जब उन्होंने सुना कि सोफता गांव के मुसलमान ईद के दिन गाय की कुरबानी देना चाहते हैं, तो उन्होंने बलि के लिए चुनी गई गाय विशेष की बलि देने पर आपत्ति की कि उस गाय को हिंदू काश्तकारों के खेत में चराया जाता था। इस मामले पर विवाद ने खतरनाक रूप धारण कर लिया और इसीलिए जिले का पुलिस सुपरिटेंडेंट 25 जवानों की एक छोटी–सी टुकड़ी लेकर शांति–स्थापना के लिए वहां गया। उसने विवादित गाय अपने कब्जे में ले ली और उसे ताले में बंद कर दिया। परंतु उसकी उपस्थिति का भी हिंदू काश्तकारों के इकट्ठे होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और लगभग एक हजार व्यक्ति बरछे, भाले ओर लाठियों से लैस होकर सोफता गांव की ओर रवाना हो गए। पुलिस सुपरिंटेंडेंट और मालगुजारी महकमे के एक अफसर ने, जो गांव में मौजूद थे, भीड़ को आश्वासन दिया कि जिस गाय को लेकर विवाद खड़ा हुआ है, उसकी बलि नहीं दी जाएगी। परंतु भीड़ इससे संतुष्ट नहीं हुई और उन्होंने धमकी दी कि यदि किसी भी गाय की बलि दी गई तो वे सारे गांव को जला देंगे और उन्होनें यह भी मांग की कि यह गाय उन्हें सौंप दी जाए। पुलिस सुपरिटेंडेंट ने यह मांग मानने से इंकार कर दिया, जिससे भीड़ हिंसक हो उठी और उसने पुलिस पर पथराव शुरू कर दिया और गांव में प्रवेश करने की चेष्टा की। पुलिस सुपरिंटेंडेट ने भीड़ को

वहां से चले जाने की चेतावनी दी, पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसलिए और चेतावनी देने के लिए उसने अपने रिवाल्वर से एक गोली चला दी। इसके बावजूद भीड़ आगे बढ़ती गई और सुपरिंटेंडेंट ने अपनी पुलिस–पार्टी को गोली चलाने की आज्ञा दे दी। पहले पुलिस पार्टी ने केवल एक बार गोली की बौछार की, परंतु चूँकि इस पर भी भीड़ तितर–बितर नहीं हुई, इसलिए दो बार और गोलियों की बौछार की, इससे धीरे–धीरे भीड़ का खिसकना शुरू हो गया और जाते–जाते वह गांव के कुछ पशुओं को अपने साथ हांक ले गई।

एक तरफ जब पुलिस वहां व्यस्त थी, तो कुछ हिंदू काश्तकार दूसरी तरफ से सोफता गांव में घुस गए और गांव को जलाने की चेष्टा की। परंतु उन्हें पुलिस ने खदेड़ दिया। लेकिन वे तीन–चार आदमियों को जख्मी कर गए। कुल मिलाकर 14 व्यक्ति मारे गए और 33 जख्मी हुए। पंजाब सरकार ने इस मामले की जांच कराने के लिए एक जुडिशियल अफसर (न्यायिक अधिकारी) को नियुक्त किया। उसकी रिपोर्ट 6 जुलाई को प्रकाशित की गई और उसने भीड़ पर पुलिस द्वारा गोली चलाए जाने की कार्रवाई को उचित ठहराया और यह राय दी कि यह मानने का कोई कारण नहीं कि जरूरत से ज्यादा गोलियां चलाई गईं। भीड़ के द्वारा गैर–कानूनी तौर पर हमला करना बंद कर देने के बाद भी गोली चलाई जाती रही। रिपोर्ट में आगे कहा गया कि यदि पुलिस गोली न चलाती, तो उनकी अपनी जिंदगी तथा सोफता के लोगों की जान भी तत्काल खतरे में पड़ जाती। रिपोर्ट लिखने वाले अधिकारी ने अंत में लिखा कि यदि सोफता गांव में हमला और लूटमार करने दी जाती तो 24 घंटों के अंदर ही सोफता के आसपास के गांवों में भी निश्चित रूप से भयंकर सांप्रदायिक उपद्रव शुरू हो जाते।

खड़गपुर एक महत्पूर्ण रेलवे केंद्र है, जो कलकत्ता से बहुत दूर नहीं है। वहां भी दंगे हुए, जिनमें जान–माल का भारी नुकसान हुआ। खड़गपुर में दो बार दंगे हुए, एक बार जून के अंत में मुहर्रम के मौके पर और फिर 1 सितंबर, 1928 को गाय की हत्या के कारण। पहले दंगे में 15 आदमी मारे गए और 21 जख्मी हुए, जब कि दूसरे दंगे में 9 लोग मारे गए और 35 घायल हुए। परंतु इनमें से कोई भी दंगा अपनी विकरालता में बंबई के दंगों की तुलना नहीं कर सकता, जो शुरू होकर फरवरी के मध्य तक चले और जैसा कि हम देख चुके हैं, इनमें 149 व्यक्ति मारे गए और 700 से भी अधिक जख्मी हुए।

पिछले वर्षों में सांप्रदायिक दंगे सार्वजनिक जीवन का एक खुला और निंदनीय भाग बन गए थे, परंतु 1929–30 में इनकी पुनरावृत्ति अपेक्षाकृत बहुत कम हो गई थी। केवल 12 दंगे इतने महत्वपूर्ण लगे, जिनकी रिपोर्ट हिंदुस्तान की सरकार को की गई और इनमें भी केवल बंबई शहर के दंगे ही वास्तव में गंभीर थे।

23 अप्रैल के शुरू में होने वाले दो दंगे छिटपुट रूप में मई के मध्य तक चलते रहे, जिनमें 35 जाने गईं और लगभग 200 लोग घायल हुए। एक घटना, जिससे अप्रैल में पर्याप्त तनाव फैल गया, वह थी लाहौर के निवासी राजपाल की हत्या, जिसके पैफलेट 'रंगीला रसूल' में इस्लाम के पैगंबर मोहम्मद पर घृणित आरोप लगाए गए थे और जिसके कारण पिछले वर्षों में काफी तनाव बना रहा था और कई कानूनी तथा राजनीतिक जटिलताएं भी पैदा हो गई थीं। सौभाग्यवश, दोनों संप्रदायों ने हत्या के बाद तथा फिर अपराधी को फांसी दिए जाने पर तथा उसके दाह–संस्कार के समय, काफी संयम से काम लिया; और यद्यपि भावनाएं उभरी हुई थीं, परंतु कोई गंभीर दुर्घटना नहीं हुई।

सन् 1930–31 में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ। इससे देशभर में दंगे और उपद्रव शुरू हो गए। ये अधिकांशतः र जनीतिक थे तथा पुलिस और कांग्रेस के स्वयंसेवकों में होते थे। परंतु जैसा कि हिंदुस्तान में हमेशा होता है, इन राजनीतिक उपद्रवों ने सांप्रदायिक रंग ले लिया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि कांग्रेस ने वालंटियरों के सहारे सविनय अवज्ञा आंदोलन में शामिल होने के लिए मुसलमानो पर दबाव डालने का प्रयास किया और मुस्लिमों ने इस दबाव में आने से इंकार कर दिया। परिणाम यह निकला कि यद्यपि यह वर्ष शुरू तो राजनीतिक उपद्रवों से हुआ था, किंतु उस का अंत बहुत से सांप्रदायिक दंगों से हुआ, जिनमें से कई तो भयंकर थे। इनमें से सबसे भीषण दंगा सिंध में सक्कुर के आसपास 4 से 11 अगस्त के बीच हुआ, जिसने लगभग एक सौ से भी अधिक गांवों को अपनी चपेट में ले लिया। मेमनसिंह जिले (बंगाल) के किशोरगंज सबडिवीजन में भी 12–15 जुलाई तक होने वाला सांप्रदायिक दंगा व्यापक पैमाने पर हुआ था। इसके अतिरिक्त, 3 अगस्त को बलिया (संयुक्त प्रांत) में, 6 सितंबर को नागपुर में, और 6–7 सितंबर को बंबई में भी सांप्रदायिक दंगे हुए। 31 अक्तूबर को तिरूचेंदुर (मद्रास) में हिंदुओं और ईसाइयों में दंगा हुआ। 12 फरवरी को अमृतसर में एक हिंदू व्यापारी की हत्या करने का प्रयास किया गया, क्योंकि उसने पिकेटिंग करने वालों की बात नही मानी थी। एक दिन पहले ही ऐसी घटना बनारस में भी हुई थी, जिसके काफी भयंकर परिणाम निकले। इस मामले में शिकार एक मुस्लिम व्यापारी था और उस पर किया गया हमला जानलेवा था। चूँकि अधिकांश उत्तरी हिंदुस्तान में हिंदू–मुस्लिम संबंधों में तनाव व्याप्त था, इसलिए एक भीषण सांप्रदायिक उपद्रव शुरू हो गया, जो पांच दिन तक चलता रहा और जिसमें जान–माल की भारी क्षति हुई। इसी अवधि में 25 जनवरी को निलफामरी (बंगाल) और 31 जनवरी को रावलपिंडी में भी दंगे हुए। समूचे उत्तरी हिंदुस्तान में 1931 के पहले दो महीनें में पारस्परिक संबधों में उल्लेखनीय गिरावट आई और फरवरी में तो बनारस में पहले ही गंभीर दंगे हो चुके थे। ऐसी स्थिति बनने का मुख्य

कारण यह था कि कांग्रेस की गतिविधियों के कारण कारोबार लगभग चौपट हो गया था तथा देश में अस्थिरता और अशांति का वातावरण छाया हुआ था और इससे मुसलमान व्यापारियों का व्यापार चौपट होने से उनमें काफी उत्तेजना फैल गई थी। सरकार से कांग्रेस की वार्ता चलने के कारण कांग्रेस के बढ़ते मैहत्व से मुसलमानों में गंभीर आशंका घर कर गई, जिसके फलस्वरूप दोनों समुदायों में तनाव बढ़ने लगा। संयुक्त प्रांत में तो यह तनाव बहुत बढ़ गया। 14 और 16 मार्च के बीच मिर्जापुर जिले में गंभीर दंगे हुए और 17 मार्च को आगरा में दंगे शुरू होकर 20 मार्च तक चले। एक सांप्रदायिक दंगा धनबाद (बंगाल) में 28 मार्च को हुआ और अमृतसर जिले में 30 मार्च को। देश के अन्य कई भागों में भी दंगे हुए। दोनों समुदायों के सदस्यों के बीच संबंध अत्यधिक तनावपूर्ण हो गए।

आसाम के लखीमपुर जिले के डिगबोई में जो सांप्रदायिक दंगा हुआ, उसमें एक हिंदू और तीन मुस्लिम मारे गए। मुहर्रम के त्यौहार के दौरान बंगाल के आसनसोल डिवीज़न में दंगा हो गया। बिहार व उड़ीसा में विशेषकर सारन में, वर्ष–भर कुछ तनाव बना रहा। कुल मिलाकर वहां सांप्रदायिक दंगों और गैर–कानूनी ढंग से जमावड़े की 16 घटनाएं हुईं। बकरीद के मौके पर शाहबाद के भामुआ सब–डिवीज़न में झगड़ा हो गया। गाय की कुर्बानी की गलत सूचना मिलने के कारण लगभग 300 हिंदू इकट्ठे हो गए। स्थानीय अफसर उनको शांत करने में सफल हो गए, परंतु इतने में ही 200 मुसलमानों का एक जत्था लाठी, भालों, और तलवारों से लैस होकर वहां पहुंच गया और उसने हिंदुओं पर हमला कर दिया, जिससे बाद में एक हिंदू मर गया। पुलिस द्वारा तत्काल कार्रवाई करने और एक सुलह–कमेटी बना देने के कारण दंगा फैलने से रूक गया। मुहर्रम के मौके पर मुंगेर में दो छोटे–छोटे दंगे हुए, जिसमें एक बार हिंदुओं ने हमला किया और दूसरी बार मुसलमानों ने। मद्रास प्रेसीडेंसी में भी वर्ष–भर में कई सांप्रदायिक दंगे हुए और दोनों समुदायों के संबंध निश्चित रूप से तनावपूर्ण हो गए। वर्ष का सबसे गंभीर दंगा 8 जून को वेल्लौर में हुआ, जब ताजियों का जुलूस एक मंदिर के पास से गुजर रहा था। यह संघर्ष इतना अधिक हिंसक था कि शांति स्थापित करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी और अगले दो–तीन दिन तक भी झड़पें होती रहीं। सेलम कस्बे में हिंदू–मुस्लिम तनाव के कारण 13 जुलाई को इस बात को लेकर विवाद पैदा हो गया कि शिवापेट में आयोजित कुश्ती के एक बड़े हिंदू–मुस्लिम दंगल मुकाबले में कौन जीता था। अक्तूबर में एक और दंगा सेलम कस्बे के निकट किटिचिपलैयम में हुआ। झगड़ा उस समय शुरू हुआ जब एक गली में कुछ हिंदू युवकों के खेल में मुसलमानों ने गड़बड़ी पैदा करने की कोशिश की। 15 मार्च को कुरनूल जिले में पोलिकाल

गांव में हिंदुओं के एक जुलूस मार्ग को लेकर हिंदू–मुस्लिम उपद्रव हो गया, परंतु पुलिस की एक छोटी–सी टुकड़ी ने दंगाइयों को भगाने में सफलता पाई। पंजाब में उस वर्ष कुल 907 दंगे हुए, जबकि 1929 में 813 दंगे हुए थे। उनमें से बहुत से सांप्रदायिक ढंग के थे और प्रांत के कई भागों में हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच काफी तनाव बना रहा। यद्यपि संयुक्त प्रांत में 1930 के दौरान सांप्रदायिक तनाव उतना ज्यादा नहीं था जितना कि 1931 के पहले तीन महीनों में हो गया और यद्यपि सविनय अवज्ञा आंदोलन की गहमागहमी में इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, फिर भी तनाव की कई घटनाएं हुईं और परस्पर असहमति के कारण सदा की तरह बने रहे। देहरादून और बुलंदशहर में आम ढंग के दंगे होते रहें और बलिया शहर में हिंदुओं के एक जुलूस के रास्ते को लेकर काफी गंभीर दंगा हो गया तथा पुलिस को गोली चलानी पड़ी। मथुरा, आजमगढ़, मैनपुरी और कई अन्य स्थानों में भी दंगे हुए।

1931–32 की घटनाओं पर, गोलमेज सम्मेलन में संवैधानिक चर्चा की प्रगति को लेकर निश्चित रूप से प्रतिक्रिया हुई और उससे मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों में कुछ घबराहट फैल गई कि बहुमत के आधार पर चलनेवाले संविधान के अंतर्गत उनकी स्थिति क्या होगी। गोलमेज सम्मेलन के पहले अधिवेशन में यह निकट से देखने का मौका मिला कि भविष्य का संविधान कैसा होगा। तब तक औपनिवेशिक दर्जे की चर्चा एक अस्पष्ट धारणा से आगे नहीं बढ़ी थी। परंतु सम्मेलन के प्रारंभ में रजवाड़ों की घोषणा से एक संघीय सरकार के रूप में केंद्र पर जिम्मेवारी आ गई थी और यह स्पष्ट परिलक्षित होने लगा था। इसलिए मुस्लिमों को लगा कि अब समय आ गया है जब अपनी स्थिति का जायजा लिया जाए। यह बेचैनी गांधी–इर्विन समझौते के कारण और भी बढ़ गई थी, जिससे उन्हें लगता था कि कांग्रेस को कुछ विशेष सुविधाएं मिल गई हैं, कांग्रेस की स्थिति कुछ ऊंची हो गई है और सरकार पर उसकी जीत हुई है जिससे मुसलमानों का डर बना रहा। 'पैक्ट' के तीन हफ्ते के अंदर कानपुर में एक भीषण दंगा उस समय शुरू हो गया जब शहीद भगतसिंह को 23 मार्च को फांसी दिए जाने की याद में हड़ताल रखने के लिए कांग्रेस ने मुस्लिम दुकानदारों पर भी दबाव डाला। 24 मार्च को हिंदू दुकानों की लूट शुरू हो गई। 25 मार्च को भारी आगजनी हुई। दुकानों और मंदिरों को आग लगा दी गई और उन्हें राख कर दिया गया। अव्यवस्था, लूटपाट, आगज़नी, हत्याएं तेजी से होने लगी। पांच सौ परिवार घर छोड़कर भाग गए और उन्होंने गांवों में शरण ली। सबसे अधिक हानि डॉ. रामचंद्र को हुई। उनके परिवार के सभी सदस्यों, पत्नी और उनके बूढ़े मां–बाप की हत्या कर दी गयी और उनकी लाशें गंदे नाले में फेंक दी गईं। उसी कत्ले–आम में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी को भी अपनी

जान देनी पड़ी। कानपुर दंगा जांच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि इन दंगों में अभूतपूर्व हिंसा और विशेष प्रकार के अत्याचार हुए, जो बहुत ही तेजी से सारे शहर में और उसके बाहर भी फैल गए। कत्ल, आगज़नी और लूटपाट की घटनाएं तीन दिन तक व्यापक पैमाने पर होती रहीं। उसके बाद ही उन पर नियंत्रण पाया जा सका और फिर ये धीमे–धीमे शांत हुए। जान–माल का इनमें भारी नुकसान हुआ। तीन सौ मौतों की तो तसदीक हो गई, किंतु कहा जाता है कि मृतकों की संख्या कहीं ज्यादा, शायद चार और पांच सौ के बीच थी। बड़ी संख्या में मंदिर और मस्जिद अपवित्र किए गए या जला दिए गए या नष्ट कर दिए बए। बहुत बड़ी संख्या में घरों को भी या तो जेला दिया गया या लूट लिया गया।

यदि कांग्रेस के समर्थकों का बर्ताव उत्तेजनात्मक न होता तो ये सांप्रदायिक दंगे नहीं होते। यह दंगा हिंदुस्तान में पिछले कई वर्षों में होनेवाले दंगों में सबसे भीषण और भयंकर था। इससे भी बढ़कर यह दंगा शहर के पास–पड़ौस के गांवों में भी फैल गया, जहां बाद में भी कई दिनों तक झड़पें होती रहीं।

1932–33 का वर्ष सांप्रदायिक आंदोलनों और उपद्रवों से अपेक्षाकृत मुक्त रहा। स्थिति में स्वागतयोग्य यह सुधार निस्संदेह कुछ तो अराजकता को दबाने के कारण, और कुछ नए विधान के अंतर्गत मुसलमानों की स्थिति की अनिश्चितता दूर होने के कारण हुआ।

परंतु समूचे 1933–34 में देश में सांप्रदायिक तनाव बढ़ना शुरू हो गया और दंगे न केवल होली, ईद और मुहर्रम जैसे त्यौहारों के मौकों पर हुए, बल्कि दैनिक जीवन की छोटी–छोटी घटनाओं को लेकर भी हुए, जिससे पता चलता है कि वर्ष के शुरू से ही सांप्रदायिक सौहार्द में गिरावट आ रही थी। होली के मौके पर संयुक्त प्रांत के बनारस और कानपुर में तथा पंजाब के लाहौर और पेशावर में दंगे हुए। बकरीद के मौके पर गाय की कुर्बानी को लेकर संयुक्त प्रांत के अयोध्या में, बिहार व उड़ीसा के भागलपुर में और मद्रास के कन्नानूर में गंभीर दंगे हुए। संयुक्त प्रांत के गाजीपुर जिले में भी गंभीर दंगा हुआ, जिसमें कई जानें गईं। अप्रैल और मई में बिहार व उड़ीसा में, बंगाल में, सिंध में और दिल्ली में कई स्थानों पर दंगे हुए, जिनमें कुछ तो मामूली–सी बातों को लेकर उत्पन्न उत्तेजना से शुरू हो गए थे। जैसे, दिल्ली में एक मुस्लिम दुकानदार ने राह चलते एक हिंदू पर अनजाने में थूक दिया। ब्रिटिश हिंदुस्तान में सांप्रदायिक झगड़े बढ़ाने का प्रभाव देसी रियासतों पर भी पड़ा, जहां कई दंगे हुए।

जून से अक्तूबर के महीनों में सांप्रदायिक अशांति से पता चलता है कि दोनों प्रमुख संप्रदायों के बीच सामान्य रूप में कितना गहरा बैर–भाव व्याप्त था। जून

और जुलाई के महीने, जब कोई हिंदू या मुस्लिम त्यौहार नहीं पड़ता, गड़बड़ से अपेक्षाकृत बचे रहे, यद्यपि बिहार के कुछ इलाकों में अतिरिक्त पुलिस भेजनी पड़ी। आगरा में एक लंबा विवाद शुरू हो गया। शहर के मुसलमानों ने इस बात पर आपत्ति की कि कुछ हिंदू घरों में पूजा–पाठ के शोर से पड़ोस की मस्जिद में नमाज पढ़ने में बाधा पहुंचती है। इस झगड़े का हल होने से पहले ही बीस जुलाई को और फिर दो सितंबर को दंगे हो गए, जिनमें चार आदमी मारे गए और अस्सी से ज्यादा घायल हुए। 3 सितंबर को मद्रास में हुए दंगे में एक आदमी मारा गया और तेरह लोग जख्मी हुए। इसका कारण यह था कि हिंदुओं ने एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमे हजरत मोहम्मद पर कुछ आक्षेप किए गए थे। उसी महीने में पंजाब तथा संयुक्त प्रांत में भी कई स्थानों पर छोटे–मोटे दंगे हुए।

1934–35 के दौरान, 29 जून को लाहौर में उस समय स्थिति गंभीर हो गई। जब मुस्लिमों और सिखों के बीच एक मस्जिद को लेकर विवाद शुरू हो गया, जो गुरूद्वारा शहीदगंज की चारदीवारी के भीतर बनी हुई थी। यह झगड़ा काफी समय से सुलग रहा था। तनाव उस समय बढ़ा जब मुस्लिम विरोध के बावजूद सिखों ने मस्जिद तोड़नी शुरू कर दी। इस इमारत को लेकर काफी समय से मुकदमेबाजी चली आ रही थी, जिसमें सिखो के स्वामित्व को मान लिया गया था।

29 जून को 3 या 4 हजार मुस्लिमों की भीड़ गुरुद्वारे के सामने जमा हो गई। स्थानीय अधिकारियों ने तत्काल कार्रवाई करके इस भीड़ और गुरुद्वारे के अंदर जमा सिखों से वचन लिया कि सिख इस इमारत को और ज्यादा नहीं तोड़ेंगे। परंतु अगले सप्ताह जब नेताओं में एक सौहार्दपूर्ण समझौता कराने की जोरदार कोशिशें की जा रही थी, सिखो ने उग्रवादियों के दबाव में आकर मस्जिद को फिर गिराना शुरू कर दिया। उससे सरकारी अधिकारियों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई। सिख अपने कानूनी अधिकारों के अंतर्गत ही काम कर रहे थे, और मस्जिद गिराने को रोकने का एकमात्र प्रभावकारी तरीका गोली चलाना था। लेकिन चूंकि गुरूद्वारा सिखों से भरा हुआ था और सिख गुरूद्वारे की चारदीवारी के ही भीतर थे, गोली चलने से न केवल भारी खून–खराबा होता, बल्कि धार्मिक कारणो से भी सारे प्रांत के सिखों पर इसकी भीषण प्रतिक्रिया होती। दूसरी ओर, सरकार यदि कोई कार्रवाई नहीं करती, तो धार्मिक कारणों से मुस्लिमों में भी भारी रोष पैदा हो जाता। इस बात की भी आशंका थी कि इससे कहीं सिखों और सरकारी सिपाहियों पर छिटपुट हमले शुरू न हो जाएं।

यह आशा की जाती रही थी कि दोनों संप्रदायों के नेताओं से चर्चा करके

कोई समझौता हो जाएगा, परंतु शरारतपसंद लोगों ने अपने सहधर्मियों के दिमागों को उत्तेजित कर दिया। मुख्य शरारतपसंद लोगों की गिरफ्तारी के बावजूद उत्तेजना बढ़ती गई। सरकार ने सद्भावना प्रदर्शित करने की खातिर एक अन्य मस्जिद पर अधिकार दिला देने की बात कही, जिसे उसने कुछ वर्ष पहले खरीदा था। परंतु इसका कोई असर नहीं हुआ। 19 जुलाई को स्थिति बद से बदतर हो गई और अगले दो दिनों में तो स्थिति बहुत ही विस्फोटक हो गई। सेंट्रल पुलिस स्टेशन को वास्तविक तौर पर भारी भीड़ ने घेरे रखा, जिसका इरादा बहुत खतरनाक लगता था। बिना गोली चलाए उन्हें तितर–बितर करने की कोशिश असफल सिद्ध हो गई और फौजियों को 20 जुलाई को दो बार और 21 जुलाई को आठ बार गोली चलानी पड़ी। कुल मिलाकर 23 राउंड गोलियां चलाई गईं और 12 आदमी मारे गए। फौज और पुलिस के बहुत से जवानों को भी मामूली चोटें आईं।

गोली चलाए जाने के फलस्वरूप भीड़ तितर–बितर हो गई और फिर इकट्ठी नहीं हुई। दूसरे प्रांतों से भी पुलिस बुलाई गई और फौज को भी अतिरिक्त कुमुक भेजी गई। सरकारी नियंत्रण पुनः तेजी से स्थापित हो गया, परंतु धार्मिक नेता आंदोलन को भड़काते रहे। दीवानी मुकदमेबाज़ी फिर शुरू हो गई और कई मुस्लिम सगठनो ने लंबी–चौड़ी मांगे रखनी शुरू कर दीं।

वर्ष के अंत तक लाहौर की स्थिति को लेकर चिंता बनी रही। 6 नवंबर को एक मुस्लिम ने एक सिख को घायल करके मार दिया। तीन दिन बाद एक बड़ा भारी हिंदू–सिख जुलूस निकाला गया। आयोजक इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि झगड़े से बचा जाए, परंतु फिर भी एक गंभीर झगड़ा हो गया। अगले दिन और दंगे हुए। परंतु यदि पुलिस और सेना सतर्कता से शीघ्र कदम न उठाती तो स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाती और जान–माल की भारी क्षति हो सकती थी।

19 मार्च, 1935 को कराची में एक गंभीर घटना हज़रत मुहम्मद के बारे में एक आपत्तिजनक पुस्तक के लेखक नाथुरामल के हत्यारे अब्दुल कयूम को फांसी दिए जाने के बाद हुई। अब्दुल कयूम की लाश को लेकर जिला मजिस्ट्रेट पुलिस पार्टी के साथ उसके परिवारवालों को देने उनके घर गया, ताकि उसे शहर के बाहर दफन कर दिया जाए। दफन करने वाली जगह पर एक भारी भीड़ इकट्ठी हो गई, जिसमें अनुमानतः पच्चीस हजार लोग थे। यद्यपि अब्दुल कयूम के रिश्तेदार लाश को कब्रिस्तान में गाड़ देने के इच्छुक थे, परंतु भीड़ में शामिल लोग जुलूस बनाकर लाश को शहर ले जाना चाहते थे। स्थानीय अफसरों ने फैसला किया कि भीड़ को शहर में न घुसने दिया जाए, क्योंकि

इससे सांप्रदायिक दंगा भड़क सकता था। जुलूस रोकने की पुलिस की सभी कोशिशें नाकाम होने के बाद, रॉयल ससेक्स रेजीमेंट की एक प्लाटून को शांति स्थापित करने के लिए बुलाया गया। भीड़ को आगे बढ़ने से रोकने और उसे हावी न होने देने के लिए फौज को नजदीक से गोली चलाने पर मजबूर होना पड़ा। कुल 47 राउंड फायर किए गए जिससे 47 आदमी मारे गए और 134 जख्मी हुए। और कुमुक पहुंच जाने से भीड़ की आगे बढ़ने की कोशिश सफल नहीं हुई। घायलों को सिविल अस्पताल ले जाया गया और फिर बिना किसी और फसाद के अब्दुल कयूम की लाश को गाड़ दिया गया।

25 अगस्त, 1935 को सिकंदराबाद में सांप्रदायिक दंगा हुआ।

1936 में चार सांप्रदायिक दंगे हुए। आगरा जिले के फिरोजाबाद में 14 अप्रैल को सबसे भयानक दंगा हुआ। एक मुस्लिम जुलूस मुख्य बाजार में से होकर गुजर रहा था। इलजाम लगाया गया कि उस पर हिंदू घरों से ईंटें फेंकी गईं। इससे जुलूस में शामिल मुसलमान क्रुद्ध हो गए और उन्होंने एक हिंदू डॉ. जीवनराम के घर और पड़ौस के राधाकृष्ण मंदिर को आग लगा दी। डॉ. जीवनराम के घर में रहने वालों के साथ 3 बच्चों सहित 11 और हिंदुओं को भी जीवित जला दिया गया। दूसरा हिंदू–मुस्लिम दंगा बंबई प्रेसीडेंसी के पूना में 24 अप्रैल, 1936 को हुआ। 27 अप्रैल को मुंगेर जिले के जमालपुर में हिंदू–मुस्लिम दंगा हुआ। चौथा हिंदू–मुस्लिम दंगा बंबई में 15 अक्तूबर, 1936 को हुआ।

1937 के दौरान पूरे वर्ष सांप्रदायिक झगड़े होते रहे। 27 मार्च, 1937 को पानीपत में होली के जुलूस को लेकर सांप्रदायिक दंगा हुआ, जिसमें 14 लोग मारे गए। पहली मई, 1937 को मद्रास में सांप्रदायिक झगड़ा हो गया, जिसमें 50 लोग जख्मी हुए। मई में बहुत से सांप्रदायिक दंगे हुए–अधिकतर मध्य प्रांत और पंजाब में। सिंध में शिकारपुर में होनेवाले दंगे से बहुत अधिक आतंक फैल गया। अमृतसर में 18 जून को सिख–मुस्लिम दंगा हुआ। यह इतना ज्यादा फैल गया कि शांति–स्थापना के लिए ब्रिटिश फौज बुलानी पड़ी।

1938 में दो सांप्रदायिक दंगे हुए – 26 मार्च को इलाहाबाद में और दूसरा अप्रैल के महीने में बंबई में।

1939 में 6 हिंदू–मुस्लिम दंगे हुए। 21 जनवरी को आसनसोल में दंगा हुआ, जिसमें एक आदमी मारा गया और 18 जख्मी हुए। इसके बाद 11 फरवरी को कानपुर में दंगा हुआ, जिसमें 42 आदमी मारे गए, 200 जख्मी हुए और 800 गिरफ्तार किए गए। 4 मार्च को बनारस में एक दंगा हुआ और 5 मार्च को कलकत्ता के निकट काशीपुर में। 19 जून को रथयात्रा के जुलूस को लेकर कानपुर में फिर दंगा हो गया।

20 नवंबर, 1939 को सक्कर, सिंध, में एक भयंकर दंगा हुआ। यह दंगा उस आंदोलन की परिणति था, जो मंज़िलगाह नामक इमारत पर अधिकार जमाने, और जरूरत पड़ने पर ताकत का भी इस्तेमाल करने के लिए शुरू किया गया था। यह इमारत संपत्ति के रूप में सरकार के कब्जे में थी और इसके हस्तांतरण पर हिंदुओं ने आपत्ति की थी। इन उपद्रवों की जांच करने के लिए मि. ई. वेस्टन को नियुक्त किया गया, जो आजकल बंबई हाई कोर्ट के जज हैं। उन्होंने मारे गए और जख्मी हुए लोगों के निम्नांकित आंकड़े* दिए:–

तालुका	की गई हत्याएं		घायल व्यक्ति		जख्मी होने के बाद मरे व्यक्ति	
	हिंदू	मुस्लिम	हिंदू	मुस्लिम	हिंदू	मुस्लिम
सक्कर कस्बा	20	12	11	11	1	–
सक्कर तालुका	2	2	23	–	5	–
शिकारपुर तालुका	5	–	11	–	2	–
गढ़ी यासीन तालुका	24	–	4	–	–	–
रोहड़ी तालुका	10	–	3	–	–	–
पानोआकिल	6	–	1	–	–	–
घोरकी तालुका	1	–	1	–	–	–
मीरपुर माथेलो तालुका	–	–	1	–	–	–
उबैरो तालुका	4	–	3	1	1	–
योग	142	14	58	12	9	–

* 1939 मे सक्कर मे हुए दंगो की जांच करने के लिए सिंध पब्लिक इंक्वायरीज़ एक्ट की धारा 3 के अंतर्गत कोर्ट ऑफ इंक्वायरी की रिपोर्ट, पृ. 65। इसमें कत्ल किए गए हिदुओं की संख्या 142 गलत लगती है। यह संख्या 72 होनी चाहिए।

जिन अनेक भीषण घटनाओं का उन्होंने उल्लेख किया, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

> "सबसे भयंकर सांप्रदायिक झगड़ा 20 तारीख की रात को गोसरजी गांव में हुआ, जो सक्कर से 8 मील और शिकारपुर से 16 मील दूर है। जिला मजिस्ट्रेट ने सरकार को जो प्रारंभिक रिपोर्ट भेजी और जो निश्चित रूप से अधूरी थी, उसके अनुसार उस रात 27 हिंदू मारे गए थे। साक्षियों से की गई पूछताछ से पता चलता है कि मारे जाने वालों की संख्या 37 थी।
>
> गोसरजी के एक ठेकेदार पमनमल ने बताया कि सत्याग्रह के समय गोसरजी के प्रमुख हिंदुओं का एक प्रतिनिधिमंडल इलाके के प्रमुख जमींदार खान साहब अमीर बख़्श से मिला, जो उस समय सक्कर में मौजूद था। उसने प्रतिनिधिमंडल को आश्वासन दिया कि मै आपकी सुरक्षा की जिम्मेदारी लेता हूं। 20 तारीख को खान साहिब अमीर बख्श गोसरजी में था और उसी दिन सुबह मुखी महरूमल को वहाँ कत्ल कर दिया गया। हिंदू फिर अपनी सुरक्षा के लिए खान साहिब अमीर बख्श के पास गए और उसने फिर आश्वासन दिया, परंतु उसी रात बड़े पैमाने पर नरसंहार और लूटपाट हुई। कत्ल किए गए उन व्यक्तियों में सात औरतें थीं। पमनमल कहता है कि अगले दिन सुबह वह बगेरजी के सब-संस्पेक्टर के पास गया जो गोसरजी से एक मील दूर है। परंतु वहां उसे गालियां दी गईं और थाने से बाहर निकाल दिया गया। फिर वहां से वह शिकारपुर गया और पंचायत से शिकायत की, किंतु वहां उसने किसी अफसर से शिकायत नहीं की। मैं यहां यह बता दूं कि बाद में बगेरजी के सब-इंस्पैक्टर पर गोसरजी में हुए नरसंहार के सिलसिले में गिरफ्तारियां न करने के आरोप में भारतीय दंड संहिता की धारा 211 के अंतर्गत मुकदमा चलाया गया और सज़ा दी गई।
>
> चूंकि जमींदार खान साहिब अमीर बख्श, जिसने बगेरजी के हिंदुओं को सुरक्षा का आश्वासन दिया था, अदालत में मौजूद था, इसलिए उसे अदालत में बतौर गवाह पेश होने के लिए कहा गया और उससे जिरह की गई। उसने कहा कि मैं गोसरजी गांव से डेढ़ मील दूर रहता हूं। बगेरजी का सब-इंस्पैक्टर मेरे पास महरूमल के कत्ल के बाद 20 तारीख को आया और मशीर की तरह व्यवहार किया। यह भी कहा कि हिंदुओं ने सहायता की मांग नहीं की थी और गड़बड़ी

की कोई आशंका भी नहीं थी। 20 तारीख को मेरी तबियत ठीक नहीं थी और मैंने कत्लेआम के बारे में कुछ भी नहीं सुना। उसने यह स्वीकार किया कि मंज़िलगाह को खाली कराने के बारे में उसने सुना था। बाद में अपनी गवाही में उसने माना कि उसने गोसरजी के लोगों को खबरदार रहने के लिए कहा था, क्योंकि सक्कर में गड़बड़ी हुई थी। आगे वह कहता है कि 19 तारीख की शाम को उसने पंचायत बुलाई थी। कत्लेआम के बाद 21 तारीख को सूरज निकलने के बाद गोसरजी गया था। उसने स्वीकार किया कि उसे गोसरजी का रक्षक समझा जाता है।"

मि. वेस्टन ने आगे लिखा कि:

"मैं इस गवाह के साक्ष्य पर विश्वास नहीं कर सकता। मुझे इस बारे में कोई संदेह नही कि उसे बीस तारीख की रात को गोसरजी में हुई गड़बड़ का पता था और वह जानबूझकर घर में ही घुसा रहा।"*

इस बात से कौन इंकार कर सकता है कि दंगों का यह रिकार्ड परिणामों की दृष्टि से अत्यंत गंभीर चित्र प्रस्तुत करता है, और इससे नितांत निराशा झलकती है। पर चूँकि यह तारीखवार सिलसिले में दिया गया है इसलिए हो सकता है कि यह किसी प्रांत विशेष के दंगों की वीभत्सता की जानकारी न दे पाता हो और न ही यह बता पाता हो कि इससे किस तरह सामाजिक व आर्थिक जीवन गतिहीन हो गया। एक प्रांत में बार–बार होने वाले इन दंगों से जीवन किस तरह गतिहीन हो जाता है, इसकी जानकारी देने के लिए मैंने बंबई के दंगों का विवरण नए सिरे से लिखा है। उससे जो सामान्य चित्र उभरता है, वह इस प्रकार का है।

प्रेसीडेंसी को छोड़कर, यदि केवल बंबई शहर पर ही ध्यान दिया जाए तो इस बारे में कोई संदेह नहीं कि इस शहर का रिकार्ड सबसे ज्यादा खराब है। पहला हिंदू–मुस्लिम दंगा 1893 में हुआ। इसके बाद दीर्घकाल तक अर्थात् 1929 तक सांप्रदायिक शांति बनी रही। परंतु उसके बाद के वर्षों की कहानी बड़ी भयावह है। फरवरी 1929 से अप्रैल 1938 के 9 वर्षों में दस से कम सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए। 1929 में दो सांप्रदायिक दंगे हुए। पहले दंगे में 149 लोग मारे गए और 739 जख्मी हुए और ये दंगे 36 दिन तक चले। दूसरे दंगे में 35 लोग मारे गए और 109 जख्मी हुए और ये दंगे 22 दिन तक चले। 1930 में दो दंगे हुए। इनमें मारे गए लोगों की संख्या और अवधि ज्ञात नहीं है। 1932 में फिर दो दंगे हुए। इनमें से पहला छोटा था। दूसरे में 217 लोग मारे गए, 2,713

* वही, पृष्ठ 66-67

जख्मी हुए और ये दंगे 49 दिन तक चलते रहे। 1933 में एक दंगा हुआ, जिसका विवरण उपलब्ध नहीं है। 1936 में एक दंगा हुआ, जिसमें 94 लोग मारे गए और 632 जख्मी हुए और यह 65 दिन तक चलता रहा। 1937 के दंगे में 11 लोग मारे गए 85 जख्मी हुए, और यह 21 दिन तक चलता रहा। 198 में केवल एक दंगा ढाई घंटे तक चला, पर इतनी–सी देर में ही 12 लोग मारे गए और 100 से कुछ अधिक घायल हुए। फरवरी 1929 से अप्रैल 1938 तक – 9 वर्ष 2 महीने की इस अवधि में केवल बंबई शहर के ही हिंदू और मुसलमान 210 दिनों तक इन रक्तपातपूर्ण झगड़ों में उलझे रहे, जिनमें 550 आदमी मारे गए और 4,500 जख्मी हुए। इन आंकड़ों में आगज़नी ओर लूटपाट के कारण हुई संपत्ति की हानि शामिल नहीं की गई है।

V

1920 से 1940 तक हिंदू–मुस्लिम संबंधों का इस तरह का रिकार्ड है। हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए श्री गांधी ने जो जी–तोड़ कोशिश की यदि उसे सामने रखकर देखा जाए तो एक अत्यंत ही दुखद और दिल दुखानेवाला चित्र उभर कर सामने आता है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यह हिंदुस्तान में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच 20 वर्षों तक चलनेवाले गृहयुद्ध का रिकार्ड है, जिसमें सशस्त्र शांति के छोटे–छोटे अंतराल गुजरे है।

इस गृहयुद्ध में आमतौर से तो पुरूष ही शिकार और उत्पीड़ित हुए, परंतु उत्पीड़न से महिलाएं भी नहीं बचीं। शायद यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है कि कितनी महिलाएं इस सांप्रदायिक उपद्रवों के दौरान उत्पीड़ित की गईं। समूचे हिंदुस्तान के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है, किंतु बंगाल के बारे में कुछ जानकारी उपलब्ध है।

6 सितंबर, 1932 को पुरानी बंगाल विधान् परिषद में बंगाल प्रांत में स्त्रियों के अपहरण की घटनाओं से सम्बद्ध प्रश्न पूछे गए थे। तत्कालीन सरकार ने उनके उत्तर में बताया कि 1922 से 1927 के बीच 568 महिलाओं का अपहरण किया गया। इनमें से 101 अविवाहित थीं और 467 विवाहित। जब पूछा गया कि ये अपहरण की गई महिलाएं किस समुदाय की थीं तो बताया गया कि 101 अविवाहित महिलाओं में 64 हिंदू, 29 मुस्लिम, 4 ईसाई थीं और 4 का यह पता हीं कि वे किसी संप्रदाय की थीं। 467 विवाहित महिलाओं में से 331 हिंदू, 122 मुस्लिम, 2 ईसाई थीं और 12 का पता नहीं कि वे किस संप्रदाय की थीं। ये आंकड़े उन मामलों के है, जिनकी रिपोर्ट की गई थी, और जिनकी रिपोर्ट नहीं की गई थी उनका पता ही नहीं चला। आमतौर पर 10 प्रतिशत मामलों में ही

रिपोर्ट की जाती है या उनका पता चलता है और 90 प्रतिशत का पता ही नहीं चलता। यदि इस तथ्य को बंगाल सरकार से प्राप्त आंकड़ों पर लागू किया जाए तो कहा जा सकता है कि 1922 से 1927 के 5 वर्ष की छोटी–सी अवधि में ही बंगाल में लगभग 35,000 महिलाओं का अपहरण किया गया।

महिलाओं के प्रति व्यवहार से इस बात का सही पता चलता है कि दोनों समुदायों के बीच संबंध कितने मैत्रीपूर्ण अथवा शत्रुतापूर्ण थे। इस बारे में, 27 जून, 1936 को बंगाल के गांव गोविंदपुर में हुई एक घटना शिक्षाप्रद है। 10 अगस्त, 1936 को 40 मुस्लिम अभियुक्तों पर शुरू हुए मुकदमें के संदर्भ में अभियोग पक्ष के वकील द्वारा दिया गया अधोलिखित वक्तव्य पठनीय है:

> "गोविंदपुर में राधावल्लभ नामक एक हिंदू रहता था। उसका हरेंद्र नाम का एक बेटा था। गोविंदपुर में एक मुस्लिम महिला भी रहती थी, जो दूध बेचा करती थी। गांव के स्थानीय मुसलमानों का संदेह था कि हरेंद्र का दूध बेचनेवाली मुस्लिम औरत से अवैध संबंध हैं। उन्हें इस बात पर गुस्सा था कि एक मुस्लिम महिला एक हिंदू की रखैल बन कर रहे। उन्होंने फैसला किया कि इस अपमान का बदला राधावल्लभ के परिवार से लिया जाए। गोविंदपुर के मुसलमानों की एक बैठक हुई और उसमें हरेंद्र को बुलाया गया। जैसे ही हरेंद्र उस मीटिंग में गया, वहां से उसका चीत्कार सुनाई दिया। उसे बुरी तरह से मारा–पीटा गया था, और जिस मैदान में मीटिंग हुई थी वहीं वह बेहोश पड़ा था। इस हमले के बाद भी मुसलमान संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने राधावल्लभ से कहा कि जब तक वह, उसका परिवार और बच्चे इस्लाम धर्म ग्रहण नहीं कर लेते, तब तक वे उसके बेटे द्वारा किए गए गलत काम को माफ नहीं करेंगे। राधावल्लभ ने अपनी पत्नी और बच्चों को अन्यत्र भेजने की योजना बनाई। मुसलमानों को इस योजना का पता चल गया। अगले दिन जब राधावल्लभ की पत्नी कुसुम अपना आंगन धो रही थी तो मुसलमान आए और राधावल्लभ को पकड़ लिया और कुछ लोग कुसुम को उठाकर ले गए। कुछ दूर ले जाने के बाद लाकेर और महजर नामक दो मुसलमानों ने उससे बलात्कार किया और उसके जेवर उतार लिए। बाद में जब वह होश में आई तो अपने घर की तरफ भागी। हमलावरों ने फिर उसका पीछा किया, परंतु वह अपने घर पहुंचने में सफल हो गई और घर पहुंचकर उसने अपने आपको एक कमरे में बंद कर लिया। हमलावरों ने उसके कमरे का दरवाजा तोड़ दिया, उसे पकड़ लिया और उसे फिर सड़क पर ले आए। उन्होंने उसे धमकी दी कि अब उसके साथ सड़क पर ही

बलात्कार किया जाएगा। परंतु रजनी नामक एक और महिला की सहायता से वह बच निकली और उसने रजनी के घर में आश्रय लिया। इसी बीच गोविंदपुर के मुसलमानों ने कुसुम के पति राधावल्लभ को बहुत ही अपमानजनक स्थिति में गोविंदपुर की सड़कों पर घुमाया। अगले दिन मुसलमानों ने गोविंदपुर से पुलिस थाने जाने वाली सड़कों पर निगरानी रखी, ताकि राधावल्लभ और उसकी पत्नी को इस सब की रिपोर्ट लिखवाने से रोका जा सके।"*

बिना किसी पश्चाताप् और बिना किसी शर्म के लोगों ने स्त्रियों के साथ ऐसे पाशविक अत्याचार किए तथा उनके भाई–बिरादरीवालों ने उनकी निंदा तक नहीं की। यह घटना इस बात को दर्शाती है कि दोनों समुदायों में कितना अधिक आपसी विद्वेष और बैर–भाव था। दोनों तरफ के आक्रोश से यह लगता है कि दो राष्ट्र आपस में युद्ध कर रहे हैं। हिंदुओं ने मुसलमानों के और मुसलमानों ने हिंदुओं के विरूद्ध हिंसा की, लूटपाट की और धार्मिक स्थानों को नष्ट किया। और भी सभी प्रकार के अत्याचार किए – शायद मुसलमानों ने हिंदुओं के विरूद्ध कुछ ज्यादा और हिंदुओं ने मुसलमानों के विरूद्ध कम। आगज़नी की ऐसी कई घटनाएं हुईं, जिसमें मुसलमानों ने हिंदू घरों को जिस तरह आग लगाई उसमें हिंदुओं के समूचे परिवार के पुरूष, स्त्री और बच्चे जीवित ही भून दिए गए। और देखनेवाले मुसलमानों को बड़ी प्रसन्नता होती थी। आश्चर्य की बात यह है कि जानबूझकर निर्दयतापूर्वक की गई इस क्रूरता को अत्याचार नहीं माना गया, जिनकी निंदा की जाती, बल्कि लड़ाई का एक ही तरीका माना गया, जिसके लिए माफी मांगने की कोई जरूरत नहीं थी। इस प्रकार के शत्रुतापूर्ण अत्याचारों से क्षुब्ध होकर एक कांग्रेसी अखबार 'हिंदुस्तान' के संपादक ने श्री गांधी की हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने के प्रयासों की संपूर्ण असफलता को रेखांकित किया। आक्रोशपूर्ण भाषा का उपयोग करते हुए अत्यंत निराशा भरे शब्दों में इसने यह लिखा :

"आज के भारत और भारत राष्ट्र के बीच, एक ऐसे अपरिष्कृत यथार्थ जो अपने आप को आगजनी और कत्लेआम में प्रकट करता है और अपने आपको धोखा देनेवाले देशप्रेमी की कल्पना के बीच बहुत ही अधिक दूरी है। हजारों मंचों से हिंदू–मुस्लिम एकता की बात करना या उसे कलात्मक सुर्खियां देना एक ऐसे भ्रम को बनाए रखने के समान है जिसका धुँधुआता ढांचा पल भर में उस समय बिखर जाता है जब आरोप–प्रत्यारोप होते हैं या मस्जिदों और मंदिरों को भ्रष्ट

* 25 अगस्त, 1936 को नागपुर के 'सावधान' नामक मराठी साप्ताहिक में प्रकाशित रिपोर्ट का रूपांतर।

किया जाता है। शांति और सद्भावना के बारे में सरोजिनी नायडू की कुछ कविताएं गाकर.......देश का कोई भला नहीं होने वाला। कांग्रेस की प्रेसीडेंट हिंदू–मुस्लिम एकता विषय पर कुछ व्याख्यान करती रही हैं। यह विषय उन्हें बहुत ज्यादा प्यारा है और वह भांति–भांति से इस पर अपने विचार प्रकट करती हैं। यह उनकी बुद्धिमत्ता का परिचायक तो है, परंतु इससे समस्या अछूती ही रह जाती है। करोड़ों देशवासी इस एकता की बात का समर्थन तभी करेंगे, जब वह केवल नेताओं की जबान पर न हो, बल्कि करोड़ों देशवासियों के दिलों में हो।"*

हिंदू–मुस्लिम एकता की निरर्थकता को प्रकट करने के लिए मैं इन शब्दों से अच्छी और कोई शब्दावली नहीं रख सकता। अब तक हिंदू–मुस्लिम एकता कम से कम दिखती तो थी, भले ही वह मृग–मरीचिका क्यों न हो। आज तो न वह दिखती है और न ही मन में है। यहां तक कि अब तो श्री गांधी ने भी इसकी आशा छोड़ दी है और शायद अब वह समझने लगे हैं कि यह एक असंभव कार्य है।

परंतु ऐसे लोग अब भी हैं जो पिछले 20 वर्षों के इतिहास की अनदेखी करके हिंदू–मुस्लिम एकता की संभावना में विश्वास रखते हैं। उनके इस विश्वास के दो आधार लगते हैं। पहला, वे यह विश्वास करते है कि केंद्रीय सरकार इतनी प्रभावपूर्ण होगी कि विभिन्न वर्गों के लोगों को एक राष्ट्र में ढाल देगी। दूसरे, वे यह समझते है कि मुसलमानों की मांगों का संतोषजनक समाधान हिंदू–मुस्लिम एकता की प्राप्ति का एक साधन बनेगा।

यह सच है कि सरकार एकता स्थापित करने वाली शक्ति होती है और ऐसे बहुत से उदाहरण हैं, जब एक दूसरे से भिन्न विचारों के व्यक्ति एक ही सरकार के अंतर्गत रहने के कारण सम विचार वाले बन गए। परंतु हिंदू लोग जो सरकार पर इसलिए निर्भर रह रहे हैं कि सरकार में एकता बनाए रखने की शक्ति होती हैं, वे यह भूल जाते हैं कि सरकार के एकता बनाए रखने की शक्ति की काम करने की भी सीमाए होती हैं। सरकार की एकीकरण की शक्ति के रूप में काम करने की सीमाएं इस बात पर निर्भर करती हैं कि लोगों में विलयन की कितनी संभावनाएं हैं। जिस देश में जाति, भाषा और धर्म एकरूपता प्राप्त करने के मार्ग में नहीं आते, वहां सरकार एकरूपता लाने की शक्ति के रूप में बहुत प्रभावकारी होती है। दूसरी ओर, जिस देश में जाति, भाषा और धर्म एकरूपता लाने के मार्ग में एक जोरदार बाधा पैदा करते हैं, वहां सरकार एकरूपता लाने में अधिक प्रभावी

* 16-08-1926 के टाइम्स ऑफ इंडिया के 'थ्रू इंडियन आइज' शीर्षक कॉलम से उद्धत।

नहीं हो पाती। यदि फ्रांस, इंग्लैंड, इटली, और जर्मनी के विभिन्न व्यक्ति एक ही सरकार होने के कारण एकीकृत राष्ट्र बन गए, तो इसका कारण यह था कि जाति, भाषा या धर्म क़िसी ने भी सरकार की एकीकरण की प्रक्रिया में बाधा नहीं डाली। दूसरी ओर, यदि आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और तुर्की के लोगों का एकीकरण नहीं हो सका, हालांकि वे एक ही सरकार के अंतर्गत रह रहे थे, तो इसका कारण यह था कि वहां जाति, भाषा और धर्म इतने मजबूत थे कि वे सरकार की एकरूपता लाने की शक्ति का प्रतिरोध कर सके। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि भारत में जाति, भाषा और धर्म इतने अधिक शक्तिशाली हैं कि एक ही सरकार के अंतर्गत रहने के बावजूद भारत एकीकृत राष्ट्र के रूप में नहीं ढाला जा सकता। यह एक भ्रामक धारणा है कि हिंदुस्तान में एक केंद्रीय सरकार ने हिंदुस्तानी लोगों को एक राष्ट्र में ढाल दिया है। जो कुछ केंद्रीय सरकार ने किया है, वह यह है कि उन्हें एक ही कानून से बांध दिया है और उन्हें एक ही स्थान में बसाकर रखा है, वैसे ही जैसे बहुत से बेकाबू जानवरों का मालिक उन्हें एक ही रस्सी से बांध कर एक ही बाड़े में रखता है। केंद्रीय सरकार ने केवल इतना ही किया है कि हिंदुस्तानियों में एक प्रकार की शांति स्थापित कर रखी है। परंतु इससे वे एक राष्ट्र नहीं बन गए हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि एकीकरण लाने के लिए बहुत कम समय मिला हैं। यदि एक केंद्रीय सरकार के अंतर्गत 150 वर्ष तक रहने का समय भी पर्याप्त नहीं है तो शाश्वत काल तक रहने पर भी एकीकरण स्थापित नहीं हो पाएगा। इन असफलताओं के लिए हिंदुस्तानी लोगों की प्रकृति या उनका स्वभाव जिम्मेदार है। हिंदुस्तानियों में न तो एकता की कोई भावना है और न ही इसकी इच्छा। एक जैसी पोशाक, परिधान या पहनावा रखने की भी कोई इच्छा नहीं है। एक समान भाषा बोलने की भी कोई इच्छा नहीं है। जो कुछ अपना स्थानीय और विशिष्ट है, सर्वसाधारण और राष्ट्रीयता की खातिर उसका त्याग कोई नहीं करना चाहता। एक गुजराती को अपने गुजराती होने का गर्व है, महाराष्ट्रीयन को महाराष्ट्री होने का, पंजाबी को पंजाबी होने का, मद्रासी को मद्रासी होने का और बंगाली को बंगाली होने का गर्व है। यह उन हिंदुओं की मनोवृत्ति है, जो मुसलमानों पर यह आरोप लगाते हैं कि उनमें कोई राष्ट्रीय भावना नहीं और जो यह कहते है कि हम मुसलमान पहले हैं और हिंदुस्तानी बाद में। क्या कोई यह कह सकता है कि हिंदुस्तान में कहीं भी ऐसी भावना या विचार देखने को मिलता है, यहां तक कि हिंदुओं में भी, जो यह बतलाते हों कि हम सब हिंदुस्तानी एकसमान हैं, या किसी में नैतिक या सामाजिक एकता के बारे में रत्ती-भर भी जागरूकता है या वे समानता और एकता की खातिर अपने विशिष्ट या स्थानीय

हितों का त्याग कर सकते हैं? न तो ऐसी कोई जागरूकता है और न ही ऐसी कोई इच्छा। ऐसी जागरूकता या ऐसी इच्छा के अभाव में एकता लाने के लिए सरकार के भरोसे बैठे रहना स्वयं को धोखा देने के समान है।

जहां तक दूसरी बात का संबंध है, साइमन कमीशन की राय निस्संदेह इस प्रकार थी:

> "भारत के राजनीतिक भविष्य की संभावनाओं को लेकर दोनों संप्रदायों में उत्पन्न चिंताओं और आकांक्षाओं के उदय होने से सांप्रदायिक दंगे पनपे हैं। सत्ता जब तक पूरी तरह ब्रिटिश हाथों में थी और स्वायत्त शासन का विचार नहीं आया था, हिंदू–मुस्लिम प्रतिद्वंद्विता का दायरा बहुत सीमित था। इसका कारण केवल यह नहीं था कि एक निष्पक्ष नौकरशाही व्यवस्था होने से झगड़ों को बल नहीं मिला। इसका एक और कारण यह था कि एक संप्रदाय को दूसरे संप्रदाय के प्रभुत्व का कोई भय नहीं था। आज हिंदुस्तानी रियासतों में सांप्रदायिक तनाव के अपेक्षाकृत कम होने का कारण भी यहा है। वे लोग जो ब्रिटिश हिंदुस्तान की एक पीढ़ी पहले की स्थिति से परिचित हैं, इस बात के साक्षी हैं कि उस समय दोनों संप्रदायो नें इतनी अधिक सद्भावना थी कि नागरिक शांति को सांप्रदायिक तनाव से कम से कम खतरा था। पर सुधारों के आगमन और इस बात की संभावना से कि इससे भविष्य में क्या मिलेगा, हिंदू–मुस्लिम प्रतिद्वंद्विता को एक नया मुद्दा मिल गया है। स्वभावतः एक संप्रदाय अपने बहुसंख्यक होने के नाते तथा अधिक शिक्षित व समृद्ध होने के कारण अपने अधिकारों का दावा करता है, जबकि दूसरा इन्हीं कारणों से अपने संप्रदाय के संरक्षण की और अधिक जोर–शोर से बात उठाता है, और वह कभी यह नहीं भूलता कि वह इस देश के विगत विजेता का प्रतिनिधि है। वह चाहता है कि उसे पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले और सरकारी नौकरियों में पूरा हिस्सा मिले।"

यदि यह मान लिया जाए कि यह सही निदान है, यदि यह मान लिया जाए कि मुसलमानों की मांगें उचित हैं और यदि यह मान लिया जाए कि हिंदू इन मांगों को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, यद्यपि ये तीनों बहुत बड़ी परिकल्पनाएं हैं – तो भी प्रश्न यह उठता है कि क्या मुस्लिमों की राजनीतिक मांगें पूरी होने से, राजनीतिक एकता हो जाने से, हिंदू–मुस्लिमों में सच्ची एकता पैदा हो जाएगी? कुछ लोगों का यह विचार है कि यदि हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच राजनीतिक एकता स्थापित हो गई तो यही पर्याप्त है। परंतु मेरे विचार में यह सबसे अधिक

भ्रामक बात है। जो लोग इस विचार के हामी हैं, वे केवल यह सोचते हैं कि किसी भी तरह अंग्रेजों से औपनिवेशिक स्वराज या पूर्ण स्वराज की मांग करते समय मुसलमानों को अपने साथ मिला लेना चाहिए। परंतु यह तो बहुत ही संकीर्ण दृष्टिकोण है। अंग्रेजों से मांग करते समय मुस्लिम हिंदुओं के साथ मिल जाएं, यह तो अपेक्षाकृत एक बहुत ही छोटा प्रश्न है। वे किस भावना से संविधान पर काम करेंगे? क्या वे ऐसे दो अनजान व्यक्तियों की भांति काम करेंगे, जिन्हें अनिच्छापूर्वक एकसाथ बांध दिया गया है या वे सच्चे बंधुत्व की भावना से काम करेंगे? अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि उन्हें सच्ची बंधुत्व भावना से काम करना है, तो उसके लिए केवल राजनीतिक एकता की जरूरत नहीं है, बल्कि जरूरत है हृदय व आत्मा के सच्चे मिलन की या दूसरे शब्दों में सामाजिक एकता की। राजनीतिक एकता का तब तक कोई अर्थ नहीं, जब तक इसमें वास्तविक एकता अंतर्विष्ट न हो। अन्यथा, यह उसी एकता की तरह नाजुक है जैसे कुछ व्यक्ति बिना मैत्री के एक–दूसरे के साथी बन जाते हैं। यह कितना नाजुक होता है, इसका सर्वोत्तम उदाहरण है कि जर्मनी और रूस के बीच क्या हुआ। व्यक्तिगत रूप से मैं यह नहीं मानता कि केवल भौतिक हितों की संतोषजनक ढंग से पूर्ति करके स्थाई एकता हो सकती है। समझौतों या पैक्ट से एकता तो स्थापित हो सकती है, परंतु वह एकता कभी यथार्थ एकता में नहीं बदल सकती। किसी पैक्ट को एकता का आधार बनाना तो निरर्थक से भी निकृष्ट बात है। समझौते या पैक्ट में अलगाव की भावना होती है। समझौते में एक दूसरे की बात मानने की इच्छा पैदा नहीं होती, इससे अपना स्वार्थ त्यागने की भावना पैदा नहीं होती और न ही यह विभिन्न दलों को मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एकसाथ बांध सकता है। पैक्ट में शामिल पार्टियां एक दूसरे के विचारों को मानने की जगह एक दूसरे से अधिकाधिक हथियाना चाहती हैं। अपने सांझे हित के लिए त्याग करने की जगह पैक्ट में शामिल पार्टियां इसी बात को देखती रहती हैं कि एक पार्टी द्वारा किए गए त्याग से कहीं दूसरी पार्टी लाभ न उठा ले। अपने मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के बजाए पार्टियों का ध्यान सदा इस बात की ओर लगा रहता है कि लक्ष्य प्राप्ति के इस संघर्ष के कारण इन पार्टियों का सत्ता–संतुलन कहीं डगमगा न जाए। रेनन का यह कथन बहुत सच है :

> "समान हित निश्चय ही मनुष्यों को एक साथ रखने के शक्तिशाली बंधन होते हैं। परंतु क्या ये हित किसी कौम या राष्ट्र का निर्माण करने के लिए काफी हैं? मुझे इस बात पर कतई विश्वास नहीं है। समान हितों के कारण व्यापारिक संधियां की जाती हैं। परंतु राष्ट्रीयता के पीछे एक भावनात्मक पहलू होता है : यह शरीर भी होता है और आत्मा भी।"

ऐसा ही उल्लेखनीय मत प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता जेम्स ब्राइस का है। उनके अनुसार:

> "किसी संस्था की स्थिरता केवल भौतिक समान हितों पर निर्भर नहीं करती जो उसे साधे रहते हैं, बल्कि यह उन मनुष्यों में गहरी जमी भावनाओं पर निर्भर करती है जिनके लिए यह संस्था बनाई गई है। जब यह संस्था उस भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति करती है तो वह भावना न केवल मुखरित हो उठती है, बल्कि वास्तव में अधिक मजबूत हो जाती है और इससे वह संस्था और भी अधिक शक्तिशाली हो जाती है।"

ब्राइस ने यह टिप्पणियां बिस्मार्क द्वारा जर्मन साम्राज्य की नींव डालने के संदर्भ में की थीं। ब्राइस के अनुसार, बिस्मार्क एक स्थाई साम्राज्य की स्थापना करने में इसलिए सफल हुआ क्योंकि वह एक भावना पर आधारित था और इस भावना को प्रोत्साहन देकर उसका पोषण किया गया :

> "राष्ट्रीयता के लिए सहजवृत्ति या मनोभाव ऐसे लोगों की इच्छा बताते हैं जो पहले से ही एक नैतिक और सामाजिक एकता के प्रति जागरूक हैं, जो यह चाहते हैं कि इस एकता को एक ही सरकार के अंतर्गत अभिव्यक्ति मिले उसे सभ्य देशों की श्रेणी में स्थान और नाम दिलाए।"

ऐसी नैतिक और सामाजिक एकता जो स्थायित्व प्रदान करती हैं, कैसे प्राप्त की जा सकती है? और ऐसी क्या विशेषता है जिससे ऐसी एकता को अभिव्यक्ति मिले और एक ही सरकार के अंतर्गत उसे प्राप्त किया जाए, जिसके कारण उसे सभ्य देशों में स्थान और नाम मिल सके?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जेम्स ब्राइस से अधिक योग्य व्यक्ति दूसरा नहीं हो सकता। ऐसा ही प्रश्न था जिस पर रोमन साम्राज्य की बनाम पवित्र रोमन साम्राज्य की जीवन-क्षमता के बारे में ब्राइस को विचार करना पड़ा था। यदि कोई साम्राज्य अपनी भिन्न-भिन्न विचारों वाली प्रजा में राजनीतिक एकता स्थापित करने में सफल हुआ था, तो वह था रोमन साम्राज्य। ब्राइस के शब्दों में संक्षेप में कहा जाए तो रोम की नागरिकता का क्रमिक विस्तार करने के लिए उपनिवेशों की स्थापना की गई। पहले समूचे इटली में और फिर प्रांतों में समानता वाले और समानता लाने वाले रोमन कानून पर अमल करने से सारे प्रजाजनों पर एक से सरकारी दबाव से तथा वाणिज्य और गुलामों के व्यापार के फलस्वरूप हुए आवागमन से भिन्न-भिन्न लोग बराबर आपस में घुलते-मिलते गए। सम्राटों ने, जो मुख्यतः प्रांतों के रहने वाले थे, इटली की कोई विशेष चिंता नहीं की

और यहां तक कि एन्टोनाइंस के दिनों बाद भी रोम से समझौता करने पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उनकी नीति यह थी कि हर प्रजाजन को कोई भी वृत्ति अपनाने की आजादी होनी चाहिए, क्योंकि इसी आजादी के कारण वे स्वयं भी महान बने थे। इन स्वतंत्र नागरिकों (फ्री मैन) के बीच कानूनी हैसियत के भेद–भाव को मिटाकर इसने वह काम पूरा कर दिया जिसे व्यापार, साहित्य तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना पहले से ही कर रहे थे। धर्म या जाति के किसी भी झगड़े के बगैर सभी राष्ट्रीय भेदभाव एक सांझे साम्राज्य के विचार में घुलते–मिलते गये।

रोमन साम्राज्य द्वारा स्थापित यह एकता केवल राजनीतिक एकता थी। यह राजनीतिक एकता कितने समय तक बनी रही? ब्राइस के ही शब्दों में:

> "मंथर गति से कार्यशील इन प्रभावों से अभी एकता स्थापित हो ही पाई थी कि अन्य प्रभावों के कारण इस एकता को खतरा पैदा होने लगा। नए शत्रु सीमाओं पर आक्रमण करने लगे, जबकि भीतरी ढांचा सत्ता के आपसी संघर्षों के कारण ढीला पड़ने लगा, जिसके फलस्वरूप बाद में आनेवाला हर सम्राट या तो मृत्यु को प्राप्त होता गया या फिर उसे गद्दी से हटा दिया गया। वेलेरियन के पतन के बाद फैली अराजकता के काल में साम्राज्य के प्रत्येक भाग में सेना ने अपने–अपने सेनापतियों का चयन किया। फिर उन्होंने बड़े–बड़े प्रांतों पर राज क़रना शुरू कर दिया और राजधानी के स्वामी के प्रति उन्होंने कोई बफादारी नहीं रखी। यदि डायोक्लेशियन जैसा सक्रिय और सक्षम राजकुमार न होता, जिसने बड़ी कुशलतापूर्वक अलग–अलग टुकड़ों को आपस में बांधे रखा और नई समस्याओं के हल के लिए उपाय खोजे, तो साम्राज्य के पश्चिमी आधे भाग के विघटन की प्रत्याशा दो सौ वर्ष पहले ही की जा सकती थी। उसने सत्ता के विभाजन और स्थानीयकरण की नीति अपनाई जिसके पीछे तथ्य यह था कि कमजोर दिल वाले अपनी धड़कनों को शरीर के अंगांगों को अनुभव नहीं करा सकते। उसने सर्वोच्च सत्ता चार राजाओं में बांट दी जो चार राजधानियों से संयुक्त राजाओं की तरह शासन करने लगे, और फिर पूर्वी देशोंवाली एक तड़क–भड़क का वातावरण पैदा करके एक काल्पनिक शक्ति प्रदान की, यद्यपि उस तड़क–भड़क को उनके पुरखे कभी पसंद नहीं करते। रोम के इस परम अधिकार को निकोमेडिया और मिलान की प्रतिद्वंद्विता से भारी खतरा पैदा हो गया।"

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि रोमन साम्राज्य के स्थायित्व और स्थिरता

के लिए केवल राजनीतिक एकता ही पर्याप्त नहीं थी और जैसा कि ब्राइस ने कहा है – 'रोमन साम्राज्य के पश्चिमी आधे भाग के अलग-अलग राजाओं में विघटन का पूर्वाभास दो सौ वर्ष पूर्व ही हो जाता, यदि सीमा पर रहनेवाली बर्बर जातियां अधिक साहसी होतीं और यदि डियोक्लेशियन के रूप में सक्रिय और चतुर राजकुमार न होता, जिसने उनके टुकड़े होने से पहले ही उन्हें एक सूत्र में बांध लिया और ऐसा करते समय नई समस्याओं के लिए नए हल खोज लिए।' परतु सच्चाई यह है कि जो रोमन साम्राज्य लड़खड़ा रहा था और टुकड़ों में बंट रहा था, और जिसकी राजनीतिक एकता उसे बांधे रखने में समर्थ नहीं थी, वहीं होली रोमन एम्पायर अपने निर्माण के बाद 400 वर्षों तक चलता रहा। जैसा कि प्रो. मार्विन ने कहा है :

> "रोमन साम्राज्य की एकता मुख्यतः राजनीतिक और सैनिक थी। यह लगभग 400 से 500 वर्षों तक बना रहा। जो एकता कैथोलिक चर्च के कारण आई, वह धार्मिक और नैतिक थी और लगभग एक हजार वर्षों तक चली।"*

प्रश्न यह है कि होली रोमन एम्पायर रोमन एम्पायर के मुकाबले आशा से कहीं अधिक टिकाऊ कैसे सिद्ध हुआ।? ब्राइस के अनुसार, ईसाई धर्म के रूप में एक सामान्य धर्म ने और एक सामान्य धार्मिक संगठन अर्थात् क्रिश्चियन चर्च ने होली रोमन एम्पायर के लिए सीमेंट का काम किया। रोमन एम्पायर के पास यह चीज नहीं थी। इस सीमेंट के कारण एम्पायर के लोगों में एक नैतिकता और सामाजिक एकता पैदा हो गई और वे एक ही सरकार के अंतर्गत इसकी अभिव्यक्ति और प्राप्ति को देखने लगे।

एक सामान्य धर्म के रूप में ईसाई धर्म का एकीकरण करने वाले इस प्रभाव के बारे में ब्राइस का कहना है:

> "धर्म के ऊपर ही किसी राष्ट्र का अंतरतम और गहनतम जीवन निर्भर करता है। चूंकि देवत्व विभाजित हो गया, इसलिए मानवता भी विभाजित हो गई। भगवान की एकता के सिद्धांत से अब मनुष्य की एकता की बात लागू की गई है, क्योंकि मनुष्य उसकी प्रतिकृति के रूप में बना है। ईसाई धर्म का पहला पाठ प्रेम का था। ऐसा प्रेम जो उन लोगों को जोड़ेगा जो पहले संदेह और पूर्वाग्रहों के कारण अलग-अलग थे। इस तरह नए धर्म ने एक आस्थावान समुदाय (संप्रदाय) या होली एम्पायर का निर्माण किया, जो सभी मनुष्यों को

* दि यूनिटी ऑफ वेस्टर्न सिविलाइजेशन (चौथा संस्करण) पृ. 27

> अपने सीने से लगा लेता था। यह पुरानी दुनिया के बहुदेववाद के सिद्धांत से उल्टा था, ठीक उसी तरह जैसे सीजर का सर्वव्यापी शासन उससे पहले के अनेक छोटे–छोटे राज्यों और नगर गणराज्यों से भिन्न था।"*

ब्राइस ने रोमन साम्राज्य की अस्थिरता और उसके उत्तरवर्ती होली रोमन एम्पायर की अपेक्षाकृत स्थिरता के बारे में जो कुछ कहा है, उससे यदि भारत कोई पाठ सीखना चाहता है तो उसका यह तर्क कि रोमन साम्राज्य की अस्थिरता का कारण उसकी केवल राजनीतिक एकता था और होली रोमन एम्पायर इस कारण ज्यादा स्थिर था क्योंकि यह नैतिकता और सामाजिक एकता की अधिक टिकाऊ नींव पर खड़ा था, जो एक सांझी (सामान्य) आस्था पर आधारित था, और इस तर्क के पीछे मानव अनुभव है, तो यह सीख स्पष्ट है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मिलन या एकता की कोई संभावना नहीं है। सांझे या एक समान धर्म को जोड़ने वाली शक्तियों का यहाँ अभाव है। आध्यात्मिक दृष्टि से हिंदू और मुसलमान केवल ऐसे दो वर्ग या दो संप्रदाय नहीं हैं जैसे प्रोटेस्टेंट्स और कैथोलिक या शैव और वैष्णव, बल्कि वे तो दो अलग–अलग प्रजातियां हैं। इस राय के अनुसार न तो हिंदुओं से और न ही मुस्लिमों से यह मानने की आशा की जा सकती है कि उन दोनों में ही मानवता की भावना का अनिवार्य गुण विद्यमान है और वे अनेक नहीं हैं, बल्कि एक हैं, और उनके बीच में अंतर संयोग से बढ़कर और कुछ नहीं है। उनके लिए तो देवत्व ही विभाजित है, और देवत्व के विभाजन के कारण उनकी मानवता भी विभाजित है और मानवता के विभाजन के कारण उन्हें हमेशा अलग रहना है। उनको एक ही छत्रछाया के अंतर्गत लाने का कोई माध्यम नहीं है।

सामाजिक एकता के बिना राजनीतिक एकता प्राप्त करना कठिन है। यदि यह प्राप्त कर भी ली गई तो वह गर्मी में बोए गए पौधों की तरह कमजोर होगी, जो तेज आंधी से उखड़ सकता है। राजनीतिक एकता होने से हिंदुस्तान एक रियासत तो बन जाएगा, परंतु एक रियासत एक राष्ट्र नहीं होता और एक

---

* क्रिश्चियन चर्च ने होली रोमन एम्पायर के एकीकरण में एक निष्क्रिय भूमिका अदा नहीं की। इसने इस प्रक्रिया में बहुत सक्रिय भाग लिया। यह देखते हुए कि एक के बाद दूसरी संस्था विनष्ट होती जा रही थी, और विचित्र जनजातियों के उभरने के कारण देश और नगर किस तरह एक दूसरे से अलग होते जा रहे थे और परस्पर संपर्क करने में होनेवाली कठिनाइयां बढ़ती जा रही थीं, क्रिश्चियन चर्च ने धार्मिक भाईचारे को बचाने के लिए चर्च के संगठन को मजबूत बनाया, और बाहरी एकीकरण के हर बंधन को कस दिया। आस्था की आवश्यकताएं अब भी अधिक शक्तिशाली थीं। यह बताया गया कि सत्य एक ही है और जो कोई उसे चाहते हैं, यह उनको एक बंधन में बांधेगा, इसलिए उस संस्था में रहते हुए ही उसकी सुरक्षा की जा सकती है। भेड़ों के एक झुंड का एक ही गडरिया होता है।

रियासत, जो एक राष्ट्र नहीं है, अस्तित्व के संघर्ष में उसके बने रहने की बहुत संभावना नहीं होती। यह बात विशेषकर उस समय और अधिक सच हो जाती है जब आधुनिक काल की एक सबसे गतिशील शक्ति कौमियत या राष्ट्रीयता है, जो तमाम मिली–जुली रियासतों को नष्ट करके, उनका विघटन करके अपने आपको स्वतंत्र रूप में रखना चाहती है। इस तरह एक मिश्रित और मिली–जुली रियासत को खतरा बाहरी हमले से इतना नहीं होता, जितना कि बिखरे हुए राष्ट्रों को इच्छा–विरूद्ध जकड़ कर और दबा कर बनाई गयी राष्ट्रीयता के उभरने से होता है। जो लोग पाकिस्तान का विरोध करते है, उन्हें न केवल इस खतरे को अपने दिमाग में रखना चाहिए, बल्कि यह भी समझना चाहिए कि दबा कर रखे गये राष्ट्रों द्वारा मिली–जुली रियासतों को तोड़ने की और अपना अलग घर बनाने की जो कोशिश की जाएगी, उसकी निंदा नहीं की जा सकती बल्कि आत्मनिर्णय के सिद्धांत के अनुसार उसे उचित ठहराया जा सकता है।

अध्याय : 8

पाकिस्तान का मुस्लिम विकल्प

I

हिंदू कहते हैं कि उनके पास पाकिस्तान का विकल्प है। क्या मुस्लिमों के पास भी पाकिस्तान का विकल्प है? हिंदू कहते हैं "हां" मुस्लिम, कहते हैं "नहीं"। हिंदुओं का विश्वास है कि पाकिस्तान के लिए मुस्लिमों का प्रस्ताव सिर्फ सौदेबाजी के लिए है, ताकि कम्यूनल एवार्ड के तहत प्राप्त सांप्रदायिक सुविधाओं के अतिरिक्त उन्हें और भी सांप्रदायिक सुविधाएं प्राप्त हो सकें। मुस्लिम इस बात से इंकार करते हैं। उनका कहना है कि पाकिस्तान के बराबर कोई अन्य चीज नहीं है, इसलिए उन्हें पाकिस्तान चाहिए और केवल पाकिस्तान ही चाहिए। ऐसा लगता भी है कि मुसलमान पाकिस्तान के प्रति बहुत अधिक समर्पित हैं, और उनका दृढ़ संकल्प है कि उन्हें कुछ नहीं चाहिए और हिंदुओं की विकल्प की आशा कोरा काल्पनिक विचार है। परंतु यदि मान भी लिया जाए कि हिंदू इतने चतुर हैं कि वे मुस्लिम खेल के दांव–पेंच को समझते हैं, तब क्या हिंदू पाकिस्तान के मुस्लिम विकल्प को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाएंगे? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से इस बात पर निर्भर करेगा कि मुस्लिम विकल्प क्या है।

पाकिस्तान का मुस्लिम विकल्प क्या है, यह कोई भी नहीं जानता। यदि मुस्लिमों के पास कोई विकल्प है भी तो उन्होंने उसे जाहिर नहीं किया है और शायद वे उस दिन तक उसे जाहिर करेंगे भी नहीं, जब तक कि विरोधी संप्रदाय आपस में मिलकर उन शर्तों को संशोधित और तय न कर लें जिनके आधार पर भविष्य में हिंदू और मुस्लिम मिलकर रहेंगे। पहले से चेतावनी मिल जाना पहले से सशस्त्र हो जाने जैसा होता है। अतएव हिंदुओं के लिए यह आवश्यक है कि मुस्लिम विकल्प के बारे में कुछ न कुछ जानकारी प्राप्त कर लें, ताकि वे आकस्मिक आघात का सामना कर सकें। यह इसलिए भी आवश्यक है कि ऐसा विकल्प कम्यूनल एवार्ड से बेहतर नहीं हो सकता, बल्कि कई दर्जे ज्यादा खराब ही होगा।

किसी ठोस वैकल्पिक प्रस्ताव के अभाव में, केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है; अतः एक व्यक्ति का अनुमान उतना ही अच्छा हो सकता है, जितना दूसरे का और इसलिए संबंद्ध पक्ष को यह चुनाव करना पड़ेगा कि वह किस पर विश्वास करे। इस बारे में संभावित अनुमानों में से मेरा अनुमान यह है कि मुस्लिम अपने विकल्प के रूप में निम्नलिखित प्रस्ताव रख सकते हैं:

हिंदुस्तान का भावी संविधान यह प्रावधान करेगा:–

1. केंद्रीय और प्रांतीय दोनों विधान मंडलों में पृथक निर्वाचक प्रणाली के आधार पर मुस्लिमों का 50 प्रतिशत प्रतिनिधित्व होगा।

2. केंद्रीय और प्रांतीय कार्यपालिका मे मुस्लिम प्रतिनिधित्व 50 प्रतिशत होगा।

3. सरकारी सिविल सेवाओं में 50 प्रतिशत पद मुस्लिमों के लिए निर्धारित किए जाएंगे।

4. सशस्त्र सेनाओं में सैनिकों और उच्च पदों में मुस्लिमों का अनुपात आधा–आधा होगा।

5. सभी सार्वजनिक निकायों, जैसे परिषदों और आयोगों, में सार्वजनिक कार्यों के उद्देश्यों के लिए मुसलमानों का प्रतिनिधित्व 50 प्रतिशत होगा।

6. उन सभी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में, जिनमें भारत भाग लेगा, मुस्लिमों को 50 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया जाएगा।

7. यदि प्रधान मंत्री हिंदू होगा, तो उप–प्रधान मंत्री मुस्लिम होगा।

8. यदि सेनाध्यक्ष (कमांडर इन चीफ) हिंदू होगा, तो उप–सेनाध्यक्ष (डिप्टी कमांडर इन चीफ) मुस्लिम होगा।

9. विधान–मंडल के 66 प्रतिशत मुस्लिम सदस्यों की सहमति के बिना प्रांतीय सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

10. विधान–मंडल के 66 प्रतिशत मुस्लिम सदस्यों की सहमति के बिना किसी मुस्लिम देश के विरूद्ध कोई कार्रवाई या संधि वैध नहीं होगी।

11. विधान–मंडल के 66 प्रतिशत मुस्लिम सदस्यों की सहमति के बिना

मुस्लिमों की संस्कृति या धर्म से संबंधित कोई धार्मिक रीति–रिवाजों को प्रभावित करने वाला कानून नहीं बनाया जाएगा।

12. हिंदुस्तान की राष्ट्रीय भाषा उर्दू होगी।

13. गोवध पर प्रतिबंध लगाने वाला कोई कानून वैध नही होगा और न ही इस्लाम के प्रचार तथा इस्लाम धर्म में परिवर्तन करनेवाला कोई कानून वैध होगा यदि इसे विधान–मंडल के 66 प्रतिशत मुस्लिम सदस्यों की सहमति से पारित न किया गया हो।

14. संविधान में परिवर्तन या संशोधन के लिए आवश्यक बहुमत के बिना, जिसमें विधानमंडल के 66 प्रतिशत मुस्लिम सदस्यों का बहुमत भी है, संविधान में ऐसा परिवर्तन या संशोधन वैध नहीं माना जाएगा।

मेरा यह अनुमान कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है और न ही अनिच्छापूर्वक या जल्दबाजी में पाकिस्तान स्वीकार कराने के लिए हिंदुओं को भयभीत करने के लिए है। यदि मैं कहूं तो यह मुस्लिम स्रोत से प्राप्त जानकारी के आधार पर सोच–समझकर लगाया गया अनुमान है।

मुस्लिम विकल्प किस तरह का होने की संभावना है, इसका पता हैदराबाद के महामहिम निजाम के अपने राज्य के अंतर्गत तैयार किए जानेवाले संवैधानिक सुधारों की प्रकृति से चलता है।

हैदराबाद सुधार योजना एक अनूठी योजना है। इसमें ब्रिटिश हिंदुस्तान की सांप्रदायिक प्रतिनिधि वाली योजना को नहीं माना गया है। इसके स्थान पर इसमें क्रियात्मक (फंक्शनल) प्रतिनिधित्व प्रतिस्थापित किया गया है, अर्थात् वर्गों और व्यवसाय के अनुसार प्रतिनिधित्व। इस विधान मंडल में 70 सदस्य होंगे और इसका गठन इस प्रकार होगाः

निर्वाचित			मनोनीत		
कृषि		12	इलाके		8
पाटीदार	8		सर्फ–ए–खास	2	
काश्तकार	4		पैगाह	3	
महिलाएं	1		पेशकारी	1	
ग्रेजुएट (स्नातक)	1		सालारजंग	1	
विश्वविद्यालय	1		समस्थान	1	
जागीरदार	2		अधिकारी वर्ग		18
माशदार	1		ग्रामीण कलाएं और		
कानूनी	2		दस्तकारियां		1
चिकित्सीय	2		पिछड़े वर्ग		1
पश्चिमी	1		प्रतिनिधित्वहीन छोटे वर्ग		3
स्वदेशी	1		अन्य		6
शिक्षक		1			
व्यापार		1			
उद्योग		2			
बैंकिंग		2			
स्वदेशी	1				
सहकारी व ज्वांयट स्टाक	1				
संगठित श्रमिक		1			
हरिजन		1			
जिला पालिकाएं		1			
नगर पालिकाएं		1			
ग्रामीण बोर्ड		1			
योग		**33**	**योग**		**37**

क्रियात्मक (फंकशनल) प्रतिनिधित्व की इस योजना से विभिन्न वर्गों और खंडों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की तुलना में अधिक भाईचारा पैदा हो जाएगा यह बहुत संदेहास्पद है। विद्यमान धार्मिक और सामाजिक विभाजन के अतिरिक्त वर्ग–जागरूकता पैदा हो जाने से वर्ग–संघर्ष बड़ी आसानी से बढ़ जाएंगे। यह योजना बड़ी अहानिकर लगती है, परंतु इसकी वास्तविक प्रकृति का तो तब पता चलेगा जब हर वर्ग अपनी संख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की मांग करेगा। जो भी हो, क्रियात्मक प्रतिनिधित्व हैदराबाद के सुधारों की योजना का सबसे उल्लेखनीय पहलू नहीं है। इस योजना की सबसे उल्लेखनीय विशिष्टता है नए हैदराबाद विधानमंडल

में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच स्थानों का प्रस्तावित बंटवारा। महामहिम निजाम द्वारा अनुमोदित इस योजना में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को पूरी तरह समाप्त नहीं किया गया है। इसे क्रियात्मक प्रतिनिधित्व के साथ–साथ बनाए रखा गया है। यह योजना संयुक्त निर्वाचक–मंडलों के जरिए लागू होगी परंतु विधान मंडल सहित प्रत्येक निर्वाचित निकाय में दोनों मुख्य संप्रदायों का समान प्रतिनिधित्व होगा[1] और किसी उम्मीदवार को तब तक नहीं चुना जाएगा जब तक कि डाले गए कुल मतों में से उसे अपने संप्रदाय के 40 प्रतिशत मत नहीं मिलते। उनकी संख्या का विचार किए बिना हिंदुओं और मुस्लिमों के समान प्रतिनिधित्व का सिंद्धांत[2] न केवल हर निर्वाचित निकाय पर लागू होगा, बल्कि उस निकाय के निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों पर भी लागू होगा।

समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को न्यायोचित ठहराते हुए यह कहा गया है कि:

> "मुस्लिम संप्रदाय की ऐतिहासिक स्थिति के कारण और रियासत में उसके महत्व के कारण राज्य में मुस्लिम संप्रदाय को अल्पमत का दर्जा नहीं दिया जा सकता।"

हाल ही में एक श्री अमीर अकबर अली खां ने, जो अपने आप को नेशनलिस्ट पार्टी का लीडर कहता है, ब्रिटिश हिंदुस्तान में हिंदू–मुस्लिम समस्या के समाधान के लिए समाचार पत्रों[3] में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं:

1. हिंदुस्तान का भावी संविधान देश की पर्याप्त सैनिक सुरक्षा के व्यापक आधार पर तैयार होना चाहिए और इसे लोगों को सैनिक प्रवृत्ति वाला बनाना चाहिए। हिंदुओं को भी मुस्लिमों की तरह सैनिक प्रवृत्ति वाला होना चाहिए।
2. वर्तमान परिस्थितियां दोनों संप्रदायों को यह मांग करने का उत्कृष्ट अवसर देती है कि हिंदुस्तानी फौज में हिंदू और मुस्लिम बराबर संख्या में होने चाहिए और कोई भी रेजिमेंट सांप्रदायिक आधार पर न बनाई जाकर क्षेत्रीय आधार पर बनाई जानी चाहिए।

---

1. सुधारों की इस योजना के अंतर्गत् एक केंद्रीय विधानमंडल के अतिरिक्त अन्य लोक निकाय भी होंगे, जैसे पंचायतें, ग्रामीण बोर्ड, नगर पालिकाएं, और टाउन कमेटियां।
2. 1931 की जनगणना के अनुसार, हैदराबाद रियासत की जनसंख्या (बरार के अतिरिक्त) इस प्रकार है:

   हिंदू: 96,99,615; अछूत: 24,73,230; मुस्लिम: 15,34,666; ईसाई: 1,51,352; अन्य: 5,77,255; योग: 1,44,36,148
3. देखिए, बांबे सेंटिनल, 22 जून 1940। श्री मीर अकबर अली खां का कहना है कि इन प्रस्तावों पर उन्होंने कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री श्रीनिवास आयंगर से चर्चा की थी और प्रकाशित ये प्रस्ताव वस्तुतः वही प्रस्ताव हैं जिन्हें श्री आयंगर ने स्वीकार किया था।

3. प्रांतों और केंद्र की सरकारें पूरी तरह राष्ट्रीय सरकारें होनी चाहिए और उनमें सैनिक मनोवृत्ति के व्यक्तित्व होने चाहिए। केंद्रीय और सभी प्रांतीय मंत्रिमंडलों में हिंदू और मुस्लिम बराबर संख्या में होने चाहिए। जहां आवश्यक हो, महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाए। संयुक्त निर्वाचक–मंडल के माध्यम से यह योजना बहुत संतोषजनक ढंग से काम करेगी। परंतु देश की वर्तमान परिस्थिति में पृथक निर्वाचक–मंडल जारी रहने चाहिए। हिंदू मंत्री विधान के हिंदू सदस्यों द्वारा चुने जाने चाहिए और मुस्लिम मंत्री मुस्लिम सदस्यों द्वारा।
4. मंत्रिमंडल तभी बर्खास्त किया जा सकता है जब पूरे मंत्रिमडल के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया जाए और वह समूचे सदन के दो–तिहाई बहुमत से पारित हो। इसमें हिंदुओं और मुस्लिमों का अलग–अलग बहुमत हो।
5. प्रत्येक संप्रदाय के धर्म, भाषा, लिपि और व्यक्तिगत कानून की सर्वोच्च संवैधानिक नियंत्रण द्वारा सुरक्षा की जानी चाहिए, जिससे प्रत्येक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों के बहुमत को यह अधिकार हासिल हो कि वे किसी भी ऐसी कानून या अन्य कदम को वीटो कर सकें जो उपर्युक्त स्थिति पर प्रभाव डालता हो। इसी तरह संप्रदाय के आर्थिक कल्याण–कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले किसी भी कदम या उपाय पर ऐसा ही वीटो करने की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।
6. प्रशासन में समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए नौकरियों में सांप्रदायिक अनुपात को एक व्यावहारिक उपाय के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और संरक्षण देते समय भी इसका ध्यान रखा जाना चाहिए।

यदि हैदराबाद रियासत की नेशनल पार्टी का एक मुस्लिम नेता ऐसा प्रस्ताव देता है, तो इससे यह संकेत मिलता है कि ब्रिटिश हिंदुस्तान में रहने वाले मुसलमानों का दिमाग किस दिशा में चल रहा है। इसलिए मैंने पाकिस्तान के विकल्प के बारे मे जो अनुमान लगाया है, उसे और अधिक समर्थन मिल जाता है।

II

यह सच है कि 'आजाद मुस्लिम सम्मेलन' के भारी–भरकम नाम से अप्रैल 1940 में दिल्ली में एक मुस्लिम सम्मेलन बड़ी धूमधाम से हुआ था। इस आजाद सम्मेलन में जो मुस्लिम शामिल हुए थे, वे मुस्लिम लीग और नेशनलिस्ट

मुसलमानों दोनों के विरोधी थे। वे मुस्लिम लीग के विरोधी थे, क्योंकि एक तो वे पाकिस्तान का विरोध करते थे और दूसरे अपने अधिकारों के समर्थन के लिए वे अंग्रेजों पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे।[1]

वे नेशनलिस्ट मुसलमानों अर्थात् पूरी तरह कांग्रेस समर्थकों के भी विरूद्ध थे, क्योंकि कांग्रेस पर उन्होंने मुसलमानों की संस्कृति और धार्मिक अधिकारों के प्रति उदासीन होने का आरोप लगाया था।[2]

इन सबके होते हुए भी हिदुओं ने इस आजाद मुस्लिम सम्मेलन को मित्रों का सम्मेलन बताते हुए इसका स्वागत किया। परंतु सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किए गए, उनसे मुस्लिम लीग और आजाद मुस्लिम सम्मेलन के बीच कोई अंतर नजर नहीं आता। आजाद मुस्लिम सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किए गए, उनमें से तीन प्रस्तावों से इस समस्या के बारे में उनका दृष्टिकोण पता चलता है। पहले प्रस्ताव में कहा गया है:

> "यह सम्मेलन जो ऐसे हिंदुस्तानी मुस्लिमों का प्रतिनिधि सम्मेलन है जो देश के लिए पूरी आजादी पाना चाहते हैं और जिसमें हर प्रांत से प्रतिनिधि और डेलीगेट आए हैं, मुस्लिम समुदाय के हितों और समूचे देश के हितों से संबंद्ध सभी प्रश्नों पर पूरी तरह और सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद निम्नलिखित घोषणा करता है:
>
> "हिंदुस्तान की भौगोलिक और राजनीतिक सीमाएं पूर्णतः एक होंगी और इस प्रकार यह सभी नागरिकों का साझा वतन है, भले ही उनकी जाति या धर्म कोई भी क्यों न हो और वे इसके सभी संसाधनों के साझे मालिक हैं। देश का कोना–कोना मुस्लिमों का घर है व वतन है जो अपने मजहब और संस्कृति की ऐतिहासिक श्रेष्ठता को सदा याद रखते हैं और जो उन्हें अपने जीवन से भी ज्यादा प्यारे हैं। जीवन के हर क्षेत्र में और सभी कार्यकलापों में देश के सभी निवासियो के समान अधिकार और दायित्व हैं। इन अधिकारों और दायित्वों के फलस्वरूप हर हिंदुस्तानी मुस्लिम निस्संदेह भारतीय है, और देश के

1. बताया जाता है कि सम्मेलन के एक प्रमुख सदस्य मुफ्ती किफायतुल्ला ने अपने भाषण में कहा– 'हमें यह दिखाना होगा कि आजादी की लड़ाई में हम और किसी समुदाय से पीछे नहीं है।' वह इस बात की घोषणा करने को इच्छुक था कि हम अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अंग्रेजों की सरकार पर निर्भर नहीं रहना चाहते, हम अपने धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वयं समुचित रक्षोपाय कर लेंगे और इसके लिए हम किसी भी ऐसी पार्टी से संघर्ष कर लेंगे, भले ही वह कितनी भी ताकतवर क्यों न हो, जो हमारे संरक्षणों को स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि हम आजादी के लिए सरकार से संघर्ष करेंगे। (जोरदार हर्षध्वनि) हिंदुस्तान टाइम्स, 30 अप्रैल 1940।
2. हिंदुस्तान टाइम्स के उसी अंक में देखिए मोहम्मद हिफजुल्ल रहमान और डा. के.एम. अशरफ के भाषण।

हर भाग में किसी भी हिंदुस्तानी नागरिक को सरकारी, आर्थिक और अन्य राष्ट्रीय गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक नौकरियों में मिलनेवाली सारी सुविधाओं का समान अधिकार है। इसी कारण अन्य हिंदुस्तानियों के साथ मुस्लिमों की भी यह जिम्मेदारी है कि वे देश की आजादी के लिए कोशिश करें और त्याग करें। यह तो एक स्वतः सिद्ध सिद्धांत है और कोई भी विवेकशील मुस्लिम इसकी सच्चाई के बारे में सवाल नहीं उठाएगा। यह सम्मेलन स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है और पूरे जोर–शोर से घोषित करता है कि हिंदुस्तानी मुस्लिमों का लक्ष्य पूर्ण आजादी है और उसी के साथ अपने धर्म और सांप्रदायिक हितों की रक्षा करना है और वे इस लक्ष्य को जल्दी से जल्दी प्राप्त करने को उत्सुक हैं। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने अतीत में भी बड़े–बड़े त्याग किए हैं और उससे भी ज्यादा बड़े त्याग करने के लिए सदैव तत्पर है।

यह सम्मेलन, खुले तौर पर पुरजोर तरीके से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों तथा अन्यों द्वारा भारतीय मुसलमानों पर लगाए गए इस निराधार आरोप का खंडन करता है कि वे भारत की आजादी में बाधक हैं और जोरदार शब्दों में घोषणा करता है कि मुसलमान अपनी जिम्मेदारियों के प्रति पूरी तरह सजग हैं और वे भारत की आजादी की लड़ाई में दूसरों से पीछे रहना अपनी परम्पराओं के प्रतिकूल तथा अपने लिए असम्मानजनक समझते हैं।"

इस संकल्प के द्वारा उन्होंने पाकिस्तान की योजना को अस्वीकार कर दिया। उनका दूसरा संकल्प निम्नलिखित था:

"इस सम्मेलन का यह सुविचारित दृष्टिकोण है कि भारत के लोगों को भारत की भावी सरकार के लिए सिर्फ वही संविधान मान्य होगा जिसे वयस्क मतदान द्वारा निर्वाचित भारतीयों द्वारा स्वयं तैयार किया जाएगा। संविधान में संविधान सभा के मुस्लिम सदस्यों की सिफारिशों के अनुसार मुस्लिमो के सभी वैध हितों का पर्याप्त प्रावधान होगा। अन्य समुदायों के प्रतिनिधियों या किसी भी बाहरी शक्ति को इन प्रावधानों के निर्धारण में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होगा।"

सम्मेलन के इस संकल्प के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि मुस्लिमों के लिए प्रावधान सिर्फ मुस्लिमो द्वारा ही तय किए जाएंगे। उनका तीसरा संकल्प यह है:

"सरकार की स्थिरता तथा देश की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए

भारत के भावी संविधान में जहाँ यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक नागरिक और समुदाय संतुष्ट महसूस करे, यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि मुसलमानों की संतुष्टि के लिए उनके संरक्षण के प्रावधानों की योजना के रूप में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषयों को तैयार करे :

"यह सम्मेलन 27 सदस्यों का एक बोर्ड नियुक्त करता है। यह बोर्ड पूरी जांच, परामर्श और विचार–विमर्श करने के बाद अपनी सिफारिशे तैयार करेगा, जो सम्मेलन के अगले अधिवेशन में प्रस्तुत की जाएंगी, ताकि सम्मेलन में सांप्रदायिक प्रश्न के स्थायी राष्ट्रीय समाधान निकालने में इन सिफारिशों का उपयोग किया जा सके। ये सिफारिशें दो महीने में प्रस्तुत कर दी जानी चाहिए। बोर्ड को विचारार्थ सौंपे गए विषय निम्नलिखित हैं:

1. मुस्लिमों की संस्कृति की व्यक्तिगत कानून और धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा।
2. मुस्लिमों के राजनीतिक अधिकार और उनका संरक्षण।
3. हिंदुस्तान का भावी संविधान गैर–एकात्मक और संघीय हो और संघ सरकार के हाथों में नितांत आवश्यक और अपरिहार्य शक्तियां ही रहनी चाहिए।
4. मुस्लिमों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए और सरकारी नौकरियों में उनके हिस्से के लिए संविधान में प्रावधान हो।
5. बोर्ड को किसी भी खाली पद को उपयुक्त तरीके से भरने का अधिकार होगा। बोर्ड को अन्य सदस्य सहयोजित करने का अधिकार भी होगा। बोर्ड को अन्य मुस्लिम निकायों से विचार करने का भी अधिकार होगा और यदि बोर्ड आवश्यक समझे तो उसे देश के किसी भी जिम्मेदार संगठन से परामर्श करने का अधिकार होगा। बोर्ड के 27 सदस्यों को अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किया जाएगा।
6. बैठक के लिए 9 सदस्यों का कोरम होगा।
7. चूँकि विभिन्न समुदायों के सांप्रदायिक अधिकारों की सुरक्षा का निर्णय सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्तावों के अनुसार निर्वाचित संविधान सभा करेगी, इसलिए सम्मेलन यह घोषणा करना जरूरी समझता है कि इस संस्था के मुस्लिम सदस्यों का चुनाव मुस्लिम स्वयं ही करेंगे।

यह जानने के लिए कि आजाद मुस्लिम काफ्रेंस मुस्लिमों की सुरक्षा और संरक्षण के लिए क्या उपाय निर्धारित करेगी, हमें इस बोर्ड की रिपोर्ट की प्रतीक्षा करनी होगी।[1] परंतु यह आशा करने का कोई कारण नजर नहीं आता कि वे उपाय मेरे द्वारा पाकिस्तान के विकल्प के अनुमानों से कुछ भिन्न होंगे। इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि आजाद मुस्लिम कांफ्रेंस ऐसे मुस्लिमों की संस्था है जो न केवल मुस्लिम लीग के विरोधी हैं, बल्कि नेशनलिस्ट मुस्लिमों के भी उतने ही विरोधी है। इसलिए यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि वे हिंदुओं के प्रति उससे अधिक सदाशयता दिखाएंगे, जितनी लीग ने दिखाई है या दिखाएगी।

मान लीजिए कि मेरा अनुमान ठीक निकलता है, तो यह जानना रूचिकर होगा कि हिंदू इसके उत्तर में क्या कहेंगे। क्या वे पाकिस्तान के ऐसे विकल्प को अधिक पसंद करेंगे अथवा ऐसे विकल्प की तुलना में पाकिस्तान को ही तरजीह देंगे? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर मैं हिंदुओं और उनके नेताओं पर छोड़ता हूँ। मैं तो इस बारे में सिर्फ यह कहना चाहूँगा कि इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करते समय वे कुछ महत्वपूर्ण बातों को अपने ध्यान में रखें। विशेष रूप से उन्हें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि माच्र पॉलिटिक[2] और ग्रावामिन पॉलिटिक[3] में अंतर होता है, कम्यूनिटास कम्युनिटेटम में और नेशन ऑफ नेशंस में अंतर होता है। निर्बलों की आशंकाएं दूर करनेवाले रक्षोपायों और ताकतवर लोगों की आकांक्षाएं पूरी करने के कपटपूर्ण उपायों में अंतर होता है। रक्षोपायों की व्यवस्थाएं करने और देश को सौंप देने के बीच अंतर होता है। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिकायतें बनाकर सत्ता हथियाने वालों को जो आराम से दिया जा सकता है, वह सत्ता की राजनीति वालों को नहीं दिया जा सकता। जो एक संप्रदाय को दिया जा सकता है, वह एक राष्ट्र को नहीं दिया जा सकता। और जो कुछ एक निर्बल को उसकी रक्षा करने के उपाय स्वरूप दिया जा सकता है, वह शायद एक ताकतवर को न दिया जा सके, जो उसका उपयोग आक्रमण के हथियार के रूप में कर सकता है।

ये महत्वपूर्ण विचारार्थ विषय हैं, और यदि हिंदुओं ने इनकी अनदेखी कर दी तो उन्हें स्वयं भी इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ेंगे। यह इसलिए कि मुस्लिम विकल्प वास्तव में एक अत्यंत भयावह और खतरनाक विकल्प है।

---

1. यह रिपोर्ट अब तक भी प्रकाशित नहीं हुई है।
2. माच पॉलिटिक का अर्थ है सत्ता की राजनीति।
3. ग्रावामिन पॉलिटिक का तात्पर्य है कि मुख्य रणनीति यह हो कि शिकायतें पैदा करके सत्ता हथियाई जाए।

अध्याय : 9

विदेशों से सीख

हिंदू, जो मुसलमानों की यह मांग मानने को तैयार नहीं हैं कि भारत को पाकिस्तान और हिंदुस्तान में विभाजित कर दिया जाए और जो भारत की भौगोलिक अखंडता को किसी भी मूल्य पर कायम रखने पर जोर देते हैं, अच्छा ही करेंगे यदि वे दूसरे उन देशों की नियति का अध्ययन करें जिन्होंने भारत के समान ही अनेक राष्ट्रों को आश्रय प्रदान किया और उनमें पारस्परिक सौहार्द के सृजन का प्रयास किया।

ऐसे सभी देशों के इतिहास की समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। यहां उनमें से केवल दो देशों, अर्थात् तुर्की और चेकोस्लोवाकिया, की कहानी का उल्लेख ही पर्याप्त होगा।

I

पहले तुर्की को लीजिए। इतिहास बताता है कि मंगोलों ने तुर्की को उनके देश मध्य एशिया से 1230-40 ईसवी के बीच निकाल दिया था, जिससे वे अनातोलिया के पश्चिमोत्तर में जाकर बस गए। तुर्की साम्राज्य के निर्माता के रूप में उनकी भूमिका 1326 ई. में ब्रूसा की विजय के साथ प्रारंभ हुई। 1360-61 में उन्होंने एजियन से काला सागर तक थ्रेस को जीता। 1361-62 ई. में कोंस्टेंटीनोपल की विजेंटाइन सरकार ने उनकी प्रभुसत्ता स्वीकार की। बुल्गेरिया ने भी 1369 ई. में ऐसा ही किया। मकदूनिया पर उन्होंने 1371-72 में विजय पाई। 1373 ई. में कोंसेटेंटीनोपल ने पूर्ण रूप से ओटोमन की संप्रभुता स्वीकार की। 1389 में उन्होंने सर्बिया पर विजय प्राप्त की, जबकि 1430 में सालोनिका पर, 1453 में कॉंसेटेंटीनोपल, 1461 में त्रेबिजोंद तथा 1465 में कुरामान, और 1475 में काफ्फा तथा ताना पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिनों की शांति के बाद उन्होंने 1514 में मोसुल, और 1516-17 में सीरिया, मिस्र, हियाज़ और यमन पर विजय प्राप्त कर ली और 1521 में बेलग्राड पर अपनी विजय-पताका फहरा दी। इसके बाद 1526 में हंगरी

और मोहाज़ जीत लिए गए। 1554 में बगदाद पर पहली विजय प्राप्त की थी और 1639 में बगदाद पर दूसरी जीत हासिल की। उन्होंने वियना की दो बार घेराबंदी की। पहली बार 1529 में और फिर 1683 में, जिसका उद्देश्य अपनी विजय–पताका को और आगे फहराना था। परंतु दोनों ही अवसरों पर उन्हें पीछे हटना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप में विस्तार सदा के लिए रूक गया। फिर भी 1326 और 1683 के बीच उन्होंने जिन देशों को जीता था, उनसे एक विशाल साम्राज्य बन गया। इनमें से कुछ क्षेत्र बाद में तुर्कों को अपने शत्रुओं के हाथ गंवाने पड़े, परंतु 1789 में फ्रांसीसी क्रांति से पूर्व भी तुर्की साम्राज्य में (1) बलकान्स, डेन्यूब का दक्षिण क्षेत्र, (2) एशिया माइनर, लेबेंट और पड़ौस के द्वीप (साइप्रस आदि) (3) सीरिया और फिलस्तीन, (4) मिश्र और (5) मिश्र से मोरक्को तक फैला हुआ उत्तरी अफ्रीका शामिल थे।

तुर्की साम्राज्य के विघटन की कहानी आसानी से बताई जा सकती है। सर्वप्रथम 1769 में मिश्र उससे वास्तविक रूप से अलग हो गया था, भले ही विधिवत् ऐसा नहीं हुआ हो। उसके बाद बाल्कान्स में ईसाइयों ने भी ऐसा ही किया। तुर्की से 1812 में हुए युद्ध के बाद बेसारबिया पर रूस ने अधिकार कर लिया। सन 1812 में सर्बिया ने रूस की सहायता से विद्रोह कर दिया और तुर्क सर्बिया को एक पृथक सरकार के अधीन रखने को बाध्य हो गए। 1829 में ऐसी ही रियायतें दो अन्य डेन्यूबियन प्रांतों – मोल्दाविया और वालाशिया – को भी प्रदान की गईं। ग्रीस के स्वतंत्रता–संग्राम के परिणामस्वरूप, जो कि 1822-29 के बीच चला, ग्रीक तुर्की शासन से पूर्णतः मुक्त हो गया और 1832 में ग्रीक की स्वतंत्रता को दूसरी शक्तियों द्वारा मान्यता मिल गई। 1875-77 के दौरान बालकान्स में भी उथल–पुथल मच गई। बोस्निया और हर्जेगोविना में विद्रोह हो गया और बल्गेरियनों ने तुर्की पर अत्याचार किए, जिनका उत्तर तुर्की ने भी उसी तरह के अत्याचारों से दिया, जिसके फलस्वरूप सर्बिया और मोंटेनोगरों ने तुर्की के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया और रूस ने भी ऐसा ही किया। बर्लिन की संधि के तहत बल्गारिया को तुर्की के अंतर्गत स्वशासन का अधिकार दिया गया और पूर्वी रूमानिया पर एक ईसाई गवर्नर के तहत तुर्की द्वारा शासन किया जाना स्वीकार किया गया। रूस को कार्स और बातोम प्राप्त हुए। डोबुर्जा रूमानिया को दिया गया और बोस्निया व हर्जेगोविना का प्रशासन आस्ट्रिया को सौंप दिया गया तथा साइप्रस पर इंगलैंड ने अधिकार कर लिया। सन् 1881 में ग्रीस ने थेस्सली पर और फ्रांस ने ट्यूनियस पर अधिकार कर लिया। सन् 1885 में बल्गारिया और पूर्वी रूमानिया को मिलाकर एक राज्य बना दिया गया।

तुर्की साम्राज्य के 1906 तक उत्थान और पतन की कहानी का मि.ले.नपूल से निम्नलिखित शब्दों में बड़ा जीवंत वर्णन किया है:

"अपने प्राचीन स्वरूप में, पोर्टे का शासन केवल उस संकीर्ण से क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था जिसे यूरोप में तुर्की कहा जाता है, अपितु ग्रीस, बल्गारिया और पूर्वी रूमानिया, रूमानिया, सर्बिया, बोस्निया और क्रीमिया सहित हर्जेगोविना तथा दक्षिणी रूस का एक भाग मिश्र, सीरिया, त्रिपोली, ट्यूनिस, अल्जीयर्स और भूमध्य क्षेत्र के अनेक द्वीप, जिनकी कुल जनसंख्या (वर्तमान में), अरब के वृहत परन्तु मुख्यतः मरूस्थल विशाल क्षेत्र को छोड़कर, लगभग पांच करोड़ अथवा रूस को छोड़कर यूरोप की आबादी से दोगुनी होगी, तक इसका विस्तार था। एक-एक करके (उसके प्रांत) उससे छिनते रहे। अल्जीयर्स एवं ट्यूनिस को फ्रांस में शामिल कर दिया गया है और 1,75,000 वर्ग मील के क्षेत्र में बसे पचास लाख लोगों ने अपनी निष्ठा बदल ली है। मिस्र व्यावहारिक तौर पर स्वतंत्र है। इसका तात्पर्य है 500,000 मील और 1 करोड़ 6 लाख से अधिक आबादी को गंवा देना। केवल एशियाई तुर्की को ही तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम गंवाना पड़ा है। इसमें उसके वर्तमान राज्य शामिल हैं और यह लगभग 680,000 वर्ग मील क्षेत्र में फैला हुआ है और उसकी आबादी एक करोड़ छह लाख से अधिक है। यूरोप में उसे उतनी ही गंभीर क्षति उठानी पड़ी है, जितनी कि अफ्रीका में, जहां मात्र त्रिपोली ही उसके पास रह गया है। सर्बिया और बोस्निया पर आस्ट्रिया का शासन है और इस कारण 40,000 मील का क्षेत्र आस्ट्रेलिया में मिला दिया गया और पैंतीस लाख लोग आस्ट्रियन प्रजाजन बन गए हैं। वाल्लेशिया और मोलदेविया रूमानिया के स्वतंत्र राज्य से मिला दिए गए हैं, जिससे तुर्की का क्षेत्र 46,000 मील घट गया है और उसे पचास लाख से अधिक की आबादी से वंचित होना पड़ा है। बल्गारिया एक स्वतंत्र राज्य है, जिस पर पोर्तो का वास्तविक नियंत्रण नहीं है और हाल ही में पूर्वी रूमानिया भी यथार्थतः बल्गारिया का भाग हो गया है और इन दोनों का क्षेत्रफल लगभग 40,000 वर्गमील है तथा जनसंख्या तीस लाख है। ग्रीस का राज्य, जिसमें 25,000 मील का क्षेत्र और बीस लाख की आबादी है, बहुत पहले ही अपने मूल राज्य से पृथक हो चुका है। यूरोप में, जहां कभी तुर्की राज्य का क्षेत्रफल 230,000 मील था, और जिसकी जनसंख्या लगभग दो करोड़ थी, अब वह मात्र 66 हजार मील तक सीमित रह गया है जिसकी आबादी पैंतालीस लाख है। वह अपनी लगभग तीन चौथाई भूमि और इतनी ही आबादी गंवा चुका है।*

---

* मि. लेनपूल, 'टर्की', पृ. 363-64

1907 में तुर्की की यह स्थिति थी। उसके बाद उस पर जो कुछ गुजरा, वह उसकी दुर्भाग्यपूर्ण कहानी का दुखद अध्याय ही है। 1908 में युवा तुर्कों द्वारा की गई क्रांति का लाभ उठाकर आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना पर अधिकार जमा लिया और बल्गारिया ने अपनी आजादी की घोषणा कर दी। 1911 में इटली ने त्रिपोली पर और 1912 में फ्रांस ने मोरक्को पर अधिकार कर लिया। इटली द्वारा 1912 में किए गए सफल हमले से प्रोत्साहित होकर बल्गारिया, ग्रीस, सार्बिया, और मोंटेनेग्रो ने मिलकर बाल्कान्स लीग का गठन कर तुर्की के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इस युद्ध में, जिसे प्रथम बाल्कान्स युद्ध के नाम से जाना जाता है, तुर्की पूर्णतः पराजित हो गया। लंदन संधि (1913) से यूरोप में तुर्की–क्षेत्र घटकर कांस्टेंटीनोपल के इर्द–गिर्द एक संकुचित पट्टी के रूप में सीमित होकर रह गया। परंतु यह संधि प्रभावी नहीं हो सकी, क्योंकि विजेताओं में विजय की लूट के वितरण पर सहमति नहीं हो सकी। 1913 में बल्गारिया ने शेष बाल्कान्स लीग के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया और रूमानिया ने अपने क्षेत्र का विस्तार करने की लालसा से बल्गारिया के विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया। तुर्की ने भी वैसा ही किया। बुखारेस्ट संधि (1913), जिसके द्वारा द्वितीय बाल्कान्स युद्ध समाप्त हुआ था, तुर्की ने एड्रियानोपल पुनः प्राप्त कर लिया और बल्गारिया से थ्रेस भी वापस ले लिया। सर्बिया ने उत्तरी मेसेडोनिया (मकदूनिया) पा लिया तो ग्रीस को दक्षिण मकदूनिया (सालोनिका समेत) प्राप्त हो गया, जबकि मोंटेनेग्रो ने तुर्की की कीमत पर अपने क्षेत्र का विस्तार किया। 1914 तक, जबकि यूरोपीय महायुद्ध छिड़ा, बाल्कान्स ने तुर्की से अपनी स्वतंत्रता अर्जित कर ली और यूरोप में जो क्षेत्र तुर्की साम्राज्य के तहत रह गया, वह वास्तव में कांस्टेंटीनोपल के इर्द–गीर्द संकुचित क्षेत्र और रूस में उसके अधिकार वाले क्षेत्र तक ही सीमित था। जहां तक अफ्रीका महाद्वीप का संबंध है, मिस्र और शेष उत्तरी अफ्रीका पर सुलतान की सत्ता नाममात्र को ही रह गई थी, क्योंकि यूरोपीय ताकतों ने उन पर वास्तविक नियंत्रण कर लिया था। 1914 के महायुद्ध में तुर्की का पूर्ण पराभव हो गया। भूमध्य क्षेत्र से फारस की खाड़ी तक के सभी क्षेत्रों पर आक्रमण हुए और बगदाद, जेरूशलम, दमिश्क तथा अलेप्पो जैसे विख्यात नगरों पर कब्जा हो चुका था। यूरोप में मित्र सेनाओं ने कांस्टेंटीनोपल पर अधिकार कर लिया। सेवरेस की जिस संधि के द्वारा तुर्की के विरूद्ध युद्ध की समाप्ति हुई, उसके तहत उसे अपने सभी दूरवर्ती प्रांतों से तो वंचित होना ही पड़ा, एशिया माइनर का उपजाऊ मैदान भी गंवाना पड़ा। तुर्की की कीमत पर मेसेडोनिया, थ्रेस और एशिया माइनर क्षेत्रों पर ग्रीस के दावे को उदारतापूर्वक स्वीकार किया गया और इटली को एडालिया तथा दक्षिण में एक बड़ा भाग मिला। तुर्की को एशिया में अरब क्षेत्र, इराक, सीरिया, फिलस्तीन, हेजाज और नेज्द में तमाम अरब प्रांत भी गंवाने पड़े। तुर्की के पास तो मात्र राजधानी कासटेंटिनोपल और अनातोलिया के बंजर पठार

का कुछ भाग ही रह गया था, जो जलडमरूमध्य के क्षेत्र द्वारा राजधानी से अलग–थलग हो गया था। हालांकि इस संधि को सुलतान ने स्वीकार कर लिया था; किंतु कमाल पाशा के नेतृत्व में नेशनलिस्ट पार्टी ने इसकी कड़ी आलोचना की। जब ग्रीक अपने नए क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़े तो उन पर हमले हुए और उन्हें निर्णायक पराजय झेलनी पड़ी। ग्रीस से युद्ध 1920 से 1922 तक चला। उसकी समाप्ति पर तुर्कों ने स्मिरना पर पुनः अधिकार कर लिया। चूंकि मित्र देश ग्रीकों की सहायतार्थ सेनाएं भेजने को तैयार नहीं थे, अतएव उन्हें नेशनलिस्ट तुर्कों से समझौता करने को बाध्य होना पड़ा। मुदिआनिप में हुए सम्मेलन में, सेवरेस की संधि शर्तों को संशोधित करने पर ग्रीक सहमत हो गए। यह संशोधन 1923 में लौसाने की संधि द्वारा किया गया, जिसमें पश्चिमी थ्रेस की मांग को छोड़कर तुर्की की मांगे मान ली गईं। सेवरेस–संधि की शेष शर्तों को तुर्कों ने मान लिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें एशिया में अपने अरब प्रांत गंवाने पड़े। 1914 के युद्ध से पहले तुर्कों ने यूरोप में अपने सभी क्षेत्र खो दिए और युद्ध के बाद एशिया में। पुराने तुर्की साम्राज्य के विखंडन के परिणामस्वरूप अब उसके पास वह छोटा–सा राज्य रह गया है, जो तुर्की गणराज्य है और उसमें जो क्षेत्र है, वह पुराने साम्राज्य का एक छोटा–सा क्षेत्र मात्र है।*

II

अब चेकोस्लोवाकिया का उदाहरण लें। यह त्रिआनोन की संधि की देन है, जो 1914 के यूरोपीय युद्ध के बाद हुई थी। शांति–संधियों में किसी भी शांति–संधि की शर्तें इतनी कठोर नहीं थीं, जितनी त्रिआनोन–संधि की थीं। प्रोफेसर मेकार्टने का कथन है–"इस संधि के द्वारा हंगरी उतना विकृत नहीं हुआ जितना कि विखंडित हुआ। यदि हम क्रोशिया और सलवानिया को शामिल भी करे लें, जो होली क्राउन के अन्य द्वीपों के साथ संघीय संबंध मात्र से संबद्ध रहे थे–हालांकि यह आठ सौ वर्षों की अवधि में एक सौ वर्ष की ही थी–तो हंगरी का क्षेत्र युद्ध पूर्व क्षेत्र की तुलना में घटकर अब एक तिहाई (32.6 प्रतिशत) से भी कम रह गया और उसकी आबादी भी तब की तुलना में 2/5 भाग (41.6 प्रतिशत) ही रह गई। जो क्षेत्र और लोग पहले हंगेरियाई थे, उन्हें कम से कम सात राज्यों के बीच बांट दिया गया।" इन राज्यों में से एक ऐसा था जो पहले अस्तित्व में ही नहीं था। यह एक नया राज्य था – चेकोस्वोवाकिया नामक राज्य।

चेकोस्लोवाकिया गणराज्य का क्षेत्रफल 54,244 वर्गमील और आबादी लगभग

---

* तुर्की का कुल क्षेत्र 295,492 वर्ग मील है, जिसका 3,708 वर्ग मील क्षेत्र दलदल और नहरों से भरा है। तुर्की का सिर्फ 9,257 वर्ग मील क्षेत्र यूरोप में पड़ता है।

13,613,172 थी। इसमें जो क्षेत्र शामिल थे, उन्हें पहले बोहेमिया, मोराविया, स्लोवाकियां और रूथेनिया कहा जाता था। यह एक ऐसा संयुक्त राज्य था, जो तीन मुख्य राष्ट्रों से मिलकर बना था। (1) चेक जो बोहेमिया और मोराविया में बसते थे, (2) स्लोवाक जो स्लोवाकिया में रहते थे, और (3) रूथेनिया जो रूथेनियाई कब्जे में था।

चेकोस्लोवाकिया बहुत कम समय – मात्र दो दशक – तक ही कायम रहा। 15 मार्च, 1939 को यह विनष्ट हो गया और जर्मनी का संरक्षित क्षेत्र बन गया। इसके तिरोहित होने में जो परिस्थितियां कारण बनीं, वे नितांत विस्मयकारी थीं। इस राज्य के अंत का कारण भी वही शक्तियां बनीं, जिन्होंने इसे जन्म दिया था। 30 सितंबर, 1938 को म्यूनिख–संधि पर हस्ताक्षर करके, जिसकी अनिवार्य परिणति संरक्षित राज्य बनना ही थी, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने जर्मनी की सहायता की, जो महायुद्ध में उनका शत्रु था। उन्होंने अपने पूर्व मित्र चेकोस्लोवाकिया पर विजय पाने में उनकी सहायता की। चेकों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विगत शताब्दी में जो प्रयास किए गये थे, उन सभी पर पानी फिर गया तथा एक बार वे फिर से अपने पूर्व जर्मन स्वामियों के दास बन गए।

III

तुर्की के विघटन के क्या कारण हैं?

लॉर्ड एवरस्ले ने अपनी पुस्तक 'टर्किश एम्पायर'* में तुर्की के ह्रास के कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ आंतरिक थे और कुछ बाह्य। आंतरिक कारण दो थे। पहला था ओटोमन वंश का अधःपतन। सर्वोच्च सत्ता या तो सुलतानों के वजीरों के हाथों में खेलती रही अथवा उनके हरम की महिलाओं के इशारों पर नाचने लगी थी। पोर्ते के सरकारी प्रशासन के अधिकारियों से हरम का सदैव ही मनमुटाव रहता था। पोर्ते प्रकटतः सुलतान के निर्देशानुसार शासन चलाते थे। कनिष्ठ से लेकर सर्वोच्च श्रेणी तक के सभी अधिकारियों की रूचि, नागरिक और सैनिक सभी कार्यालयों की सर्वाधिक बोली लगाने वालों को बिक्री करने में रहती थी। अपना उद्देश्य साधने के लिए उन्हें यही सरल उपाय प्रतीत होता था कि वे हरम की महिलाओं को घूस दें और इस तरह सुलतानों की सहमति प्राप्त कर लें। इससे हरम एक ऐसा केंद्र बन गया था, जहां से संपूर्ण तुर्की साम्राज्य में भ्रष्टाचार फैल गया और यह उसके पतन का एक कारण बना। तुर्की साम्राज्य के पतन का दूसरा मुख्य कारण था उसकी सेना का क्षय होना। विगत तीन सौ वर्षों के दौरान उसने अपना वह ओज और साहस गंवा दिया

* देखिए, शेख अब्दुल रशीद का संक्षेपण।

जिससे आटोमेंस ने अपने प्रारंभिक काल में अनेक युद्ध जीते थे। यह सेना के स्वरूप के कारण हुआ था, जिसमें सैनिकों की भर्ती केवल तुर्कों और अरबों तक सीमित कर दी गई थी। साथ ही लूट के अवसर, और उस लूट को• सेना में बांटने क्री आशा भी घटी थीं जो पहले उन्हें लड़ने के लिए प्रेरित करती थी। यह स्थिति बाद की उस अवधि में भी बनी रही थी, जब साम्राज्य रक्षात्मक रूख अपना रहा था और नई विजयों का सवाल ही नहीं रह गया था, अपितु जो कुछ जीता था, उसे कायम रखना ही उद्देश्य बन चुका था।

तुर्की के पतन के बाह्य कारणों में मुख्य कारण यूरोपीय राष्ट्रों में लूटमार करने की प्रवृत्ति का उभरना बताया जाता है। परंतु इस दृष्टिकोण से एक वास्तविक कारण लुप्त हो जाता है। तुर्की के पतन का वास्तविक और प्रमुख कारण उसके प्रजाजनों में राष्ट्रीयता की भावना की अभिवृद्धि था। ग्रीक-विद्रोह, सर्बों का विद्रोह, बलगारियनों और अन्य बाल्कनों का तुर्क अधिसत्ता के विरूद्ध विद्रोह स्पष्ट रूप से ईसाई धर्म और इस्लाम के बीच टकराव के परिचायक थे। परन्तु यह केवल सतही तौर पर दिखने वाला कारण था। ये विद्रोह तो उस राष्ट्रवाद की भावना की अभिव्यक्ति था जिससे वे उत्प्रेरित थे। इन विद्रोहों का तात्कालिक कारण तुर्की का कुशासन, इस्लाम के प्रति ईसाई धर्म का विरोध-भाव और यूरोपीय राष्ट्रों का षड्यंत्र भी था। किंतु इनसे वास्तविक प्रेरक शक्ति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। वास्तविक प्रेरक शक्ति तो राष्ट्रवाद की भावना ही थी, और उनका विद्रोह तो उनकी उस आकांक्षा की अभिव्यक्ति मात्र था, जिसका उनमें स्फुरण हुआ था। तथ्य यह है कि राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही तुर्की का पतन हुआ। यह विगत युद्ध में अरबों के विद्रोह और स्वतंत्र होने की उनकी इच्छा से सिद्ध हो जाता है। इस मामले में न तो इस्लाम और ईसाई धर्म के बीच टकराव जैसी स्थिति थी और न ही दोनों के बीच शोषक और शोषित जैसी ही कोई भावना या संबंध था। इस पर भी अरब ने तुर्की साम्राज्य से स्वतंत्र होने का दावा किया। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि अरब तुर्की प्रजाजन बने रहने के बजाए अरब राष्ट्रीयता से प्रेरित था और उसने अरब राष्ट्रवादी होना ही श्रेयस्कर माना।

चेकास्लोवाकिया के विनाश के क्या कारण है?

सामान्य धारणा यह है कि यह जर्मन आक्रमण का परिणाम था। एक हद तक यह सच भी है। परंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। यदि जर्मनी ही चेकोस्लोवाकिया का एकमात्र शत्रु था तो उसे कुल मिलाकर अपने उस सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे-से भाग को ही गंवाना पड़ता, जिसमें सूडटन जर्मन बसे हुए थे। जर्मनी के आक्रमण का उस पर इससे ज्यादा कोई प्रभाव नहीं हो सकता था। वस्तुतः चेकोस्लोवाकिया का विध्वंस उसकी सीमाओं में ही स्थित एक शत्रु ने किया था।

वह शत्रु था स्लोवाकों का दुराग्रही और कट्टर राष्ट्रवाद, जो राज्य की एकता को भंग कर स्लोवाकिया की स्वतंत्रता चाहते थे।

स्लोवाकों का चेकों के साथ एक ही राज्य की दो ईकाइयों के रूप में मिलन कतिपयं मान्यताओं पर आधारित था। पहली यह थी कि दोनों को एक दूसरे से इतना अधिक अभिन्न माना जाता था कि वे एक ही राष्ट्रिक प्रतीत होते थे। दूसरे स्लोवाक चेकोस्लोवाक की एक शाखा मात्र ही है। दोनों एक ही चेकोस्लोवाक भाषा–भाषी हैं। तीसरा यह कि कोई अलग स्लोवाक राष्ट्रीय चेतना नहीं है। उस समय किसी ने भी इन धारणाओं की समीक्षा नही की, क्योंकि स्लोवाक स्वयं इस संघ के इच्छुक थे। उन्होंने शांति सम्मेलन में अपने प्रतिनिधियों द्वारा 1918 में की गई औपचारिक घोषणा द्वारा अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी। यह उस मामले में बरती गई जल्दबाजी और सतही दृष्टिकोण था। जैसा कि प्रोफेसर मेकार्टनी ने इंगित किया है:

> "............मुख्य राजनीतिक तथ्य, जो वर्तमान युग के प्रयोजनों के लिए इस इतिहास (चेकों और स्लोवाकों के बीच संबंधों का) पर विचार करने के कारण उभर कर सामने आता है, उससे स्लोवाक राष्ट्रीय चेतना अन्तिम रूप से स्पष्ट होती है............ कम से कम स्लोवाकिया में एक एकल अविभाज्य चेकोस्लोवाक भाषा में वास्तविक और अडिग आस्था रखने वालों की संख्या कभी भी उतनी अधिक नहीं थी, जितनी कि दर्शायी जाती थी। आज वे घटकर मुट्ठी–भर ही रह गए हैं, जो चेकों और स्लोवाकों के बीच व्याप्त मतभेदों से प्रभावित हैं। आज तो स्वंय चेकों ने स्लोवाक भाषा को स्लोवाकिया की सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार किया है। राजनीतिक और राष्ट्रीय प्रतिरोध भी कम सुदृढ़ नहीं है और आज चेकोस्लोवाकिया नाम वस्तुतः सरकारी दस्तावेज़ों और विदेशियों के लाभार्थ प्रसारित साहित्य तक ही सीमित रह गया है। देश में कई सप्ताह तक रहने के दौरान मुझे केवल एक व्यक्ति द्वारा इस नाम का अपने लिए उपयोग करते सुनने की याद है। वह एक अर्ध जर्मन, अर्ध हंगेरियन युवती थी, जो इसे विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से इस्तेमाल करती थी, जिसका तात्पर्य यह था वह 'इरिडेंटिज्म' को निरर्थक समझती थी। जब कोई भी चेक अथवा स्लोवाक स्वाभाविक तौर पर किसी से बातचीत करता है, तो वह जो भी है उसी के अनुरूप स्वयं को चेक या स्लोवाक बताता है।*

स्लोवाकों की यह राष्ट्रीय चेतना, जो सदैव जीवंत थी, यह देखकर विस्फोटक

* सी.ए. मेकार्टनी, 'हंगरी एंड हर सक्सेसर्स', (ऑक्सफोर्ड), पृ. 136

होनी शुरू हो गई कि सुडेटन जर्मनों ने चेकोस्लोवाकिया से स्वायत्त शासन की मांग की है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में डाकूज़नी का सिद्धांत अपनाते हुए, जर्मनों ने कहा कि जो कुछ हम मांग रहे हैं वह हमें दे दो, अन्यथा हम तुम्हें तबाह कर देंगे। इस प्रकार की चालबाज़ी का इस्तेमाल करके वे अपने उद्देश्य की सिद्धि करना चाहते थे। स्लोवाकों ने भी यही मार्ग अपनाया और स्वायत्तता के लिए अपनी मांगे रखीं, परंतु उन्होंने कुछ अलग तरीका अपनाया। उन्होंने लुटेरे समुदाय की पद्धति का अनुसरण नहीं किया, बल्कि अपनी मांगों को मात्र स्वायत्तता तक सीमित कर दिया। उन्होंने स्वतंत्रता के समग्र विचार को तो दूर रखा और स्लोवाकिया में स्वायत्त आंदोलन में अग्रगण्य व्यक्ति डॉ. रिसो ने 8 अक्टूबर को जारी अपनी उद्घोषणा में कहा : हम प्रभु एवं राष्ट्र के लिए, अपने ध्येय की उपलब्धि के लिए, ईसाई एवं राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होकर, अपने स्वायत्त शासन की मांग के लिए आगे बढ़ेंगे। उक्त सत्यता में विश्वास करते हुए और उस ग्रावामिन पोलिटिक के लिए गुंजाइश न रहने देने की कोई अभिलाषा रखे बिना, जिसका कि स्लोवाक चेकों और स्लोवाकों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों में विघ्न डालने के लिए पूरा–पूरा उपयोग कर रहे थे, म्युनिख पैक्ट के तत्काल बाद प्राग की राष्ट्रीय असेंबली में (नवंबर 1938) उन्होंने एक अधिनियम पारित कर दिया और उसे स्लोवाकिया के स्वायत्तता संबंधी संवैधानिक अधिनियम की संज्ञा दी गई। उस अधिनियम के प्रावधानों का स्वरूप अत्यंत दूरगामी था। उसके तहत स्लोवाकिया के लिए एक पृथक संसद होगी और यह संसद ही चेकोस्लोवाक गणराज्य की कानूनी प्रणाली के ढांचे के तहत स्लोवाकियायी संविधान का निर्णय करेगी। स्लोवाकिया के क्षेत्र में बदलाव स्लोवाक संसद के दो–तिहाई बहुमत की सहमति से होगा। स्लोवाक संसद की सहमति स्लोवाकिया से पूर्णतया संबंधित अंतर्राष्ट्रीय संधियों के लिए भी आवश्यक कर दी गई। स्लोवाकिया में केंद्रीय राज्य प्रशासन के अधिकारी भी बुनियादी तौर पर स्लोवाक ही होंगे। सभी केंद्रीय संस्थानों, परिषदों, आयोगों और अन्य संगठनों में स्लोवाकिया के समानुपातिक प्रतिनिधित्व की गारंटी दी गई थी। इसी तरह ऐसे सभी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भी स्लोवाकिया को समानुपातिक प्रतिनिधित्व दिया गया, जिनमें योगदान के लिए चेकोस्लोवाकिया को आमंत्रित किया जाए। शांतिकाल में स्लोवाक सैनिक यथासंभव स्लोवाकिया में ही तैनात किए जाएंगे। जहां तक विधायी प्राधिकारों का संबंध है, सामान्य हित के सभी विषय चेकोस्लोवाकिया संसद को सौंपे गए थे। स्लोवाक को इन अधिकारों की गारंटी देते हुए संविधान अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि राष्ट्रीय असेंबली द्वारा किए गए संवैधानिक परिवर्तन तभी वैध होंगे, जब ऐसे परिवर्तनों के पक्ष में अपेक्षित संवैधानिक बहुमत होगा। इसमें स्लोवाकिया में निर्वाचित राष्ट्रीय असेंबली के सदस्यों का समानुपातिक बहुमत भी शामिल है।

इस तरह गणराज्य के राष्ट्रपति के चुनाव के लिए संसद के सदस्यों के अनुपातिक बहुमत की सहमति भी अनिवार्य थी। इसके अलावा इस बात की पुष्टि करने के लिए कि केंद्रीय सरकार पर स्लोवाकों का विश्वास होना आवश्यक है, संविधान में यह प्रावधान भी किया गया कि संसद के एक–तिहाई स्लोवाक सदस्य अविश्वास, प्रस्ताव भी पेश कर सकते हैं।

ये संवैधानिक परिवर्तन चेकों की इच्छा के विरूद्ध लागू किए गए थे। चेकों और स्लोवाकों के बीच इससे एक ऐसा अंतर आ गया जो इससे पहले कभी नहीं था। परंतु यह इस आशा से किए गए थे कि दोनों के बीच जो अपेक्षाकृत मामूली विवाद हैं वे मार्ग में रोड़ा नहीं बनेंगे और स्लोवाकों का राट्रवाद ही उन्हें चेकों के और अधिक निकट लाएगा। स्लोवाकिया को एक स्वतंत्र स्तर का दर्जा देने के लिए किए गए संवैधानिक परिवर्तन तथा यह तथ्य कि ऐसे दर्जे की गारंटी स्वयं स्लोवाकों की सहमत्ति के बिना नहीं बदली जा सकेगी, यह आश्वस्त करते थे कि चेकों के विलय से स्लोवाकों की राट्रीय पहचान के विलुप्त होने का कोई सवाल नहीं है। विभेदात्मक चिह्न से लागू हुई स्वायत्तता से सांस्कृतिक धाराएं पृथक हो गईं और स्लोवाक अपने रंग से वंचित होने से बच गए।

नए संविधान के तहत निर्वाचित प्रथम स्लोवाक संसद का उद्‌घाटन 18 जनवरी, 1939 को हुआ, और संसद के अध्यक्ष डॉ. मार्टिन सोकोल ने घोषणा की – "स्लोवाकों की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की अवधि समाप्त हो गई है। अब राष्ट्रीय पुनर्जन्म का काल प्रारंभ हो गया है।" इसके बाद जो अन्य भाषण हुए उनमें भी यह संकेत दिया गया कि अब जबकि स्लोवाकों को स्वायत्तता प्राप्त हो गई है, वे चेकों के प्रति कभी वैमनस्य महसूस नहीं करेंगे और दोनों ही चेक–स्लोवाक राज्य के प्रति निष्ठावान रहेंगे। स्लोवाक संसद का उद्‌घाटन हुए अभी एक माह भी नहीं बीता था कि स्लोवाक राजनीतिज्ञों ने विभेद के विरूद्ध तथा पूर्ण पृथकता के लिए अपना संघर्ष प्रारंभ कर दिया। उन्होंने उत्तेजक भाषण दिए, जिनमें चेकों की आलोचना की गई, चेकों द्वारा उनका दमन करने का दोषारोपण किया गया और स्लोवाकिया के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग भी की गई। मार्च के प्रारंभ होते–होते स्लोवाकिया में विभिन्न रूपों में पृथकतावाद ने चेकोस्लोवाकिया राज्य की अखंडता को ही गंभीर खतरा उपस्थित कर दिया। 9 मार्च को यह विदित हुआ कि स्लोवाक प्रधानमंत्री टिसो ने स्लोवाकिया की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करने का निश्चय कर लिया है। इस कार्यवाही का पूर्वाभास होने पर 10 मार्च को स्लोवाकिया में सेनाएं भेज दी गईं और गणराज्य के राष्ट्रपति डॉ. हाचे ने प्रधानमंत्री टिसो को अन्य स्लोवाक मंत्रियों सहित बर्खास्त कर दिया। अगले दिन टिसो ने, जिनके बारे में अनुमान लगाया गया था कि वह पुलिस निगरानी में हैं, बर्लिन को टेलीफोन कर सहायता का अनुरोध किया। सोमवार

को टिसो और हिटलर में भेंट हुई और डेढ़ घंटे तक बर्लिन में वार्ता चलती रही। हिटलर के साथ हुई इस बातचीत के तुरंत बाद टिसो ने प्राग फोन किया और जर्मन आदेशों की जानकारी दे दी।

वे आदेश ये थे:

1. सभी चेक सैनिक स्लोवाकिया से हटाए जांए।
2. स्लोवाकिया जर्मन संरक्षण में एक स्वतंत्र राज्य होगा।
3. राष्ट्रपति हाचे द्वारा स्वाधीनता की उद्घोषणा सुनने के लिए स्लोवाक संसद बुलाई जाएगी।

राष्ट्रपति हाचे और प्राग सरकार के पास 'हां' कहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा, क्योंकि उन्हें भली–भांति विदित था कि जर्मन सेना के कई दर्जन डिवीजन चेकोस्लोवाकिया की रक्षाविहीन सीमाओं के चारों ओर एकत्रित हो चुके हैं, और यदि स्लोवाकिया के हितों में जर्मनी द्वारा की गई मांगों को मानने से इन्कार कर दिया गया तो जर्मनी की सेनाएं किसी भी क्षण अंदर दाखिल हो जाएंगी। इस तरह चेकोस्लोवाकिया के नए राज्य का अंत हो गया।

IV

इन दो देशों की कहानी से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है?

मामलों को कैसे पेश किया जाए इसे लेकर कुछ मतभेद हो सकता है। श्री सिडनी बुक्स कहेंगे कि इन विनाशकारी युद्धों का कारण राष्ट्रीयता की भावना है, जो उनके अनुसार विश्वशांति का दुश्मन है। दूसरी ओर, श्री नोर्मन एंजल कहेंगे कि राष्ट्रीयता की भावना नहीं, अपितु राष्ट्रीयता के लिए उत्पन्न खतरा ही इसका कारण है। श्री राबर्ट्सन के विचार में राष्ट्रीयता एक अयुक्तिसंगत अंतःप्रेरणा है। भले ही वह सकारात्मक मतिभ्रम न हो पर जितना शीघ्र मानवता इससे छुटकारा पाए, उतना ही सब के लिए बेहतर होगा।

मामले को चाहे किसी भी तरह पेश क्यों न किया जाए और राष्ट्रीयता के उन्मूलन के प्रति चाहे जितनी ही प्रबल आकांक्षा क्यों न हो, जो शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, वह बेहद साफ है कि राष्ट्रीयता एक वास्तविकता है, जिससे न तो कुशलतापूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है और न ही उसका निषेध किया जा सकता है। चाहे कोई इसे अयुक्तिसंगत अंतःप्रेरणा कहे या सकारात्मक मतिभ्रम बताए, परंतु यह तथ्य है कि यह एक प्रभावपूर्ण शक्ति है और ऐसी गतिशील ताकत है जो साम्राज्यों को खंडित कर सकती है। इसका कारण चाहे राष्ट्रीयता

हो अथवा राष्ट्रीयता के लिए खतरा, यह तो कहने का ढंग है। वास्तविकता तो उसे मान्यता देने की ही है जैसा कि श्री टोयनबी ने भी कहा है "हमारे न चाहने के ब्रावजूद राष्ट्रीयता युद्ध की वजह बनने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली हैं। उसने भयावह रूप से यह सिद्ध कर दिखाया है कि वह कोई दुर्बल–सा अपवाद नहीं, अपितु एक दुर्दम्य एवं निर्णायक शक्ति है।" जैसा कि उन्होने इंगित किया "राष्ट्रीयता का सही–सही अध्ययन जीवन–मरण का प्रश्न बन गया है।" यह स्थिति केवल यूरोप में ही नहीं थी। तुर्की में भी ऐसा ही था। चेकोस्लोवाकिया में भी यही था। और उनके लिए तो यह जीवन–मरण का प्रश्न था, भारत के लिए भी वही जीवन–मरण का प्रश्न बन सकता है। प्रो. टोयनबी ने ग्यूजोट की भांति इस बात पर बल दिया है कि यूरोपीय शांति के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक आधारशिला के रूप में मान्यता दी जाए। क्या भारत इस दलील की उपेक्षा कर सकता है? यदि वह ऐसा करेगा तो भयावह आपदा को आमंत्रित करेगा। इन दोनों देशों के इतिहास से जो सीख ली जा सकती है, वह मात्र यही नहीं है कि राष्ट्रीयता एक विध्वंसक शक्ति है। उनके अनुभव अधिक नहीं, तो समान रूप से महत्वपूर्ण तो है ही। यदि कतिपय तथ्यों को याद रखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा।

तुर्क किसी भी लिहाज से उतने अनुदार नहीं थे, जैसा कि उन्हें दर्शाया जाता है। उन्होंने अपने यहां अल्पसंख्यकों को बड़ी हद तक स्वायत्तता प्रदान की थी। तुर्कों ने इस समस्या का समाधान खोजने के लिए बहुत प्रयास किया था कि विभिन्न सामाजिक विरासतों वाले अनेक समुदायों के लोग, जो भौगोलिक दृष्टि से अंतर्मिश्रित हैं, एक दूसरे के साथ सौहार्दपूर्वक कैसे रहें। ओटोमन साम्राज्य ने अपने देश में रहनेवाले गैर–मुस्लिमों और गैर–तुर्क समुदायों के लोगों को एक सीमा तक वस्तुतः ऐसी क्षेत्रीय तथा सांस्कृतिक स्वायत्तता भी प्रदान की हुई थी, जिसकी पश्चिमी राजनीतिक दर्शन में कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। क्या इससे ईसाई प्रजाजनों की किंचित भी संतुष्टि हो पाई थी? कोई चाहे जो कहे, ईसाई अल्पसंख्यकों का राष्ट्रवाद इस स्थानीय स्वायत्तता से संतुष्ट नहीं हो सकता था। उसने पूर्ण स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था और उस संघर्ष में तुर्की विखंडित हो गया था।

तुर्क धार्मिक सूत्र द्वारा अरबों से जुड़े हुए थे। मानव–समाज में इस्लाम के धार्मिक बंधन को सर्वाधिक सुदृढ़ माना जाता है। सामाजिक एकता के मुद्दे के लिहाज से इस्लामी भाईचारे का मुकाबला करने का दावा अन्य कोई भी सामाजिक संघ नहीं कर सकता। इस तथ्य के साथ एक बात और भी जुड़ी है कि जहां तुर्क अपनी ईसाई प्रजा को अपने से हीन मानते थे, वहीं अरबों को अपने बराबर मानते थे। ओटोमन सेना में गैर–मुस्लिम की भर्ती नहीं होती थी, पर अरब सैनिक

व अधिकारी, तुर्क और कुर्द सैनिक और अधिकारी साथ-साथ काम करते थे। तुर्की स्कूल में शिक्षा प्राप्त अरब अधिकारी वर्ग सेना और नागरिक पदों पर उन्हीं शर्तों पर काम करते थे, जिन पर तुर्क काम करते थे। तुर्कों और अरबों के बीच सेवाओं में अरबों के उच्चतम पद पर आसीन होने के मार्ग में भी कोई बाधा नहीं थी। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी अरब और तुर्क आपस में एक-दूसरे को बराबर मानकर चलते थे। अरब तुर्क स्त्री से और तुर्क अरब स्त्री से विवाह करते थे। क्या भ्रातृत्व, स्वतंत्रता ओर समानता पर आधारित अरबों ओर तुर्कों के बीच इस्लामिक भाईचारे से अरबों को संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए था? कोई कुछ भी कहे, अरब इससे संतुष्ट नहीं थे। अरब राष्ट्रवाद ने इस्लाम के इस बंधन को तोड़ दिया और वह अपने ही मुस्लिम बंधुओं से, जो तुर्क थे, अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने से नहीं चूके। उसे विजय मिली, परंतु तुर्की पूर्णतः खंडित हो गया।

जहां तक चेकोस्लोवाकिया की बात है, चेकों और स्लोवाकों को एक राष्ट्र के रूप में मान्यता देते हुए वह अस्तित्व में आया। कुछ ही वर्षों में स्वालोकों ने स्वयं को एक पृथक राष्ट्र होने का दावा जताया। उन्होंने यह भी स्वीकार नहीं किया कि वे चेकों के समान एक ही मूल की शाखा हैं। उनके राष्ट्रवाद ने चेकों को यह तथ्य स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया कि वे एक अलग जन-समुदाय हैं। चेकों ने स्लोवाकों के राष्ट्रवाद को संतुष्ट करने के लिए उनकी विशिष्टता दर्शाने वाले एक चिह्न के तौर पर विभेदात्मक रेखा भी खींच दी। चेकोस्लोवाकिया के बजाए वे चेको स्लोवाकिया पर भी सहमत हो गए। परंतु इस विभेदात्मक रेखा के बावजूद स्लोवाक राष्ट्रवाद संतुष्ट नहीं हुआ। स्वायत्तता की कार्य-प्रणाली स्लोवाकों को चेकों से पृथक रखने और उन्हें साथ ही चेकों से जोड़ने वाली रेखा के रूप में अपनाई गई थी। पृथकतासूचक इस रेखा का स्लोवाकों ने स्वागत किया, परंतु चेकों के साथ उसके मिलन-चिह्न होने से वे खिन्न भी थे। स्लोवाकों ने इस विभेदात्मक रेखा के साथ स्वायत्तता का स्वागत किया और संतोष व्यक्त करते हुए राज्य के प्रति निष्ठावान रहने का आश्वासन भी दे दिया। किंतु यह स्पष्टतः एक रणनीतिक मामला ही था। उन्होंने इसे अपने अंतिम लक्ष्य की सिद्धि नहीं माना। दरअसल उन्होंने इसे यह सोचकर स्वीकार किया था कि योजक रेखा को नष्ट करने के लिए इसका उपयोग आधार रूप में कर सकेंगे। उनका अंतिम लक्ष्य स्वायत्तता को स्वतंत्रता में परिणत करना था। स्लोवाकों का राष्ट्रवाद इस योजक से संतुष्ट नहीं हुआ। वे तो इस संधि-रेखा को समाप्त करने के इच्छुक थे। इस संधि-रेखा के लागू होते ही चेकों और स्लोवाकों के बीच उसके स्थान पर एक अवरोध के लिए संघर्ष छिड़ गया। उन्होंने इसकी भी परवाह नहीं की कि इसके लिए कौन से साधन उपयोग में लाए जाने हैं। उनका यह राष्ट्रवाद

इतना अधिक गहन और मतिभ्रामक था कि जब वे असफल हुए तो उन्होंने जर्मनों से सहायता की गुहार करने में भी संकोच नहीं किया।

इस तरह तुर्की के और चेकोस्लोवाकिया के विखंडन का गहन अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब एक बार राष्ट्रवाद की भावना सक्रिय हो उठती है, तो स्थानीय स्वायत्तता अथवा धर्म के बंधन भी उसकी शक्ति का सामना कर पाने में समर्थ नहीं होते।

हिंदुओं के लिए इस शिक्षा को ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। उन्हें स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि यदि ग्रीक, बाल्कान्स और अरब राष्ट्रवाद ने तुर्की राज्य को ध्वस्त कर दिया और यदि स्लोवाक राष्ट्रवाद ने चेकोस्लोवाकिया को खंडित कर दिया तो भारतीय राज्य को तोड़ने से मुस्लिम राष्ट्रवाद को कौन रोक पाएगा? यदि अन्य राष्ट्रों का अनुभव हमें यह सीख देता है कि भड़काए गए राष्ट्रवाद की परिणति यही होती है, तो हम उनके उदाहरण से लाभ उठाते हुए भारत को हिंदुस्तान और पाकिस्तान के रूप में विभाजित करने पर सहमत होकर विनाश को क्यों न टाल दें? हिंदुओं को इस चेतावनी को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि यदि उन्होंने स्वतंत्र लोगों के रूप में अपना जीवन शुरू करने से पूर्व भारत को दो खंडों में विभाजित करने से इंकार किया तो उन्हें भी वैसी ही भंवर में फंसना पड़ेगा, जिस तरह तुर्की, चेकोस्लोवाकिया और कई अन्य देश फंसते गए हैं। यदि वे अपने जहाज को सागर के बीच नष्ट होने से बचाना चाहते हैं, तो उन्हें अनावश्यक और फालतू बोझ को उससे उतारकर फेंकना होगा और उसे गतिमय करने के लिए हल्का करना होगा। वे अपनी यात्रा को बड़ी सीमा तक आसान कर लेंगे, यदि वे प्रोफेसर टोयनबी के शब्दों में यह मार्ग चुनें कि जहाज पर रखे ज्वलनशील और अवांछित सामान को फेंक कर उसे हल्का करने में ही संतोष का अनुभव करें।

V

क्या पाकिस्तान और हिंदुस्तान के रूप में भारत का विभाजन मान लेने से हिंदू वास्तव में ही घाटे में रहेंगे?

चेकोस्लोवाकिया के बारे में म्यूनिख समझौते के फलस्वरूप अपने कुछ क्षेत्रों को गंवाने पर वहां की सरकार की वास्तविक भावनाओं पर ध्यान देना भी शिक्षाप्रद होगा। चेकोस्लोवकिया के प्रधानमत्री ने उन भावनाओं की अभिव्यक्ति चेकोस्लोवाकिया की जनता के नाम अपने संदेश में बड़े स्पष्ट शब्दों में की थी। उन्होंने कहा था:

"नागरिकों और सैनिकों...... मैं अपने जीवन के कठोरतम समय से गुजर रहा हूं। मैं जिस नितांत दुखदायक दायित्व का निर्वहन कर रहा हूं, वह मृत्यु से भी अधिक कठोर है। परंतु मैं स्पष्ट रूप से यही कहूंगा कि मैंने संघर्ष किया है और क्योंकि मैं जानता हूं कि किन परिस्थितियों में युद्ध में विजय पाई जाती है, मुझे आप लोगों को स्पष्ट रूप से यह बताना ही चाहिए कि हमारी विरोधी शक्तियों ने इस घड़ी में हमें उनके अधिक शक्तिशाली होने और उनकी कार्य-पद्धति को मान्यता देने, और तदनुसार व्यवहार करने पर बाध्य किया है।

"म्यूनिख में चार यूरोपीय महाशक्तियों ने बैठक की ओर हमसे यह मांग करने का निश्चय किया कि हम नई सीमाओं को स्वीकार कर लें, जिसके अनुसार हमारे राज्य के जर्मन क्षेत्र हमसे ले लिए जाएंगे। हमें हताश और निराशाजनक रक्षा के बीच चुनाव करना था, जिसका तात्पर्य होता वयस्क पीढ़ी का ही नहीं, अपितु स्त्रियों और बच्चों का भी बलिदान और उन शर्तों का जो निर्मम हैं और युद्ध के ही दबाव से थोपी गई हैं, और जिनका इतिहास में अन्य समानांतर उदाहरण भी नहीं मिलता। हमने शांति के लिए योगदान की आकांक्षा की थी, हम सहर्ष यह काम करते, परंतु इस तरह नहीं, जिस प्रकार बलपूर्वक वह हम पर थोपी गई है।

"किंतु हमारा साथ छोड़ दिया गया और हम अकेले पड़ गए थे.....अत्यधिक दुखी होते हुए, आपके सभी नेताओं ने सेना और गणराज्य के राष्ट्रपति के साथ मिलकर सभी शेष संभावनाओं पर विचार किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि संकुचित सीमाओं और राष्ट्र की मृत्यु, इन दोनों के बीच चयन करते हुए अपनी जनता के जीवन की रक्षा करना ही उनका पावन कर्तव्य है, ताकि हम इस भयावह समय में और दुर्बल न हो जाएं, ताकि हम इस बारे में सुनिश्चित रह सकें कि हमारा राष्ट्र एक बार पुनः अपने को साहस से जुटा सकेगा, जैसा कि उसने अतीत में प्रायः किया है। हम सभी को यह देखना होगा कि हमारा राज्य स्वयं को अपनी नई सीमाओं के भीतर सुदृढ़ता से पुनर्स्थापित करें, और जनता शांति और फलदायक श्रम के नवजीवन के प्रति आश्वस्त हो सके। आपकी सहायता से हम इसमें सफल होंगे। हमें आप पर भरोसा है और आपको हम पर विश्वास।"*

स्पष्ट ही है कि चेकों ने ऐतिहासिक भावनाओं के वेग में बहने से इन्कार

* अलेक्जेंडर हैंडरसन, 'आई विटनेस इन चेकोस्लोवाकिया,' (इलाराप – 1939) पृ. 229-30.

कर दिया था। वे संकुचित सीमाओं और एक लघु चेकोस्लोवाकिया को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए, ताकि जनता को विनाश से बचाया जा सके।

तुर्की के बारें में एक धारणा प्रचलित थी, जिसे जार निकोलस प्रथम ने 18 मई को सेंट पीटर्सबर्ग में ब्रिटिश राजदूत से वार्तालाप के दौरान अभिव्यक्त किया था। उन्होंने कहा था–'हमारे हाथ में एक रूग्ण व्यक्ति है, बहुत अधिक रुग्ण व्यक्ति, हमारे हाथों में ही अचानक दम तोड़ सकता है।' उसी दिन से उस तुर्की, जो यूरोप का रुग्ण व्यक्ति था, के निधन की सभी पड़ोसियों को प्रतीक्षा थी। उसके सीमा–क्षेत्रों का परित्याग उस दम तोड़ते हुए व्यक्ति की ऐंठन माना जा रहा था, जिसने सेवर्स की संधि पर हस्ताक्षर करते हुए अंतिम सांस ली थी।

क्या तुर्की साम्राज्य के नष्ट होने की प्रक्रिया का वास्तव में यह सही सोच है? इस बारे में आर्नोल्ड टोयनबी की टिप्पणियों पर ध्यान देना शिक्षाप्रद होगा। जार ने यह कहा था कि तुर्की एक ऐसा रुग्ण व्यक्ति है, जो कभी भी दम तोड़ सकता है। टोयनबी के अनुसार :

> "जार निकोलस अपने इस द्वितीय और अधिक सनसनीपूर्ण भाग का निरूपण करने में भटक गए, क्योंकि उन्होंने रोग के लक्षणों के स्वरूपों को नहीं समझा। यदि कोई व्यक्ति जो कि प्राकृतिक इतिहास से पूर्णतः अनभिज्ञ है, सांप के केंचुली छोड़ते समय उसके ऊपर गिर जाए, तो वह बड़े विश्वास के साथ यह कह देगा कि अब संभवतः वह जीव ठीक नहीं हो सकता। वह यही कहेगा कि जब किसी मनुष्य (अथवा अन्य स्तनपायी प्राणी) को दुर्भाग्य से अपनी खाल गंवानी पड़े, तो ऐसा कभी नहीं सुना गया कि वह जीवित बच गया। फिर भी, जहां यह पूर्णतः सत्य है कि तेंदुआ अपने धब्बे नहीं बदल सकता और न ही इथिपिआई अपनी खाल बदल सकता है, एक वृहत्तर अध्ययन से हमारे नौसिखिया जीवविज्ञानी को यह जानकारी मिल जाती। कि सर्प दोनों ही काम कर सकता है, और वह स्वाभाविक तौर पर ही ऐसा करता है। निस्संदेह, सर्प के लिए भी यह प्रक्रिया जटिल और असुविधाजनक है। वह अस्थाई तौर पर तंद्रालु हो जाता है और उस स्थिति में उसके सामने यह भयावह स्थिति आ जाती है कि वह अपने शत्रुओं की दया पर ही निर्भर हो जाए। फिर भी यदि वह चील, कौआ से तब तक बचा रहता है जब तक कि उसका रूपांतरण पूर्ण नहीं हो जाता, तो वह न सिर्फ पूर्णतः स्वस्थ हो जाता है, अपितु अपनी नश्वर केंचुली को बदलकर पूर्णतः नया हो जाता है। तुर्की के बारे में हाल का अनुभव यही है कि उसकी बीमारी के वर्णन के लिए उसे रुग्ण व्यक्ति कहने

> के बजाए केंचुली बदलते हुए सर्प से उसकी उपमा दी जाए, क्योंकि यही अधिक उपयुक्त है।"*

इस लिहाज से तुर्की द्वारा अपने अधिकृत क्षेत्रों को गंवाना एक असामान्य अपवृद्धि को हटाना और नई त्वचा को ही पाना है। तुर्की निश्चय ही सजातीय है और उसे भीतर से किसी भी विघटन का भय नहीं है।

मुस्लिम क्षेत्र हिंदुस्तान के लिए असामान्य मोटापे जैसा ही है, और हिंदुस्तान उन पर असामान्य अपवृद्धि जैसा है। साथ बंधे रहने से वे भारत को एशिया का रुग्ण पुरुष बना देंगे। साथ बंध कर वे भारत को एक विविध जातीय इकाई ही बनाएंगे। पाकिस्तान का गठन यदि भारत के कुछ भागों को अलग कर देने वाली बुराई है, तो उसका एक लाभ भी है, और वह यह है कि उसके बनने से संघर्ष के स्थान पर सौहार्द का सृजन होगा।

दो भागों में बंट जाने से प्रत्येक भाग अधिक सजातीय इकाई बन जाएगा। दोनों क्षेत्रों की एकरूपता पर्याप्त स्पष्ट है। प्रत्येक की अपनी सांस्कृतिक इकाई है। प्रत्येक में धार्मिक एकता है। पाकिस्तान में भाषायी एकता है। यदि हिंदुस्तान में ऐसी एकता नहीं है तो उसे हिंदुस्तानी, हिंदी अथवा उर्दू में से कोई एक सांझी भाषा अपनाने पर कोई विवाद नहीं होना चाहिए। विभाजित होने के बाद प्रत्येक एक सबल और सुगठित राज्य बन सकेगा। भारत को एक सुदृढ़ केंद्रीय सरकार की आवश्यकता है, किंतु वहां तब तक ऐसी सरकार नहीं हो सकती, जब तक पाकिस्तान भारत का भाग बना रहेगा। भारत सरकार के 1935 के अधिनियम में समाहित संघीय सरकार के ढांचे की तुलना करें तो हम पाएंगे कि केंद्रीय सरकार एक अशक्त, जर्जर और ऐसी वस्तु के समान है जो लगभग निष्प्राण है।† जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, केंद्रीय सरकार को कमजोर करना मुस्लिम प्रांतों को संतुष्ट करने की इच्छा से ही प्रेरित है। वे केंद्रीय सरकार को अपने स्वरूप और गठन में हिंदू प्रभुत्ववाली मानते हैं और इसलिए उसके प्राधिकार से स्वतंत्र होना चाहते हैं। जब पाकिस्तान बन जाएगा, तो उक्त विचार में कोई दम नहीं रहेगा। तब हिंदुस्तान एक सुदृढ़ केंद्रीय सरकार के अंतर्गत होगा जो राज्य की स्थिरता के लिए आवश्यक तत्व है। किंतु इनमें से किसी को भी तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक पाकिस्तान हिंदुस्तान से अलग नहीं हो जाता।

---

* आर्नोल्ड टोयनबी, 'टर्की', पृ. 141

† इस विषय पर और अधिक जानकारी के लिए मेरा 'फेडरेशन बनाम फ्रीडम ट्रैक्ट' देखें।

भाग : IV

पाकिस्तान और व्याधियां

हिंदू–मुस्लिम समस्या के दो पहलू हैं। इसका पहला पक्ष उन दो विभिन्न संप्रदायों की समस्या है, जो अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों के समायोजन के इच्छुक हैं। समस्या का दूसरा पहलू उन प्रतिबिंबित प्रभावों की समस्याओं का है, जो इस पृथकता और संघर्ष के फलस्वरूप एक–दूसरे पर पड़ते हैं। उपरोक्त चर्चा के दौरान हमने पाकिस्तान की योजना पर हिंदू–मुस्लिम समस्या के विभिन्न पहलुओं में से पहले पर दृष्टिपात किया है। समस्या के दूसरे पहलू के परिप्रेक्ष्य में हमने पाकिस्तान की योजना की समीक्षा नहीं की है। फिर भी ऐसी समीक्षा आवश्यक है, क्योंकि हिंदू–मुस्लिम समस्या का यह पहलू भी महत्वहीन नहीं है। यदि उनके दावों के समायोजन की समस्या मात्र पर ही इस मामले को समाप्त कर दिया जाएगा, तो यह अपूर्ण अवलोकन भले ही न हो, नितांत सतही जरूर माना जाएगा। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे एक ही ढांचे में ढले हैं, अतएव उन्हें चाहे–अनचाहे गतिविधियों के एक क्रम में सहभागी होना होगा। और यदि इस सांझी गतिविधि में एक–दूसरे का सामना वे दोनों प्रतिरोधियों की तरह करेंगे, तो उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन परमावश्यक हो जाएगा, क्योंकि उनसे दोनों ही संप्रदाय प्रभावित होंगे। इससे एक ऐसी स्थिति बन जाएगी कि राज्य मृतवत् हो जाएगा और इस सूरत से बचाव की राह का प्रश्न आवश्यक हो जाएगा। स्थिति का अध्ययन दर्शाता है कि क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं ने एक ऐसी व्याधि का सृजन किया है, जो तीन तरह से अपनी अभिव्यक्ति कर रही है– 1. सामाजिक निष्क्रियता, 2. सांप्रदायिक संघर्ष, और 3. राजनीतिक भविष्य के प्रति राष्ट्रव्यापी निराशा।

यह व्याधि अत्यंत गंभीर है। क्या पाकिस्तान इसका निदान सिद्ध हो सकेगा? अथवा क्या उससे व्याधि और अधिक बढ़ेगी? अगले अध्यायों में इन्हीं प्रश्नों पर विचार किया गया है।

अध्याय : 10

सामाजिक निष्क्रियता

हिंदू समाज के दोषों को व्यक्त करने वाली सामाजिक बुराइया सर्वविदित हैं। मिस मेयो द्वारा प्रकाशित 'मदर इंडिया' में इन बुराइयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। परंतु 'मदर इंडिया' ने जहां इन बुराइयों को उजागर करने का सोद्देश्य कार्य किया है और इनके प्रवर्तकों को विश्व न्याय मंच के सामने अपने पापों का उत्तर देने के लिए आहूत किया है, उससे दुर्भाग्यवश विश्व में यह धारणा भी बनी है कि जबकि हिंदू इन सामाजिक बुराइयों की कीचड़ में फंसकर पतोन्मुख हो रहे हैं, वहां भारतीय मुसलमान उनसे मुक्त हैं और हिंदुओं की तुलना में अधिक प्रगतिशील हैं। ऐसी धारणा का बनना उन लोगों के लिए आश्चर्यजनक ही है जो भारत में मुस्लिम समाज को बहुत पास से जानते हैं।

कोई भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि क्या कोई ऐसी सामाजिक बुराई है जो हिंदुओं में तो है, लेकिन मुसलमानों में नहीं पायी जाती?

बाल–विवाह को ही लें। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (आल इंडिया वूमेंस कान्फ्रेंस) द्वारा गठित बाल–विवाह विरोधी समिति ने एक समाचार बुलेटिन प्रकाशित किया है, जिसमें देश के विभिन्न समुदायों में प्रचलित बाल–विवाह की स्थिति का विस्तार से ब्यौरा दिया गया है। 1931 की जनगणना रिपोर्ट से जो आंकड़े लिए गए हैं, वे यहां प्रस्तुत हैं:

तालिका

0–15 के आयु वर्ग में प्रति 1000 महिलाओं में
विवाहित महिलाएं

वर्ष	हिंदू	मुस्लिम	जैन	सिख	ईसाई
1881	208	153	189	170	33
1891	193	141	172	143	37
1901	186	131	164	101	38
1911	184	123	130	88	39
1921	170	111	117	72	32
1931	199	186	125	80	43

क्या बाल–विवाह की दृष्टि से मुसलमानों की स्थिति हिंदुओं से बेहतर मानी जा सकती है?

महिलाओं की स्थिति को लीजिए। मुसलमान इस बात पर जोर देते हैं कि मुस्लिम महिलाओं को मिले कानूनी अधिकार अन्य महिलाओं, उदाहरणार्थ हिंदू महिलाओं को प्राप्त अधिकारों की तुलना में अधिक आजादी सुनिश्चित करते हैं और वे कतिपय पाश्चात्य देशों की महिलाओं को प्रदत्त अधिकारों की तुलना में भी अधिक हैं। यह दावा मुस्लिम कानून के कुछ प्रावधानों को लेकर किया जाता है।

सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि मुस्लिम कानून में विवाह के लिए कोई आयु–सीमा निर्धारित नहीं की गई है, और लड़की के इस अधिकार को मान्यता दी गई है कि वह किसी भी समय विवाह कर सकती है। फिर, उस स्थिति के अलावा जबकि विवाह पिता अथवा पितामह ने कराया है, बाल्यावस्था में अन्य विवाहित मुस्लिम लड़की योवनावस्था प्राप्त कर लेने पर अपने विवाह का परित्याग कर सकती है।

दूसरे यह विश्वास किया जाता है कि मुसलमानों में विवाह एक अनुबंध है। अनुबंध होने के कारण पति अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। मुस्लिम कानून ने पत्नी को भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया है। यदि वह उसका उपयोग करे तो तलाक के मामले में पुरूष की बराबरी कर सकती है। यह दावा किया जाता है कि मुस्लिम कानून के तहत, विवाह के समय अथवा कतिपय मामलों में उसके बाद भी, पत्नी ऐसा अनुबंध कर सकती है जिसके द्वारा वह कतिपय परिस्थितियों के तहत तलाक हासिल कर सकती है।

तीसरे, मुस्लिम कानून में यह व्यवस्था है कि पत्नी अपने को समर्पित करने के एवज में धन अथवा संपत्ति पति से मांग सकती है, जिसे उसके 'मेहर' के तौर पर जाना जाता है। मेहर (एक प्रकार का दहेज) का निर्धारण विवाह के बाद भी किया जा सकता है, और यदि कोई राशि निर्धारित नहीं की गई है तो भी पत्नी समुचित मेहर की हकदार है। मेहर की राशि को सामान्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है। इसमें एक को 'फौरी' कहा जाता है जो मांग करने पर तुरंत देय होती है, और दूसरी है 'मुद्दती' जो मृत्यु अथवा तलाक से शादी के टूटने पर देय होती है। मेहर के लिए पत्नी का दावा पति की संपत्ति पर एक प्रकार का ऋण माना जाता है। उसका अपने मेहर पर पूर्ण अधिकार होता है, जिसका मकसद उसे आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। वह अपनी इच्छानुसार उक्त मेहर का परित्याग कर सकती है अथवा उसकी आय को विनियोजित भी कर सकती है।

कानून के ये तमाम प्रावधान महिला के पक्ष में होने पर भी मुस्लिम महिला विश्व भर में सर्वाधिक असहाय अवस्था में है। मिस्र के एक मुस्लिम नेता के शब्दों में:

> "इस्लाम ने महिला पर हीनता की मोहर लगा दी है तथा सामाजिक प्रथाओं को धर्म की स्वीकृति देकर उसे आत्म–अभिव्यक्ति और व्यक्तित्व के विकास के सभी अवसरों से वंचित कर दिया है।"

किसी भी मुस्लिम लड़की को अपने विवाह को अमान्य करने का साहस नहीं है, यद्यपि इस आधार पर उसे छूट हो सकती है कि वह नाबालिक थी और यह विवाह उसके माता–पिता ने नहीं अन्य लोगों ने कराया था। कोई भी मुस्लिम पत्नी यह उचित नहीं समझेगी कि उसके निकाह के अनुबंध में यह धारा भी शामिल की जाए कि उसे तलाक लेने का अधिकार है। ऐसे में उसका प्रारब्ध यही होगा कि एक बार का निकाह, हमेशा के लिए निकाह। वैवाहिक अनुबंध कैसा भी क्लेशप्रद क्यों न हो, विवाह के बंधन से वह बच नहीं सकती, विवाह को अमान्य नहीं कर सकती, जबकि वहीं पति को बिना कोई कारण दर्शाए ऐसा करने की हमेशा छूट है। 'तलाक' शब्द का उच्चारण करने और उसके तीन सप्ताह तक आत्मसंयम का निर्वाह करने के बाद पति को अलग किया जा सकता है। पति की मर्जी की रांह में एकमात्र रूकावट मेहर की अदायगी का दायित्व है। यदि मेहर का परित्याग किया जा चुका है या उसका भुगतान किया जा चुका है, तो तलाक का हक उसकी मन की मौज का ही मामला है।

तलाक के मामले में ऐसी उदारता से सुरक्षा की वह अनुभूति नष्ट हो जाती है जो एक महिला के पूर्णतः मुक्त और सुखद जीवन की परमावश्यक आधारशिला है। मुस्लिम महिला के जीवन की यह असुरक्षा उस समय और अधिक बढ़ जाती है, जब उसके पति को बहु विवाह करने और रखैल रखने का कानूनन अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मुस्लिम कानून मुसलमानों को चार महिलाओं से एक समय पर विवाह करने की अनुमति देता है। इसे इसलिए कोई असामान्य बात नहीं कहा जाता कि यह व्यवस्था उस हिंदू कानून की तुलना में अधिक प्रगतिशील है जिसमें किसी हिंदू पर इस मामले में कोई रोक नहीं है कि वह कितनी ही पत्नियां रख सकता है। परंतु इस तथ्य को विस्मृत कर दिया जाता है कि चार कानूनी पत्नियों के अलावा मुस्लिम कानून एक मुसलमान को अपनी महिला गुलामों से भी सहवास करने की अनुमति देता है। महिला गुलामों की संख्या के बारे में उस कानून में कुछ भी नहीं बताया गया है। उसे यह भी अधिकार है कि वह बिना किसी रूकावट अथवा कृतज्ञता के उन गुलामों को अपने साथ रख सकता है। उस पर यह बंधन भी नहीं है कि वह उनसे विवाह करे।

बहु विवाह करने तथा रखैल रखने की प्रथा विशेष रूप से मुस्लिम महिला के लिए जिस तरह दुखदायी है, उसका तथा उसके कारण जो. अनेक बुराइयां जन्मती हैं उनका समुचित रूप से वर्णन करने के लिए शब्द नहीं मिल पाते। यह सच है कि बहु विवाह और रखैलें रखने की स्वीकृति के बावजूद किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि मुसलमानों में आम तौर पर ऐसा होता है; फिर भी यह तथ्य तो बना ही रहता है कि ये ऐसे विशेषाधिकार हैं जिनका आसानी से दुरुपयोग करते हुए कोई भी मुसलमान अपनी पत्नी के जीवन में दुखों और कष्टों का विष घोल सकता है। श्री जॉन जे.पूल. जो इस्लाम के शत्रु नहीं हैं, का कथन है:

> "तलाक के मामले में इस छूट का कुछ मुसलमान बहुत अधिक लाभ उठाते हैं। स्टोवार्ट ने इस विषय पर टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक 'इस्लाम एंड इट्स फाउंडर' में कहा है – कुछ मुसलमानों ने लगातार अपनी बीबियां बदलते रहना अपनी आदत बना ली है। हमने ऐसे नौजवानों के बारे में पढ़ा है जिनकी बीस और तीस पत्नियां हैं। हर तीसरे–चौथे महीने वे एक नई बीबी ले आते हैं, और इस प्रकार ऐसा होता है कि एक पुरूष से दूसरे पुरूष तक महिलाओं को हस्तांतरित करने का निरंतर एक सिलसिला चलता रहता है। उन महिलाओं को कभी एक को पति मानना पड़ता है, तो कभी दूसरे घर का द्वार देखना पड़ता है, अथवा बेसहारा या निराश्रित स्थिति को झेलते हुए तलाक दे दिए जाने का परिणाम भुगतती रहती हैं। जीवनयापन के लिए ऐसे में वह कुछ दूसरे अधिक तुच्छ और निम्न साधनों का सहारा लेती हैं। इस तरह कानून का अक्षरशः पालन करते हुए और संभवतः एक, अथवा निश्चित रूप से चार, से अधिक पत्नियां न रखते हुए भी घृणित चरित्र वाले लोग तलाक का सहारा लेकर अपने जीवन–काल में चाहे जितनी पत्नियां रख सकते हैं।
>
> एक दूसरे तरीके से भी एक मुसलमान चार से अधिक पत्नियां रख सकता है, और फिर भी कानून के अंतर्गत रह सकता है। यह तरीका रखैलों के साथ रहने का है, जिनकी कुरान ने खुलकर इजाजत दी है। कुरान की जिस 'सूरा' में चार पत्नियां रखने की अनुमति है, ये शब्द भी हैं – 'जिन दासियों को तुमने प्राप्त किया है। फिर 70वीं 'सूरा' में यह बताया गया है कि दासियों के साथ रहना कोई पाप नहीं है। वे शब्द ये हैं – वे गुलाम जिन पर उनके दाहिने हाथ का अधिकार उनके दोष का कारण नहीं होंगे। अतीत के समान ही आजकल भी बड़ी संख्या में मुस्लिम परिवारों में गुलाम (दासियां) पाई

> जाती हैं। जैसा कि मुइर ने अपनी पुस्तक 'लाइफ ऑफ महोमत' में कहा है – 'जब तक दासियों के साथ रहने की यह असीम अनुमति उन्हें प्राप्त रहेगी, तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि मुस्लिम देशों में गुलाम रखने की प्रथा पर रोक का कोई हार्दिक प्रयास होगा।' इस तरह गुलामी के मामले में कुरान मानवता की शत्रु है, और महिलाएं सामान्यतः सर्वाधिक उत्पीड़ित है।[1]

जाति प्रथा को लीजिए। इस्लाम मातृ–भाव की बात कहता है। हर व्यक्ति यही अनुमान लगाता है कि इस्लाम दास प्रथा और जाति प्रथा से मुक्त होगा। गुलामी के बारे में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। अब कानूनन यह समाप्त हो चुकी है। परंतु जब यह विद्यमान थी, तो ज्यादातर समर्थन उसे इस्लाम और इस्लामी देशों से ही मिलता था।[2] कुरान में पैगंबर ने गुलामों के साथ उचित और मानवीय व्यवहार किए जाने का सदुपदेश दिया है वह प्रशंसनीय है, लेकिन इस्लाम में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस अभिशाप के उन्मूलन के समर्थन में हो। जैसा कि सर डब्ल्यू. मूइर ने स्पष्ट कहा है:

> '.......गुलाम या दासप्रथा समाप्त हो जाने में मुसलमानों का कोई हाथ नहीं है, क्योंकि जब इस प्रथा के बंधन ढीले करने का अवसर था तब मुसलमानों ने उसको मजबूती से पकड़ लिया.........किसी मुसलमान पर यह दायित्व नहीं है कि वह अपने गुलामों को मुक्त कर दे...."[3]

परंतु गुलामी भले विदा हो गई हो, जाति तो मुसलमानों में कायम है। उदारहण के लिए बंगाल के मुसलमानों की स्थिति को लिया जा सकता है। 1901 के लिए बंगाल प्रांत के जनगणना अधीक्षक ने बंगाल के मुसलमानों के बारे में यह रोचक तथ्य दर्ज किए हैं:

> "मुसलमानों का चार वर्गों – शेख, सैयद, मुगल और पठान – में परंपरागत विभाजन इस प्रांत (बंगाल) में प्रायः लागू नहीं है। मुसलमान दो मुख्य सामाजिक विभाग मानते हैं – 1. अशरफ अथवा शरफ और 2. अजलफ। अशरफ से तात्पर्य है 'कुलीन' और इसमें विदेशियों के वंशज तथा ऊंची जाति के धर्मांतरित हिंदू शामिल हैं। शेष अन्य मुसलमान जिनमें व्यावसायिक वर्ग और निचली जातियों के धर्मांतरित शामिल हैं उन्हें अजलफ अर्थात् नीचा, अथवा निकृष्ट व्यक्ति माना

---

1. स्टडीज इन मोहमडनिज्म,. पृ. 34-35
2. तथैव, अध्याय XXXIX
3. दि कुरान, इट्स कम्पोजीशन एंड टीचिंग, पृ. 58

जाता है। उन्हें कमीना अथवा इतर कमीन या रासिल, जो रिजाल का भ्रष्ट रूप है, 'बेक़ार' कहा जाता है। कुछ स्थानों पर एक तीसरा वर्ग 'अरज़ल' भी है, जिसमें आने वाले व्यक्ति सबसे नीच समझे जाते हैं। उनके साथ कोई भी अन्य मुसलमान मिलेगा–जुलेगा न हीं और न उन्हें मस्जिद और सार्वजनिक कब्रिस्तानों में प्रवेश करने दिया जाता है।

इन वर्गों में भी हिंदुओं में प्रचलित जैसी सामाजिक वरीयता और जातियां हैं।

1. 'अशरफ' अथवा उच्च वर्ग के मुसलमान

(i) सैयद

(ii) शेख

(iii) पठान

(iv) मुग़ल

(v) मलिक

(vi) मिर्ज़ा

2. 'अजलफ' अथवा निम्न वर्ग के मुसलमान

(i) खेती करनेवाले शेख और अन्य वे लोग जो मूलतः हिंदू थे, किंतु किसी बुद्धिजीवी वर्ग से संबंधित नहीं हैं और जिन्हें अशरफ समुदाय, अर्थात् पिराली और ठकराई आदि में प्रवेश नहीं मिला है।

(ii) दर्जी, जुलाहा, फकीर और रंगरेज।

(iii) बाढ़ी भटियारा, चिक, चूड़ीहार, दाई, धावा, धुनिया, गड्डी, कलाल, कसाई, कुला, कुंजरा, लहेरी, माहीफरोश, मल्लाह, नालिया, निकारी।

(v) अब्दाल, बाको, बेडिया, भाट, चंबा, डफाली, धोबी, हज्जाम, मुचो, नगारची, नट, पनवाड़िया, मदारिया, तुन्तिया।

3. 'अरजल' अथवा निकृष्ट वर्ग

भानार, हलालखोदर, हिजड़ा, कसबी, लालबेगी, मोगता, मेहतर।

जनगणना–अधीक्षक ने मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था के एक और पक्ष का भी उल्लेख किया है। वह है 'पंचायत प्रणाली' का प्रचलन। वह बताते हैं:

> "पंचायत का प्राधिकार सामाजिक तथा व्यापार संबंधी मामलों तक व्याप्त है और....अन्य समुदायों के लोगों से विवाह एक ऐसा अपराध है, जिस पर शासी निकाय कार्रवाई करता है। परिणामतः ये वर्ग भी हिंदू जातियों के समान ही प्रायः कठोर संगोती हैं, अंतर–विवाह पर रोक ऊंची जातियों से लेकर नीची जातियों तक लागू है। उदाहरणतः कोई धूमा अपनी ही जाति अर्थात् धूमा में ही विवाह कर सकता है। यदि इस नियम की अवहेलना की जाती है तो ऐसा करने वाले को तत्काल पंचायत के समक्ष पेश किया जाता है। एक जाति का कोई भी व्यक्ति आसानी से किसी दूसरी जाति में प्रवेश नहीं ले पाता और उसे अपनी उसी जाति का नाम कायम रखना पड़ता है, जिसमें उसने जन्म लिया है। यदि वह अपना विशिष्ट पेशा त्यागकर जीवनयापन के लिए कोई अन्य साधन भी अपना लेता है, तब भी उसे उसी समुदाय का माना जाता है, जिसमें कि उसने जन्म लिया था.........हजारों जुलाहे कसाई का धंधा अपना चुके हैं, किंतु वे अब भी जुलाहे ही कहे जाते हैं।"

इसी तरह के तथ्य अन्य भारतीय प्रांतों के बारे में भी वहां की जनगणना रिपोर्टों से वे लोग एकत्रित कर सकते हैं, जो उनका उल्लेख करना चाहते हों। परंतु बंगाल के तथ्य ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं कि मुसलमानों में जाति प्रथा ही नहीं, छूआछूत भी प्रचलित है।

इस तरह से यह असंदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि भारत में मुस्लिम समाज भी हिंदू समाज में प्रचलित साामजिक बुराइयों से अछूता नहीं है। वस्तुतः मुसलमानों में हिंदुओं की तमाम सामाजिक बुराइयां तो हैं ही, कुछ और बुराइयां भी हैं। मसलन एक है मुस्लिम महिलाओं के लिए अनिवार्य पर्दा प्रथा।

पर्दा प्रथा के परिणामस्वरूप, मुस्लिम महिलाओं का अलगाव सुनिश्चित है। महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बाहर के कमरों, बरामदों और बगीचों में न आएं। उनका निवास मकान के पिछले भाग में होता है। सभी महिलाओं को चाहे वे जवान हों या वृद्धा, एक ही कमरे में रहना पड़ता है। कोई भी पुरूष नौकर उनकी उपस्थिति में काम नहीं कर सकता। महिला को अपने पुत्रों, भाइयों, पिता, चाचा और पति अथवा किसी ऐसे ही नजदीकी रिश्तेदार को देखने की अनुमति है, वही विश्वासपात्र होने पर घर में प्रवेश पा सकता है। वह इबादत के लिए मस्जिद में भी नहीं जा सकती और जब कभी उसे बाहर जाना होता

है तो बुर्का ओढ़ना पड़ता है। ऐसी पृथकता का मुस्लिम महिलाओं के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह पाता। वे प्रायः खून की कमी, क्षयरोग, पायरिया और कतिपय अन्य रोगों से पीड़ित हो जाती हैं। उनके शरीर में भी सुघढ़ता नहीं रहती, उनकी कमर झुकती जाती है, हड्डियां निकल आती हैं, हाथ और पांव में खम पड़ जाता है, वे कुरूप हो जाती हैं। पसलियों, जोड़ों और प्रायः सभी हड्डियों में दर्द रहता है। उनके हृदय की धड़कन बढ़ने का सिलसिला भी प्रायः पाया जाता है। इन सभी कमजोरियों के फलस्वरूप, प्रसूतिकाल में उनकी मृत्यु हो जाती है। पर्दा प्रथा के कारण मुस्लिम महिलाओं का मानसिक और नैतिक विकास नहीं होता। स्वस्थ सामाजिक जीवन से वंचित रहने से उनमें अनैतिकता की प्रवृत्ति आ जाती है। बाहरी दुनिया से पूर्णतः अलग–थलग रहने के कारण उनका ध्यान तुच्छ पारिवारिक झगड़ों में उलझा रहता है। फलस्वरूप वे अपनी सोच में संकीर्ण हो जाती हैं और उनका दृष्टिकोण भी संकुचित हो जाता है।

वे अन्य जातियों की बहनों से पिछड़ जाती हैं। वे किसी बह्य गातेविधि में भाग नहीं ले पातीं और उनमें एक प्रकार की दासता और हीनता की मनोवृत्ति बनी रहती है। उनमें ज्ञान प्राप्ति की इच्छा भी नहीं रहती, क्योंकि उन्हें यही सिखाया जाता है कि घर की चारदीवारी के बाहर वे अन्य किसी बात में रुचि न लें। पर्देवाली महिलाएं प्रायः डरपोक, निस्सहाय शमीली और जीवन में किसी भी प्रकार का संघर्ष करने के अयोग्य हो जाती हैं। भारत के मुसलमानों में पर्दा करने वाली महिलाओं की विशाल संख्या को देखते हुए कोई भी आसानी से यह समझ सकता है कि पर्दे की समस्या कितनी व्यापक और गंभीर है।*

पर्दे का शारीरिक और बौद्धिक प्रभाव भौतिक प्रभाव के मुकाबले काफी कम पड़ता है। वस्तुतः पर्दा प्रथा का मूल पुरुष और महिला दोनों में ही यौन संबंधी इच्छा को लेकर गहन संदेह में निहित है और इसका उद्देश्य स्त्री–पुरुष दोनों को अलग रखकर रोकना ही है। परंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति के बजाए पर्दा प्रथा ने मुस्लिम पुरुषों की नैतिकता पर विपरीत प्रभाव डाला है। पर्दा प्रथा के कारण कोई मुसलमान अपने घर–परिवार से बाहर की महिलाओं से कोई परिचय नहीं कर पाता है। घर की महिलाओं से भी उसका संपर्क यदा–कदा बातचीत तक ही सीमित रहता है। बच्चों अथवा वृद्धों के अलावा, पुरुष अन्य महिलाओं से हिल–मिल नहीं सकता, अंतरंग साथी से भी नहीं मिल पाता। महिलाओं से पुरुषों की यह पृथकता निश्चित रूप से पुरुष के नैतिक बल पर विकृत प्रभाव डालती है। यह कहने के लिए किसी मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता नहीं कि ऐसी सामाजिक प्रणाली से, जो पुरुषों और महिलाओं के बीच के संपर्क को काट दे,

* मुस्लिम महिलाओं की स्थिति के लिए देखिए श्याम कुमार नेहरू द्वारा संपादित 'अवर काज़।'

यौनाचार के प्रति ऐसी अस्वस्थ प्रवृत्ति का सृजन होता है जो अप्राकृतिक एवं अन्य दूषित आदतों और साधनों को अपनाने के लिए प्रेरित करती है।

पर्दा प्रथा की बुराई का प्रभाव केवल मुस्लिम समुदाय तक ही सीमित नहीं है। यह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सार्वजनिक जीवन में अभिशाप बनी सामाजिक पृथकता के लिए भी जिम्मेदार है। यह तर्क अतिशयोक्तिपूर्ण लग सकता है कि इस पृथकता के लिए मुसलमानों की पर्दा–प्रथा के बजाए हिंदुओं की असामाजिक प्रवृत्तियां भी जिम्मेदार हैं, परंतु हिंदू जब यह कहते हैं तो सही ही कहते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक संपर्क की स्थापना संभव नहीं हो पाती, क्योंकि ऐसे संपर्क से तात्पर्य एक ओर की महिलाओं और दूसरी ओर के पुरुषों के बीच संबंध होना ही होगा।*

ऐसा नहीं कि पर्दा और ऐसी ही अन्य बुराइयां देश के कुछ भागों में हिंदुओं के कई वर्गों में प्रचलित नहीं हैं। परंतु अंतर केवल यही है कि मुसलमानों में पर्दा प्रथा को एक धार्मिक आधार पर मान्यता दी गई है, जबकि हिंदुओं में ऐसी स्थिति नहीं है। हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों में पर्दा प्रथा की जड़ें गहरी हैं और उसे सामाजिक आवश्यकताओं और धार्मिक अंकुशों के बीच अनिवार्य संघर्ष को झेलकर ही समाप्त किया जा सकता है। मुसलमानों में पर्दा प्रथा, अपने मूल के अलावा, एक वास्तविक समस्या है, जबकि हिंदुओं में नहीं है। मुसलमानों ने इसे समाप्त करने का कभी प्रयास किया हो, इसका भी कोई सांक्ष्य नहीं मिलता।

इस तरह भारत के मुस्लिम समुदाय के सामाजिक जीवन में ही नहीं, बल्कि राजनीतिक जीवन में भी एक प्रकार की गतिहीनता है। मुसलमानों को राजनीति में कोई रुचि नहीं है। उनकी मजहब में ही अधिक रुचि है। किसी सीट पर चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी के समक्ष उसके मुस्लिम क्षेत्र से जो शर्तें रखी जाती हैं, उनसे यह बात आसानी से स्पष्ट हो जाती है। मुस्लिम मतदाता प्रत्याशी के कार्यक्रम पर दृष्टिपात करने की भी परवाह नहीं करते। यह वर्ग प्रत्याशी से मात्र यही चाहता है कि वह मस्जिद के पुरानें बल्बों के स्थान पर अपने खर्चे से नए बल्ब लगवा दें, क्योंकि पुराने बल्ब टिमटिमाने लगे हैं; पुराने कालीन की जगह नया कालीन बिछा दें और मस्जिद की मरम्मत करा दें। कुछ स्थानों पर मुस्लिम

---

* यह बात दिलचस्प है कि इस तर्क का उपयोग यूरोपियन अपने बचाव में करते हैं, जिन पर भारतीय यह आरोप लगाते है कि वे उन्हें अपने क्लबों में प्रवेश नहीं करने देते। वे कहते हैं कि "हम अपनी महिलाओं को क्लबों में लाते हैं। यदि आप अपनी महिलाओं को क्लबों में लायें, तो आप आ सकते है, परन्तु उस स्थिति में हम अपनी महिलाओं को आपके साथ की अनुमति नहीं दे सकते, जब आप अपनी महिलाओं को ऐसा नही करने देते। जब आप इस बात के लिए तैयार हो, तभी आप हमारे क्लबों में प्रवेश पाने को कह सकते हैं।"

मतदाता इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि प्रत्याशी एक शानदार दावत देने को तैयार हो जाता है, और कुछ इस पर कि वह ऊंचा दांव लगाकर वोट खरीदने को रज़ामंद हो जाता है। मुसलमानों के लिए चुनाव पैसे का मामला ही है। उन्हें इस बात में रुचि नहीं होती कि यह सामान्य सुधार के सामाजिक कार्यक्रम का साधन बन सकता है। मुस्लिम राजनीति विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष श्रेणी के जीवन, अर्थात् धनी और निर्धन, पूंजी और श्रम, भूमिपति ओर पट्टेदार, पुजारी और जन–सामान्य, तर्क और अंधविश्वास के बीच अंतर जैसी बातों पर ध्यान नहीं देती। मुस्लिम राजनीति अनिवार्यतः मुल्लाओं की राजनीति है और वह मात्र एक अंतर को ही मान्यता देती है – हिंदू और मुसलमानों के बीच मौजूद अंतर। जीवन के किसी भी धर्मनिरपेक्ष तत्व का मुस्लिम समुदाय की राजनीति में कोई स्थान नहीं है, और वे मुस्लिम राजनीतिक जमात के केवल एक ही निर्देशक सिद्धांत के सामने नतमस्तक होते हैं, जिसे मज़हब कहा जाता है।

II

मुसलमानों में इन बुराइयों का होना दुखद हैं। किंतु उससे भी अधिक दुखद तथ्य यह है कि भारत के मुसलमानों में समाज–सुधार का ऐसा कोई संगठित आंदोलन नहीं उभरा जो इन बुराइयों का सफलतापूर्वक उन्मूलन कर सके। हिंदुओं में भी अनेक सामाजिक बुराइयां हैं। परंतु संतोषजनक बात यह है कि उनमें से अनेक इनकी विद्यमानता के प्रति सजग हैं और उनमें से कुछ उन बुराइयों के उन्मूलन हेतु सक्रिय तौर पर आंदोलन भी चला रहे हैं। दूसरी ओर, मुसलमान यह महसूस ही नहीं करते कि ये बुराइयां हैं। परिणामतः वे उनके निवारण हेतु सक्रियता भी नहीं दर्शाते। इसके विपरीत, अपनी मौजूदा प्रथाओं में किसी भी परिवर्तन का विरोध करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि मुसलमानों ने केंद्रीय असेंबली में 1930 में पेश किए गए बाल विवाह विरोधी विधेयक का भी विरोध किया था, जिसमें लड़की की विवाह–योग्य आयु 14 वर्ष और लड़के की 18 वर्ष करने का प्रावधान था। मुसलमानों ने इस विधेयक का विरोध इस आधार पर किया कि ऐसा किया जाना मुस्लिम धर्मग्रंथ द्वारा निर्धारित कानून के विरुद्ध होगा। उन्होंने इस विधेयक का हर चरण पर विरोध ही नहीं किया, बल्कि जब यह कानून बन गया तो उसके खिलाफ सविनय अवज्ञा अभियान भी छेड़ा। सौभाग्य से उक्त अधिनियम के विरुद्ध मुसलमानों द्वारा छेड़ा गया वह अभियान फेल नहीं हो पाया, और उन्हीं दिनों कांग्रेस द्वारा चलाए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन में समा गया। परंतु उस अभियान से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि मुसलमान समाज सुधार के कितने प्रबल विरोधी हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि मुसलमान समाज–सुधार के विरोधी क्यों हैं?

इसका सामान्य उत्तर यह है कि विश्व भर के मुसलमान ही प्रगतिशील नहीं है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। उनकी सक्रियता के प्रथम स्फुरण के बाद – जिसका स्वरूप निस्संदेह विशाल था और उससे बड़े साम्राज्यों की नींव रखी गई – मुसलमान सहसा ही सुषुप्तावस्था की स्थिति में जा पड़े। ऐसा लगता है कि उस तंद्रा अवस्था से वे कभी नहीं जगे। इस स्थिति के अध्येताओं ने उनकी इस तंद्रा का कारण यह बताया है कि सभी मुसलमानों में यह धारणा मूलबद्ध रही है कि इस्लाम एक विश्व–धर्म है, जो प्रत्येक काल और परिस्थिति में सभी लोगों के लिए उपयुक्त है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि:

> "मुसलमान नें अपने मज़हब के प्रति आस्थावान रहते हुए प्रगति नहीं की, वह तेजी से आगे बढ़ रही इस आधुनिक दुनिया में भी जड़वत् रहा है। इस्लाम की एक विशेषता यह रही है कि वह जिन जातियों को दास बनाता है, उनकी स्वभावगत बर्बरता को भी अविचल कर देता है। यह सोच में स्थिर है, निश्चेष्ट है और अभेद्य है। यह अपरिवर्तनीय है, और राजनीतिक सामाजिक अथवा आर्थिक परिवर्तनों की उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।
>
> "यह सिखाए जाने के कारण कि इस्लाम के बाहर कोई सुरक्षा नही है, उसके कानून के बाहर कोई सच्चाई नहीं है और उसके आध्यात्मिक संदेह से हटकर कोई भी सुख नहीं है, मुसलमान अपनी स्वंय की स्थिति के अलावा और कुछ सोच पाने में असमर्थ हो गए हैं, इस्लामी विचार के अलावा और कोई विचार उन्हें सुहाता ही नहीं है। मुसलमान को यह पक्का विश्वास है कि वह पूर्णता के असाधारण स्तर पर पहुंच चुका है, कि वही पूर्ण सत्य का अधिकारी है, वही पूर्ण विद्वान है और यह सत्य ऐसा नहीं है जो किसी पुनरावलोकन का मोहताज हो, अपितु यह पूर्ण सत्य है।
>
> मुसलमानों के मज़हबी कानून का उन विविधतापूर्ण मनुष्यों पर जिनसे यह दुनिया बनी है, ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके चिंतन, 'अनुभूति, विचारों और निर्णय में एकरूपता का प्रादुर्भाव हुआ।"

यह तर्क दिया जाता है कि यह एकरूपता उन पर शामक प्रभाव डालती है और यह मुसलमानों को केवल हस्तांतरित नहीं की जाती है, बल्कि असहनशीलता की भावना से उन पर थोपी जाती है, जो इतनी कठोर और हिंसात्मक प्रवृत्ति के रूप में मुस्लिम जगत के बाहर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जाती और जो इस्लाम धर्म की शिक्षा के विरुद्ध विवेकशील विचारधारा को दबाने में संलग्न है। जैसा कि रेनन ने कहा है:

"इस्लाम में गहन आध्यात्मिक और ऐच्छिक एकता है। इसमें मतांधता का आधिपत्य है। यह एक भरकम कड़ी है जो मानवता ने कभी धारण नहीं की थी.........इस्लाम का मज़हब के रूप में अपना सौंदर्य भी है. ....परंतु मानवीय तर्क की कसौटी पर इस्लाम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है। वे मस्तिष्क जिन्हें इसने बाहरी प्रकाश के लिए बंद कर दिया था, निस्संदेह अपनी स्वयं की आंतरिक सीमाओं में बंद थे, परंतु इसने स्वतंत्र चिंतन का दमन किया है। मैं यह तो नहीं कहता कि इसने अन्य धर्मों की तुलना में अधिक सख्ती से यह किया, परंतु अधिक सफलता से तो अवश्य ही किया। जिन देशों को इसने जीता, उन्हें मानव की तर्कवादी संस्कृति के लिए एक बंद क्षेत्र बना दिया। जो तथ्य मुसलमान में निश्चय ही विशिष्ट है, वह है विज्ञान से उसकी घृणा, उसकी यह सोच कि अनुसंधान उपयोगी नहीं है, तुच्छ तथा लगभग कुफ्र है – प्राकृतिक विज्ञान इसलिए अनुपयोगी है कि उसमें खुदा से प्रतिद्वंद्विता की कोशिश होती है। ऐतिहासिक विज्ञान इसलिए कि उसमें इस्लाम से पूर्व काल का वर्णन होता है जिससे प्राचीन विधर्म पुनर्जीवित हो सकता हैं......... ।*

रेनन ने उपसंहार स्वरूप कहा है:

"इस्लाम विज्ञान को शत्रुवत् मानता है, इसलिए वह स्थिर रह गया और स्थिरता बनी रहना खतरनाक है। इस्लाम स्वयं ही अपने दुर्भाग्य का कारण बना है। विज्ञान की हत्या कर उसने अपनी ही हत्या कर ली है और इस आत्महनन के लिए संसार भर में उसकी भर्त्सना होती है।"

यह उत्तर यद्यपि स्पष्ट है, किंतु सही उत्तर नहीं हो सकता। यदि यही सही होता तो फिर भारत के बाहर सभी मुस्लिम देशों में जो हलचल और अंतःक्षोभ उभर रहा है, निरख–परख की भावना, परिवर्तन की भावना और सुधार की आकांक्षा जीवन के हर क्षेत्र में परिलक्षित हो रही है, उसकी सफाई हम क्या देंगे? वस्तुतः तुर्की में जो सामाजिक सुधार हुए हैं, वे बेहद क्रांतिकारी स्वरूप वाले रहे हैं। यदि इन देशों के मुसलमानों की राह में इस्लाम बाधक नहीं बना है तो फिर भारत के मुसलमानों की राह में बाधक क्यों बनेगा? भारत में मुस्लिम समुदाय की सामाजिक और राजनीतिक जड़ता का कोई विशेष कारण तो होना ही चाहिए।

वह विशेष कारण क्या हो सकता है? मुझे ऐसा लगता है कि भारत के

---

* नेशनेलिटी एंड अदर एसेज।

मुसलमानों में परिवर्तन की भावना के ह्रास का कारण उस विशिष्ट स्थिति में खोजना होगा, जो उसे भारत में प्राप्त है। वह एक ऐसे सामाजिक परिवेश में रह रहा है जो मुख्यतः हिंदू है। यह हिंदू वातावरण सदैव चुपचाप, किंतु सुनिश्चित रूप से उस पर अपना प्रभाव डाल रहा है और उस पर हावी हो रहा है। शनैःशनैः स्वयं पर पड़ने वाले इस प्रभाव से बचाव के लिए वह हर उस चीज को सुरक्षित रखने पर जोर देता है जो इस्लामी है और यह जांचने-परखने की भी चिंता नहीं करता कि यह मुस्लिम समाज के लिए लाभदायक है या हानिकारक। दूसरी बात यह है कि भारत में मुसलमान एक ऐसे राजनीतिक वातावरण में रह रहे हैं जो मुख्य रूप से हिंदू प्रभुत्व वाला है। वह ऐसा महसूस करता है कि उसका दमन होगा और राजनीतिक दबाव मुसलमानों को दलित वर्ग बना देगा। यही वह चेतना है जिसे जगाकर वह स्वयं को हिंदू वर्ग के सामाजिक और राजनीतिक सोच में विलीन होने से बचता है और जो मेरे विचार में भारतीय मुसलमान को अपने अन्य देशों के सहधर्मियों की तुलना में सामाजिक सुधार के मामले में अधिक पिछड़ा बनाए हुए है। उनकी ताकत सीटों और पदों के लिए सतत संघर्ष में ही लगी रही है, जिसके कारण समाज-सुधार से संबंधित सवालों पर सोचने-विचारने का उनके पास समय ही नहीं बच पाता। और यदि कुछ समय मिलता भी है तो वह सांप्रदायिक तनाव की भेंट चढ़ जाता है, वे इस डर से संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए एकजुट होकर अपनी सामाजिक-धार्मिक एकता को हर कीमत पर अक्षुण्ण रखना चाहते हैं कि हिन्दू और हिन्दुत्व उन पर हावी न हो जायें।

भारत के मुस्लिम समुदाय में राजनीतिक गतिरोध के बारे में भी यही स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। मुस्लिम राजनीतिज्ञ जीवन के धर्मनिरपेक्ष पहलुओं को अपनी राजनीति का आधार नहीं मानते, क्योंकि उनके लिए इसका अर्थ हिंदुओं के विरूद्ध अपने संघर्ष में अपने समुदाय को कमजोर करना ही है। गरीब मुसलमान धनियों से इन्साफ पाने के लिए गरीब हिंदुओं के साथ नहीं मिलेंगे। मुस्लिम जोतदार जमींदारों के अन्याय को रोकने के लिए अपनी ही श्रेणी के हिंदुओं के साथ एकजुट नहीं होंगे। पूंजीवाद के खिलाफ श्रमिक के संघर्ष में मुस्लिम श्रमिक हिंदू श्रमिकों के साथ शामिल नहीं होंगे। क्यों? उत्तर बड़ा सरल है। गरीब मुसलमान यह सोचता है कि यदि वह धनी के खिलाफ गरीबों के संघर्ष में शामिल होता है तो उसे एक धनी मुसलमान से भी टकराना पड़ेगा। मुस्लिम जोतदार यह महसूस करते हैं कि यदि वे जमींदारों के खिलाफ अभियान में योगदान करते हैं तो उन्हें एक मुस्लिम जमींदार के खिलाफ भी संघर्ष करना पड़ सकता है। मुसलमान मजदूर यह सोचता है कि यदि वह पूंजीपति के खिलाफ श्रमिक के संघर्ष में सहभागी बना तो वह मुस्लिम मिल-मालिक की भावनाओं को आघात पहुंचाएगा। वह इस बारे में सजग है कि किसी धनी मुस्लिम, मुस्लिम जमींदार

अथवा मुस्लिम मिल–मालिक को आघात पहुंचाना मुस्लिम समुदाय को हानि पहुंचाना है और ऐसा करने का तात्पर्य हिंदू समुदाय के विरुद्ध मुसलमानों के संघर्ष को कमज़ोर करना ही होगा।

भारतीय रियासतों में राजनीतिक सुधारों के प्रति मुस्लिम नेताओं का रूख यह दर्शाता है कि मुस्लिम राजनीति किस तरह विकृत हो गई है। मुसलमानों और उनके नेताओं ने कश्मीर के हिंदू राज्य में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना के लिए प्रचंड आंदोलन चलाया था। वे ही मुसलमान और वे ही नेता अन्य मुस्लिम रियासतों में प्रतिनिधि सरकारों की व्यवस्था लागू किए जाने के घोर विरोधी हैं। इस विचित्र रवैये का कारण बड़ा सीधा सा है। हर मामले में मुसलमानों के लिए निर्णायक प्रश्न यही है कि उसका हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि प्रतिनिधि सरकार से मुसलमानों को सहायता मिली हो तो वे उसकी मांग करेंगे और उसके लिए संघर्ष भी करेंगे। कश्मीर रियासत में शासक हिंदू है, किंतु प्रजाजनों में बहुसंख्यक मुसलमान हैं। मुसलमानों ने कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार के लिए संघर्ष इसलिए किया क्योंकि कश्मीर में प्रतिनिधि सरकार से तात्पर्य है हिंदू राज्य से मुस्लिम अवाम के लिए सत्ता का हस्तांतरण। अन्य मुस्लिम रियासतों में शासक मुसलमान, परंतु अधिसंख्य प्रजाजन हिंदू है।। ऐसी रियासतों में प्रतिनिधि सरकार का तात्पर्य होगा मुसिलम शासक से सत्ता का हिंदू प्रजा को हस्तांतरण। और इसी कारण एक मामले में मुसलमान प्रतिनिधि सरकार की व्यवस्था का समर्थन करते हैं, जबकि दूसरे में विरोध। मुसलमानों की सोच में लोकतंत्र प्रमुखता नहीं है। उनकी सोच को प्रभावित करने वाला तत्व यह है कि लोकतंत्र प्रमुख नहीं है। उनकी सोच को प्रभावित करने वाला तत्व यह है कि लोकतंत्र, जिसका मतलब बहुमत का शासन है, हिंदुओं के विरुद्ध संघर्ष में मुसलमानों पर क्या असर डालेगा। क्या उससे वे मजबूत होंगे अथवा कमजोर? यदि लोकतंत्र से वे कमजोर पड़ते हैं तो वे लोकतंत्र नहीं चाहेंगे। वे किसी मुस्लिम रियासत में हिंदू प्रजा पर मुस्लिम शासक की पकड़ कमजोर करने के बजाए अपने निकम्मे राज्य को वरीयता देंगे।

मुस्लिम संप्रदाय में राजनीतिक और सामाजिक गतिरोध का केवल एक ही कारण बताया जा सकता है। मुसलमान सोचते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों को सतत संघर्षरत रहना चाहिए। हिंदू मुसलमानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं, और मुसलमान अपनी शासक होने की ऐतिहासिक हैसियत बनाए रखने का। इस संघर्ष में शक्तिशाली ही विजयी होगा, और अपना शक्तिशाली होना सुनिश्चित करने के लिए उन्हें हर ऐसी चीज का दमन करना अथवा उसे बट्टे–खाते डाल देना होगा जो उनकी एकजुटता में दरार डालती है।

यदि अन्य देशों में मुसलमानों ने अपने समाज को सुधारने का काम शुरू किया है और भारत के मुसलमान ऐसा करने से इंकार करते हैं तो उसका कारण यह है कि अन्य देशों में मुसलमानों का प्रतिद्वंदी समुदायों से कोई सांप्रदायिक और राजनीतिक संघर्ष नहीं है, जबकि भारत के मुसलमानों की इससे स्थिति भिन्न है।

III

ऐसा नहीं है कि रुढ़िवादिता की यह अंध भावना, जो सामाजिक ढांचे को संवारने की आवश्यकता को ही नकारती है, केवल मुसलमानों पर ही हावी है। हिंदुओं पर भी इसका प्रभाव हुआ है। एक समय हिंदुओं ने यह स्वीकार किया था कि सामाजिक क्षमता के बिना अन्य किसी क्षेत्र में स्थाई प्रगति संभव नहीं है, और हिंदू समाज अपनी कुरीतियों के कारण उत्पन्न भ्रांति के वशीभूत कुशलता की· स्थिति नहीं पा सका है, अतएव इन कुरीतियों के उन्मूलन के लिए सतत प्रयास अपेक्षित है। इस तथ्य की मान्यता के फलस्वरूप राष्ट्रीय सोशल कांफ्रेंस का भी गठन हुआ था। कांग्रेस का काम जहां देश के राजनीतिक संगठन में कमजोर पहलुओं को स्पष्ट करना था, वहीं सोशल कांफ्रेंस का काम हिंदू समाज के सामाजिक संगठन के दुर्बल तत्वों का निवारण करना था। कुछ समय तक कांग्रेस और कांफ्रेंस ने एक ही संगठन के दो अंगों की तरह काम किया और उनके अधिवेशन भी एक ही पंडाल में संपन्न होते थे। परंतु शीघ्र ही ये दोनों संगठन दो दल बन गए। एक राजनीतिक सुधार दल और दूसरा सामाजिक सुधार दल के रूप में उभरा और दोनों के बीच भीषण विवाद छिड़ गया। राजनीतिक सुधार दल ने राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्थन दिया और सामाजिक सुधार दल ने सोशल कांफ्रेंस का साथ दिया। दोनों संगठन दो विरोधी शिविर बन गए। विवाद का मुद्दा यह था कि क्या समाज–सुधार राजनीतिक सुधार से पहले अपेक्षित है? एक दशक तक इन दोनों शक्तियों के बीच संतुलन बना रहा और इस लड़ाई में कोई भी पक्ष विजेता की स्थिति में नहीं आ सका। परंतु यह स्पष्ट हो गया कि सोशल कांफ्रेंस का भाग्य तेजी से उतार पर आ गया है। जिन भद्रजन ने सोशल कांफ्रेंस के अधिवेशनों की अध्यक्षता की, उन्होंने इस बात पर दुख व्यक्त किया कि शिक्षित हिंदुओं का बहुमत राजनीतिक प्रगति का पक्षधर है और समाज–सुधार के प्रति उपेक्षा भाव अपनाए हुए है; और जब कि कांग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या बहुत बड़ी है और जो लोग इसमें शामिल नहीं होते पर उससे सहानुभूति रखते हैं, उनकी संख्या और भी अधिक है, सोशल कांफ्रेंस में शामिल होने वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है। यह उपेक्षा–भाव और समर्थकों की घटती हुई संख्या की स्थिति बनने के बाद शीघ्र ही उसे स्वर्गीय

तिलक जैसे राजनीतिज्ञों की सक्रिय विरोध–भावना भी झेलनी पड़ी। कालांतर में राजनीतिक सुधार के पक्षधरों का दल विजयी हुआ और सोशल कांफ्रेंस का अंत हो गया तथा वह विस्मृत हो गई।[1] इसके साथ ही साथ हिंदू समाज से समाज–सुधार की भावना भी विलुप्त हो गई। श्री गांधी के नेतृत्व में हिंदू समाज पागलखाना भले ही नहीं बना, किंतु राजनीति के पीछे तो वह सुनिश्चित रूप से पागल हो ही गया। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और स्वराज की पुकार ने समाज–सुधार का ही स्थान प्राप्त कर लिया, जो कभी हिंदुओं के दिमाग में था। राजनीतिक कोलाहल के धूम–धड़ाके में हिंदुओं को यह भी ध्यान नहीं रहा कि ऐसी कोई बुराई भी उनमें है जिसे दूर किया जाना है। जो लोग इस बारे में सजग हैं, वे यह नहीं मानते कि समाज–सुधार भी राजनीतिक सुधार की तरह ही महत्वपूर्ण है और जब उन्हें उसका महत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया जाता है तो वे यह तर्क देते हैं कि जब तक पहले राजनीतिक सत्ता प्राप्त नहीं कर ली जाए, तब तक कोई सामाजिक सुधार नहीं हो पाएगा। वे राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिए इतने अधिक आतुर थे कि समाज–सुधार के पक्ष में प्रचार करने को भी तैयार नहीं थे, क्योंकि उनके विचार में ऐसा करने के लिए राजनीतिक प्रचार से ही समय और शक्ति की कटौती करनी होगी। श्री गांधी के एक प्रवक्ता ने राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोण को स्पष्टतया और समुचित तौर पर व्यक्त किया, जब उसने श्री गांधी को यह लिखाः

> "क्या आप ऐसा नही सोचते कि राजनीतिक सत्ता अर्जित किए बिना कोई भी बड़ा सुधार हो पाना असंभव है? वर्तमान आर्थिक ढांचे को सुधारना होगा? राजनीतिक पुनर्निर्माण के बिना किसी तरह का पुनर्निर्माण संभव नहीं है और मुझे डर है कि परिष्कृत और गैर–परिष्कृत चावल, संतुलित आहार और इस तरह की अन्य बातें प्रलाप मात्र ही हैं।"[2]

रानाडे के नेतृत्व में संचालित सोशल रिफोर्म पार्टी का अंत हो गया और उसने कांग्रेस के लिए मैदान छोड़ दिया। हिंदुओं में एक अन्य दल उभरा, जो कांग्रेस का ही प्रतिद्वंद्वी है। यह हिंदू महासभा है। इसके नाम से तो कोई भी यही आशा करेगा कि इस संगठन का उद्देश्य हिंदू समाज का सुधार करना है। परंतु ऐसा नहीं है। कांग्रेस से इसकी प्रतिद्वंद्विता का समाज सुधार बनाम राजनीतिक सुधार के मुद्दे से कोई सरोकार नहीं है। कांग्रेस से इसके विवाद का मूल कांग्रेस की मुस्लिम समर्थक नीति में निहित है। इसका गठन मुस्लिम

---

1. अधिक ब्यौरे के लिए जाति–उन्मूलन (एनिहिलिशन ऑफ कास्ट) विषय पर मेरी लघु पुस्तिका देखिए।

2. हरिजन, 11 जनवरी, 1936

अतिक्रमण के विरुद्ध हिंदू अधिकारों के रक्षार्थ हुआ था और इस नाते इसकी दृष्टि हमेशा राजनीतिक आंदोलनों, गतिविधियों, सीटों और पदों पर लगी रहती है। सामाजिक सुधार के लिए इसके पास कोई समय नहीं है। हिंदुओं का एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए उत्सुक संगठन होने के नाते यह संस्था नहीं चाहती कि उसके तत्वों में कोई मत वैभिन्न्य हो, जबकि समाज-सुधार का काम अपने हाथ में लेने से यह हो सकता है। हिंदू जनता को संगठित करने के लिए हिंदू महासभा सभी सामाजिक बुराइयों के यथावत् बने रहने की पीड़ा झेलने को भी तैयार है। हिंदुओं की एकता हेतु यह 1935 के अधिनियम में परिकल्पित संघीय व्यवस्था का स्वागत करने को तैयार है, भले ही उसमें अनेक खामियां और असमानताएं हों। उसी उद्देश्य से हिंदू महासभा भारतीय रियासतों को भी उनके प्रशासन को यथावत् रखते हुए सहने को तैयार है। इसके अध्यक्ष का यह युद्ध-घोष रहा है कि 'हिंदू रियासतों को मत छेड़ो"। हिंदू महासभा का यह रवैया मुसलमानों के रवैए से भी अधिक विचित्र है। हिंदू रियासतों में प्रतिनिधि सरकारें हिंदुओं को कोई हानि नहीं पहुंचाएंगी। तो फिर हिंदू महासभा के अध्यक्ष इसका विरोध क्यों करते हैं? संभवतः इसलिए कि इससे मुसलमानों का लाभ होगा, जो वह सहन नहीं कर सकते।

IV

केंद्रीय विधान सभा में 1939 के मुस्लिम विवाह-अधिनियम को समाप्त करने के बारे में हुई बहस से बेहतर उदाहरण इस बारे में कोई और नहीं हो सकता कि हिंदू और मुसलमान अपने-अपने शक्ति संतुलन के अनुरक्षण की चिंता में कितनी दूरी तक जा सकते हैं।

1939 से पूर्व कानून यह था कि मुस्लिम कानून के अंतर्गत विवाहित पुरुष अथवा महिला के स्वधर्म-त्याग से विवाह उस स्थिति में भंग हो जाता था, जबकि कोई विवाहित मुस्लिम महिला अपना धर्म बदल लेती थी। ऐसे में वह अपने नए धर्म के अनुयायी किसी भी पुरुष से विवाह करने को स्वतंत्र हो जाती थी। साठ वर्ष तक भारत की सभी अदालतों में इस कानून का दृढ़तापूर्वक पालन किया गया।*

1939 के अधिनियम VIII द्वारा इस कानून को रद्द कर दिया गया था, जिसकी धारा 4 इस प्रकार है:

"किसी विवाहित मुस्लिम महिला द्वारा इस्लाम धर्म के परित्याग से

* जबरदस्त खान बनाम उसकी पत्नी के मामले में 1870 में उत्तर-पश्चिम प्रांत के हाईकोर्ट द्वारा दिया गया निर्णय सबसे पहला निर्णय था।

> अथवा उसके इस्लाम धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म में धर्मांतरण से स्वतः ही उसका विवाह–विच्छेद नहीं होगा।
>
> बशर्ते कि ऐसे धर्म परित्याग अथवा धर्मांतरण के बाद महिला धारा 2 में उल्लिखित किसी भी आधार पर अपने विवाह–विच्छेद के लिए न्यायालय से आदेश प्राप्त करने की हकदार होगी,
>
> बशर्ते यह भी कि इस धारा के उपबंध उस महिला के मामले में लागू नहीं होंगे, जिसने अपना धर्म त्यागकर इस्लाम धर्म ग्रहण किया था और बाद में फिर अपने पूर्व धर्म को अपना लिया है।"

इस अधिनियम के अनुसार, किसी विवाहित मुस्लिम महिला द्वारा कोई अन्य धर्म स्वीकार कर लेने मात्र से ही उसका विवाह भंग नहीं होगा। जो कुछ उसे प्राप्त होता है, वह तलाक लेने का अधिकार ही है। यह देखकर परेशानी ही होती है कि धारा 2 में न तो धर्मांतरण को और न ही स्वधर्म त्याग को तलाक का आधार माना गया है। इस कानून का परिणाम यह है कि विवाहित मुस्लिम महिला को अपने आत्मबोध की आज़ादी नहीं है और हमेशा के लिए अपने उस पति से बंधी रहती है, जिसकी धार्मिक आस्था उसके लिए पूर्णतः घृणास्पद है।

इस परिवर्तन के समर्थन में जो आधार पेश किए गए उन पर भी ध्यान देना अभीष्ट होगा। इस विधेयक को पेश करने वाले काज़ी काज़मी एम.एल.ए. ने परिवर्तन के पक्ष में एक नितांत विलक्षण तर्क पेश किया। विधेयक को पेश करने के संदर्भ में अपने भाषण में उन्होंने कहाः

> "स्वधर्मत्याग को किसी भी अन्य धर्म के समान इस्लाम ने एक घोर अपराध माना है, जो प्रायः राज्य के विरूद्ध अपराध जैसा ही है। यह प्रावधान रखना इस्लाम धर्म के लिए कोई गौरव की बात नहीं है। यदि हम किसी भी राष्ट्र के पुराने अधिनियमों को देखें तो पाएंगे कि ऐसे ही प्रावधान अन्य संहिताओं में भी उपलब्ध हैं। पुरुष के लिए अधिक कठोर दंड, अर्थात् मृत्युदंड, जबकि महिलाओं के लिए मात्र कारावास की व्यवस्था थी। यह मुख्य प्रावधान इसलिए था कि क्योंकि यह पाप है, अपराध है, इसके लिए दंड दिया जाना चाहिए, इसलिए महिला को पत्नी का अधिकार गंवाना पड़ता था। मात्र यही नहीं, अपितु समाज में अपने सभी स्तरों से उसे वंचित होना पड़ता था। उसे अपनी संपत्ति और नागरिक अधिकारों से भी वंचित होना पड़ता था। परंतु हमनें यह पाया है कि 1850 में ही एक अधिनियम पारित किया गया था, जो 'जातीय अयोग्यता निवारण अधिनियम 1850 का अधिनियम–21' के नाम से जाना जाता था.......।

"........इस अधिनियम द्वारा वह प्रावधान रद्द कर दिया गया जिससे कि महिला द्वारा स्वधर्म त्याग करने पर उसे अपने नागरिक अधिकारों सें वंचित कर दिया जाता था। अब उसे अपने नागरिक अधिकारों या अपनी संपत्ति की जब्तगी, अथवा उत्तराधिकार अथवा इसी तरह के किसी अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। सवाल केवल यह है कि विधान से उसे यह सहायता मिली, फिर उसे विचार की स्वतंत्रता मिलीं। उसे यह स्वतंत्रता मिली कि वह अपनी पसंद के किसी धर्म को ग्रहण कर सकती है और जब्तगी की वह धारा हटा दी गई है, जिससे उसे कष्ट उठाना पड़ता था और धर्म–परिवर्तन करने पर अवरोध उत्पन्न होता था। सवाल यह है कि इसके बाद उस महिला के पत्नित्व के अधिकार पर हम कहां तक अंकुश लगा सकते हैं। समाज में उसकी पत्नी–स्थिति महत्वपूर्ण है। वह किसी परिवार का अंग होती है, उसके बच्चे होते हैं, उसके अन्य रिश्ते व संबंध भी होते हैं। यदि उसका मन–मष्तिष्क उदार व स्वतंत्र है, तो हो सकता है कि वह उसी पुराने धर्म में बने रहना पसंद न करे। यदि वह अपना धर्म बदलती है तो हम अपने आधुनिक विचारों के अनुरूप उस पर और दंड क्यों थोपें कि वह अपने पति की पत्नी नहीं रहेगी। मेरा यह विनम्र मत है कि अब जब हम विचार–स्वातंत्र्य और धर्म–स्वातंत्र्य के पक्षधर बनते हैं और जब हम विभिन्न समुदायों के बीच अंतर्विवाह की वकालत करते हैं तो हमारे लिए ऐसे प्रावधान का समर्थन करना अनुचित होगा कि आस्था या धर्म बदलने मात्र से वह अपने पति की पत्नी होने के अधिकार से भी वंचित हो जाए। अतएव आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हम किसी भी प्रकार से इस विपरीत सुझाव का समर्थन नहीं कर सकते कि धर्मत्याग से उसे अपने पति की पत्नी होने के अधिकार से वंचित होना पड़े। परंतु यह तो तर्क का एक भाग ही रहा।

"पारसी विवाह और तलाक अधिनियम 1936 की धारा 32 के अनुसार, कोई भी विवाहित महिला इस आधार पर तलाक की मांग कर सकती है कि उसका पति पारसी नहीं रहा.......

"इससे दो बातें स्पष्ट हैं। पहली यह कि विवाह–विच्छेद का यह आधार किसी धार्मिक विचार अथवा धार्मिक भावना पर आधारित नहीं है, क्योंकि यदि धर्मांतरण के बाद पुरुष अथवा महिला दोनों में से किसी को भी विवाह भंग करने के लिए अभियोग का कोई अधिकार

> नहीं है। दूसरी बात यह है कि वादी को ही यह शिकायत है कि दूसरे पक्ष ने धर्मांतरण कर लिया है, उसे विवाह भंग करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।..........इस अधिनियम के अतिरिक्त अन्य समुदायों के बारे में, हम नेटिव कनवर्ट्स मैरिज डिसोलूशन एक्ट–1886 अधिनियम XXI से विवाह संबंधों पर धर्मांतरण के प्रभाव का जायजा ले सकते हैं.........यह भारत के सभी समुदायों पर लागू होता है और यह कानून इस तथ्य को मान्यता देता है कि किसी भारतीय के मात्र ईसाई हो जाने से ही विवाह नहीं टूट जाएगा, बल्कि उसे न्यायालय में जाना होगा, जहां वह यह कह सके कि दूसरे पक्ष को जिसने धर्मांतरण नहीं किया है, उसके प्रति वैवाहिक दायित्वों को निभाना चाहिए..........तब उन्हें एक वर्ष का समय दिया जाता है और न्यायाधीश उन्हें निर्देश देता है कि कुछ अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में वे एक–दूसरे से बातचीत करेंगे, ताकि उनमें वैवाहिक संबंध फिर से बहाल हो सके, और यदि वे सहमत नहीं होते तो अपवित्रीकरण के आधार पर विवाह भंग हो जाता है। विवाह निस्संदेह टूट जाता है, परंतु आस्था या धर्म बदल लेने मात्र के आधार पर नहीं। अतएव भारत में प्रत्येक समुदाय ने इस मान्य सिद्धांत के अपनाया है कि दूसरा धर्म ग्रहण कर लेने मात्र से ही विवाह–विच्छेद को नहीं माना जा सकता।"*

असेंबली के एक अन्य मुस्लिम सदस्य और विधेयक के पक्षधर सैयद गुलाम बिख नैरांग ने तो और भी अधिक खुलकर तथा बिना किसी लाग–लपेट के अपनी बात रखी। विधेयक के सिद्धांत के समर्थन में उन्होंने कहाः

> "बहुत लंबे समय से ब्रिटिश भारत में अदालतों ने बेहिचक और बिना किसी शर्त के यह निर्णय दिया है कि समस्त परिस्थितियों में स्वधर्म–त्याग में स्वतः और तत्काल, और बिना किसी न्यायिक कार्यवाही या न्यायालय के निर्णय अथवा किसी अन्य धार्मिक औपचारिकता की बाधा के बिना ही, वैवाहिक स्थिति समाप्त हो जाती है। न्यायालय यही रुख अपनाते रहे हैं। प्रायः इस मुद्दे पर हनफी न्यायविदों के तीन विशिष्ट दृष्टिकोण रहे हैं। इनमें से एक दृष्टिकोण को, जिसे बोखारा न्यायविदों का मत बताया जाता है, स्वीकार कर लिया गया था, उसे पूर्ण रूप में नहीं, बल्कि मेरी राय में उसे तोड़–मरोड़ और काट–छांटकर अपनाया गया है। बोखारा मत के बारे में श्री काज़मी और कुछ अन्य वक्ता पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। बुखारा न्यायविदों का कहना है

---

* लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स 1938, खंड–V पृ. 1098-1101

कि विवाह धर्म बदल लेने से टूट जाता है। वास्तव में मैं और अधिक ठोस शब्दों में इसे स्पष्ट कर रहा हूं – मैं अधिकृत रूप से यह कह सकता हूँ कि बुखारा मत के अनुसार विवाह भंग नहीं होता, बल्कि विवाह संबंध निलंबित होता है। विवाह निलंबित हो जाता है, किंतु पत्नी को तब तक हिरासत अथवा किसी की देखरेख में नजरबंद रखा जाता है जब तक कि वह पश्चाताप् नहीं कर लेती और पुनः इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं कर लेंती, और फिर उसे पति से निकाह के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिसका निकाह केवल निलंबित हुआ था, समाप्त अथवा रद्द नहीं। दूसरे मत के अनुसार, धर्मांतरण कर लेने पर मुस्लिम महिला अपने पति की पत्नी नहीं रहती, बल्कि उसकी बंधक स्त्री हो जाती है। एक धारणा जो इसी दृष्टिकोण की परिणति है, यह है कि यह आवश्यक नहीं कि वह अपने पूर्व पति की बंधक स्त्री रहे, अपितु वह समग्र मुस्लिम समुदाय की बंधक स्त्री हो जाती है और कोई भी व्यक्ति उसे एक बंधक स्त्री के तौर पर नौकर रख सकता है। तीसरा मत समरकंद और बलख के उलेमा का है, जिसके अनुसार ऐसे धर्मांतरण से वैवाहिक बंधन प्रभावित नहीं होता और महिला अपने पति की पत्नी बनी रहती है। ये तीन मत हैं। प्रथम मत के एक अंश बुखारा मत को अदालतों ने मान्यता दी और एक के बाद एक निर्णय इसी अंश पर आधारित रहे।

"इस सभा को यह भली भांति विदित है कि यह एकमात्र दृष्टांत नहीं है, जहाँ विधान के द्वारा, न्यायिक भूल का परिमार्जन करने की चेष्टा की गयी है। बल्कि दूसरे अनेक मामले भी है; जहाँ न्यायिक भूलें हुई हैं अथवा जहाँ न्यायिक अभिमत विवादास्पद रहा है अथवा विधि में ही अस्पष्टता या अनिश्चयता रही है। न्यायिक अभिमतों में सन्निहित भूलों का विधान द्वारा परिमार्जन निरंतर किया जाता रहा है। परन्तु इस विशिष्ट मामलें में तो भूल दर भूल ही नहीं हुई, भूलों की त्रासदी हुई है। निश्चय ही, यह अनुभव किया जाना चाहिए कि विधेयक के लिए मेरे प्रस्ताव का कदापि यह उत्तर नहीं हो सकता है कि चूंकि उच्च न्यायालयों ने मेरे विपरीत निर्णय दिए हैं, इसलिए इस सभा में उपस्थित होकर इनके संदर्भ में विधेयक बनाने का मेरा आग्रह अनधिकार चेष्टा होगी।"

संशोधन की गूढ़ता को ध्यान में रखते हुए, उसके पक्ष में प्रस्तुत किए गए तर्क बहुत ही तथ्यहीन थे। श्री काज़मी यह नहीं समझ सके कि यदि पारसी ईसाई और मुस्लिमों के तलाक से सम्बन्धित विधियों में भिन्नताएं हैं, तब उस स्थिति

में धर्मांतरण के प्रामाणिक साबित हो जाने पर, चूंकि मुस्लिम कानून पहले का है, औचित्यपूर्ण बात तो यह होती कि मुस्लिम कानून को पीछे धकेलने की बजाय पारसी और ईसाईयों के कानून को ही उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनाया जाता। श्री नैरंग को यह पूछना चाहिए था कि मुस्लिम विधिवेत्ताओं की विविध विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में क्या यह अधिक न्यायसंगत नहीं होगा कि उस अधिक प्रबुद्ध दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया जाय, जो मुस्लिम महिलाओं की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान करता है तथा उस असभ्य दृष्टिकोण को अस्वीकार किया जाय जो उन्हें गुलाम बनाता है।

जो भी हो, कानूनी तर्कों का परिवर्तन के वास्तविक उद्देश्यों से कुछ लेना देना नहीं था। वास्तविक उद्देश्य तो किसी महिला का दूसरे धर्म में अवैध धर्मांतरण पर रोक लगाना था ताकि जल्दबाजी में किसी दूसरे धर्म के धर्मावलम्बी उसे नए समुदाय में सम्मिलित कर उसका विवाह न कर दें और वह अपने मूल समुदाय में वापस न हो सके। मुस्लिम महिलाओं के हिन्दू धर्म में धर्मांतरण और हिन्दू महिलाओं के मुस्लिम धर्म में धर्मांतरण का सामाजिक तथा राजनैतिक परिणाम बड़ा भयावह हुआ करता है। इसका कुछ प्रभाव दोनों समुदायों के संख्यात्मक संतुलन पर पड़ता है। महिलाओं का अपहरण कर यह असंतुलन उत्पन्न किया जाता रहा है। इसे नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ राष्ट्रीयता की स्वाभाविक अंकुरण और संरक्षण स्थली होती हैं।* महिलाओं का धर्मांतरण और तदनुसार उनका विवाह करा देना, मुस्लिमों के द्वारा हिन्दुओं, ओर हिन्दुओं के द्वारा मुस्लिमों के प्रति सही में विध्वंसकारी कृत्य माना गया है, जिसका उद्देश्य उनके संख्यात्मक अनुपात में परिवर्तन करना रहा है। महिलाओं के अपहरण की यह घृणित प्रथा पशुओं की चोरी की घटनाओं की तरह ही सामान्य हो गयी थी और उसका स्पष्ट प्रभाव सामुदायिक संतुलन पर पड़ रहा था। अतः इसको रोकने के लिए प्रयास किया जाना अपेक्षित था। इस विधेयक के पीछे वास्तविक कारण यही था, जो इस विधेयक की धारा 4 के दो प्रावधानों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। परंतुक (1) में हिन्दू, मुसलमानों को यह सुविधा प्रदान करते हैं कि मुस्लिम महिला का हिन्दू धर्म में धर्मांतरण के बावजूद उसके मुस्लिम पति से उसका सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा। परंतुक (2) के अनुसार मुस्लिम हिन्दुओं को यह सुविधा प्रदान करते हैं कि यदि वे विवाहित हिन्दू महिला का धर्मांतरण करें तथा उस महिला का एक मुसलमान से विवाह कर दिया जाये तो, अगर मुस्लिम धर्म को वह महिला त्याग देती है, उस स्थिति में उसका मुस्लिम पति से सम्पन्न हुआ विवाह भी विघटित समझा जाएगा, तथा वह, हिन्दू समुदाय में पुनः

* राष्ट्रवाद के बनाए रखने में महिलाओं की भूमिका पर समुचित रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। इस विषय पर 'ऐसे ऑन नेशनैलिटी' में रेनन के विचार देखिए।

प्रवेश कर सकेगी। इस प्रकार कानूनी परिवर्तन के पीछे संपूर्ण मंशा संख्यात्मक अनुपात को संतुलित रखने की ही है, और मात्र इसी उद्देश्य के लिए महिलाओं के अधिकार की बलि चढ़ा दी गयी।

इस बुराई के दो और पहलू हैं, जिन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

एक पहलू यह है कि एक के द्वारा किए जा रहे सामाजिक सुधारों को दूसरे के द्वारा तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसा सामाजिक सुधार यदि दूसरे समुदाय की प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि करता है तब यह तत्काल सामुदायिक विद्वेष का कारण बन जाता है।

स्वामी श्रद्धानन्द एक बड़ी विचित्र घटना का उल्लेख करते हैं। यह घटना उपर्युक्त मानसिकता का सटीक चित्रण करती है। 26 अप्रैल 1926 के "लिबरेटर" में अपने संस्मरण में उन्होंने इस घटना के सम्बन्ध में यह लिखा है:–

> "श्री रानाडे इस सामाजिक सभा को, जिसे 'नेशनल' कहा गया, मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए वहां मौजूद थे। यह सभा अपने प्रारम्भ से ही सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं की एक सभा थी। इस राष्ट्रीय सामाजिक सभा में बरेली के मुफ्ती साहेब एकमात्र मुस्लिम प्रतिनिधि थे। सभा का आरम्भ एक हिन्दू प्रतिनिधि तथा मेरे उस प्रस्ताव से हुआ जिसका सम्बन्ध बाल–विधवाओं के पुन–र्विवाह से था। सनातनी पण्डितों ने मेरे इस प्रस्ताव का विरोध किया। तब मुफ्ती ने सम्बोधित करने हेतु आज्ञा मांगी। इस पर स्व. बैजनाथ ने यह कहा कि प्रस्ताव का सम्बन्ध चूंकि केवल हिन्दुओं से है, उनके बोलने की आवश्यकता नहीं है। इस पर मुफ्ती आग–बबूला हो गए।
>
> "सभापति के लिए बचाव को कोई रास्ता नहीं था, अतः मुफ्ती साहेब को अपनी बात रखने का अवसर दे दिया गया। मुफ्ती साहेब का तर्क था कि चूंकि हिन्दू शास्त्र पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं, इसलिए इस पर बल दिया जाना धर्मसम्मत बात नहीं है। दोबारा, जब धर्मान्तरित ईसाइयों और मुसलमानों का हिन्दू धर्म में पुनःध र्मांतरण के विषय पर संकल्प आया तब मुफ्ती साहेब ने तर्क प्रस्तुत कर दिया कि जब किसी व्यक्ति ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर दिया है तब उसकी पुनर्वापसी को अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।"

एक दूसरा उदाहरण अछूतों की समस्याओं के प्रति मुसलमानों के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। मुसलमान हमेशा से ही दलित समुदायों को तृष्णा से देखते

आए हैं तथा यह हिन्दू और मुसलमानों के बीच ईर्ष्या का कारण बना रहता है क्योंकि हिन्दूओं को यह आशंका होती है कि दलित समुदायों को अपने में समाहित कर मुसलमान कहीं अधिक शक्तिशाली न बन जाएं। 1909 में मुसलमानों ने एक दृढ़ कदम उठाया। उन्होंने दलित समुदायों को मतदाता सूचियों में बतौर हिन्दू नामांकित किए जाने पर आपत्ति उठायी। वर्ष 1923 में श्री मोहम्मद अली ने कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से अपने भाषण में 1909 ई. में मुसलमानों के प्रस्थापित दृष्टिकोण से अधिक आगे बढ़कर नयी प्रतिस्थापनाएं कीं। उन्होंने कहा:–

> "अलामस और पीपल के दरख्तों और बाजे–गाजे वाले जुलूसों के सम्बन्ध में बचकाना विवाद हुआ करते हैं, किंतु एक प्रश्न जरूर है कि यदि साम्प्रदायिक गतिविधियों को मैत्रीपूर्ण ढंग से सुलझा नहीं लिया जाता है तो उससे सहज ही गैर–दोस्ताना व्यवहार की जमीन तैयार हो जाती है। यदि हिन्दू दलितों को तेजी से समाहित नहीं कर लेते तब यह उन समुदायों के धर्मांतरण का प्रश्न बन जाएगा। ईसाई उनका धर्मांतरण कर रहे हैं, और इस सम्बन्ध में प्रश्न कोई नही उठाता है। किन्तु किसी मुस्लिम सामाजिक संगठन को इस कार्य के लिए जैसे ही गठित किया जाएगा, हिन्दू समाचारपत्रों में हो–हल्ला शुरू हो सकता है। एक अत्यन्त ही धनाढ्य तथा प्रभावशाली सज्जन ने, जो दलितों के धर्मांतरण के लिए व्यापक पैमाने पर धर्मांतरण करंने वाली संस्था का गठन कर सकते हैं, मुझे बताया है कि अग्रणी हिन्दुओं के साथ सहमति हो सकती है कि देश को अलग–अलग क्षेत्रों में बांट दिया ज़ाय जिनमें धर्मांतरण का कार्य मुसलमान और हिन्दू अलग–अलग कर सकें। प्रत्येक सम्प्रदाय वर्षवार, अथवा इससे अधिक अवधि के भीतर, कितने लोगों का धर्मांतरण कर सकता है या अपने भीतर समाहित कर सकता है, इसकी तफसील तैयार करे। इन तफसीलों का यह आधार होगा कि प्रत्येक संप्रदाय कितने कार्यकर्त्ता और कितना धन लगा सकता है और पूर्व वर्ष के इनके वास्तविक आंकड़ों के आधार पर इनकी जांच की जा सकती है। इस विधि से दोनों ही सम्प्रदाय अपने में समाहित करने या धर्मांतरण करने का कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहेंगे, या अन्य सुधारवादी कार्य भी वे कर सकेंगे, और उनके बीच टकराव की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। मैं इस सुझाव को फिलहाल ईमानदारी और स्पष्टता के साथ रख सकता हूँ, परन्तु मेरे हिन्दू भाई इस सुझाव के प्रति कैसा रुख अपनाएँगे, यह मैं नहीं कह सकता। मैं अपनी ओर से जो कुछ भी कर रहा हूँ वह यह कि बड़ौदा स्टेट में तथा मध्य प्रान्त के गोंड लोगों के बीच काली पूजा का हमने

जो रूप देखा है, वह हम सभी के लिए अपमानजनक है। यदि हिन्दू लोग दलित समुदायों को अपने में समाहित नहीं कर लेते हैं, तब दूसरे उन्हें अपने धर्म में धर्मांतरित कर लेंगे और यही किया भी जाना चाहिए और इसी परिस्थिति में कट्टरवादी हिन्दू भी उन्हें अछूत मानना छोड़ेंगे। धर्मांतरण एक शक्तिशाली रासायनिक प्रक्रिया की तरह उनका कायाकल्प करता हुआ प्रतीत होता है। पर क्या यह धर्मांतरण का प्रोत्साहन नहीं है?"

इसका अन्य पहलू वे तैयारियाँ हैं, जो हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के विरूद्ध जोर–शोर से कर रहे हैं। यह दो राष्ट्रों के बीच सामाजिक युद्धास्त्रों की होड़ की तरह है। यदि हिंदुओं के पास काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है, तो मुसलमानों के पास भी एक अलीगढ़ विश्वविद्यालय होना ही चाहिए। हिन्दू यदि शुद्धि आन्दोलन आरम्भ करते है, तो मुसलमान निश्चय ही 'तबलीग' आन्दोलन छेड़ेंगे। हिन्दू यदि संगठन बनाते है तो इसके जवाब में मुस्लिम "तनजीम" स्थापित करते हैं। अगर हिन्दुओं का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ है, तब मुसलमानों का भी मुस्लिम खाकसार है। सामाजिक युद्धास्त्रों तथा सज्जाओं की होड़ को जिस दृढ़ता और जिन आशंकाओं से संचालित किया जा रहा है, वह राष्ट्रों के बीच संघर्ष का लक्षण है। प्रतीत होता है कि दोनों ही राष्ट्र एक दूसरे की तैयारियों की समीक्षा करते रहते हैं और युद्ध जैसी तैयारियाँ कर रहे हैं। मुसलमान समझते हैं कि हिन्दू उन्हें अधीनस्थ बना रहे हैं और हिन्दू अनुभव करते हैं कि मुसलमान उन पर पुनर्विजय करना चाह रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही युद्ध की तैयारी में संलग्न हैं और एक दूसरे की तैयारियों पर नजर रखते हैं।

इस प्रकार की स्थिति अनिष्टकारी होगी। यह एक दुश्चक्र है। मुसलमान हिन्दुओं के सशक्त होने पर अपने लिए खतरा महसूस करते हैं। खतरे से निपटने के लिए वे अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास करते हैं। फिर उनकी स्थिति से संतुलन प्राप्त करने के लिए यही सब हिन्दू करते हैं। जैसे–जैसे ये तैयारियाँ बढ़ती हैं, उनमें संदिग्धता, षड्यंत्र और गोपनीयता भी बढ़ती जाती है। शांतिपूर्वक सुलझाव की सम्भावनाएँ शुरू में ही नष्ट हो जाती हैं, और चूंकि प्रत्येक व्यक्ति इससे भयाक्रांत रहता है तथा इसके लिए तैयारी भी करता रहता है, दोनों सम्प्रदायों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। इस तरह जिन परिस्थितियों में हिन्दू और मुसलमान अपने को पाते हैं, सिवाय इसके कि एक दूसरे की चुनौती से निबटने की तैयारियाँ वे करते रहें, और कर ही क्या सकते हैं? यह संघर्ष अस्तित्व बनाए रखने के लिए है, और मुख्य मुद्दा भी यही है, न कि अस्तित्व का स्तर तथा गुणवत्ता।

निश्चय ही इस चर्चा से दो तथ्य उभरते हैं। एक तो यह है कि, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को खतरे की दृष्टि से देखते हैं और दूसरा यह कि खतरों का सामना करने के क्रम में, सामाजिक कुरीतियों को, जिनसे कि वे पीड़ित हैं, दूर करने के उद्देश्य को ही उन्होंने टाल दिया है। क्या यह वांछनीय स्थिति है? यदि यह वांछनीय नहीं है, तब इसे कैसे खत्म किया जाए?

यह कोई नहीं कह सकता कि सामाजिक सुधारों से सम्बन्धित समस्याओं को दरकिनार कर देना औचित्यपूर्ण बात होगी। स्वस्थ राजनीतिक संरचना की यह अपेक्षा होती है कि सामाजिक कुरीतियों का, उत्पीड़न और अन्याय का प्रतीक बन जाने के पहले ही, उन्मूलन कर दिया जाये क्योंकि कहीं भी आर्थिक और सामाजिक कुरीतियाँ ही पतन अथवा क्रांति की जनक होती हैं। यह विवाद का विषय हो सकता है कि पहले राजनीतिक पुनःनिर्माण हो या पहले सामाजिक पुनर्निर्माण हो। किन्तु इस तथ्य पर मतांतर नहीं हो सकता कि राजनीतिक सत्ता का उपयोग, आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के निमित्त किया जाना चाहिए। राजनीतिक सत्ता के लिए किया जा रहा पूरा संघर्ष बेमानी और व्यर्थ ही होगा यदि इस संघर्ष के सम्बन्ध में यह अनुभूति न हो कि राजनीतिक सत्ता के अभाव में ही सामाजिक कुरीतियों के कारण हमारे समाज में घुन लग गया है और वह नष्ट होता जा रहा है। किन्तु मान लीजिए कि हिन्दू और मुसलमान किसी प्रकार राजनीतिक सत्ता के स्वामी बन जाते हैं तो इससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे इस सत्ता का उपयोग सामाजिक पुनः निर्माण के लिए करेंगे ही? इस सम्बन्ध में कोई आशा नहीं की जा सकती। जब तक मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे के लिए खतरा ही बनते रहेंगे, उनका पूरा ध्यान खतरों का सामना करने में ही बंटा रहेगा। मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं का और हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों का संगठित होते रहना जब तक कायम है, तब तक निश्चित रूप से सामाजिक पुनःनिर्माण की बात दबी रहेगी। न तो हिन्दू और न ही मुसलमान आर्थिक और सामाजिक कुरीतियों के बहते हुए नासूर की ओर अपना ध्यान फेरेंगे जिसकी कि तत्काल आवश्यकता है क्योंकि उनकी समझ में सामाजिक पुनः निर्माण का कदम, निश्चित रूप से मतभेद और विभाजन पैदा कर देगा जब कि एक दूसरे के सम्प्रदाय के खतरों का सामना करने के लिए उन्हें अपनी एकता ही मजबूत करना चाहिए । यह निर्विवाद है कि जब तक एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को खतरा मानता रहेगा, तब तक कोई सामाजिक प्रगति नहीं की जा सकेगी और दोनों के ही विचारों और कार्यकलापों पर रूढ़िवादिता का बोलबाला रहेगा।"

कब ये खतरे समाप्त होंगे? जब तक हिन्दू और मुसलमान एक ही संविधान के अंतर्गत एक ही देश में रहते रहेंगे, यह खतरा कायम रहेगा क्योंकि दोनों सम्प्रदायों पर एक संविधान लागू होने में यह आशंका है कि अपने आरम्भ के

काल में स्थापित संतुलन के समाप्त होने पर – जो अवश्यंभावी है – मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे को फिर अपने लिए खतरा समझने लगेंगे। यदि यही होना है तो स्पष्ट उपंचार पाकिस्तान ही है। खतरों के मुख्य कारक को यह समाप्त कर देता है। पाकिस्तान का निर्माण हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही एक दूसरे की गुलामी और अनधिकृत आक्रमण की आंशका से मुक्त कर देता है। इससे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए अलग–अलग संविधान का प्रावधान हो जाता है, जिससे दैनिक जीवन में संतुलन कायम रखने के लिए चल रहे लगातार संघर्ष का आधार ही समाप्त हो जाता है। सामाजिक महत्व के अत्यावश्यक विषयों को, जिन्हें इस समय वे बक्से में बंद कर देने को बाध्य हैं, लेकर अब उन्हें अपनी जनता के जीवन में सुधार लाने का अवसर प्राप्त हो जाता है। आखिर स्वराज्य के लिए यह जो संघर्ष चलाया जा रहा है, उसका लक्ष्य भी तो यही सुधार है।

किसी ऐसी व्यवस्था की अनुपस्थिति में हिन्दू और मुसलमान ऐसी क्रिया और प्रतिक्रिया करते रहेंगे, मानों वे दो अलग–अलग राष्ट्र हैं। दोनों आशंकित रहेंगे कि दूसरा उन पर विजय तो प्राप्त नहीं कर लेता। सामाजिक पुनः निर्माण के बजाय हमेशा आक्रमण की तैयारियों को तरजीह दी जाती रहेगी तथा इस प्रकार सामाजिक यथास्थिति बनी रहेगी। किसी को इस पर आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह बहुत ही स्वाभाविक बात है। जैसा कि जार्ज बर्नार्ड शॉ ने इंगित किया है–

> "एक विजित राष्ट्र कैंसर–ग्रस्त मनुष्य की तरह होता है; वह अन्य किसी विषय पर नहीं सोच सकता है।.....................। एक स्वस्थ राष्ट्र अपनी राष्ट्रीयता के विषय में उसी प्रकार अचेत रहता है जिस प्रकार एक स्वस्थ मनुष्य अपनी हड्डियों के विषय में। परन्तु यदि किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता को आप भंग कर देते हैं, तब उसकी चिंता इसे पुनः स्थापित करने की होगी। वह तब किसी सुधारक की बात पर ध्यान नहीं देगा, किसी दार्शनिक की बात नहीं सुनेगा, किसी धर्मोपदेशक की बात नहीं मानेगा, जब तक कि उसकी राष्ट्रीयता की मांग स्वीकृत नहीं हो जाती। वह एकता स्थापित करने और मुक्ति प्राप्त करने के कार्यों के अतिरिक्त सभी अत्यावश्यक कार्यों की अवहेलना करेगा।"

जब तक हिंदुओं से अपने को अलग रखने की मांग करने वाले मुसलमानों का पृथक राष्ट्र के रूप में एकीकरण नहीं हो जाता, और अपने ऊपर दूसरे के आधिपत्य हो जाने की आशंका से दोनों को ही मुक्ति नहीं मिल जाती, सामाजिक निष्क्रियता की इस बुराई को दूर नहीं किया जा सकता। इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं है।

अध्याय : 11

साम्प्रदायिक आक्रामकता

एक सतही पर्यवेक्षक भी यह समझने में चूक नहीं करेगा कि मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों का आक्रामक रवैया ही उनके दृष्टिकोण को दर्शा देता है। हिन्दुओं का आक्रामक रवैया एक नया चरण है, जिसका विकास हाल ही में होना शुरू हुआ है। मुसलमानों का आक्रामक रवैया उनका जातीय चरित्र है और हिन्दुओं की तुलना में प्राचीन भी है। ऐसा नहीं है कि यदि अवसर दिया जाए तो हिन्दू गति नहीं पकड़ लेंगे और मुसलमानों को पीछे नहीं छोड़ देंगे। परन्तु वर्तमान में तो इस आक्रामक मनोभाव के प्रदर्शन से मुसलमान ही हिन्दुओं को बहुत पीछे छोड़ चुके हैं।

साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित खण्ड में मुसलमानों के सामाजिक आक्रमण के बारे में काफी कुछ कहा जा चुका है। मुसलमानों की राजनीतिक आक्रामकता के बारे में संक्षेप में कुछ चर्चा करना आवश्यक है। क्योंकि उनके राजनीतिक अतिक्रमणों ने जो विकार उत्पन्न कर दिए हैं, उन्हें नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता।

मुसलमानों की इस राजनीतिक आक्रामकता की तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं।

पहली बात यह है कि मुसलमानों की राजनीतिक मांगें हनुमानजी की पूंछ की तरह बढ़ती जा रही हैं। उनकी मांगों का समारम्भ 1892 से होता है।

1885 में "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस" की स्थापना की गयी थी। स्वराज्य के बजाए एक अच्छे प्रशासन की मांग को लेकर इसे शुरू किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस मांग की प्रतिक्रियास्वरूप 1861 के विधान के तहत केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायिकाओं के स्वरूप में बदलाव लाने की आवश्यकता महसूस की। कांग्रेसी आंदोलन के अभी शैशवावस्था में रहने के कारण, ब्रिटिश सरकार ने, विधायिका सभाओं को जन–प्रातिनिधिक बनाने की आवश्यकता नहीं समझी। उसने

उन्हें केवल प्रातिनिधिक होने की आभा से मण्डित करने का ही विचार किया। तदनुसार, 1892 ई. में ब्रिटिश संसद ने भारत परिषद् अधिनियम "(इण्डियन काउन्सिल्स एक्ट)" पारित किया। यह अधिनियम दो बातों के लिए याद किया जाएगा। 1892 ई. के अधिनियम में, पहली बार, जन प्रतिनिधित्व के आधार पर विधायिकाओं के गठन करने के सिद्धांत से सादृश्य सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया। यह निर्वाचन का सिद्धांत नहीं था। यह मनोनयन का सिद्धांत था, परन्तु इसमें व्यवस्था यह की गयी कि मनोनयन से पूर्व उस मनोनीत होने वाले प्रतिनिधि का महत्वपूर्ण जन संस्थाओं, व्यवसायी संघों आदि जैसे नभरपालिकों, जिला बोर्डों, विश्वविद्यालयों, के द्वारा चयन होना चाहिए। दूसरी बात, भारत के राजनीतिक विधान में मुसलमानों के लिए अलग प्रतिनिधित्व का सिद्धांत सर्वप्रथम इसी अधिनियम के अंतर्गत स्थापित विधायिकाओं के गठन में प्रयुक्त किया गया।

इस सिद्धांत के प्रतिपादन पर रहस्यों का आवरण पड़ा हुआ है। यह इसलिए रहस्यमय है कि इसका समावेश बहुत चुपचाप किया गया। इस अधिनियम में अलग प्रतिनिधित्व का कोई प्रावधान नहीं किया गया हैं, इस सम्बन्ध में अधिनियम चुप है। यह तो उन दिशानिर्देशों में, न कि अधिनियम में, शामिल किया गया था जो उन व्यक्तियों को दिए गये थे जिनके द्वारा विधायिकाओं में विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व निश्चित किया जाना था तथा उक्त निर्देशों में, प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए मुसलमानों को एक वर्ग मानने के लिए कहा गया था।

दिशानिर्देशन में इसके समावेश के लिए कौन उत्तरदायी था, यह रहस्य है। अलग प्रतिनिधित्व की यह योजना किसी मांग का परिणाम नहीं थी। ऐसी मांगों को मुसलमानों के किसी संगठन ने पेश भी नहीं किया था। तब, उसकी शुरुआत किससे हुई? ऐसा संकेत मिलता है कि वायसराय लार्ड डफरिन इसका प्रणेता था जिसने 1888 में ही, जब वह विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व के प्रश्न को देख रहा था, इस बात पर बल दिया था कि भारत में हितों के आधार पर प्रतिनिधित्व दिए जाने की आवश्यकता होगी, तथा जिस प्रकार इंग्लैण्ड में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया जाता है उसे यहाँ प्रचलित नहीं किया जा सकता। कुतूहल इससे आगे इस प्रश्न को उठाने के लिए बाध्य करता है कि आखिर लार्ड डफरिन द्वारा हित आधारित प्रतिनिधित्व की योजना प्रस्तुत करने के पीछे कौन से कारण रहे होंगे। ऐसा बताया जाता है कि 'कांग्रेस' से, जिसकी तीन वर्ष पूर्व स्थापना हो चुकी थी, मुसलमानों को विमुख करने के लिए यह किया गया था। अब सत्य जो भी रहा हो, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि सर्वप्रथम इसी अधिनियम के द्वारा मुसलमानों का अलग प्रतिनिधित्व भारतीय संविधान की एक विशेषता बन गया। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस अधिनियम ने या इसके नियामकों ने मुस्लिम सम्प्रदाय को प्रतिनिधियों के चयन का अधिकार नहीं दिया और न

ही मुस्लिमों को इसने यह अधिकार प्रदान किया कि वे प्रतिनिधित्व में किसी निर्धारित संख्या की मांग करें। इसने बस इतना ही किया कि मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया।

यद्यपि अलग प्रतिनिधित्व का सुझाव सर्वप्रथम अंग्रेजों के द्वारा दिया गया, तथापि अलग राजनीतिक अधिकारों के सामाजिक महत्व को समझने में मुसलमानों ने चूक नहीं की। इसका यह परिणाम हुआ कि 1909 में जब मुसलमानों को यह जानकारी मिली कि विधान परिषदों में सुधार विचाराधीन हैं तो उन्होंने अपनी ही उत्प्रेरणा से वायसराय लार्ड मिंटो के समक्ष अपना प्रतिनिधिमण्डल* भेजा तथा वायसराय के समक्ष निम्नलिखित मांगें रखीं :

1. नगरपालिकाओं और जिला परिषदों में उन्हें अपनी संख्या, सामाजिक स्थिति तथा स्थानीय प्रभाव के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाए।
2. विश्वविद्यालयों के शासी निकायों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का आश्वासन दिया जाए।
3. प्रांतीय परिषदों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए मुसलमान ज़मीदारों, वकीलों और व्यापारियों तथा अन्य हितों के समूहों के प्रतिनिधियों, विश्वविद्यालय स्नातकों तथा जिला परिषदों और नगरपालिकाओं के सदस्यों से गठित विशेष निर्वाचन–मंडलों द्वारा चुनाव की व्यवस्था की जाए।
4. इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या उनकी जनसंख्या पर नहीं आधारित होनी चाहिए और किसी भी परिस्थिति में मुसलमानों को निष्प्रभावी अल्पमत में नहीं रखना चाहिए। प्रतिनिधियों का, यथासंभव, निर्वाचन ही (मनोनयन के बजाय) होना चाहिए तथा ऐसे निर्वाचन के लिए, जमीदारों, वकीलों, व्यापरियों, प्रांतीय परिषदों के सदस्यों तथा विश्वविद्यालयों के शासी निकायों के सदस्यों से गठित अलग मुस्लिम निर्वाचक मंडल को आधार बनाया जाए।

1909 के अधिनियम में इन मांगों को स्वीकार करते हुए, प्रावधान कर दिया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत मुसलमानों को निम्न प्रकार के अधिकार दे दिए गए–

(1) अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार (2) अपने प्रतिनिधियों को अलग निर्वाचन–मंडल द्वारा निर्वाचित करने का अधिकार (3) सामान्य निर्वाचन–मंडलों के अनुसार भी मतदान करने का अधिकार, और (4) प्रतिनिधित्व में वज़न का अधिकार।

---

* कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में श्री मोहम्मद अली ने कहा कि यह प्रतिनिधिमंडल अत्यंत सफल रहा।

नीचे दी गयी तालिका से यह स्पष्ट होता है कि 1909 ई. के अधिनियम के तहत स्थापित किए गए विधानमंडलों में मुसलमानों को कितना प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ।

1909 के अधिनियम के अन्तर्गत गठित विधान-परिषदों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक अनुपात

प्रांत	1909 के अधिनियम के अंतर्गत अधिकतम अतिरिक्त सदस्यों की संख्या	रेग्युलेशन्स के अंतर्गत अधिकतम स्वीकृत अतिरिक्त प्रतिनिधित्व कालम 5 तथा 12	एक्स ऑफिसियो सदस्य	रेगुलेशन के अंतर्गत काउंसिलों में कुल स्थान								कालम 4, 5, 12 के अनुसार कुल संख्या
				निर्वाचित सदस्य			मनोनीत सदस्य					
				कुल	गैर मुस्लिम	मुस्लिम	कानूनी अधिकारी	अन्य	गैर–सरकारी	विशेषज्ञ	कुल	
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
भारत	60	60	8	27	22	5	–	28	5	–	33	63
मद्रास	50	45	4	21	19	2	1	16	5	2	24	49
बम्बई	50	45	4	21	17	4	1	14	7	2	24	49
बंगाल	50	50	4	28	23	5	–	16	4	2	22	54
बिहार	50	41	4	21	17	4	–	15	4	1	20	45
यू.पी.	50	49	1	21	17	4	–	20	6	2	28	50
पंजाब	30	26	1	8	8	कोई नहीं	–	10	6	2	18	27
बर्मा	30	17	1	1	1	कोई नहीं	–	6	8	2	16	18
आसाम	30	25	1	11	9	2	–	9	4	1	14	25

नोटः कालम 9 की संख्याएं, रेगुलेशनस् के अंतर्गत अनुमत सरकारी सदस्यों की अधिकतम संख्या है।

पंजाब तथा मध्य प्रान्त को छोड़कर, अन्यत्र सभी प्रांतों में 1909 ई. के अधिनियम के प्रावधान प्रभावी हुए। पंजाब में मुसलमानों को विशेष संरक्षण दिए जाने की आवश्यकता ही नहीं थी तथा मध्य प्रान्त से उस समय विधान परिषद अस्तित्व में थी ही नहीं।

1916 के अक्टूबर महीने में, इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल के उन्नीस सदस्यों ने वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के समक्ष एक ज्ञापन पेश किया तथा संविधान में सुधार की मांगे की। मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए अनेक मांगें करते हुए मुसलमान तत्काल आगे आ गए। इनकी मांगें इस प्रकार थीं–

(1) अलग प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को पंजाब और मध्य प्रांत में लागू किया जाना।

(2) प्रांतीय परिषदों और इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या निर्धारित की जाना।

(3) मुसलमानों के धार्मिक और रीतिरिवाजों के मामलों में, अधिनियमों में उनको संरक्षण प्रदान किया जाना।

इन मांगों के उपरान्त, विचार–विमर्श द्वारा हिन्दू और मुसलमानों में समझौता हुआ, जिसे "लखनऊ पैक्ट" कहा जाता है। इस समझौते के दो खण्ड हैं। एक खण्ड जिसका सम्बन्ध कानून के निर्माण से है उसके अंतर्गत निम्न सहमति हुई–

> "गैर–सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किसी भी कानून अथवा संकल्प पर, या उसके किसी खण्ड पर, जिसका प्रभाव किसी एक सम्प्रदाय पर पड़ता है, यह प्रश्न सम्बन्धित सम्प्रदायों के सदस्यों को सम्बन्धित विधान परिषदों में ही निर्णीत करना है) उस विशिष्ट परिषद में, जो या तो इम्पीरियल या फिर प्रांतीय परिषद हो सकती है, कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी जब तक कि उक्त परिषद में, सम्बन्धित सम्प्रदाय के तीन चौथाई या अधिक प्रतिनिधि, ऐसी कार्यवाही के पक्ष में न हों।"

दूसरा खण्ड मुस्लिम प्रतिनिधित्व के अनुपात से सम्बन्ध रखता है। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल के सदर्भ में इस समझौते में निम्न प्रावधान है :

> "निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों में एक तिहाई मुस्लिम होंगे जिनका निर्वाचन विभिन्न प्रान्तों के उनके पृथक मुस्लिम निर्वाचकमंडलों द्वारा किया जाएगा तथा उनका अनुपात यथासंभव प्रांतीय विधान परिषदों में उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात के निकट होगा।"

प्रांतीय विधान परिषदों में मुस्लिम प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में तय हुआ कि यह इस प्रकार होगा[1] –

प्रांत	प्रांतीय विधायिकाओं में, निर्वाचित भारतीय सदस्यों का अनुपात
पंजाब	50
संयुक्त प्रांत	30
बंगाल	40
बिहार तथा उड़ीसा	25
मध्य प्रांत	15
मद्रास	15
बम्बई	13

इस अनुपात में मुसलमानों की सीटें स्वीकृत करने के साथ ही, सामान्य निर्वाचकमंडल के आधार पर उनके द्वितीय मत देने का अधिकार समाप्त कर दिया गया। यह अधिकार 1909 ई. के अधिनियम के तहत उन्हें प्राप्त था।

मौन्टेग्यू–चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन में लखनऊ समझौते की आलोचना की गयी है। परन्तु यह समझौता दोनों पक्षों के बीच होने के कारण, सरकार ने इसे रद्द कर स्वयं अपना निर्णय लागू करना उचित नहीं समझा। समझौते की दोनों ही धाराओं को सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया और 1919 के भारत सरकार अधिनियम में उन्हें शामिल कर दिया गया। कानून बनाने से सम्बन्धित खण्ड को लागू किया गया, किन्तु दूसरे तरीके से। ऐसी व्यवस्था की गयी कि विधायिका के सदस्यों पर विरोध करने का दायित्व नहीं रह गया, बल्कि इसके बजाय उन विधानों को जिनका सम्बन्ध भारत में ब्रिटिश प्रजा के किसी भी वर्ग के धर्म या धार्मिक रीति–रिवाजों और परम्पराओं से हो, भारतीय विधान–मंडलों के किसी भी सदन में प्रस्तावित[2] करने से पूर्व, गवर्नर जनरल की पूर्वानुमानित आवश्यक होगी।

प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित खण्ड को सरकार ने मान लिया यद्यपि उसकी राय में पंजाब और बंगाल के मुसलमानों के साथ इसमें पूर्ण न्याय नहीं हुआ था।

---

1. मुस्लिम महिला की स्थिति के लिए देखिए श्याम कुमार नेहरू द्वारा संपादित 'अवर काज़'।
2. भारत सरकार अधिनियम, 1919 धारा 67 (2) (ख)

भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अंतर्गत गठित विधायिकाओं की संरचना पर इन रियायतों का क्या प्रभाव पड़ा, यह निम्न तालिका से देखा जा सकता है :–

विधायिकाओं की संरचना

	निर्वाचित सदस्य				मनोनीत सदस्य		
	कानूनन न्यूनतम	कुल	मुस्लिम	गैर–मुस्लिम	अधिकारी वर्ग	गैर–अधिकारी वर्ग	वास्तविक योग
1	2	3	4	5	6	7	8
विधान सभा	145	104	52	52	26	15	145
राज्य परिषद	60	33	11	22	17	10	60
मद्रास प्रांतीय परिषद	118	98	13	85	11	23	132
बम्बई प्रांतीय परिषद	111	86	27	59	19	9	114
बंगाल प्रांतीय परिषद	125	114	39	75	16	10	140
यू.पी. प्रांतीय परिषद	118	110	29	71	17	6	123
पंजाब प्रांतीय परिषद	83	71	32	39	15	8	94
बिहार प्रांतीय परिषद	98	76	18	58	15	12	103
मध्य प्रदेश प्रांतीय परिषद	70	55	7	48	10	8	73
आसाम प्रांतीय परिषद	53	39	12	27	7	7	53

लखनऊ समझौते के अंतर्गत मुसलमानों को प्राप्त प्रतिनिधित्व की सीमा इस तालिका में देखी जा सकती है*–

विधायिका सभा	निर्वाचक क्षेत्र की कुल जनसंख्या में मुसलमानों का प्रतिशत (1991 की जनगणना)	कुल सदस्यों में मुस्लिम सदस्यों का प्रतिशत	कुल निर्वाचित भारतीय सदस्यों में मुस्लिम सदस्यों की संख्या (प्रतिशत) +	भारतीय सामान्य (साम्प्रदायिक) निर्वाचन–क्षेत्रों से चुनाव द्वारा भरे जाने वाले कुल स्थानों में मुस्लिम सदस्यों का प्रतिशत	लखनऊ पैक्ट में प्रतिशत
पंजाब	55.2	40	48.5	50	50
संयुक्त प्रांत	14.3	25	30	32.5	30
बंगाल	54.6	30	40.5	46	40
बिहार तथा उड़ीसा	10.9	18.5	25	27	25
मध्य प्रांत	4.4	9.5	13	14.5	15
मद्रास	6.7	10.5	14	16.5	15
मम्बई	19.8	25.5	35	37	33.3
आसाम	32.2	30	35.5	37.5	कोई प्रावधान नहीं
विधान सभा	24.0	26	34	38	33.3

+ **नोट** : कालम 3 विशिष्ट निर्वाचक–मण्डलों से निर्वाचित भारतीयों की संख्या सहित है, उदाहरणार्थ व्यापारी समुदाय, जिनकी संख्या में समय–समय पर मामूली सा अंतर हो सकता है। इसी प्रकार कालम 2 में जिसमें अधिकारी तथा मनोनीत गैर–अधिकारी दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित हैं, भिन्न अवधियों में परिणाम दर्शित कर सकता है।

1. स्टेस्यूटरी कमीशन, 1929 का प्रतिवेदन, खण्ड 1, पृष्ठ 189

यह तालिका पूरी तरह यह स्पष्ट नहीं करती कि लखनऊ समझौते के तहत मुसलमानों को कितनी महत्ता प्राप्त हुई। भारत सरकार के द्वारा, लार्ड साउथबौरो की अध्यक्षता वाली मताधिकार समिति के प्रतिवेदन के विषय पर भेजे गए अपने सरकारी पत्र[1] में यह तालिका दी गयी है। उसी पत्र से यह तालिका प्राप्त की गई है, जो यह प्रदर्शित करती है कि 1909 में सरकार द्वारा मुसलमानों को प्रदत्त महत्ता से कहीं अधिक महत्ता उन्हें लखनऊ समझौते के अंतर्गत प्राप्त हुई है :–

	जनसंख्या में मुसलमानों का अनुपात	मुस्लिम सीटों का प्रस्ताव	प्रतिशत 2 का 1 के अनुपात में
बंगाल	52.6	40	76
बिहार व उड़ीसा	10.5	25	238
बम्बई	20.4	33.3	163
सेन्ट्रल प्रोविन्सेज	4.3	15	349
मद्रास	6.5	15	231
पंजाब	54.8	50	91
संयुक्त प्रांत	14.0	30	214

भारत के संविधान के कार्यकरण की समीक्षा करके अतिरिक्त सुधारों का सुझाव देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1927 में साईमन आयोग के गठन की घोषणा की। मुसलमानों ने तुरन्त ही अतिरिक्त राजनीतिक सुधारों की मांगें पेश कर दीं। मुस्लिम लीग, अखिल भारतीय मुस्लिम कन्फ्रेंस, ऑल पार्टी मुस्लिम कन्फ्रेंस, जमायत–उल–उलेमा तथा खिलाफत कान्फ्रेंस जैसी अनेक मुस्लिम संस्थाओं द्वारा ये मांगें रखी गयीं। मांगें मुख्य रूप से एक प्रकार की ही थीं। श्री जिन्ना द्वारा मुस्लिम लीग की ओर से जिन मांगों को सूत्रबद्ध किया गया था, यहाँ उनका उल्लेख करना काफी होगा।[2]

1. दिनांक 23 अप्रैल 1919, का भारतीय संवैधानिक सुधारों (मताधिकार) संबंधी पांचवां शासकीय पत्र पैरा 2।

2. ये मांगें जिन्ना के चौदह सूत्र के रूप में जानी जाती हैं। वस्तुतः इनकी कुल संख्या 15 थी और इन्हे मार्च 1927 में दिल्ली में सभी विचारधाराओं वाले मुस्लिम नेताओं की बैठक में सूत्रबद्ध किया गया था तथा दिल्ली प्रस्ताव का नाम दिया गया था। जिन्ना के 14 सूत्रों की उत्पत्ति के संबंध में स्पष्टीकरण के लिए ऑल इंडिया रजिस्टर, 1929, खंड एक, पृष्ठ 367 देखिए।

ये मांगें इस प्रकार थीं–

(1) भावी संविधान का स्वरूप संघीय हो जिससे अवशिष्ट शक्तियाँ प्रांतों के पास हों।

(2) सभी प्रान्तों के लिए स्वायत्तता की एकरूप व्यवस्था स्वीकृत हो।

(3) किसी भी प्रांत के बहुसंख्यक समुदाय को अल्पसंख्यक या समसंख्यक में बदले बगैर, देश के सभी विधानमंडलों और निर्वाचित संस्थाओं का पुनर्गठन इस सिद्धांत पर किया जाना चाहिए कि अल्पसंख्यकों को प्रभावी और पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

(4) केन्द्रीय विधायिका में मुस्लिम प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम नहीं होना चाहिए।

(5) अलग निर्वाचक–मण्डल के आधार पर साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व वर्तमान की तरह ही जारी रहना चाहिए, परंतु किसी भी सम्प्रदाय को किसी भी समय संयुक्त निर्वाचक–मंडल के पक्ष में अलग निर्वाचन–मंडल को तिलांजलि देने का अधिकार भी होना चाहिए।

(6) किसी भी समय यदि प्रदेशीय–भूभाग के पुनर्निर्धारण की आवश्यकता पड़ जाती है, तब इसका प्रभाव पंजाब, बंगाल, और उत्तर–पश्चिम सीमांत प्रांत में मुस्लिम बहुमत पर नहीं पड़ना चाहिए।

(7) संपूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता का, जिसमें विश्वास, पूजा, पूजा के अनुष्ठान, प्रचार, संगठन बनाने, तथा शिक्षा के अधिकार समाहित हैं, सभी सम्प्रदायों को वचन दिया जाए।

(8) कोई विधेयक या संकल्प, अथवा उसका अंश तब तक किसी भी विधायिका अथवा अन्य निर्वाचित संस्था द्वारा पारित नहीं किया जाना चाहिए जब तक उक्त विधायिका अथवा निर्वाचित संस्था में किसी सम्प्रदाय के तीन चौथाई प्रतिनिधि उसका विरोध करें तथा यह विरोध इस आधार पर किया गया हो कि उनके सम्प्रदाय के लिए यह हानिकारक होगा। विकल्पस्वरूप ऐसे दूसरे तरीके निकाले जा सकते हैं जो ऐसे मामलों का निष्पादन करने के लिए व्यावहारिक और सक्षम हों।

(9) बम्बई प्रेज़िडेन्सी से सिंध को अलग कर दिया जाना चाहिए।

(10) उत्तर–पश्चिम सीमांत प्रदेश तथा बलूचिस्तान में सुधार अन्य प्रांतों के स्तर पर ही लागू किया जाना चाहिए।

(11) दक्षता की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए, राज्य की सेवाओं तथा स्वशासी

निकायों की सभी नौकरियों में दूसरे भारतीयों के अनुपात में मुसलमानों की पर्याप्त हिस्सेदारी का प्रावधान संविधान में किया जाना चाहिए।

(12) मुस्लिम धर्म, शिक्षा, भाषा, संस्कृति, व्यक्तिगत मुस्लिम कानून तथा मुस्लिम खैराती संस्थाओं के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए, तथा उन्हें राज्य सरकारों तथा स्वशासी संस्थाओं से प्राप्त होने वाले अनुदान को सुनिश्चित करने के लिए, संविधान में पर्याप्त प्रावधान किया जाना चाहिए।

(13) केन्द्र अथवा प्रांत सरकारों में ऐसे किसी मंत्रिमंडल का गठन नहीं किया जाना चाहिए जिनमें मुसलमान मंत्रियों की एक तिहाई सदस्यता न हो।

(14) संविधान में भारतीय संघ के प्रांतों की विधायिकाओं की सहमति के बिना किसी प्रकार का भी संशोधन नहीं किया जाना चाहिए।

(15) वर्तमान परिस्थितियों में, देश की विभिन्न विधायिकाओं तथा अन्य निर्वाचित निकायों में, पृथक निर्वाचक–मंडलों के जरिए मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अनिवार्य है, और साथ ही चूंकि सरकार मुसलमानों को इस अधिकार से वंचित न करने के लिए वचनबद्ध है, यह अधिकार उनकी सहमति के बिना उनसे नहीं लिया जा सकता, और जब तक कि मुसलमान संतुष्ट न हों कि उपरोक्त प्रकार से उनके अधिकारों और हितों की रक्षा की गयी है, तब तक वे संयुक्त निर्वाचक–मंडल सशर्त अथवा बिना शर्त गठन की सहमति नहीं देंगे।

नोट : जिन प्रांतों में मुसलमान अल्पमत में होते हुए भी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व रखते हैं, उनकी चर्चा आगे की जाएगी।

मुसलमानों की मांगों का यह एक समेकित विवरण है। इसमें कुछ तो पुरानी और कुछ नयी मांगें हैं। पुरानी मांगों को इसलिए शामिल किया गया है कि जो लाभ उनसे प्राप्त हो रहे हैं वे यथावत रहें। मुसलमानों की स्थिति में जो कमजोरियां हैं, उन्हें दूर करने के लिए नयी मांगें रखी गयी हैं। कुल पांच नयी मांगे की गयी हैं :–

(1) पंजाब और बंगाल के प्रांतों में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाना।

(2) केन्द्रीय और प्रांतीय मंत्रिमंडलों में मुसलमानों को एक–तिहाई स्थान दिया जाना।

(3) सेवाओं में मुसलमानों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना।

(4) सिंध को बम्बई प्रेसिडेंसी से अलग करना और उत्तर–पश्चिम सीमाप्रांत तथा बलूचिस्तान को स्व–शासित राज्य का स्तर प्रदान करना।

(5) केन्द्रीय सरकार के बजाए प्रान्तीय सरकारों में अवशिष्ट शक्तियों को निहित्त करना।

नयी मांगों में से 1, 4, तथा 5 को छोड़ कर अन्य अपने आप में स्पष्ट हैं। मांग 1 तथा 4 में अंतर्निहित उद्देश्य, चार प्रान्तों में जहाँ मुसलमानों को अब तक साम्प्रदायिक बहुमत प्राप्त रहा है उन्हें कानूनी तौर पर बहुमत प्रदान किया जाना है जिससे अन्य छः हिन्दू बहुमत वाले प्रांतों में हिन्दुओं की शक्ति को संतुलित कर दिया जाए। परन्तु आशंका थी कि ऐसी केन्द्रीय सरकार के अंतर्गत, जिसे हिन्दुओं के नियंत्रण में रहना ही था, क्या इन चार मुस्लिम प्रान्तों में मुस्लिम बहुसंख्यकों का प्रभावी शासन हो जाता। हिन्दू सम्प्रदाय से नियंत्रित केन्द्रीय शासन से मुस्लिम प्रान्तों को विमुक्त करने के लिए ही मांग संख्या 5 रखी गयी थी।

हिन्दुओं द्वारा इन मांगों का विरोध किया गया। इसमें कोई खास बात नहीं थी, परन्तु अर्थपूर्ण बात यह थी कि साईमन कमीशन ने भी इन मांगों को खारिज कर दिया था। साईमन कमीशन ने, जो मुसलमानों के प्रति किसी भी प्रकार अमैत्रीपूर्ण नहीं था, मुसलमानों की मांगों को अस्वीकृत करने के पीछे कुछ माकूल तर्क दिया। कमीशन ने कहा* :–

"इस दावे का अर्थ इन छः प्रान्तों मे मुसलमानों को अब तक जो प्रतिनिधित्व दिया गया है उनको पूर्ण सुरक्षित रखते हुए, बंगाल और पंजाब के प्रांतों में जनसंख्या के समानुपात में अलग निर्वाचक–मण्डल के कारण उन्हें जितना स्थान प्राप्त हुआ है, उसमें भी अभिवृद्धि करना है। इससे, दोनों ही प्रान्तों में, मुसलमानों को संयुक्त निर्वाचन–मण्डल के स्थानों में भी एक निर्धारित तथा अपरिवर्तनीय बहु–संख्या प्राप्त हो जाती है। हम इस हद तक नहीं जा सकते। दोनों सम्प्रदायों के बीच, किसी नए सामान्य समझौते की अनुपस्थिति में, छः प्रान्तों में उनके प्राधान्य के स्तर को बंगाल और पंजाब में सीटों के मौजूदा आवंटन से इतना दूर हटकर, संगत रूप नहीं दिया जा सकता।

"यह औचित्यपूर्ण नहीं होगा कि मुसलमानों के पक्ष में संपूर्ण रूप से छः प्रान्तों में उस खास महत्ता को कायम रखा जाए, जो इस समय उन्हें प्राप्त है और इसके साथ–साथ हिन्दू और सिक्खों के विरोध के बावजूद, पंजाब और बंगाल में उन्हें एक सुनिश्चित बहुमत भी प्रदान कर दिया जाए, जिसके सम्बन्ध में निर्वाचकों से भी पुनर्विचार करने का अनुरोध नहीं किया जा सकता।".

---

* प्रतिवेदन, खंड दो, पृ. 71

हिन्दुओं और सिक्खों के द्वारा विरोध होने तथा साईमन कमीशन के द्वारा खारिज कर दिए जाने के बावजूद, पंच निर्णायक की हैसियत से ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों की सभी नई और पुरानी मांगों पर स्वीकृति की मुहर लगा दी।

25 जनवरी 1932 के गजट में, एक अधिसूचना[1] द्वारा भारत सरकार ने 1916 के "भारत सरकार अधिनियम" की धारा 52-A की उप–धारा-2 में प्रदत्त अधिकार के पालन में अधिसूचित किया कि उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत अब गवर्नर[2] द्वारा शासित प्रान्त होगा। भारत सरकार अधिनियम 1935 की धारा 289 की उपधारा (1) के प्रावधान के अंतर्गत जारी किये गए आदेश के द्वारा राज्य परिषद ने एक अप्रैल 1936 से बम्बई से अलग कर सिंध को भी गवर्नर प्रशासित अलग प्रान्त बना दिया, जिसका नामकरण सिंध का प्रान्त किया गया। भारत सचिव द्वारा जारी किए गए संकल्प में, जिसका 7 जुलाई 1934 को प्रकाशन किया गया है, सभी प्रांतीय तथा केन्द्रीय (इम्पीरियल) सेवाओं में मुसलमानों की भागीदारी पच्चीस प्रतिशत निश्चित कर दी गई। यह सत्य है कि मुसलमानों की यह मांग कि अवशिष्ट शक्तियां, प्रान्तीय सरकारों में निहित कर दी जायें, स्वीकार नहीं की गई। किन्तु दूसरे अर्थों में यह माना जा सकता है कि, इस सम्बन्ध में भी मुसलमानों की मांगें स्वीकार कर ली गयी हैं। मुसलमानों की मांगों का सार यह था कि अवशिष्ट शक्तियां केन्द्रीय सरकार के पास नही होनी चाहिए, जिससे दूसरा अर्थ यही था कि इन्हें हिन्दुओं के हाथों में नहीं होना चाहिए। 1935 ई. के भारत सरकार अधिनियम की धारा 104 के द्वारा बिल्कुल यही सुनिश्चित किया गया है, जिसके अनुसार अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल को अपने विवेकानुसार प्रयोग करने के लिए सौंप दी गयी हैं। पंजाब तथा बंगाल में सांविधिक बहुमत के संबंध में बची–खुची मांगों को, "कम्यूनल एवार्ड" के अन्तर्गत लागू कर दिया गया। यह सत्य है कि दूसरे हितों को भी प्रतिनिधित्व दिए जाने की आवश्यकता की पृष्ठभूमि में, संपूर्ण सदन में मुसलमानों को सांविधिक बहुमत प्रदान नहीं किया जा सका। किन्तु बंगाल और पंजाब में मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध सांविधिक बहुमत दे दिया गया है परन्तु लखनऊ समझौते में अल्पसंख्यक मुसलमानों को मिलने वाली महत्ता को बिना नुकसान पहुंचाए।

---

1. अधिसूचना सं. एफ 173/31–आर/भारत का असाधारण राजपत्र, दिनांक 25 फरवरी, 1932
2. साइमन आयोग ने यह कहते हुए दावा ठुकरा दिया "हम ब्रे समिति के इस दृष्टिकोण से पूरी तरह से सहमत है कि उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त के संवैधानिक विकास के लिए अब प्रावधान किए जाने चाहिए................किंतु हम यह भी मानते हैं कि इस प्रान्त की स्थिति और भारतीय प्रतिरक्षा की समस्याओं से दूसरे अभिन्न संबंध इस तरह के है कि विशेष व्यवस्था किए जाने की जरूरत है। इसलिए भारत के अन्य भागों मे प्रान्तीय क्षेत्रो के लिए उपयुक्त प्रस्तावों को स्वतः ही यहाँ लागू किया जाना संभव नहीं है।" उन्होंने यह कहते हुए इसका औचित्य बताया: "उस मनुष्य के सिगरेट पीने के सहज अधिकार पर पाबंदी अवश्य लगाई जानी चाहिए जो बारूद के ढेर पर खड़ा है।" ---प्रतिवेदन, खंड दो, पैरा 120-121

मुसलमानों को जो ये सब राजनीतिक बख्शीशें ब्रिटिश सरकार के द्वारा दी गयीं उनकी सुरक्षा निश्चित नहीं थी तथा मुसलमानों को यह आशंका थी कि हिन्दू सम्प्रदाय द्वारा मुसलमानों पर या महामहिम की सरकार पर यह दबाव डाला जा सकता है कि मुसलमानों को प्रदान की गयी इन बख्शीशों की शर्तों को बदल दिया जाए। इस आशंका के पीछे दो कारण थे। पहला कारण था, श्री गांधी द्वारा आमरण अनशन का दबाव देकर पंचाट के उस भाग को बदलवा देने में उन्हें मिली सफलता[1], जिसका सम्बन्ध दलित समुदाय से था। दूसरा कारण हाऊस ऑफ कॉमंस द्वारा भारत सरकार विधेयक के खंडों में किए गए वे संशोधन थे जिनके अंतर्गत रियायतों के उपबन्धों में खास परिस्थितियों में परिवर्तन कर दिया जाना संभव हो गया था।[2]

इन आशंकाओं को दूर करने के लिए तथा मुसलमानों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने के विचार से, जिससे कि उन्हें अब तक जितनी रियायतें दी गयी हैं उनमें अनुचित शीघ्रता कर संशोधन नहीं किया जाय, महामहिम की सरकार ने, भारत सरकार को यह विज्ञप्ति जारी करने के लिए प्राधिकृत किया[3] –

> "महामहिम की सरकार के ध्यान में यह बात आयी है कि एक धारणा फैल रही है कि भारत सरकार विधेयक में जो धारा 304 (मसविदे को प्रथम बार प्रस्तुत करने के समय इसकी संख्या 285 थी, तथा कामंस सभा की समिति में जब विधेयक में संशोधन किया गया तो इसकी संख्या 299 थी) के रूप में अभी है, उसे कामंस सभा में विधेयक पारित करने की प्रक्रिया में इस प्रकार संशोधित कर दिया गया है कि महामहिम की सरकार को असीमित अधिकार प्राप्त हो गया है कि जब वह उचित समझे, सरकार के कम्यूनल अवार्ड में परिवर्तन कर सकती है।
>
> "महामहिम की सरकार यह वांछनीय समझती है कि इस प्रकार का एक संक्षिप्त स्पष्टीकरण दिया जाए कि दोनों ही बातें, कम्यूनल अवार्ड में कोई भी परिवर्तन और, इस तरह के किसी भी परिवर्तन के संदर्भ में सरकार की नीति, धारा 304 से उठती हैं।
>
> "इस धारा के अंतर्गत भारत की सरकारों तथा विधायिका सभाओं को दस वर्ष की अवधि व्यतीत हो जाने के उपरान्त, विधायिका सभाओं

---

1. इसके परिणामस्वरूप पूना समझौता हुआ जिस पर 24 सितंबर, 1932 को हस्ताक्षर किए गये।
2. पंचाट के मुस्लिम भाग में संशोधन किए जाने के प्रयत्नों के लिए देखिए 'आल इंडिया रजिस्टर' 1932, खंड दो, पृष्ठ 281–315
3. विज्ञप्ति दिनांक 2 जुलाई, 1935, शिमला

के गठन के सम्बन्ध में, जिसमें कम्यूनल अवार्ड के अध्यधीन प्रश्न भी शामिल हैं, संशोधन के लिए पहल करने का अधिकार दिया गया है।

"यह धारा विदेश सचिव पर भी यह दायित्व सौंपती है कि गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर से प्राप्त प्रस्तावित संशोधनों के सम्बन्ध में अपनी राय वह संसद के पटल पर यह स्पष्ट करते हुए रखे कि संशोधनों का किसी भी अल्पसंख्यक के हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा संसद को इससे भी अवगत कराएँ कि इस सम्बन्ध में वह क्या कार्रवाई करना चाहते हैं।

"इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप किसी भी संवैधानिक संशोधन को 'आर्डर इन काउंसिल' द्वारा क्रियान्वित किया जाएगा, परन्तु यह इस शर्त के साथ कि आदेश का प्रारूप संसद के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत संकल्प से अनुमोदित किया गया है। इस शर्त को विधेयक की धारा 309 में पूरा किया गया है।

"दस वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व इस प्रकार की संवैधानिक पहल भारत की विधायिका सभाएं और सरकारें नहीं कर सकतीं। तथापि दस वर्ष की अवधि की समाप्ति से पूर्व आर्डर इन काउंसिल द्वारा ऐसे संशोधन करने की शक्ति, (संसद के दोनों सदनों के अनुमोदन के बाद) इस धारा में निविष्ट है; परन्तु प्रथम दस वर्ष के दौरान (और यदि भारत की विधायिका सभाओं ने पहल नहीं की तो उसके बाद) भारत के सचिव पर यह कर्त्तव्य रूप में लाजमी होगा कि संशोधनों (यदि वे मामूली प्रकार के न हों), को आर्डर इन काउंसिल द्वारा अनुमोदित रूप में दोनों सदनों के समक्ष रखे जाने से पहले, वह प्रभावित होने वाली भारत की सरकारों या विधायिका सभाओं से परामर्श कर लेंगे।"

"पूर्ववर्ती अनुच्छेद में जिन शक्तियों का प्रसंग है, उनकी आवश्यकता के कारण इस प्रकार हैं–

(क) विधायिका सभाओं के गठन तथा मताधिकार के सम्बन्ध में मामूली संशोधनों की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है, जिनका पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता, अतः इस स्वरूप के संशोधन किए जाने के लिए, संसद द्वारा संशोधन पारित करने के अतिरिक्त अन्य विकल्प उपलब्ध रहना लाभदायक नहीं होगा, और न यह व्यावहारिक होगा कि इस प्रकार के संशोधनों का, साम्प्रदायिक पंचाट की शर्तों जैसे महत्वपूर्ण विषय से कानूनन बिलगाव कर दिया जाए;

"(ख) भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच कोई एकमत समझौता सम्पन्न होने की स्थिति में, साम्प्रदायिक पंचाट की शर्तों पर आधारित व्यवस्था में हेर-फेर करना वांछनीय हो सकता है, और इस प्रकार के किसी सहमति प्राप्त संशोधन को कार्यान्वित करने हेतु, संसद के द्वारा संशोधन पारित करने के अतिरिक्त, अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं रहना, ठीक नहीं होगा।

"साम्प्रदायिक पंचाट के दायरे के भीतर, महामहिम की सरकार, इस धारा के अधीन प्रदत्त किसी भी शक्ति का प्रयोग करते हुए, संसद के समक्ष संशोधन के प्रस्ताव की सिफारिश नहीं करेगी, जब तक कि ऐसे संशोधन के लिए संबंधित सम्प्रदायों में सहमति नहीं हो जाती।

"अंत में महामहिम की सरकार फिर से इस तथ्य पर बल देती है कि धारा 304 के अंतर्गत प्राप्त किसी भी शक्ति को, धारा 305 की व्यवस्थाओं को देखते हुए, वह प्रयोग में नहीं लाएगी, जब तक संसद के दोनों सदन निश्चयात्मक संकल्प द्वारा इस हेतु सहमत नहीं हो जाते हैं।"

मुसलमानों ने गोलमेज सम्मेलन में क्या मांगें रखीं और उनमें से कौन सी स्वीकृति की गयीं, इसे ध्यान में रखने के बाद, कोई भी यह सोच सकता था कि मुस्लिम मांगें हद छू चुकी हैं तथा 1932 का समझौता अंतिम रूप से किया जा चुका है। परन्तु यह प्रतीत होता है कि इतने से भी मुसलमान संतुष्ट नहीं हुए और प्रतीत होता है कि मुसलमानों के हितों को संरक्षित करने के लिए नयी मांगों की अतिरिक्त सूची भी तैयार है। 1938 में श्री जिन्ना और कांग्रेस के बीच जो मतांतर हुआ, उसमें श्री जिन्ना से अपनी मांगों को बताने का आग्रह किया गया, परन्तु वे इन्कार कर गए। किंतु श्री जिन्ना तथा पण्डित नेहरू के मध्य इस मतभेद के संदर्भ में जो पत्राचार हुए, उनमें ये मांगें सामने आ गयीं तथा पण्डित नेहरू ने श्री जिन्ना को लिखे गए अपने एक पत्र में उनका तालिकाकरण किया है। उनके तालिकाकरण के अनुसार, निम्नलिखित विवादास्पद विषयों में समझौता होना बाकी है :-

1. 1929 में मुस्लिम लीग के द्वारा सूत्रीकृत चौदह मद।
2. साम्प्रदायिक पंचाट के प्रति सभी विरोध को कांग्रेस को वापस ले लेना चाहिए तथा इसे राष्ट्रीयता नकारने वाला नहीं ठहाराया जाना चाहिए।
3. राजकीय सेवाओं में मुसलमानों की निश्चित हिस्सेदारी, कानून पारित करके संविधान में ही सुनिश्चित कर दी जानी चाहिए।
4. संविधान द्वारा मुस्लिम संस्कृति और मुस्लिम वैयक्तिक कानून को संरक्षण दिया जाना चाहिए।

5. शहीदगंज मस्जिद से सम्बन्धित आन्दोलन को कांग्रेस अपने हाथ में लेकर और अपना नैतिक दबाव डाल कर इस मस्जिद को मुस्लमानों को दिलाए।
6. "अजान" पढ़ने और धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के मुसलमानों के अधिकार पर किसी भी प्रकार की पाबन्दी नहीं लगायी जाएगी।
7. मुसलमानों को गोवध करने की आजादी रहनी चाहिए।
8. जिन प्रान्तों में अभी मुसलमान बहुसंख्यक हैं, वहाँ सीमा के पुनर्निर्धारण या समायोजन के द्वारा, उनकी बहुसंख्या प्रभावित नहीं की जाएगी।
9. बन्दे मातरम् का गीत त्याग दिया जाये।
10. मुसलमान उर्दू को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते हैं। उर्दू के प्रयोग को सीमित नहीं किया जाएगा, या इसपर आघात नहीं किया जाएगा। इस हेतु संविधान में व्यवस्था की जाए।
11. स्थानीय निकायों में, 'साम्प्रदायिक पंचाट' जिसका अभिप्राय अलग निर्वाचक–मंडल तथा जनसंख्या बल से है, के अनुसार मुस्लिम प्रतिनिधित्व का निर्धारण किया जाएगा।
12. तिरंगे झण्डे को या तो बदल दिया जाए या मुस्लिम लीग के झण्डे को बराबर का महत्व दिया जाए।
13. भारतीय मुसलमानों की एकमात्र आधिकारिक तथा प्रतिनिधि संस्था के रूप में मुस्लिम लीग को मान्यता दी जाए।
14. संयुक्त मंत्रिमण्डलों का गठन किया जाए।

इस नयी सूची से यह पता नहीं चलता कि मुसलमान अपनी मांगों की इतिश्री कहाँ करने जा रहे हैं। वर्ष 1938 तथा 1939 के एक वर्ष की अवधि में ही एक और महत्वपूर्ण मांग रखी गयी कि हर जगह 50 प्रतिशत भागीदारिता उन्हें उपलब्ध करायी जाए। नयी मांगों की इस सूची में कुछ मांगें चाहे गैर–जिम्मेदाराना न भी हों तब भी सरसरी तौर पर ही फालतू और असम्भव हैं। मिसाल के तौर पर, उर्दू को भारत की राष्ट्रभाषा बनाये जाने और पचास प्रतिशत भागीदारी की मांग को लिया जा सकता है। वर्ष 1929 में मुसलमानों ने इस पर बल दिया कि सदस्यता की संख्या आवंटित करने में बहुसंख्यक को अल्पसंख्यक में तब्दील नहीं किया जाएगा।* इस सिद्धांत को उन्होंने ही विकसित किया था। 1929 में मुसलमानों ने स्वीकार किया था कि दूसरे अल्पसंख्यकों को भी संरक्षण की ज़रूरत

* श्री जिन्ना की 14 मदों के लिए देखिए मद संख्या 3

है, और यह जिस विधि से मुसलमानों को प्रदान किया गया, उसी विधि से उन्हें भी दिया जाना चाहिए। संरक्षण की मात्रा के सम्बन्ध में मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यकों में अंतर किया गया। अपने राजनीतिक महत्व के आधार पर मुसलमानों ने अन्य अल्पसंख्यकों की तुलना में अपने लिए अधिक संरक्षण की मांग की थी। मुसलमानों ने अल्पसंख्यकों को भी संरक्षण की आवश्यकता से इन्कार कभी नहीं किया; परन्तु 50 प्रतिशत सदस्यता की अपनी इस नयी मांग के द्वारा मुसलमान न केवल हिन्दुओं के बहुमत को कम करने की कोशिश कर रहे हैं, बल्कि दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों के राजनीतिक अधिकार में भी कटौती चाह रहे हैं। मुसलमान अब हिटलर की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं तथा जर्मनी में जिस महत्व की मांग हिटलर ने की थी, वे उसी महत्व की आकांक्षा यहाँ कर रहे हैं। 50 प्रतिशत भागीदारी की उनकी मांग, हिटलर के "ड्यूशलैंड उबेर ऐलेस" और "लैबेंसरोम" की मांग के सादृश्य ही है। चाहे अन्य अल्प संख्यकों का कुछ भी हो।

उर्दू को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की उनकी मांग भी उतनी ही विवेकहीन है। उर्दू सम्पूर्ण भारत में नहीं बोली जाती है। यही नहीं, सभी मुसलमानों की भी यह भाषा नहीं है। 6.8 करोड़ मुसलमानों* में मात्र 2.8 करोड़ ही उर्दू बोलते हैं। उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रस्ताव का अर्थ, खासकर मात्र 2.8 करोड़ मुसलमानों की भाषा को 4 करोड़ अन्य मुसलमानों पर और 32.2 करोड़ हिन्दुस्तानियों पर थोप देने जैसा ही होगा। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जब भी संवैधानिक सुधार का कोई प्रस्ताव सामने आता है, मुसलमान अपने एक या अनेक राजनीतिक मांगें रख देते हैं। उनकी मांगों के इस प्रकार अंतहीन विस्तार पर केवल ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण हो सकता है, जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच किसी भी विवाद में अंतिम निर्णायक है। परन्तु यह कौन कह सकता है कि नयी मांगों के सम्बन्ध में निर्णायक की भूमिका अदा करने के लिए विवाद सुपुर्द करने पर, ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के पक्ष में पक्षपात नहीं करेगी? मुसलमानों की मांगे जितनी बढ़ती हैं, प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार उतनी ही उदार हो जाती है। किसी भी तरह, विगत के अनुभव से यही प्रतीत होता है कि ब्रिटिशों का रवैय्या मुस्लिमों को जितना वे स्वंय मांगते हैं, उससे अधिक देने का रहा है। ऐसे दो दृष्टांत दिए जा सकते हैं।

एक दृष्टांत का सम्बन्ध लखनऊ समझौते से है। प्रश्न यह था कि क्या ब्रिटिश सरकार को समझौते का अनुमोदन करना चाहिए था। मौन्टेग्यू–चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन के प्रणेता इसे स्वीकार करने के इच्छुक नहीं थे और इस बात के बहुत उपयुक्त कारण भी थे। लखनऊ समझौते में जितनी महत्ता मुसलमानों को दी गयी थी, संयुक्त प्रतिवेदन में उसके बारे में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है:–

---

* ये आंकड़े 1921 की जनगणना से संबंधित हैं।

"अब इस महत्ताप्राप्त स्थिति पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि इसके बाद से कोई अन्य सम्प्रदाय अलग प्रतिनिधित्व की मांग करता है, तब गैर–मुस्लिम सीटों में कमी करके ही इसकी पूर्ति की जा सकती है, या फिर गैर–मुस्लिम और मुस्लिम सीटों में दर–आधारित कमी करके की जा सकती है। किन्तु हिन्दू और मुसलमानों में, इस सम्बन्ध में क्या प्रक्रिया अपनायी जाए इस पर सहमति होगी, इसकी कम ही सम्भावना है। इसलिए उन कारणों से जिनका आगे चलकर स्पष्टीकरण हम कर रहे हैं, मुसलमानों के लिए अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कायम रखने को सहमति प्रदान करते हैं, तथापि जो खास प्रस्ताव इस सम्बन्ध में अनुमोदन के लिए हम लोगों के सामने रखे गये हैं उनके संदर्भ में हम अपनी उपर्युक्त सहमति को उस समय तक स्थगित रखते हैं जब तक हम यह पता नहीं चला लें कि दूसरे हितों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है और इस सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाती है।"*

लखनऊ समझौता में इस गंभीर त्रुटि के रहते हुए भी भारत सरकार ने अपने शासकीय पत्रव्यवहार में जिसका प्रसंग ऊपर दिया गया है, समझौते की शर्तों को, जहाँ तक बंगाल के मुसलमानों का सम्बन्ध है, बेहतर बनाने की सिफारिश की है। इसका कारण पढ़ने पर बड़ा विचित्र लगता है। भारत सरकार ने तर्क दिया है कि:–

"मुस्लिम प्रतिनिधित्व जिसे वे (समझौते के रचयिता) बंगाल के लिए प्रस्तावित कर रहे हैं स्पष्टतः अपर्याप्त है। यह शंका वाली बात है कि पूर्वी बंगाल की मुस्लिम जनसंख्या के दावों पर क्या पर्याप्त बल उस समय दिया गया था जब कांग्रेस–लीग सहमति बनने की प्रक्रिया में थी। पूर्वी बंगाल के मुसलमान सुस्पष्ट् रूप से एक पिछड़े हुए और दरिद्र समुदाय हैं। 1912 में प्रेजीडेन्सी का पुनः विभाजन उनके लिए गहरी निराशा की घटना थी, तथा हम लोग यह चाहेंगे कि उदारतापूर्वक उनके हितों का साधन किया जाए। बंगाल के मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में, किन्तु इसके अधिक नहीं, 34 (समझौते के अंतर्गत उन्हें देय) के बजाय 44 सीटें हमारे द्वारा आवंटित की जानी चाहिए।"†

---

* मौन्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, 1918, पैरा 163

† भारत सरकार समझती थी कि पंजाब के साथ भी न्याय नहीं हुआ है। परन्तु चूंकि यहां बंगाल की तरह का कोई विशेष कारण नहीं था, अर्थात् विभाजन का बिगड़ना, उसने पंजाब के लिए समझौते में निर्धारित सीटों से अधिक की प्रस्थापना नहीं की।

भारत सरकार ने बंगाल के मुसलमानों के प्रति यह जो उत्साह प्रदर्शित किया, ब्रिटेन की सरकार इससे सहमत नहीं हुई। उसने यह महसूस किया कि बंगाल के मुसलमानों को आवंटित सीटें एक समझौते का परिणाम थे, अतः सोदेबाजी को बेहतर बनाने के ख्याल से किए गए हस्तक्षेप के कारण जबकि समझौते की प्रामाणिकता के संम्बन्ध में कोई विवाद नहीं था, यह अवधारणा बन सकती थी कि ब्रिटेन की सरकार कुछ विशेष अर्थों में और कुछ विशेष कारणों से मुसलमानों के प्रति मित्रवत थी। सीटों में इस बढ़ोत्तरी को प्रस्तावित करते समय, भारत सरकार ने उन कारणों को ध्यान में नहीं रखा, जिनकी वज़ह से बंगाल और पंजाब में मुसलमानों को, समझौते में जनसंख्या बल के अनुसार सीटें दी जा सकी थीं। लखनऊ समझौता इस सिद्धांत पर आधारित था कि किसी सम्प्रदाय को उसके बहुमत के आधार पर संरक्षण नहीं दिया जाएगा, किन्तु इसकी धज्जियां उड़ा दी गयी हैं। सम्प्रदाय जब अल्पसंख्यक होता है, तभी संरक्षण का वह हकदार होता है। लखनऊ समझौते का सिद्धांत यही था। बंगाल और पंजाब में मुसलमान सम्प्रदाय अल्पसंख्यक नहीं था, इसीलिए उसी तरह के संरक्षण का हकदार भी नहीं था जैसा इसे उन प्रान्तों में जहाँ यह अल्पसंख्यक था दिया गया। बहुसंख्यक होते हुए भी, बंगाल और पंजाब में मुसलमानों ने अलग निर्वाचक–मण्डल की आवश्यकता महसूस की। लखनऊ समझौते में क्रियाशील सिद्धांत के अनुसार इसके लिए वे तभी हकदार हो सकते थे जब वे अपने को अल्पसंख्यक में तब्दील कर देते। यही कारण है कि बंगाल और पंजाब में मुसलमानों को, उनके हक के अनुसार बहुसंख्या में सीटें नहीं मिलीं, जिसके वे अपनी जनसंख्या के बल पर पाने के हकदार थे।*

बंगाल के मुसलमान जितना स्वंय मांग रहे थे, उन्हें उससे अधिक दे देने का भारत सरकार का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका। परन्तु भारत सरकार ऐसा करने का प्रयास कर रही थी, यह तथ्य उसके इसी रूझान के सबूत हैं।

दूसरा अवसर है जब ब्रिटेन की सरकार ने 1932 में साम्प्रदायिकता पर

---

* निस्संदेह, समझौते में भागीदार होने के नाते मुसलमान इस बात को भलीभांति समझते थे। भारत सरकार विधेयक, 1919, पर संसद द्वारा नियुक्त संयुक्त समिति के समक्ष साक्ष्य देते समय श्री जिन्ना ने यह कहा था: "बंगाल में मुसलमान बहुसंख्या में हैं, और तर्क प्रस्तुत किया गया कि कोई भी बहुसंख्यक वर्ग या समुदाय पृथक निर्वाचक–मंडल का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि पृथक निर्वाचन–मंडल अल्पसंख्यकों के रक्षण के लिए है। परन्तु उसके उलट यह तर्क भी बिलकुल सही है कि जबकि संख्या में हम बंगाल में अधिक हैं, तथापि मतदाताओं के रूप में हमारी संख्या कम है जिसका कारण गरीबी, पिछड़ापन इत्यादि है। यह कहा गया था कि ठीक है तब चालीस प्रतिशत निर्धारित कर दीजिए, क्योंकि यदि कसौटी पर आंका जाएगा तब चालीस प्रतिशत भी प्राप्त नहीं होता। तब फिर दूसरे प्रान्तों में हम फायदे की स्थिति में है।)

सम्बन्धित फैसला अपनी मध्यस्थता की हैसियत से दिया जिसमें जितना उन्होंने मांगा उससे अधिक ही मुसलमानों को दिया गया। गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक उप–समिति में सर मुहम्मद शफी ने दो अलग अलग प्रस्ताव रखे।

6 जनवरी, 1931 के अपने भाषण में, सर मुहम्मद शफी ने साम्प्रदायिक समझौते के आधार के रूप में निम्नलिखित प्रस्ताव रखा* :–

> "हम लोग उन शर्तों पर जिनका मैने उल्लेख किया है, संयुक्त निर्वाचक–मण्डल स्वीकार करने के लिए तैयार हैं : उन प्रांतों में जहाँ मुसलमान अल्पसंख्या में हैं वहाँ वर्तमान में जिन अधिकारों का वे उपभोग कर रहे हैं, उन्हें यथावत रखा जाए तथा बंगाल और पंजाब में जनसंख्या के आधार पर दो संयुक्त निर्वाचक–मण्डल का और प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सीटों के आरक्षण के सिद्धान्त को मौलाना मोहम्मद अली की शर्तों के साथ संयुक्त रूप से प्रवर्तित करना चाहिए।"†

इसी समिति के समक्ष 14 जनवरी 1931 को दिए गए अपने भाषण में उन्होंने अलग शर्तें रखीं। उन्होंने कहा† :–

> "यह शर्त रखने के लिए आज मुझे प्राधिकृत किया गया है कि पंजाब में साम्प्रदायिक निर्वाचक–मंडलों के माध्यम से मुसलमानों को संपूर्ण सदन की कुल सदस्यता का 49 प्रतिशत भाग दिया जाए तथा उन्हें यह छूट भी दी जाए कि उस प्रान्त में सृजित होने वाले विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्रों से भी वे चुनाव लड़ सकेंगे। जहाँ तक बंगाल का प्रश्न है, वहाँ मुसलमानों को साम्प्रदायिक निर्वाचक–मंडलों के माध्यम से संपूर्ण सदन की सदस्यता में 46 प्रतिशत सदस्यता दी जाए तथा सृजित होने वाले विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्रों से भी उन्हे लड़ने की छूट दी जाए। उन प्रान्तों में जहाँ मुसलमान अल्पसंख्या में हैं, वहाँ अलग निर्वाचक–मण्डल की विधि से इस समय जो महत्ता उन्हें प्राप्त है, उसे वैसा ही रखा जाए, तथा हमारे हिन्दू भाईयों को सिंध में इसी प्रकार की महत्ता तथा हिन्दू और सिक्ख भाईयों को उत्तर पश्चिम सीमांत प्रान्त में भी इसी प्रकार की महत्ता दी जाए। इसके बाद किसी भी समय, यदि प्रांतीय विधान परिषदों में किसी सम्प्रदाय के दो–तिहाई

* पहले गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक उप–समिति की रिपोर्ट (भारतीय संस्करण) पृष्ठ 96

† मि. मोहम्मद अली का नुस्खा यह था कि संयुक्त निर्वाचक–मण्डल तथा आरक्षित सीटों का सिद्धांत इस शर्त के साथ लागू किया जाये कि विजित सदस्य को अपने समुदाय का न्यूनतम 40 प्रतिशत और दूसरे सम्प्रदायों का 5 या 10 प्रतिशत मत प्राप्त करना अनिवार्य होगा।

> सदस्य तथा केन्द्रीय विधान परिषदों के किसी सम्प्रदाय के दो–तिहाई सदस्य, साम्प्रदायिक निर्वाचक–मण्डल को तिलांजलि देना चाहें तथा संयुक्त निर्वाचक्र–मण्डल स्वीकार करना चाहें, तब उस स्थिति में संयुक्त निर्वाचक–मण्डल को अस्तित्व में आ जाना चाहिए।"

दोनों प्रस्तावों का अंतर स्पष्ट है। "संयुक्त निर्वाचक मंडल यदि उसके पीछे कानूनी बहुमत है। यदि कानूनी बहुमत नहीं होता है, उस स्थिति में अलग निर्वाचक–मण्डल सहित अल्पसख्यक सीटें।" ब्रिटेन की सरकार ने प्रथम मांग से कानूनी बहुमत तथा दूसरी मांग से अलग निर्वाचक–मण्डल को लिया और दोनों ही को मुसलमानों ने स्वीकार कर दिया।

ध्यान देने वाली दूसरी बात हिन्दुओं की कमजोरियों से लाभ उठाने की मुसलमानों की भावना है। हिन्दू यदि कहीं विरोध करते हैं, तब पहले तो मुसलमान अपनी बात पर अड़ते हैं और उसके बाद हिन्दू जब मुसलमानों को कुछ दूसरी रियायतें देकर मूल्य चुकाने के लिए तैयार होते हैं तब मुसलमान जिद छोड़ हैं। इसको बतलाने के लिए, अलग तथा संयुक्त निर्वाचक–मण्डलों के प्रश्न का प्रसंग दिया जा सकता है। मेरे विचार से खासकर उन राज्यों में जहाँ मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं, संयुक्त निर्वाचक–मण्डल के लिए लड़ना नितांत मूर्खता है। संयुक्त मतदाता सूची राष्ट्रीयता का आधार कभी नहीं बन सकती है। राष्ट्रीयता का सम्बन्ध राजनीतिक या दूसरे लेनदेन से नहीं हुआ करता है। इसका अतिसाधारण कारण यह है कि एकता बाह्य तत्वों के मात्र जोड़–घटाव पर आधारित नहीं होता है। जहाँ पांच वर्ष के लिए भी दो भिन्न सम्प्रदाय के लोग जिनकी जीवन–शैली अलग–अलग प्रकार की और अपने भीतर ही सीमित रहने की होती है, एकीकृत होकर संयुक्त नहीं होंगे, क्योंकि उनको पांच वर्षों में केवल एक दिन, अर्थात् मतदान तिथि को ही एकीकृत और संयुक्त होने के लिए आहूत किया जाता है। संयुक्त निर्वाचक–मण्डल स्वतः राष्ट्रीयता की भावना पैदा नहीं कर सकते है। ये बहुसंख्यक समुदाय के द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय को मात्र गुलाम बनाए रखने की स्थिति ही उत्पन्न कर सकते हैं जैसा कि फिलहाल हो रहा है, चूंकि हिन्दू संयुक्त निर्वाचक–मण्डल पर बल दे रहे हैं, मुसलमान अलग निर्वाचक–मण्डल की मांग रख रहे है। अब यह हठ केवल मोल–तोल का विषय है। जैसा कि जिन्ना की 14 सूत्री मांगों[1] में तथा 30 दिसम्बर 1927 को मुस्लिम लीग द्वारा पारित संकल्पों[2] में देखा जा सकता है। उनमें इस बात पर जोर दिया गया था कि

---

1. श्री जिन्ना के सूत्रों में सूत्र संख्या 15 देखें।
2. संकल्प और इनके संबंध में श्री बरकत अली के भाषण के लिए इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1927, खंड दो, पृ. 447–48 देखें।

जब सिंध को अलग करने और उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त को गवर्नर शासित प्रान्त बना देने पर हिन्दू सहमति दे देते हैं, तब ही मुसलमान पृथक निर्वाचक–मण्डल[1] के प्रस्ताव को छोड़ने पर सहमत होंगे। इससे प्रमाणित होता है कि अलग निर्वाचक–मण्डल को मुसलमान बहुत महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। उसे वे अपनी दूसरी मांगों को मनवाये जाने के लिए मात्र बहाना मानते हैं।

अनुचित लाभ उठाने की इस प्रवृत्ति का दूसरा प्रमाण मुसलमानों द्वारा गोहत्या के अधिकार और मस्जिदों के पास बाजे–गाजे की मनाही की मांग से मिलता है। धार्मिक उद्देश्य से गो–बलि के लिए, मुस्लिम कानूनों में कोई बल नहीं दिया गया है, और जब वह 'मक्का' और 'मदीना' तीर्थ–यात्रा पर जाता है, गो–बलि नहीं करता है। परन्तु भारत में दूसरे किसी पशु की बलि देकर वे संतुष्ट नहीं होते हैं। सभी मुस्लिम देशों में किसी मस्जिद के सामने से गाजे–बाजे के साथ बिना आपत्ति के गुजर सकते हैं। यहाँ तक कि अफगानिस्तान में भी जहां धर्म–निरपेक्षीकरण नहीं किया गया है, मस्जिदों के पास गाजे–बाजे पर आपत्ति नहीं होती है। परन्तु भारत में मुसलमान इस पर आपत्ति करते हैं, मात्र इसलिए कि हिन्दू इसे उचित मानते हैं। तीसरी बात, मुसलमानों द्वारा राजनीति में अपराधियों के तौर–तरीके अपनाया जाना है। दंगे इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि गुंडागर्दी उनकी राजनीति का एक स्थापित तरीका हो गया है। चेकों[2] के विरूद्ध सुडेटेन जर्मनों ने जिन तौर–तरीकों को अपनाया था वे उसका जानबूझकर तथा समझते हुए अनुकरण करते प्रतीत हो रहे हैं। जब तक मुसलमान आक्रामक थे, हिन्दू सहनशील बने रहे, तथा संघर्ष में, मुसलमानों से अधिक नुकसान हिन्दुओं को उठाना पड़ा। परंतु अब हिन्दुओं ने भी जवाबी आक्रमण करना सीख लिया है, और अब वे मुसलमान को छुरा घोपने में किसी प्रकार का संकोच महसूस नहीं करते हैं। प्रत्याक्रमण के इस मनोभाव के कारण गुण्डागर्दी के खिलाफ गुण्डागर्दी का भद्दा दृश्य सामने आ रहा है।

इस समस्या का कैसे सामना किया जाए, इस पर सम्बन्धित लोगों को विचार करना चाहिए। हिन्दू महासभा के सीधे–सादे राष्ट्रवादी लोग हैं जो यह विश्वास करते हैं कि हिन्दुओं को मुसलमानों को मिटा देने का संकल्पमात्र करने की आवश्यकता है, और वे रास्ते पर आ जाएंगे। दूसरी ओर, कांग्रेसी हिन्दू राष्ट्रवादी हैं जिनकी नीति उनके प्रति राजनीतिक सहिष्णुता और तुष्टीकरण करने की रहती

---

1. हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि उन्हें संयुक्त निर्वाचक मंडल नहीं मिला जबकि मुसलमानों को रियायतें दी गईं।
2. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के करॉंची अधिवेशन में श्री जिन्ना आर–सर अब्दुल्ला हारून दोनों ने भारतीय मुसलमानों की तुलना मुस्लिम के "सुडेटेन" से किया जो वही कर सकता था जैसा कि सुडेटेन जर्मनों ने चेकोस्लोवाकिया के विरूद्ध किया था।

है, चूंकि वे यह विश्वास करते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का लक्ष्य उनके समर्थन के बिना नही प्राप्त किया जा सकता।

हिन्दू महासभा की योजना किसी भी प्रकार एकता कायम करने की नहीं है। इसके विपरीत, यह निश्चित रूप से प्रगति में रूकावट पैदा करेगी। हिन्दू महासभा के अध्यक्ष का नारा "हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए" न केवल अहंवादी है बल्कि नितांत मूर्खतापूर्ण है। प्रश्न फिर भी यह उठता है कि क्या कांग्रेस का तरीका सही है। मुझे लगता है कि दो बातों को समझने में कांग्रेस से चूक हुई है। पहली बात जिसे कांग्रेस समझ नहीं सकी वह यह है कि तुष्टीकरण और समझौते में फर्क होता है, और यह फर्क बुनियादी किस्म का होता है। तुष्टीकरण का अर्थ होता है, आक्रमणकारी के द्वारा लगायी गयी आग, लूट, बलात्कार और हत्या से प्रभावित हुए निर्दोष लोगों पर किए गए अपराधों की अनदेखी करके, अपराधियों को समझौते के मार्ग पर लाना, जब कि समझौते का अर्थ होता है लक्ष्मण रेखा का निर्धारण करना, जिसका दोनों में से कोई भी पक्ष उल्लंघन नहीं कर सकता। तुष्टीकरण से आक्रमणकारी की महत्वाकांक्षाओं और मांगों पर अंकुश नहीं लगता है। किन्तु समझौता अंकुश लगाता है। दूसरी बात जिसे कांग्रेस समझने में असमर्थ रही है वह यह है कि छूट देने की उसकी नीति के कारण मुस्लिम आक्रामकता में वृद्धि हुई है तथा जो बात इससे भी बुरी हुई है वह यह है कि मुसलमान इसे हिन्दुओं के पराजय–भाव का एक चिन्ह मानते हैं। जिस प्रकार कि तुष्टीकरण की नीति के कारण मित्रराष्ट एक खतरनाक स्थिति में पड़ गये थे, उसी प्रकार की परिस्थितियों से हिन्दू घिर जाएँगे। सामाजिक निष्क्रियता की बुराई से कम गम्भीर यह बुराई नहीं होगी। तुष्टीकरण निश्चय ही इस परिस्थिति की अभिवृद्धि करेगा। इसका एकमात्र वैकल्पिक उपाय है समझौता करना। यदि समझौते का परिणाम पाकिस्तान ही होता है, तब यह मामला गम्भीरतापूर्वक विचार करने योग्य है। इस मुद्दे पर समझौता होने से लगातार तुष्टीकरण की नीति का समापन हो जाएगा और उन सभी लोगों द्वारा इसका स्वागत किया जाएगा जो मुसलमानों के हिन्दुओं के प्रति बढ़ती हुई राजनीतिक तृष्णा से उत्पन्न खतरे की अपेक्षा समझौते से उत्पन्न शांति और चैन चाहते हैं।

अध्याय : 12

राष्ट्रीय कुंठा

I

यदि किसी भारतीय से पूछा जाए कि देश के लिए सर्वोपरि नियति क्या होनी चाहिए, तो वह क्या जवाब देगा? प्रश्न महत्वपूर्ण है, और इसका उत्तर निश्चय ही ज्ञानप्रद होगा।

अन्य बातें समान होते हुए, निस्संदेह प्रत्येक भारतीय, जिसे अपने देश पर गर्व है, कहेगा एक अखंड और स्वतंत्र भारत ही मेरे देश का आदर्श भविष्य है। परन्तु यह कहना भी सत्य है कि जब तक हिंदू और मुसलमान समान रूप से इसे स्वीकार नहीं करते, तब तक यह केवल एक पवित्र इच्छा ही बनी रहेगी, कभी वास्तविक स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाएगी। पर क्या यह केवल कुछ लोगों की पावन इच्छा ही है, या एक लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने का प्रयास सभी को करना है?

जहां तक राजनीतिक उद्देश्यों के एलानों का संबंध है, सभी राजनीतिक दल इस बात पर सहमत हैं और सभी इसकी घोषणा कर चुके हैं कि भारत के उत्तरोत्तर राजनीतिक विकास-क्रम का उद्देश्य है स्वतंत्रता या स्वाधीनता। कांग्रेस ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि उसका लक्ष्य भारत के लिए राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना है। दिसंबर 1927 के मद्रास अधिवेशन में कांग्रेस ने एक विशेष संकल्प में यह घोषणा की थी कि भारत की जनता* का लक्ष्य है संपूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता। हिंदू महासभा 1932 तक यह मानकर संतुष्ट थी कि भारत के राजनीतिक विकास-क्रम का उद्देश्य है एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना।

* कांग्रेस का सिद्धांत मद्रास में नहीं बदला। यह 31 दिसंबर, 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में बदला गया। मद्रास अधिवेशन में आजादी के लिए केवल एक संकल्प पारित किया गया था। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में, जो दिसंबर 1928 में हुआ था, श्री गांधी और कांग्रेस-अध्यक्ष दोनों ने घोषणा की कि वे भारत को स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा देने पर राजी हो जाएंगे, यदि अंग्रेज सरकार इसे 31 दिसंबर, 1929 की आधी रात तक दे दे।

1937 तक उसने इस राजनीतिक सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं किया, जब कि उसने अपने अहमदाबाद अधिवेशन में यह घोषणा की कि वह पूर्ण स्वराज में विश्वास रखती है, अर्थात भारत के लिए संपूर्ण स्वतंत्रता में। मुस्लिम लीग ने 1912 में अपना यह राजनीतिक सिद्धांत सुनिश्चित किया कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो। 1937 में उसने अपना लक्ष्य 'उत्तरदायी सरकार' से बदलकर 'संपूर्ण आजादी' कर लिया और इस तरह लीग भी कांग्रेस और हिंदू महासभा के समकक्ष आ गई।

तीनों राजनीतिक दलों द्वारा पारिभाषित स्वतंत्रता का तात्पर्य है ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति। परंतु ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्ति पर सहमति ही पर्याप्त नहीं है। इस बात पर समझौता होना चाहिए कि भारत की स्वतंत्रता कैसे कायम रहे। इसके लिए यह सहमति आवश्यक है कि भारत न केवल ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्त और स्वतंत्र होगा, वरन उसकी स्वतंत्रता और स्वधीनता को किसी भी विदेशी ताकत से सुरक्षित रखना होगा। वास्तव में स्वतंत्रता को कायम रखने की जिम्मेदारी ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति पाने से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। परंतु इस अपेक्षित अहम दायित्व पर समान मतैक्य नहीं दिखाई देता। देखा जाए तो मुसलमानों का रवैया इस संबंध में आश्वस्त कर नहीं रहा है। अनेक मुस्लिम नेताओं के बयानों से यह स्पष्ट है कि भारत की आजादी कायम रहे, इसे वे अपने दायित्व में शुमार नहीं करते। मैं ऐसे ही दो उदाहरण दे रहा हूं।

डॉ. किचलू ने 1925 में लाहौर में एक सभा में कहा था :

> "कांग्रेस उस समय तक निर्जीव थी जब तक खिलाफत कमेटी ने इसमें जान नहीं फूँकी। जब खिलाफत कमेटी कांग्रेस में शामिल हुई, तो इसने एक वर्ष में वह काम कर दिया जो हिंदू कांग्रेस 40 वर्ष में भी नहीं कर सकी। कांग्रेस ने सात करोड़ अछूतों के उत्थान के लिए भी काम किया। परंतु यह स्पष्टतः हिंदुओं के लिए ही था और भी इस पर कांग्रेस का ही पैसा खर्च हुआ। मेरा और मेरे मुसलमान भाइयों का पैसा इस कार्य पर पानी की तरह बहाया गया, परंतु बहादुर मुसलमानों ने इसे बुरा नहीं माना। फिर जब हम मुसलमान तंज़ीम का काम करते हैं और इस पर पैसा खर्च करते हैं जो न तो हिंदुओं का होता है और न कांग्रेस का, तो हिंदुओं को इस पर आपत्ति क्यों होती है?
>
> "यदि हम ब्रिटिश शासन को इस देश से उखाड़ फेंकते हैं और स्वराज स्थापित करते हैं, और यदि अफगान या दूसरे मुस्लिम भारत

पर आक्रमण करते हैं तो इस देश को विदेशी आक्रमण से बचाने के लिए हम मुसलमान उनका मुकाबला करेंगे और अपने पुत्रों का बलिदान कर देंगे। परंतु एक बात की मैं स्पष्ट घोषणा करूंगा। सुनो, मेरे हिंदू भाइयो, सुनो। ध्यान देकर सुनो। यदि आप हमारे तंज़ीम आंदोलन के मार्ग में बाधा डालेंगे और हमें हमारा अधिकार नहीं देगे, तो हम अफगानिस्तान या अन्य मुस्लिम शक्ति के साथ हाथ मिलाएंगे और इस देश में अपना शासन स्थापित करेंगे।*

मौलाना आजाद सुभानी ने 27 जनवरी, 1939 को सिलहट में जो अपने उद्‌गार व्यक्त किए, वे ध्यान देने योग्य हैं। एक मौलाना के सवाल के जवाब में मौलाना आज़ाद सुभानी ने कहा :

"यदि भारत में कोई प्रतिष्ठित नेता है, जो अंग्रेज को इस देश से बाहर भगाने के पक्ष में है, तो वह मैं हूं। इसके बावजूद मैं चाहता हूं कि मुस्लिम लीग की ओर से अंग्रेजों से कोई लड़ाई न हो। हमारी असली लड़ाई 22 करोड़ हिंदू दुश्मनों से हैं, जो बहुसंख्यक हैं। सिर्फ साढ़े चार करोड़ अंग्रेज वास्तव में सारे विश्व को हड़पकर शक्तिशाली बन गए हैं। यदि ये 22 करोड़ हिंदू, जो शिक्षा, बुद्धि, धन और संख्या में समान रूप से आगे हैं, शक्तिशाली बन गए तो ये सारे हिन्दू भारत को और यहां तक कि मिस्र, तुर्की, काबुल, मक्का, मदीना और अन्य मुस्लिम राज्यों को याजुज–माजुज की भांति एक के बाद एक को निगल जाएंगे। (कुरान में लिखा है कि दुनिया के तबाह होने से पहले वे धरती पर पैदा होंगे और जो कुछ उन्हें मिलेगा, उसका भक्षण कर लेंगे)।

अंग्रेज धीरे–धीरे कमजोर होते जा रहे हैं.........और निकट भविष्य में वे भारत से चले जाएंगे। अतः यदि हम इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु हिंदुओं से नहीं लड़ते और उन्हें कमजोर नहीं करते, तो वे न केवल भारत में रामराज्य स्थापित करेंगे बल्कि क्रमशः सारे संसार में फैल जाएंगे। यह भारत के 9 करोड़ मुसलमानों पर निर्भर करता है कि हिन्दुओं को शक्तिशाली बनाना है या कमजोर। अतः यह प्रत्येक धर्मपरायण मुस्लिम का परम कर्तव्य हो जाता है कि वह मुस्लिम लीग में शामिल होकर युद्ध करे, जिससे कि यहां हिंदू जम न सकें और अंग्रेजों के यहां से जाते ही मुसलमानों का शासन स्थापित हो।

यद्यपि अंग्रेज मुसलमानों के दुश्मन हैं, फिर भी इस समय हमारी

---

* "थ्रू इंडियन आईज", टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 मार्च, 1925

> लड़ाई अंग्रेजों से नहीं हैं। सर्वप्रथम हमें मुस्लिम लीग के जरिए हिंदुओं से कोई समझौता करना होगा। उसके बाद ही हम आसानी से अंग्रेजों को बाहर खदेड़ सकेंगे और भारत में मुस्लिम शासन स्थापित कर पाएंगे।
>
> सावधान रहो! कांग्रेसी मौलवियों के जाल में मत फंसो, क्योंकि मुस्लिमों की दुनिया कभी भी 22 करोड़ हिंदू दुश्मनों के हाथ में सुरक्षित नहीं है।"*

'आनंद बाजार पत्रिका' के संवाददाता द्वारा तैयार किए गए मौलाना आज़ाद सुभानी ने अपने भाषण में कांग्रेसी सूबों में मुस्लिमों के उत्पीड़न की अनेक काल्पनिक घटनाओ का वर्णन किया :

> "उन्होंने कहा कि प्रांतीय स्वायत्त शासन के लागू होने के बाद जब कांग्रेस ने मंत्रिमंडल गठित करना स्वीकार किया, तो उन्हें लगा कि हिंदू बहुल कांग्रेस के हाथों में मुसलमानों के हित सुरक्षित नहीं रहेंगे। परतु हिंदू नेता उदासीन थे और इसलिए उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी और मुस्लिम लीग में शामिल हो गए। जिस बात का उन्हें डर था, वही कांग्रेसी मंत्रियों द्वारा अपनाई गई। इस भविष्य के अनुमान को ही राजनीति कहते हैं। अतः वह एक महान राजनीतिज्ञ थे। वह सोच रहे थे कि भारत को स्वतंत्रता मिलने से पूर्व हिंदुओं के साथ किसी भी प्रकार का समझौता होना आवश्यक है। चाहे वह बलपूर्वक हो या मित्रता से, अन्यथा हिंदू, जो कि 700 वर्ष तक मुसलमानों के गुलाम रहे, मुसलमानों को ही गुलाम बना लेंगे।"

हिंदुओं को पता है कि मुसलमान क्या सोच रहे हैं, और वे इस संभावना से भयभीत हैं कि मुस्लिम उन्हे गुलाम बनाने में स्वतंत्रता का उपयोग कर सकते हैं। फलस्वरूप, हिंदू स्वतंत्रता को भारत के राजनीतिक विकास का अंतिम लक्ष्य बनाने के प्रति निरूत्साहित हैं। यह आशंका उन लोगों को नहीं है जो अपना निर्णय देने के योग्य नहीं हैं। इसके विपरीत, जिन हिंदुओं ने स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढने की बुद्धिमत्ता के प्रति अपनी आशंका व्यक्त की है, वे वही हैं जो मुसलमानों के संपर्क में रहने के कारण अपना मत देने में सक्षम हैं।

श्रीमती एनी बेसेंट कहती हैं :

> "भारत के मुसलमानों के संबंध में एक दूसरा गंभीर प्रश्न और उठता है। यदि मुसलमानों और हिंदुओं के बीच वैसे ही संबंध रहते, जैसे

---

* आनंद बाजार पत्रिका में बंगला भाषा में छपा 'हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड' के संपादक ने मेरे लिए इस भाषण का अनुवाद किया जो यहां दिया जा रहा है।

लखनऊ में हुआ करते थे, तो यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। यद्यपि यह प्रश्न स्वतंत्र भारत में देर–सवेर अवश्य ही उठता। परंतु खिलाफत आंदोलन के बाद से परिस्थितियां बदल गई हैं और ख़िलाफत जिहाद को बढ़ावा देने से भारत को पहुँची कई क्षतियों में एक यह भी है कि मुसलमानों के दिल में 'नास्तिकों' के विरूद्ध नंगी ओर बेशर्मी की हद तक नफरत पैदा हुई जो कभी पहले होती थी। हम देखते हैं कि राजनीति में तलवार का वही पुराना मुस्लिम धर्म लोगों की भावनाओं को उकसा रहा है, हम देख रहे हैं शताब्दियों पुरानी वही मुस्लिम धर्म की श्रेष्ठता का दंभ। हमने देखा कि शताब्दियों की विस्मृति के बावजूद अलगाव की वह प्राचीन भावना पुनर्जीवित हो गई है, जिसमें जजीरूत अरब अर्थात अरब द्वीप के संबंध में वह दावा है कि यह मुसलमानों का पवित्र भू–खंड है और इसे गैर–मुस्लिम के अपवित्र पांव गंदा न करें। हमने मुसलमान नेताओं को यह कहते सुना है कि यदि अफगान भारत पर आक्रमण करें तो वे अपने धर्म को माननेवाले अफगानों कीं सहायमा करेंगे और उन हिंदुओं की हत्या करेंगे जो दुश्मनों से अपनी मातृभूमि की रक्षा करेंगे। हमें यह सोचने पर विवश कर दिया गया है कि मुसलमानों की पहली वफादारी मुस्लिम देशों के प्रति है, हमारी मातृभूमि के प्रति नहीं। हमें यह भी मालूम हुआ है कि उनकी उत्कट इच्छा है 'अल्लाह का साम्राज्य' स्थापित करना, न कि संसार के परमात्मा का, जिसे अपने सभी प्राणियों से समान प्रेम है। अल्लाह के आदेश को वे अपने किसी पैंगबर के आदेश में देखते हैं, और उसी के अनुसार यह तय करते हैं कि खुदा पर अविश्वास करने वालों के साथ कैसा सुलूक किया जाय। प्राचीन हिब्रूज के मोजेक जेहोवा की तरह आज वे पैगम्बर द्वारा प्रतिपादित धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता के लिए पुराने मुसलमानों की भांति लड़ रहे हैं यद्यपि आज की दुनिया उन धर्म व्यवस्थाओं से कहीं आगे जा चुकी है, जिनमें एक इंसान द्वारा ईश्वर के आदेश दिए जाते थे। मुस्लिम नेताओं का यह दावा कि मुसलमानों को अपने विशेष पैगम्बर के कानून का पालन करना चाहिए और अपने राज्य के कानूनों, जिसमें वे रहते हैं, को दरकिनार कर देना चाहिए, राष्ट्र और नागरिक व्यवस्था के लिए घातक है। यह उन्हें बुरा नागरिक साबित करता है, क्योंकि उनकी निष्ठा का केंद्र राष्ट्र से बाहर है और जब तक वे मौलाना मोहम्मद अली और शौकत अली जैसे मुस्लिम समुदाय के मान्य नेताओं के विचारों से मतैक्य रखेंगे, उन पर उनके सह–नागरिक विश्वास नहीं करेंगे। यदि भारत स्वतंत्र हुआ तो मुस्लिम जनसंख्या

वाला वह क्षेत्र जिसमें रह रहे अज्ञानी लोग उन लोगों का अनुसरण करेंगे, जो पैगम्बर के नाम पर आह्वान करते हैं, तो भारत की स्वतंत्रता के लिए तत्काल खतरा पैदा हो जाएगा। वे लोग अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, फारस, इराक, अरब, तुर्की और मिस्र एवं मध्य एशिया के उन कबीलों से मैत्री करके जो मुस्लिम हैं, भारत को मुस्लिम शासन के अधीन करने के लिए एकजुट हो जाएंगे और मुस्लिम शासन की स्थापना कर देंगे। हमने सोचा था कि भारतीय मुसलमान अपनी मातृभूमि के प्रति वफादार होंगे, और वास्तव में हम अब भी सोचते हैं कि उनमें से शिक्षित वर्ग यह कोशिश करे कि मुसलमानों में ऐसी भावना फैलै। परंतु ऐसे मुसलमान बहुत कम हैं और अक्षम भी हैं, इसलिए उन्हें धर्म–विरोधी की संज्ञा देकर उनकी हत्या कर दी जाएगी। मालाबार से हमें सीख मिल चुकी है कि इस्लामी शासन के अर्थ क्या हैं, और अब हम भारत में खिलाफत राज्य का दूसरा नमूना नहीं देखना चाहते हैं। मालाबार से बाहर रहनेवाले मुसलमानों ने मोपलों के प्रति कितनी सहानुभूति बरती है, यह प्रमाणित हो चुका है। उनके बचाने के प्रयत्न में उनके सहधर्मियों ने और स्वंय श्री गांधी ने कहा कि उन मुसलमानों ने वही किया, जिसकी उनके धर्म नै उनको शिक्षा दी। मुझे इसकी सच्चाई में शंका है, परंतु सभ्य समाज में ऐसे लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है जो यह मानते हैं कि उनका धर्म उन्हें हत्या करने, डाका डालने, आगजनी करने और उन लोगों को देश से निकालने की शिक्षा देता है, जो अपने धर्म को त्यागने से इंकार करते हैं। ठगों का विश्वास था कि उनका देवता उन्हें लोगों का, विशेषकर पैसेवाले यात्रियों का, गला घोंटने की इजाजत देता है। ऐसे दैवी कानूनों को सभ्य समाज के कानूनों को दरकिनार करने की अनुमति नहीं दी जा सकती, और जो लोग बीसवीं सदी में रह रहे हैं, वे या तो मध्ययुगीन विचार के लोगों को शिक्षित करें या उन्हें निर्वासित कर दें। ऐसे लोगों का स्थान उन्हीं देशों में है जो उनके विचारों से सहमत हैं और जहां अब भी ऐसे तर्क वे उन्हें दे सकते हैं जो उनसे सहमत नहीं होते, जैसे बहुत पहले फारस और पारसी लोग, और हमारे समय में 'बहाई'। वास्तव में विभिन्न मुस्लिम मतावलंबी कट्टरपंथी मुस्लिम शासन में सुरक्षित नहीं हैं। भारत में ब्रिटिश शासन ने सभी मतावलम्बियों की स्वतंत्रता की सुरक्षा की है। शिया, सुन्नी, सूफी, बहाई सब मुस्लिम जातियां भारत में सुरक्षापूर्वक रहती हैं, यद्यपि ब्रिटिश शासन उन्हें सामाजिक बहिष्कार से वहां नहीं रोक सकता, जहां वे अल्पसंख्यक हैं। मुस्लिम शासित देशों की तुलना में मुसलमान

> ब्रिटिश शासन में ज्यादा स्वतंत्र हैं। स्वाधीन भारत के बारे में सोचते समय हमें मुस्लिम शासन के आतंक के बारे में भी विचार करना होगा।"[1]

इसी तरह की आशंका लाला लाजपतराय ने श्री सी.आर.दास को लिखे अपने पत्र में व्यक्त की थी :

> "एक बात और है, जो मुझे बहुत दिनों से कष्ट दे रही है, जिसे मैं चाहता हूं कि आप बहुत ध्यान से सोचें, और वह है हिंदू-मुस्लिम एकता। पिछले 6 महीनों में मैंने अपना अधिकांश समय मुस्लिम इतिहास और मुस्लिम कानून को पढ़ने में लगाया है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यह न तो संभव है और न ही व्यावहारिक है। असहयोग आंदोलन में मुस्लिम नेताओं की ईमानदारी व निष्ठा को मानते हुए और उसे स्वीकारते हुए, मैं समझता हूं कि उनका धर्म उनके मार्ग में एक किस्म से रूकावट डालता है। आपको याद होगा, हकीम अजमल खां और डॉ. किचलू से उस विषय में जो मेरी बातचीत हुई थी, उसकी रिपोर्ट मैंने आपको कलकत्ता में दी थी। हकीम साहेब से बेहतर कोई मुसलमान हिंदुस्तान में नहीं है। परंतु क्या कोई अन्य मुस्लिम नेता कुरान के विपरीत जा सकता है? मैं तो केवल यही सोचता हूं कि इस्लामिक कानून के बारे में मेरा ज्ञान सही नहीं है और ऐसा ही सोचकर मुझे राहत मिलती है। परंतु यदि यह सही है, तो यह बात साफ है कि हम अंग्रेजों के विरूद्ध एक हो सकते हैं, परंतु ब्रिटिश रूपरेखा के अनुसार हिंदुस्तान पर शासन चलाने के लिए एक नहीं हो सकते। हम जनतांत्रिक आधार पर हिंदुस्तान पर शासन चलाने के लिए एक नहीं हो सकते। फिर उपाय क्या है? मुझे हिंदुस्तान के सात करोड़ हिंदुओं का डर नहीं है, परंतु मैं सोचता हूँ कि हिंदुस्तान के सात करोड़ मुसलमान और अफगानिस्तान, मध्य एशिया, अरब, मिसोपोटामिया और तुर्की के हथियारबंद गिरोह मिलकर अप्रत्याशित स्थिति पैदा कर देंगे। मैं ईमानदारी से हिंदू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता और वांछनीयता में विश्वास करता हूं। मै मुस्लिम नेताओं पर भी पूरी तरह से विश्वास करने को तैयार हूं, परंतु कुरान और हदीस की निषेधाज्ञा के बारे में क्या कहें? ये नेता उनका उल्लंघन नहीं कर सकते। तो क्या हम बर्बाद हो जाएंगे? मैं ऐसी बात नहीं सोचता। मैं आशा करता हूं कि सुशिक्षित और बुद्धिमान इस कठिनाई से बच निकलने का कुछ उपाय ढूंढेंगे।"[2]

---

1. दि फ्यूचर ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स, पृ. 301-305
2. इंद्र प्रकाश द्वारा लिखित 'लाइफ ऑफ सावरकर' से उद्धत।

बंगला समाचार पत्र के संपादक ने 1924 में कवि डॉ. रवींद्रनाथ टैगोर का साक्षात्कार लिया। इस साक्षात्कार की एक रपट में कहा गया है :

> "......................दूसरा महत्वपूर्ण कारण, कवि के अनुसार, जो हिंदू–मुस्लिम एकता को असंभव बना रहा था, वह था मुसलमानों की देशभक्ति, जो वे किसी एक देश के प्रति कायम नहीं रख सकते। कवि ने कहा कि उन्होंने कई मुसलमानों से निःसंकोच होकर पूछा कि यदि भारत पर कोई मुसलमान ताकत आक्रमण करती है तो क्या वे अपने हिंदू पड़ोसी के साथ मिलकर अपने देश की रक्षा करेंगे? कवि को जो उत्तर मिले, उससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि वे निश्चित रूप से कह सकते हैं कि श्री मोहम्मद अली जैसे व्यक्ति का यह कथन है कि किसी भी परिस्थिति में कोई भी मुस्लिम किसी भी देश में रहता हो, इस्लाम धर्मावलंबी के विरूद्ध उसका खड़ा होना असंभव है।"*

II

यदि स्वतंत्रता असंभव हो, तो शत–प्रतिशत भारतीय का दूसरा लक्ष्य होगा भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में प्रभुत्वपूर्ण दर्जा (डोमिनियन स्टेटस) मिले। ऐसे लक्ष्य से कौन संतुष्ट होगा? मेरी यह दृढ़ धारणा है कि यदि मुसलमानों पर छोड़ दिया जाए, तो वे डोमिनियन स्टेटस से संतुष्ट नहीं होंगे, जब कि हिंदू निश्चित रूप से संतुष्ट हो जाएंगे। ऐसा वक्तव्य भारतीयों और अंग्रेजों के कानों को जरूर कर्कश लगेगा। कांग्रेस के स्वतंत्रता पर जोर देने के कारण यह धारणा बनी है कि हिंदू स्वतंत्रता चाहते हैं, मुस्लिम उपनिवेश का दर्जा। जो गोलमेज सम्मेलन में उपस्थित थे, वे यह जरूर समझ गए होंगे कि इस बात की कितनी गहरी छाप अंग्रेजों पर पड़ी और कांग्रेस की दो मांगों, अर्थात् स्वतंत्रता और ऋण के निराकरण, से हिंदुओं के हितों और दावों को कितना नुकसान हुआ। इन मांगों को देखते हुए अंग्रेजों को लगा कि हिंदू उनके दुश्मन हैं और मुसलमान, जिन्होंने न तो स्वतंत्रता मांगी और न ही ऋण का निराकरण मांगा, उनके मित्र हैं। यह धारणा चाहे कितनी भी सत्य क्यों न हो, कांग्रेस के दृढ़ इरादों के परिप्रेक्ष्य में एक झूठी धारणा है, जो मिथ्या प्रचार से बनाई गई है; चूंकि इस बात में कोई संदेह नही है कि हिंदू हृदय से प्रभुत्वपूर्ण उपनिवेश का दर्जा चाहते हैं और मुस्लिम स्वतंत्रता। यदि इस बात का प्रमाण चाहिए, तो काफी प्रमाण हैं।

स्वतंत्रता की बात सर्वप्रथम 1921 में उठाई गई थी। उस वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय खिलाफत कांफ्रेंस और अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने

---

* 'थ्रू इंडियन आईज,' टाइम्स ऑफ इंडिया, 18 अप्रैल, 1924

अपने वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में किए थे। प्रत्येक अधिविशेन में स्वतंत्रता के पक्ष में प्रस्ताव पारित किए। प्रत्येक के प्रस्तावों की क्या नियति हुई, यह बड़ी रोचक बात है।.

कांग्रेस के अध्यक्ष हकीम अजमल खां थे, जिन्होंने श्री सी.आर. दास की जगह पर अध्यक्षता की, क्योंकि श्री सी.आर. दास को कांगेस के अधिवेशन के पूर्व ही सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया था और वह अध्यक्षता नहीं कर सके थे। कांग्रेस के मौलाना हसरत मोहानी ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें कांग्रेस के लक्ष्य में परिवर्तन करने पर जोर दिया गया। उक्त प्रस्ताव से संबंधित कार्यवाही का सारांश इस प्रकार है :

> मौलाना हसरत मोहानी ने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखते हुए उर्दू मे एक लंबा और भावावेशपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने कहा कि यद्यपि स्वराज का आश्वासन उन्हें पिछले वर्ष दिया गया था, खिलाफत और पंजाब में ज्यादतियों का समाधान एक साल के अंदर करने को कहा गया था, परंतु अभी तक इस विषय में कुछ भी नहीं हुआ है। अतः इस योजना का अनुसरण करने का कोई औचित्य नहीं है। यदि ब्रिटिश साम्राज्य या ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत रहकर उन्हें स्वाधीनता नहीं मिली तो उनका सोचना था कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का परित्याग करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। लोकमान्य तिलक के शब्दों में – 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और कोई भी सरकार जो बोलने और कर्म करने के मूल अधिकार से वंचित करती है, वह लोगों की निष्ठा की हकदार नहीं है। उपनिवेशीय स्वशासन जन्मसिद्ध स्वाधीनता का स्थान नहीं ले सकता। जो सरकार सर्वश्री चितरंजन दास, पं. मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय और अन्य विशिष्ट व्यक्तियों को जेल में ठूंस सकती है, वह जनता से आदर की आकांक्षा करने की हकदार नहीं है। और चूंकि वर्ष के अंत तक उन्हें स्वराज नहीं मिला इसलिए पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए वे किसी भी माध्यम का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र है। प्रस्ताव इस प्रकार है –
>
> 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लक्ष्य है भारत के लोगों द्वारा वैध और शांतिपूर्ण तरीकों से स्वराज प्राप्ति या सभी विदेशी नियंत्रणों से मुक्त पूर्ण स्वाधीनता।'*

---

* देखिए, दि इंडियन एनुअल रजिस्टर–1922, परिशिष्ट, पृ. 64-66

प्रस्ताव के पक्ष में जब कई प्रतिनिधि बोल चुके तब श्री गांधी प्रस्ताव के विरोध में आगे आए। प्रस्ताव का विरोध करते हुए श्री गांधी ने कहा –

> "मित्रों, मैंने श्री हसरत मोहानी के प्रस्ताव के संबंध में कुछ शब्द कहे हैं। मैं अब आपसे यही कहना चाहता हूं कि जिस हलकेपन से इस प्रस्ताव को कुछ लोगों ने यहां लिया है, उससे मुझे दुःख है। मुझे दुःख इसलिए हुआ कि इसमें गैर–जिम्मेदाराना दृष्टिकोण झलकता है। हमें सभी पुरूषों और महिलाओं को अपनी जिम्मेदारी समझते हुए नागपुर और कलकत्ता के दिनों को याद करना होगा और फिर हमें सोचना होगा कि एक घंटा पूर्व हमने क्या किया। एक घंटा पूर्व हमने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें खिलाफत और पंजाब में हुयी गलतियों के बारे में अंतिम समझौते और कुछ निश्चित तरीके अपनाकर ब्रिटिश शासकों के हाथ से सत्ता का जनता के हाथों में अंतरण करने की बात कही गई है। क्या आप मिथ्या मुद्दों को उठाकर भारतीय वातावरण में धमाका करके उक्त स्थिति को मिटा देना चाहते है? मैं आशा करता हूं कि आप में से जिन्होंने पहले प्रस्ताव के पक्ष में मतदान दिया, इस प्रस्ताव पर मत देने से पहले पचास बार सोचेंगे। विश्व के चिंतनशील लोग हम पर आरोप लगायेंगे कि हम वास्तव में नहीं जानते कि हम कहां हैं। हमें अपनी सीमाओं को समझना चाहिए। हिंदुओं और मुसलमानों में असीम और अविच्छिन्न एकता हो। यहां कौन है जो निश्चित होकर कह सके कि हां, हिंदू–मुसलमान एकता अब भारतीय राष्ट्रीयता का एक अविच्छिन्न तत्व बन गया है? कौन मुझे यहां बताएगा कि पारसी और सिख और ईसाई और यहूदी और अछूत जिनके बारे में आपने आज दोपहर सुना–कौन मुझे बताएगा कि यही लोग इस विचार के खिलाफ नहीं उठ खड़े होंगे? ऐसा कदम उठाने से पहले, जिससे न तो आपकी साख बनेगी, न ही वह आपके लिए हितकर होगा, परंतु जिससे आपको अपूरणीय क्षति होगी, आपको पचास बार सोचना होगा। आइए, पहले हम सब अपनी शक्ति का संचय करें, हम अपनी गहराइयों को देखें। हमें उस पानी में नहीं जाना चाहिए, जिसकी गहराई हमें मालूम न हो; और श्री हसरत मोहानी का यह प्रस्ताव हमें अनजाने गर्त में ले जाएगा। मैं आपको पूरे विश्वास के साथ कहता हूं कि यदि आप उस प्रस्ताव में विश्वास रखते हैं, जो आपने एक घंटा पहले पारित किया है, तो उसे रद्द कर दें। जो प्रस्ताव अब आपके सामने है, वह उस प्रस्ताव का, जो आपने एक घंटा पूर्व पारित किया है, प्रभाव मिटा देगा। क्या सिद्धांत इतने सरल है

कि हम उन्हें कपड़ों की भांति अपनी मर्जी से बदल दें? सिद्धांतों के लिए लोग मरते हैं और सिद्धांतों के लिए हर युग में जीते हैं। क्या आप उस सिद्धांत को, जो नागपुर में आपने पूरे विचार–विमर्श और चर्चा के बाद अंगीकृत किया, बदल देंगे? उस समय, जब आपने यह सिद्धान्त स्वीकार किया, एक साल की कोई सीमा नहीं थी। यह एक व्यापक सिद्धांत है, यह कमजोर और संपन्न सभी को साथ लेकर चलता है। यदि आप मौलाना हसरत मोहानी के इस संकुचित सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, जो कि अपने गरीब भाइयों को नहीं स्वीकारता तो आप अपने कमजोर भाइयों को सुरक्षा देने की विशेष स्थिति से वंचित हो जायेंगे। अतः मैं पूरे विश्वास के साथ अनुरोध करता हूँ कि इस प्रस्ताव को रद्द कर दें।"

जब प्रस्ताव पर मत लिया गया, तो वह अस्वीकृत हो गया।

अखिल भारतीय खिलाफत कांफ्रेंस के अधिवेशन की अध्यक्षता भी हकीम अजमल खां ने की। कांफ्रेंस की विषय–समिति में स्वतंत्रता के पक्ष में एक प्रस्ताव पेश किया गया। उस प्रस्ताव का क्या हुआ यह कार्यवाही के निम्नलिखित सारांश से स्पष्ट है। कार्यवाही की रिपोर्ट इस प्रकार है :

"दूसरे दिन कांफ्रेंस के स्थगित होने से पहले रात के ग्यारह बजे अध्यक्ष हकीम अजमल खां ने घोषणा की कि कांफ्रेंस की विषय–समिति श्री आजाद सुभानी के प्रस्ताव पर, जिसका श्री हसरत मोहानी ने अनुमोदन किया, बहुमत से यह निश्चय करती है कि सभी मुसलमानों और अन्य समुदायों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने और संपूर्ण स्वराज प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए।

"प्रस्ताव में कहा गया कि क्योंकि ब्रिटिश सरकार की अटल नीति और दृष्टिकोण को देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि ब्रिटिश साम्राज्य जजीरात–उल–अरब तथा इस्लामी दुनिया को गैर–इस्लामी नियंत्रण तथा प्रभाव से पूरी तरह स्वतंत्र होने देगा, जिसका अभिप्राय है कि खिलाफत उस सीमा तक संभव नहीं जिस सीमा तक शरियत इसकी सुरक्षा चाहता है, अतः खिलाफत की पक्की सुरक्षा और भारत की संपन्नता के लिए, ब्रिटिश साम्राज्य का अंत करने के लिए प्रयत्न करना जरूरी है। इस 'कांफ्रेंस' का यह मत है कि इस प्रयत्न का एकमात्र तरीका मुसलमानों के लिए यह है कि वे अन्य भारतीयों के साथ मिलकर भारत को पूर्ण रूप से स्वतंत्र कराएं; और यह कांफ्रेंस इस विचार की है कि मुसलमानों का विचार स्वराज के

बारे में वही है, अर्थात् संपूर्ण स्वराज, और भारत के अन्य निवासियों से भी इसी विचार की अपेक्षा करती हैं।

"27 दिसंबर 1921 को जब दूसरे दिन कांफ्रेंस की बैठक शुरू हुई, तो स्वतंत्रता के प्रस्ताव पर मतभेद नजर आया। जब श्री हसरत मोहानी ने पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति और ब्रिटिश साम्राज्य के अंत के लक्ष्य वाले अपने प्रस्ताव को प्रस्तुत किया तो विषय–समिति के एक सदस्य द्वारा इस आधार पर आपत्ति उठाई गई कि उनके संविधान के अनुसार किसी भी प्रस्ताव को, जो उनके सिद्धांत में परिवर्तन चाहता है, तब तक पारित नहीं किया जा सकता, जब तक विषय–समिति में उसे दो–तिहाई का बहुमत प्राप्त न हुआ हो।

"अध्यक्ष हकीम अजमल खां ने आपत्ति को उचित ठहराया और स्वतंत्रता के प्रस्ताव को अनियमित घोषित कर दिया। श्री हसरत मोहानी ने इसका कड़ा विरोध किया और कहा कि अध्यक्ष ने उसी सदस्य की वही आपत्ति विषय समिति में अस्वीकार कर दी थी, जब कि उसे खुले अधिवेशन में स्वीकार कर लिया गया। उन्होंने कहा कि अध्यक्ष ने युक्तिकौशल से उनका प्रस्ताव इसलिए नामंजूर किया, ताकि कांफ्रेंस में वह उनकी यह घोषणा करने में अवरोध खड़ा कर सकें कि स्वराज से उनका प्रयोजन है पूर्ण स्वतंत्रता।"*

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मौलाना हसरत मोहानी थे। प्रस्ताव से संबंधित लीग की कार्यवाही रिपोर्ट कहती है :

"मुस्लिम लीग की बैठक 31 दिसंबर, 1921 को रात्रि 9 बजे शुरू हुई। कुछ निर्विवाद प्रस्ताव पारित करने के बाद अध्यक्ष हसरत मोहानी ने करतल ध्वनि के बीच घोषणा की कि वे प्रस्ताव करते हैं कि विषय समिति का वह निर्णय, जिसमें उनके स्वराज– प्राप्ति और ब्रिटिश साम्राज्य के अंत से संबंधित प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया है, लीग का अंतिम तथा बहुमत विचार मानते हुए यह बात स्वीकार कर ली जायेगी, परंतु प्रस्ताव के विषय की महत्ता को देखते हुए वह प्रस्ताव पर बिना मतदान के चर्चा की अनुमति देंगे। श्री आजाद सुभानी ने, जिन्होंने विषय समिति में प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, लीग में भी उसे प्रस्तावित किया। उन्होंने कहा कि वे हिंदू–मुस्लिम एकता को अति आवश्यक समझते हैं और इस युद्ध को लड़ने का अहिंसा व असहयोग ही अकेला रास्ता है और श्री गांधी पूर्ण रूप से उस तानाशाही के

* इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1922, अनुबंध, पृ. 133-134

योग्य हैं जिसे कांग्रेस ने उन्हें सौंपा है, परंतु वे यह भी मानते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत के लिए और मुस्लिम देशों के लिए सबसे बड़ा खतरा है और उसे उनके सामने स्वतंत्रता का आदर्श रखकर नष्ट करना होगा। श्री आज़ाद सुभानी के बाद कई वक्ता आए, जिन्होंने उनका उसी लय में समर्थन किया।

"माननीय श्री रज़ा अली ने घोषणा की कि अध्यक्ष के इस निर्णय की वजह यह थी कि लोग वह कदम नहीं उठाना चाहते थे, जो कांग्रेस ने नही उठाया था। उन्होंने बिना समझे–बूझे बड़ी–बड़ी बातें कहने के विरूद्ध उन्हें चेतावनी दी, और श्रोताओं को याद दिलाया कि यदि भारत को स्वतंत्रता मिल जाए तो यह अभी उसे कायम रखने के योग्य नहीं है।

उन्होंने प्रश्न किया – उदाहरण के लिए कल यदि अंग्रेज चले जाएं तो सेनाध्यक्ष कौन होगा। (एक आवाज़ 'अनवर पाशा')

वक्ता ने जोर देकर कहा कि वे किसी भी विदेशी को बर्दाश्त नहीं करेंगे। वे एक भारतीय को सेनाध्यक्ष चाहते है।"*

स्वतंत्रता का प्रश्न मार्च 1923 में कांग्रेस के काकीनाडा अधिवेशन में पुनः उठाया गया, परंतु उसे सफलता नहीं मिली।

कांग्रेस के बेलगाम अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए 1924 में श्री गांधी ने कहा :

"मेरे विचार में, यदि ब्रिटिश सरकार की मंशा वही है, जो वह कह रही है और यदि वह ईमानदारी से समानता के लिए हमारी मदद करना चाहती है, तो इससे हमें ज्यादा लाभ होगा, बजाए ब्रिटेन से संबंध विच्छेद करने के। अतः मैं ब्रिटिश साम्राज्य के तहत स्वराज के लिए प्रयत्न करूंगा। परंतु यदि ब्रिटेन ने गलती की तो आवश्यक होने पर हम सभी संबंध–विच्छेद करने में नहीं हिचकिचाएंगे। अतः मैं संबंध विच्छेद करने का भार ब्रिटेन के लोगों पर छोडूंगा।"

1925 में श्री चितरंजन दास ने इस विषय को फिर उठाया। उसी वर्ष बंगाल प्रदेश सम्मेलन में उन्होंने अपने भाषण में स्वाधीनता के विचार पर करारी चोट करने के संदर्भ में उपनिवेश के दर्जे की अपेक्षा स्वतंत्रता के विचार को घटिया बताने का प्रयास किया :

---

* वही, परिशिष्ट, पृ. 78

"...............मेरे विचार में स्वतंत्रता का आदर्श स्वराज्य के आदर्श से संकीर्ण हैं। यह सही है कि यह निर्भरता के विपरीत है; परंतु यह हमें अपने आप में कोई सकारात्मक आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। मैं एक क्षण के लिए भी यह सुझाव नहीं दूंगा कि स्वतंत्रता स्वराज के समान है। सिर्फ स्वतंत्रता आवश्यक नहीं है, आवश्यक है स्वराज की स्थापना। कल भारत स्वतंत्र हो सकता है, इस मायने में कि ब्रिटेन के लोग हमें अपनी नियति पर छोड़ दें। परंतु उससे हमें वह नहीं मिलेगा जिसे मैं स्वराज समझता हूं। जैसा कि मैंने गया अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में कहा था, भारत के सामने एक रोचक परंतु विषम समस्या है विभिन्न मतभेदों को समेकित करना, जिनसे हम भारत के लोगों का निर्माण हुआ है। समेकित करने की यह प्रक्रिया बड़ी लंबी, कठिन और श्रमसाध्य है, परंतु बिना इसके स्वराज संभव नहीं है...................

"दूसरी ओर, स्वतंत्रता से आपको उस व्यवस्था की झलक नहीं मिलती जो स्वराज का सार है। समेकित करने के जिस कार्य का मैंने जिक्र किया, उसका अभिप्राय है उस स्वराज की स्थापना करना। परंतु एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि जिस व्यवस्था को हम स्थापित करना चाहते हैं, उसे भारत के लोगों की प्रतिभा, परंपरा और प्रकृति के अनुरूप होना होगा। मेरे विचार में स्वराज का अभिप्राय है, प्रथमतः भारत की विभिन्नताओं को समेकित करना, दूसरे हमें इस काम के लिए राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में काम करना और दो हजार साल पीछे जाकर नहीं, बल्कि भारत की राष्ट्रीय प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप आगे बढ़ते हुए......................

"तीसरे, जो काम हमारे सामने है, हमें अपने रास्ते में किसी विदेशी ताकत को अवरोध उत्पन्न नहीं करने देना होगा। अतः हमें जो आदर्श आपके सामने रखना है, वह है स्वराज न कि सिर्फ स्वतंत्रता, जो स्वराज का विलोम हो सकती है। जब हमसे पूछा जाता है कि हमारी स्वतंत्रता का राष्ट्रीय आदर्श क्या है तो इसका एक ही उत्तर संभव है, और वह है 'स्वराज'। मैं न तो 'गृह शासन' को और न ही 'खुद की सरकार' या स्वशासन को पसंद करता हूं। संभवतः यह शब्द स्वराज की परिधि में आते हैं। परंतु मेरी संस्कृति एक या दूसरे कारण से 'शासन' शब्द के खिलाफ है – चाहे 'गृह शासन' हो या 'विदेशी शासन'।

तब प्रश्न उठता है कि क्या यह आदर्श साम्राज्य के अंदर या उसके बाहर रहकर प्राप्त किया जा सकता है? कांग्रेस ने जो उत्तर हमेशा दिया है – "साम्राज्य के अंदर, यदि साम्राज्य हमारे अधिकार को मान्यता देता है; और साम्राज्य से बाहर, यदि वह मान्यता नहीं देता, हमें अपना जीवन जीने का अवसर मिलना चाहिए – आत्मनिरीक्षण, आत्मविकास और जीवन–संतुष्टि का। प्रश्न हमारे जीवन जीने का है। यदि ब्रिटिश साम्राज्य हमारे राष्ट्र–जीवन के उन्नयन और विकास के लिए पर्याप्त अवसर देता है, तो मैं ब्रिटिश साम्राज्य को चुनूंगा। यदि, इसके विपरीत, ब्रिटिश साम्राज्य जगन्नाथ के रथ की तरह अपनी साम्राज्यवादी रफ्तार से हमें कुचलता है, तो ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर स्वराज स्थापित करने के विचार का औचित्य है।

"वास्तव में, साम्राज्य का विचार हमें कई लाभों की जीवंत अनुभूति कराता है। उपनिवेश का दर्जा किसी भी तरह दासता नहीं है। यह वास्तव में सहयोग के सही अर्थ में भौतिक लाभ की भावना से उन लोगों की स्वैच्छिक मैत्री है, जो साम्राज्य के अंग हैं। स्वैच्छिक मैत्री में निश्चय ही अलग होने का अधिकार निहित है। युद्ध से पूर्व सामान्यतः यह माना जाता था कि साम्राज्य या उसका कोई अंग महान संघ के रूप में जीवित रह सकता है। यह महसूस किया जाता है कि आधुनिक परिस्थितियों में कोई राष्ट्र पृथक नहीं रह सकता, और डोमीनियन स्टेटस की स्थिति प्रत्येक इकाई को ब्रिटिश साम्राज्य के आत्मानुभव, आत्मोन्नति और आत्मसंपूर्ति का अधिकार भी देती है, इस तरह इसमें स्वराज के वह सभी तत्व निहित हैं, जिनका मैंने जिक्र किया है।

"मेरे लिए यह विचार आध्यात्मिक महत्व के कारण विशेष रूप से आकर्षक है। मैं विश्व–शांति के लिए विश्व के अंततः एक होने में विश्वास करता हूं, और मैं समझता हूं कि महान राष्ट्रमंडल, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य कहते हैं विभिन्न जातियों का एक संयुक्त संगठन है, जिनमें प्रत्येक की अपनी ही जीवन पद्धति, विशिष्ट सभ्यता और विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण है। उन राजनीतिज्ञों को, जो उसका दिशानिर्देशन और संचालन करते हैं, राष्ट्रमंडल की विकट समस्याओं के निवारण में महान योगदान का अवसर मिलेगा। उससे विश्व को एक महान राष्ट्रसंघ–सूत्र में गूंथा जा सकेगा, जो कि मानवजाति का एक संघ होगा। परंतु यह तभी संभव है, जब राष्ट्रमंडल का संचालन राज्यवेत्ता करें क्योंकि इस वैचारिक विकास के लिए निश्चित रूप से त्याग की

> आवश्यकता है और इसमें निस्संदेह शासन के प्रलोभी साम्राज्य के विचार को तिलांजलि दिया जाना निहित है। मैं समझता हूं कि यह भारत के हित में होगा। विश्व के हित में भी यही होगा कि भारत राष्ट्रमंडल के अंदर रहकर स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करे और मानवता की सेवा करे।"

श्री दास ने न सिर्फ इस बात पर ही बल दिया कि डोमीनियन स्टेटस स्वतंत्रता से बेहतर है, अपितु एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने सम्मेलन में भारत के राजनीतिक विकास–क्रम के उद्देश्य पर निम्नलिखित संकल्प पारित करवाया:

> "1. यह सम्मेलन घोषणा करता है कि स्वराज का राष्ट्रीय आदर्श है, भारत राष्ट्र का अपने ढंग से जीवन जीने का अधिकार, अपने लिए आत्मनिरीक्षण का अवसर और आत्मसंतुष्टि, और विभिन्न तत्वों को समेकित करने की स्वतंत्रता जिनसे अबाध और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के भारत राष्ट्र बनता है।
>
> "2. यदि ब्रिटिश साम्राज्य ऐसे अधिकारों को मान्यता देता है, और स्वराज–प्राप्ति में बाधा नहीं डालता है, और ऐसे सभी अवसर देता है, और ऐसे अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए अपेक्षित त्याग करता है, तो यह सम्मेलन भारत राष्ट्र से आग्रह करता है कि अपना स्वराज ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के तहत प्राप्त करे।"

यह उल्लेखनीय है कि पूरे अधिवेशन के दौरान श्री गांधी उपस्थित थे, परंतु उनकी ओर से कोई असहमति नहीं आई। इसके विपरीत, उन्होंने श्री चितरंजन दास की बात का अनुमोदन किया।

इस पृष्टिभूमि में, यह संदेह कौन कर सकता है कि हिंदू डोमीनियन स्टेटस के और मुसलमान स्वतंत्रता के पक्ष में हैं। फिर भी यदि कोई संदेह रहता है, तो 1928 की नेहरू कमेटी की रिपोर्ट से मुसलमानों में जो प्रतिक्रिया हुई, वह संदेह उससे निरस्त हो जाता है। संविधान निर्माण के लिए कांग्रेस द्वारा नियुक्त नेहरू–समिति ने भारत के संवैधानिक ढांचे के लिए डोमिनियन स्टेटस का दर्जा स्वीकार किया और स्वाधीनता को नामंजूर कर दिया। नेहरू–कमेटी की रिपोर्ट पर कांग्रेस और मुस्लिम राजनीतिक संगठनों का दृष्टिकोण पठनीय है।

कांग्रेस ने 1928 के अपने कलकत्ता अधिवेशन में श्री गांधी द्वारा प्रस्तावित निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया :

> "यह कांग्रेस सर्वदलीय कमेटी की रिपोर्ट द्वारा अनुसंशित संविधान पर विचार करके, भारत की राजनीतिक और सांप्रदायिक समस्याओं के

> निराकरण की दिशा में इसे एक महान योगदान मानकर इसका स्वागत करती है, और कमेटी की सर्वसम्मत सिफारिशों के लिए उसे बधाई देती है और मद्रास कांग्रेस के संपूर्ण स्वतंत्रता संबंधी संकल्प का अनुसरण करते हुए कमेटी द्वारा निर्मित संविधान का अनुमोदन करती है कि यह एक महान राजनीतिक पहल है, विशेषकर इसलिए कि यह कदम देश की महत्वपूर्ण पार्टियों के बीच सबसे बड़े समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।
>
> "राजनीतिक आवश्यकताओं का विचार करते हुए कांग्रेस इस संविधान को पूर्णरूपेण अंगीकार करती है, यदि ब्रिटेन की संसद इसे 31 दिसबर, 1929 या इससे पूर्व स्वीकार कर ले। परंतु यदि उक्त तिथि तक इसे स्वीकार नहीं किया गया और यदि इससे पूर्व नामंजूर किया गया, तो कांग्रेस अहिंसक असहयोग आंदोलन करेगी और देश से आग्रह करेगी कि किसी भी प्रकार के कर का भुगतान नहीं किया जाए या ऐसे कुछ तरीके अपनाएगी जिनका निर्णय बाद में किया जाए। इसके साथ, इस संकल्प का कोई भी अंश कांग्रेस के नाम पर चलाए जाने वाले संपूर्ण स्वतंत्रता के प्रचार में हस्तक्षेप नहीं होगा।"

इससे यह पता चलता है कि हिंदू मत स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं है, बल्कि डोमीनियन स्टेटस के पक्ष में है। कुछ लोग इस बात पर आपत्ति करेंगे। यह पूछा जा सकता है कि कांग्रेस के 1927 के प्रस्ताव का क्या हुआ? यह सच है कि कांग्रेस के 1927 के मद्रास अधिवेशन में पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित संकल्प पारित किया गया था :

> "यह कांग्रेस भारत के लोगों के लिए पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता का लक्ष्य घोषित करती है।"

परंतु दूसरी ओर यह सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं कि उक्त संकल्प ने कांग्रेस में हिंदुओं के सही मत को नहीं दर्शाया था, और न ही दर्शाता है।

यह संकल्प एक विस्मय की तरह प्रकट हुआ। 1927 में डॉक्टर अंसारी[1] के अध्यक्षीय भाषण में इस बात का कोई संकेत नहीं था। स्वागत कमेटी के सभापति

---

1. डॉक्टर अंसारी ने इस विषय पर अपने भाषण में कहा:– "संविधान का अंतिम प्रारूप जैसा भी हो, एक बात कुछ निश्चिंतता से कही जा सकती है कि संविधान संघीय ढांचे पर होगा, जिसमें भारतीय संयुक्त राज्य का प्रावधान होगा, जिसमें भारत के वर्तमान राज्य संघ की स्वायत्त इकाइयां होंगी और देश की सुरक्षा में, विदेश–नीति के नियंत्रण में और अन्य सामान्य हित की बातों में उनका यथेष्ट योगदान रहेगा।" इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर– 1927, भाग 2,पृ. 372

ने एक जरूरी कार्य के रूप में नहीं बल्कि एक सम्भावित कार्य के रूप में इस बात का हल्का–सा जिक्र किया था।[1]

इस संकल्प के बारे में कोई पूर्व विचार नहीं किया गया था। यह संकल्प एक चाल का परिणाम था और इसकी सफलता के तीन कारण थे।

प्रथम, उस समय कांग्रेस में एक ऐसा वर्ग था जो पंडित मोतीलाल नेहरू और श्री गांधी के, विशेषकर पंडित मेतीलाल नेहरू के, अधिक प्रभावशाली होने के विरूद्ध था। इस वर्ग का नेतृत्व श्री श्रीनिवास आयंगर करते थे, जो पंडित मोतीलाल नेहरू के राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी थे। वे ऐसी योजना की खोज में थे जो पं. मोतीलाल नेहरू और श्री गांधी की ताकत और प्रतिष्ठा को समाप्त कर सके। उन्हें मालूम था कि लोगों को अपनी तरफ करने का एक ही रास्ता है– जातिवाद रवैया अपनाना और यह दिखाना कि उनके प्रतिद्वंद्वी वास्तव में उदारवादी थे, और चूंकि कांग्रेसी उदारता या मध्यमार्ग को पाप समझते थे, उन्होंने सोचा कि उनकी यह योजना अवश्य सफल होगी। उन्होंने भारतीय लक्ष्य को समरभूमि बना दिया, और यह जानते हुए कि पं. मोतीलाल नेहरू और श्री गांधी डोमीनियन का दर्जा चाहते हैं, उन्होंने स्वतंत्रता का लक्ष्य रखा। दूसरी ओर, कांग्रेस में एक अन्य वर्ग था, जिसका नेतृत्व श्री विट्ठलभाई पटेल कर रहे थे। यह वर्ग आयरिश 'सिन फेन' पार्टी से संपर्क बनाए हुए था और भारत के हित–साधन में उसके द्वारा सहायता की बात कर रहा था। आयरलैंड की सिनफेन पार्टी कोई भी मदद करने को तब तक तैयार नहीं थी जब तक कि भारतीय पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य घोषित न कर दें। यह वर्ग आयरिश सहायता प्राप्त करने के लिए डोमीनियन स्टेटस के लक्ष्य के स्थान पर स्वतंत्रता को लक्ष्य घोषित करने हेतु व्यग्र था। इन दो कारकों में तीसरा कारक भी जुड़ गया और वह था भारत सचिव लार्ड बर्केन्हेड द्वारा साइमन आयोग के गठन के समय दिया गया वक्तव्य जिसमें उन्होंने कटाक्ष किया था कि भारतवासियों में अपना संविधान बनाने की क्षमता नहीं है। इस वक्तव्य को भारतीय राजनीतिज्ञों ने अपना घोर अपमान समझा। इन्हीं तीन कारकों का संयोग इस संकल्प के पारित किए जाने का कारण बना। वस्तुतः जो संकल्प पारित हुआ उसका उद्देश्य देश का राजनीतिक लक्ष्य परिभाषित करने

1. मुत्तुरंगा मुदलियार ने कहा :– "हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यदि संसद अपनी निंद्रालु मुद्रा में रहती है, तो हमें निश्चित रूप से प्रचार करना होगा। भारत को साम्राज्य से पृथक करने के लिए जब भी कभी भारतीय राष्ट्रवाद पर जोर देने का समय आएगा, तो भारत के लोगों की मुक्त राष्ट्रवाद की इच्छा मुखरित होगी, जो कि ब्रिटिश साम्राज्य की सांकेतिक संप्रभुता से भी नहीं दबाई जा सकेगी। ब्रिटिश राजनेताओं को यही शोभा देता है कि वे इस बात का पूरा ध्यान रखें। उन्हें हमें आक्रोश की दिशा में नहीं ले जाना चाहिए।" वही, पृ.–356

से कहीं अधिक लॉर्ड बर्केन्हेड को ईंट का जवाब पत्थर से देने के उद्देश्य[1] से था। और यदि श्री गांधी और पंडित मोतीलाल नेहरू इस पर मौन रहे तो इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीयों के विरूद्ध लॉर्ड बर्केन्हेड द्वारा प्रयुक्त असंयमपूर्ण भाषा ने जिस तूफान को खड़ा किया था वह इतना भयानक था कि उन्होंने झुक जाना ही श्रेयस्कर समझा बनिस्बत इसके कि इसे पूरी तरह से समाप्त करनें में जुट जाना जो कि अन्यथा वे अत्यन्त सरलता से कर लेते। परंतु यह प्रस्ताव कांग्रेस में हिन्दुओं की वास्तविक मनः स्थिति का द्योतक नहीं था। अन्यथा, यह स्पष्ट करना संभव नहीं है कि कैसे नेहरू समिति ने स्वंय तैयार की गई संवैधानिक संरचना के आधार के रूप में डोमिनियन स्टेटस की स्थिति को स्वीकार करके 1927 के मद्रास संकल्प का उल्लंघन किया। यह स्पष्ट करना संभव नहीं कि कैसे कांग्रेस ने 1928 में डोमीनियन स्टेटस की स्थिति को स्वीकार कर लिया यदि वास्तव[2] में इसने 1927 में स्वराज को स्वीकार कर लिया था, जैसा कि इस संकल्प में कहा गया है। संकल्प का यह खंड कि कांग्रेस डोमीनियन स्टेटस की स्थिति को तभी स्वीकार करेगी जब यह 31 दिसम्बर 1929 से पहले दिया जाए, अन्यथा इसकी मांग बदलकर स्वराज्य की हो जाएगी, वस्तुतः स्वयं को कलक से बचाने का ही उपाय था न कि उनकी सोच में वास्तविक परिवर्तन का द्योतक, क्योंकि देश की राजनीतिक नियति जैसे महत्वपूर्ण सवाल के विषय में समय और काल कभी भी सबसे महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

1927 के संकल्प के बावजूद भी कांग्रेस डोमिनियन स्टेटस की स्थिति में विश्वास करती रही तथा स्वराज्य में इसका विश्वास नहीं था। यह कांग्रेस के निर्विवाद नेता श्री गांधी द्वारा समय–समय पर की गई घोषणाओं से बिल्कुल स्पष्ट है। इस विषय पर 1929 से आगे श्री गांधी की घोषणाओं का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति यह महसूस किए बिना नही रह सकता कि श्री गांधी स्वराज्य संबंधी संकल्प से कभी भी प्रसन्न नहीं थे तथा वह सदैव यह जरूरी समझते रहे कि कांग्रेस को पुनः डोमीनियन स्टेटस की स्थिति की मांग की ओर वापस लाया जाए। उन्होंने शालीनता से व्याख्या करनी शुरू की। कांग्रेस के लक्ष्य को स्वतंत्रता से घटाकर स्वतंत्रता के सार तक कर दिया। स्वतंत्रता के सार से इन्होंने इसे समान भागीदारी में और समान भागीदारी से उसे वापस उस मूल स्थान पर लाकर

---

1. श्री सम्बामूर्ति ने संकल्प का समर्थन करते हुए कहा : "यह संकल्प लॉर्ड बर्केन्हेड द्वारा दी गई अहंकारपूर्ण चुनौती का एक मात्र जवाब है।"–द इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1927, खण्ड दों, पृ.238

2. पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संकल्प का प्रस्ताव करते हुए कहा था– "कांग्रेस यह घोषणा करती है कि आज से इसका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य है। तथापि कांग्रेस का द्वार उनके लिए भी खुला है जो इससे कम पर भी संतुष्ट हैं।"– वही पृ. 201

रोक दिया। यह घटनाचक्र तब पूरा हुआ, जब 1937 में श्री गांधी ने ब्रिटिश लोगों की जानकारी के लिए श्री पोलाक को निम्नलिखित पत्र दिया:–

> "आपका प्रश्न है कि क्या मेरा विचार जो 1931 में गोल मेज सम्मेलन के समय था अब भी वही है। तब मैंने कहा था, और मैं उसकी पुनरावृति करता हूं, कि जहां तक मेरा संबंध है, भारत को यदि वेस्ट मिनिस्टर के कानून के तहत डोमीनियन स्टेटस की भेंट दी जाती है, अर्थात् अपनी इच्छानुकूल अलग होने का अधिकार, तो मैं उसे बेझिझक स्वीकार करूंगा।"*

नेहरू रिपोर्ट पर मुस्लिम राजनीतिक संगठनों की घोषणाओं को देखें तो उनके द्वारा बताए गए नामंजूरी के कारण बहुत ही दिलचस्प हैं। ये कारण पूर्णतः अनपेक्षित हैं। निस्संदेह, मुस्लिम लीग जैसे कुछ मुस्लिम संगठनों ने इस रिपोर्ट को इसलिए नामंजूर किया कि इसमें चुनाव में आरक्षण समाप्त करने की सिफारिश की गई थी। परंतु खिलाफत कांफ्रेंस और जमाते–उल–उलेमा द्वारा रिपोर्ट की भर्त्सना का कारण यही नहीं था। ये दोनों मुस्लिम संगठन असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलन में कांग्रेस के साथ उसी अग्नि–परीक्षा से गुजरे थे और उनकी अभिव्यक्तियां मुस्लिम समुदाय के विचार को सही राजनीतिक अर्थों में व्यक्त करती थीं।

मौलाना मुहम्मद अली ने कलकत्ता में आयोजित अखिल भारतीय खिलाफत कांफ्रेंस 1928 में अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करने के कारण बताए। उन्होंने कहा:–

> "(मैं) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का, इसकी कार्यकारिणी समिति का, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का सदस्य था, और (मैं) खिलाफत कांफ्रेंस में समय की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं पर (अपने) विचार प्रस्तुत करने आया हूं, जिन पर सारे मुस्लिम समुदाय को गंभीरता से विचार करना चाहिए।
>
> × × ×
>
> "सर्वदलीय सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि भारत को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और इसमें कोई संप्रदायवाद नहीं है। फिर

---

* टाइम्स ऑफ इंडिया, 1-2-37। इस पृष्ठभूमि में 20 मार्च, 1937 को दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन में, जिसमें नए संविधान के तहत राज्य विधानसभाओं के चुने हुए सदस्य थे, स्वतंत्रता के हक में की गई घोषणा का कोई महत्व नहीं रह जाता। परंतु गांधी जी के भारत छोड़ो आंदोलन शुरू करने से यह कहा जा सकता है कि अब वह स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं।

भी उनका हर पल विरोध किया गया और भाषण के दौरान उन्हें लगातार टोका गया।

× × ×

"नेहरू रिपोर्ट ने अपनी प्रस्तावना के रूप में गुलामी के बंधन को स्वीकार कर लिया था............ स्वतंत्रता और डोमीनियन स्टेटस अत्यंत भिन्न बातें थीं...............

× × ×

मैं आपसे पूछता हूं, जब आप अपने राष्ट्रवाद पर अभिमान करते हैं और संप्रदायवाद की भर्त्सना करते हैं, (तो) मुझे दुनिया में अपने राष्ट्रवादी भारत के समान देश बताइए।

× × ×

"आप झूठे सिद्धांतों, अनैतिक धारणाओं और गलत विचारों से अपने संविधान में प्रतिदिन समझौता करते हैं, परंतु हमारे सांप्रदायिक लोगों, पृथक निर्वाचन मंडल और आरक्षित स्थान से कोई समझौता नही करते। हम जनसंख्या का 25 प्रतिशत हैं और फिर भी आप विधान सभा में हमें 33 प्रतिशत स्थान नहीं देते। आप यहूदी है, बनिया हैं, लेकिन अंग्रेज को आप अपने शासन में विशेष दर्जा देंगे।"*

कांफ्रेंस ने निम्नलिखित सारगर्भित संक्षिप्त प्रस्ताव पारित किया :

"यह कांफ्रेंस पुनः घोषणा करती है कि पूर्ण स्वतंत्रता ही हमारा लक्ष्य है।"

मौलाना हसरत मोहानी ने 1931 मे इलाहाबाद में हुए जमाते–उल–उलेमा के सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण मे नेहरू रिपोर्ट की नपे–तुले पर नरम शब्दो में भर्त्सना करने के वही कारण बताए। मौलाना ने कहा:

"भारत के संबंध में मेरा राजनीतिक मत सर्वविदित है। मैं पूर्ण स्वतंत्रता से कम कुछ भी नहीं चाहता और वह भी संयुक्त राज्य अमरीका या सोवियत संघ के अनुरूप, जो निश्चित रूप से (1) प्रजातांत्रिक, (2) संघीय और (3) अपकेंद्रीय हों, और जिसमें अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय के अधिकार सुरक्षित हों।

"कुछ समय तक दिल्ली की जमाते–उल–उलेमा पूर्ण स्वतंत्रता के

* इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1928, भाग 2, पृ. 402-403

विचार पर अडिग रही, और मुख्यतः इसी कारण उसने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार किया, जिसमें संघीय संविधान के बजाए एकात्मक संविधान का सुझाव दिया गया था। इसके अलावा, जब लाहौर अधिवेशन् के उपरांत कांग्रेस ने महात्मा गांधी के कहने पर नेहरू रिपोर्ट को रावी नदी के तट पर दफनाने की घोषणा की और संपूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया, दिल्ली की जमात–उल–उलेमा कांग्रेस के साथ और उसके सविनय अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम में सहयोग करने के लिए आगे आई, क्योंकि स्वाधीनता–संग्राम में भाग लेना प्रत्येक भारतीय, हिंदू या मुस्लिम, का कर्तव्य था।

"परंतु दुर्भाग्य से गांधी जी अपने वचन से मुकर गए, और (1) जब वे अभी जेल में ही थे, उन्होंने ब्रिटिश पत्रकार श्री स्लोकोम्बी को बताया कि पूर्ण स्वतंत्रता से उनका अभिप्राय केवल स्वतंत्रता के सार से था। (2) इसके अलावा, जब उन्हें उनके समझौते की मंशा पर रिहा किया गया तो उन्होंने 'पूर्ण स्वाधीनता' के स्थान पर, भ्रमित करने वाले शब्दों 'पूर्ण स्वराज' का प्रयोग किया और यह साफ घोषणा की कि ब्रिटेन से संबंध–विच्छद करने का कोई प्रश्न ही नहीं है, और (3) लार्ड इर्विन से गुप्त समझौता करके उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के तहत डोमीनियन स्टेटस का आदर्श स्पष्ट रूप से अंगीकार किया।

"गांधी जी द्वारा अपना मोर्चा बदलने पर दिल्ली की जमाते–उल–उलेमा को आंख मूंदकर महात्मा को सहयोग नहीं देना चाहिए था और नेहरू रिपोर्ट की ही तरह कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के उस सूत्र को नामंजूर कर देना चाहिए था, जिसके द्वारा नेहरू रिपोर्ट को बम्बई में पुनर्जीवित करने के प्रयास किए गए थे।

"परंतु हमें नही मालूम कि वे कौन से अघोषित कारण थे, जिनकी वजह से दिल्ली की जमाते–उल–उलेमा को 'पूर्ण स्वराज' के आदर्श को अपनाना पड़ा – यह जानते हुए भी कि इसका अभिप्राय पूर्ण स्वतंत्रता न हो कर उससे भी खराब हो सकता है। इस मत को अपनाने के लिए एक ही वजह बताई गई कि यद्यपि गांधी जी ने डोमीनियन स्टेटस का दर्जा स्वीकार कर लिया है, वे अब भी इस बात पर बल देते हैं कि ब्रिटेन द्वारा भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने का अधिकार दे दिया जाना चाहिए।

"यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस अधिकार पर जोर देना पूर्व घोषित

'पूर्ण स्वतंत्रता' से ज्यादा महत्व नहीं रखता, दूसरे शब्दों में, जिस तरह गांधी जी ने पूर्ण स्वतंत्रता पर केवल इसलिए जोर दिया कि ब्रिटिश सरकार डोमीनियन स्टेटस देने को तैयार हो जाएगी, जो कि महात्मा का एकमात्र चरम लक्ष्य था, उसी तरह कांग्रेस के नेताओं ने पृथकता के अधिकार पर जोर दिया, ताकि वे अंग्रेज से इस उद्देश्य से ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक अधिकार हासिल कर सकें जो कि ब्रिटिश लोगों को एक हद तक ही अप्रसन्न कर सकेंगे। अन्यथा, गांधी जी और उनके अनुयायी इस बात को भली-भांति जानते हैं कि यदि पृथकता का अधिकार भारतीयों को दे भी दिया गया, तो यह कभी अमल में नहीं लाया जाएगा।

"यदि कोई मेरी इस अवधारणा को संदेह पर आधारित मानता है और कहता है कि कांग्रेस जब कभी जरूरी समझेगी साम्राज्य से पृथक होने की घोषणा अवश्य करेगी, तो मैं उससे पूछूंगा कि अंग्रेजों के जाने के बाद भारत सरकार का स्वरूप क्या होगा। यह साफ है कि कोई भी तानाशाही स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता, और प्रजातांत्रिक स्वरूप चाहे वह एकात्मक हो या संघीय, हिंदू राज के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, जिसे मुसलमान किसी भी स्थिति में नहीं स्वीकारेंगे। अब केवल एक ही स्वरूप रहता है, अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण संबंध-विच्छेद, और संयुक्त राज्य अमरीका या सोवियत संघ के आधार पर भारत अपने स्वायत्त राज्यों को मिलाकर एक अपकेंद्रीय जनतांत्रिक सरकार बने। परंतु यह महासभाई कांग्रेस को या ब्रिटिश प्रेमी महात्मा गांधी को कभी स्वीकार्य नहीं होगा।

"इस तरह, पूर्ण स्वतंत्रता से अलग होकर दिल्ली की जमाते-उल-उलेमा ने अपने हाथ खींचकर परितोष कर लिया है, परंतु ईश्वर का शुक्र है कि कानपुर, लखनऊ, बदायूं, इत्यादि के उलेमा अब भी दृढ़प्रतिज्ञ है और ईश्वर ने चाहा तो आगे भी रहेंगे। कुछ कमजोर लोग इस महान आदर्श के विरोध में कहते हैं कि जब यह संभव ही नहीं है, तो फिर इस पर चर्चा करने का क्या लाभ। हम उनसे कहते हैं कि यह बिल्कुल भी अनुचित नहीं है, बल्कि नितांत आवश्यक है, क्योंकि यदि किसी महान आदर्श को अपना लक्ष्य बना कर न रखा जाये, तो यह विस्मृति के गर्त में चला जाएगा।

हमें डोमीनियन स्टेटस का हर स्थिति में विरोध करना है, क्योंकि यह रास्ते का कोई पड़ाव नहीं है और न ही हमारे लक्ष्य का हिस्सा

> है, बल्कि उसका प्रतिकारी या प्रतिद्वद्वी है। यदि गांधी जी इंग्लैड पहुंचते हैं और गोलमेज सम्मेलन सफल हो जाता है और भारत को सुरक्षा–उपायों सहित, या इनके बिना, किसी भी प्रकार के डोमीनियन स्टेटस का दर्जा मिल जाता है तो स्वतंत्रता की अवधारणा पूर्णतया विलीन हो जाएगी या आने वाले समय तक इस ओर ध्यान नहीं जाएगा।"[1]

ऑल इंडिया खिलाफत कांफ्रेंस तथा जमाते–उल–उमेला निश्चित रूप से उग्रवादी संगठन थे, और पक्के तौर पर ब्रिटिश विरोधी थे। परंतु ऑल इंडिया मुस्लिम कांफ्रेंस किसी भी प्रकार से उग्रवादी या ब्रिटिश विरोधी मुस्लिम संगठन नहीं था। लेकिन इसकी उत्तर प्रदेश शाखा ने 4 नवंबर, 1928 को अपने कानपुर अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया:

> "सर्वदलीय यू.पी. मुस्लिम कांफ्रेंस का यह मत है कि भारत के मुसलमान पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य के लि' प्रतिबद्ध हैं, जो कि अवश्य ही संघीय गणतंत्र का स्वरूप होगा।"

प्रस्तावक के मतानुसार, इस्लाम ने हमेशा स्वाधीनता की शिक्षा दी है, इसलिए भारत के मुसलमान यदि संपूर्ण स्वतंत्रता के विरूद्ध गए, तो वे अपने कर्तव्य से विमुख हो जाएंगें। वक्ता को विश्वास था कि भारत के मुसलमान गरीब हैं, फिर भी दुनिया के लोगों की तुलना में इस्लाम की निष्ठा में वे सबसे आगे हैं।

इस सम्मेलन में एक रोचक घटना[2] हुई, जब विषय–समिति में मौलाना आज़ाद सुभानी ने यह प्रस्ताव किया कि सम्मेलन को पूर्ण स्वराज के पक्ष में घोषणा करनी चाहिए।

खान बहादुर मसूदुल हसन और कुछ अन्य लोगों ने इस तरह की घोषणा का विरोध किया, जो उनके विचार में मुसलमानों के हितों के प्रतिकूल होगी। इस पर अनेक महिलाओं ने पर्दा–दीर्घा से एक लिखित वक्तव्य अध्यक्ष को भेजा जिसमें लिखा था कि यदि पुरूषों में पूर्ण स्वतंत्रता के लिए बोलने का साहस नहीं है तो महिलाएं पर्दे से बाहर आएंगी और स्वतंत्रता–संग्राम में हिस्सा लेंगी।

III

चरम लक्ष्य में इन सब मतभेदों के बावजूद, हिंदुओं और मुसलमानों को जबरदस्ती एक देश में रहने का प्रयास किया गया, जैसे कि वे एक ही हों, एक ही संविधान

1. इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1931, भाग 2, पृ. 238-239
2. इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1928, भाग 2, पृ. 425

के राजनीतिक बंधनों से बंधे हों। यह मान भी लिया जाए कि यह हो गया, और किसी तरह मुसलमानों को इस बात पर राजी कर लिया गया तो भी इस बात की क्या गारंटी है कि संविधान निष्प्रभावी नहीं होगा?

किसी संसदीय प्रणाली वाली सरकार के सफलतापूर्वक कार्य–निर्वहन के लिए कुछ निश्चित बातों का होना जरूरी होता है। इन बातों के होने पर ही संसदीय प्रणाली की जड़ें जम सकती है। ऐसी ही एक बात की ओर स्वर्गीय लॉर्ड बेलफोर ने, जबकि 1925 में वे अपनी भतीजी ब्लान्च डुगडिल से अरब के लोगों के राजनीतिक भविष्य के बारे में बात कर रहे थे, इंगित किया है। इस वार्ता के दौरान उन्होंने कहा:

> "आंशिक रूप से यह ब्रिटिश राष्ट्र की ही भूल है और अमरीका के लोगों की भूल है, और इस भूल के लिए हम किसी को भी क्षमा नही कर सकते – कि उन राष्ट्रों के दिमाग में प्रतिनिधि सरकार का विचार घुस गया है जिन्हें जरा भी यह नही मालूम है कि इसका आधार क्या है। इसको स्पष्ट करना कठिन है और ऐंग्लो–सेक्सन जातियां तो यह व्याख्या करने में बहुत कमजोर हैं। फिर भी हम तो इसे इतनी अच्छी तरह से जानते है कि इसकी व्याख्या करनो आवश्यक नही समझते। मुझे संदेह है कि तुम ब्रिटिश संविधान पर लिखी गई किसी पुस्तक में यह बात पाओ कि ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की सरकार का समग्र सार–तत्व इसे कामयाब बनाने की इच्छा में निहित है। हम यही समझ कर चलते हैं। हमने इस व्यवस्था को मजबूत करने में सैकड़ों वर्ष लगाए हैं, जो इसी बात पर निर्भर है। यह विश्वास हम लोगों में इतना गहरा उतर चुका है कि यह हमारी दृष्टि से ओझल हो चुका है, परंतु अन्य लोगों को यह बात इतनी स्पष्ट नहीं प्रतीत होती। ये लोग – भारतीय, मिस्री और अन्य – हमारे ज्ञान का अध्ययन करते हैं। वे हमारे इतिहास, हमारे दर्शन और हमारी राजनीति का अध्ययन करते है। वे हमारे संसदीय तरीकों का अध्ययन करते हैं। परंतु कोई उन्हें यह नहीं बताता कि इस बिंदु पर हमारे संसदीय दल कृत–संकल्प हो जाते हैं कि कार्य की गति किसी भी तरह अवरूद्ध नहीं होनी चाहिए; जैसा कि विलिंगटन के ड्यूक ने कहा, 'सम्राट की सरकार चलती रहनी चाहिए।' किंतु उन लोगों का विचार है कि विपक्ष का कार्य पहिए को रोकना है। यह सरल है, किंतु सोचनीय है।"*

जब उनसे पूछा गया कि इंग्लैंड में विरोधी पक्ष सरकारी व्यवस्था को रोकने की सीमा तक क्यों नहीं जाता, तो उन्होंने कहा:

* डुगडिल्स बेलफोर (हुचिंसन), खंड 2 पृ. 363-64

"हमारी सारी राजनीतिक व्यवस्था पहले से ही यह मानती है कि हमारे तमाम लोग मूलतः एक ही हैं।"

लास्की ने बेलफोर की इन टिप्पणियों पर सरकार के सफलतापूर्वक संचालन के लिए अपेक्षित तत्वों के संदर्भ में बहुत ही अच्छे और संक्षिप्त तरीके से टिप्पणी की है :

"संसदीय सरकार की शक्ति उसके मौलिक उद्देश्यों पर उसकी राजनीतिक पार्टियों की एकता से मापी जाती है।"*

प्रतिनिधि सरकार के सही संचालन के लिए आवश्यक तत्वों का उल्लेख करने के बाद यह परीक्षण किया जाना समीचीन होगा कि क्या ये बातें भारत में भी विद्यमान हैं।

हम यह कहां तक कह सकते हैं कि हिंदू और मुसलमान प्रतिनिधि सरकार को कार्य करने देने की इच्छा रखते हैं? प्रतिनिधि और उत्तरदायी सरकार को बेकार और अव्यावहारिक साबित करने के लिए यही काफी है कि दो पार्टियों में से एक सरकारी तंत्र को अवरूद्ध करने का मन बना ले और यदि इस तरह की मंशा स्पष्ट हो तो फिर यह जानने की भी जरूरत नहीं है कि हिंदुओं और मुसलमानों के दिमाग में क्या विचार है? हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक मुखर होते हैं; इसलिए उनके मन की बात आसानी से जानी जा सकती है, जबकि हिंदुओं के मन की बात जानना आसान नहीं है। मुसलमानों का दिमाग कैसे काम करेगा, और कौन सी बातें उनके दिमाग को प्रभावित करेंगी, यह इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों को लेकर व्यक्त किए गए उन विचारों से स्पष्ट हो जाएगा, जो मुस्लिम राजनीति पर प्रभावी हैं और भारत सरकार के प्रति मुस्लिम–प्रवृत्ति के बारे में कुछ प्रमुख मुस्लिमों ने सामने रखे हैं। इनमें से इस्लाम के कुछ धार्मिक सिद्धांत और मुस्लिम नेताओं के विचार नीचे उद्धृत हैं, ताकि समस्याओ पर निष्पक्ष रूप से विचार किया जा सके और यह निर्णय लिया जा सके कि बेलफोर द्वारा कही गई बातें भारत में अपना वजूद रखती हैं या नहीं?

इस्लाम के सिद्धांतों में एक सिद्धांत उल्लेखनीय है, जो कहता है कि उस देश में जो मुस्लिम शासन में नहीं है जब भी कभी मुसलमानों के कानून और उस देश के विद्यमान कानून के बीच विवाद उत्पन्न हो, तो इस्लामिक कानून को उस देश के कानून के ऊपर माना जाए। मुसलमानों के लिए मुस्लिम कानून का अनुपालन और उस देश के कानून की अवहेलना उचित माना जाएगा।

ऐसे में मुसलमानों का कर्तव्य क्या होना चाहिए, इस पर मौलाना मुहम्मद

* इंगलैंड में संसदीय सरकार, पृ. 37

अली ने 1921 में कराची के कमिटिंग मजिस्ट्रेट के सामने उन आरोपों का उत्तर दिया था, जिनके आधार पर सरकार ने उन पर मुकदमा चलाया था। इस मुकदमे का आधार ऑल इंडिया खिलाफत कान्फ्रेंस के 8 जुलाई, 1921 में कराची में हुए अधिवेशन में रखा गया एक प्रस्ताव था। अधिवेशन की अध्यक्षता मौलाना मुहम्मद अली ने ही की थी। प्रस्ताव इस प्रकार था :

> "यह बैठक स्पष्ट रूप से उद्घोषणा करती है कि वर्तमान परिस्थिति में यह किसी भी मुसलमान के लिए धार्मिक दृष्टि से गैर–कानूनी है कि वह ब्रिटिश सेना में बना रहे, या उसमें प्रवेश करे, या दूसरों को उनकी सेना में जाने के लिए प्रोत्साहित करे। यह सामान्यतः सभी मुसलमानों और विशेषकर उलेमाओं का कर्तव्य है कि वे यह सुनिश्चित करें कि इन धार्मिक आदेशों को उन सभी मुसलमानों के, जो सेना में है, ध्यान में लाया जाए।"

मौलाना मुहम्मद अली और छः अन्य लोगों[1] पर भारतीय दंड संहिता की धारा 131 के साथ पठित धारा 120–बी तथा धारा 114 के साथ पठित धारा 505 और धारा 117 के साथ पठित धारा 505 के तहत मुकदमा चलाया गया। मौलाना मुहम्मद अली ने अपने बचाव में कहा[2] कि वे अपराधी नहीं हैं :

> "बहरहाल इस महत्वपूर्ण अभियोग का अभिप्राय क्या है? भारत के हम मुसलमान या हिन्दू किसकी दोषसिद्धि द्वारा दिशानिर्देशित होने वाले हैं? एक मुसलमान के तौर पर बोलते हुए, यदि मैं धर्मसम्मत मार्ग से विचलित होता हूं तो मुझे मेरी गलती का अहसास सिर्फ कुरान शरीफ, या अंतिम पैगम्बर की प्राधिकृत परम्पराएँ – जिस पर अमन तथा प्रभु का आशीर्वाद – या मान्यताप्राप्त पहले के या वर्तमान मुस्लिम धर्मोपदेशकों के धार्मिक मत, जिनकी बुनियाद इस्लामी प्राधिकार के इन दो मूल स्रोतों पर है, कराएंगे। सरकार ये मुझसे मांग करते है कि किस बात के लिए यह जो कि शैतान कहलाना नहीं चाहती है, आज मुझे दंडित कर रही है।
>
> "यदि जिसकी मैं उपेक्षा करता हूं, वह मेरी उपेक्षा से घोर पाप बन जाए, और यह तब भी अपराध है जब मैं इसकी उपेक्षा नहीं करता हूं, तो मैं इस देश में स्वंय को कैसे सुरक्षित समझ कर सकता हूँ?"
>
> "मुझे या तो पापी होना चाहिए या अपराधी..........इस्लाम में सिर्फ

1. विचित्र बात यह है कि उनमें से एक शारदा पीठ के शंकराचार्य थे।
2. 'दि ट्रॉयल ऑफ अली ब्रदर्स,' लेखक आर.वी. थंडानी, पृ. 69-71

एक ही प्रभुसत्ता को माना गया है जो कि सर्वोच्च है और सर्वजनीय है, अविभाज्य है तथा अत्याज्य है....................

× × ×

"एक मुसलमान, चाहे वह असैनिक हो या सैनिक, चाहे वह मुस्लिम शासित हो या गैर–मुस्लिम शासन में रह रहा हो, अपनी निष्ठा अल्लाह में कबूल करने के लिए कुरान के आदेशों को मानता है, उसकी एक मात्र निष्ठा उसके पैगम्बर और पैगम्बर के उत्तराधिकारियों.........के प्रति होती है। एकता का यह सिद्धान्त गूढ़ चिन्तकों का कोई गणितीय फार्मूला नहीं है अपितु, यह शिक्षित या अनपढ़ प्रत्येक मुसलमान की आम आस्था है।................इससे पहले भी और दूसरे स्थानों पर भी मुसलमान गैर – मुस्लिम प्रशासन में शांतिपूर्ण प्रजा के रूप में हैं। किंतु एक कठोर नियम है और सदैव रहा है कि एक मुसलमान के रूप में वे अपने धर्मनिरपेक्ष शासकों के सिर्फ उन्हीं कानूनों तथा आदेशों का पालन करेंगे जिनमें कि अल्लाह के सर्वोच्च नियमों को माना गया हो। इन बिल्कुल स्पष्ट तथा पूर्णतः परिभाषित आज्ञापालन की सीमाओं को सिर्फ गैर–मुस्लिम शासन के प्राधिकार के बाबत ही नहीं निर्दिष्ट किया गया है, अपितु इसके विपरीत वे सार्वभौमिक रूप से प्रयोज्य हैं तथा किसी भी परिस्थिति में इनमें कमी–बेशी नहीं की जा सकती है।"

इससे स्थायी सरकार की कामना करने वाला कोई भी व्यक्ति अत्यधिक भारी आशंका में पड़ जायेगा। किंतु मुस्लिम उसूलों के लिए इसका कोई महत्व नहीं है क्योंकि मुसलमान के लिए कोई देश कब मातृभूमि है तथा कब नहीं है यह बात ये उसूल निर्धारित करते हैं।

मुस्लिम धर्म के सिद्धांतों के अनुसार, विश्व दो हिस्सों में विभाजित है – दार–उल–इस्लाम तथा दार–उल–हर्ब। मुस्लिम शासित देश दार–उल–इस्लाम हैं। वह देश जिसमें मुसलमान सिर्फ रहते है न कि उस पर शासन करते है, दार–उल–हर्ब है। मुस्लिम धार्मिक कानून का ऐसा होने के कारण भारत हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों की मातृभूमि नहीं हो सकती है। यह मुसलमानों की धरती हो सकती है – किंतु यह हिन्दुओं और मुसलमानों की धरती जिसमें दोनों समानता से रहें नहीं हो सकती। फिर, जब इस पर मुसलमानों का शासन होगा तो यह मुसलमानों की धरती हो सकती है। इस समय यह देश गैर–मुस्लिम सत्ता के प्राधिकार के अंतर्गत है, इसलिए मुसलमानों की धरती नहीं हो सकती। यह देश दार–उल–इस्लाम होने की बजाय दार–उल–हर्ब बन जाता है।

हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह दृष्टिकोण केवल शास्त्रीय है। यह

सिद्धांत मुसलमानों को प्रभावित करने में बहुत कारगर कारण हो सकता है। इसका मुसलमानों के व्यवहार पर तब बहुत भारी असर पड़ा, जब अंग्रेजों ने भारत पर अपना अधिकार जमाया। अंग्रेजों के भारत को हथियाने पर हिंदुओं ने कोई बेचैनी नहीं दिखाई। जहां तक मुसलमानों का सवाल था, उन्होंने पूछा कि क्या भारत अब उनके रहने योग्य रह गया है? मुस्लिम समुदाय में इस बारे में एक बहस प्रारंभ हुई और, डॉ. टाइटस के अनुसार, आधी शताब्दी तक चली कि क्या भारत दार–उल–हर्ब है या दार–उल–इस्लाम। कुछ ज्यादा धार्मिकों ने सैयद अहमद के नेतृत्व में, वास्तव में जिहाद का ऐलान किया, मुस्लिम शासित भू भाग पर जाने की (हिजरत) आवश्यकता का उपदेश दिया और (उन्होंने) अपना आंदोलन सारे भारत में चलाया।

अलीगढ़ आंदोलन के सूत्रधार सर सैय्यद अहमद ने भारतीय मुसलमानों को समझाया कि भारत को महज इसलिए कि यह मुस्लिम शासन के बजाय अंग्रेजों के शासन के अधीन है, दार–उल–हर्ब न मानें। उन्होंने मुसलमानों से अनुरोध किया कि वे इसे दार–उल–इस्लाम मानें, क्योंकि वे अपने जरूरी रीति–रिवाजों और उत्सवों को अपने धर्मानुसार मनाने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र हैं। हिजरत के लिए जो आंदोलन चला था, वह फिलहाल विलुप्त हो गया, परंतु भारत दार–उल–हर्ब है, इस सिद्धांत का परित्याग नहीं हुआ। 1920–21 में मुस्लिम देशभक्तों ने फिर से इसका उपदेश देना शुरू कर दिया, जबकि देश में खिलाफत आंदोलन चल रहा था। यह आंदोलन मुस्लिम जनता में निष्प्रभावी नहीं रहा, इसलिए न सिर्फ अनेक मुसलमानों ने मुस्लिम धार्मिक कानून के अनुसार कदम उठाने की उत्कंठा दिखाई, वरन वे अपने घर छोड़ कर अफगानिस्तान चले गए।

यह उल्लेखनीय है कि जो मुसलमान अपने आप को दार–उल–हर्ब में पाते हैं, उनके बचाव के लिए हिजरत ही उपाय नहीं है। मुस्लिम धार्मिक कानून की दूसरी आज्ञा जिहाद (धर्मयुद्ध) है, जिसके तहत हर मुसलमान शासक का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस्लाम के शासन का तब तक विस्तार करता रहे, जब तक सारी दुनिया मुसलमानों के नियंत्रण में नहीं आ जाती। संसार के दो खेमों में बंटने की वजह से सारे देश या तो दार–उल–इस्लाम (इस्लाम का घर) या दार–उल–हर्ब (युद्ध का घर) की श्रेणी में आते हैं। तकनीकी तौर पर हर मुस्लिम शासक का, जो इसके लिए सक्षम है, कर्तव्य है कि वह दार–उल–हर्ब को दार–उल–इस्लाम में बदल दे; और भारत में जिस तरह मुसलमानों के हिज़रत का मार्ग अपनाने के उदाहरण हैं, वहां ऐसे भी उदाहरण हैं कि उन्होंने जिहाद की घोषणा करने में संकोच नहीं किया। जिज्ञासु व्यक्ति 1857 के विद्रोह के इतिहास की जांच कर सकता है, और यदि वह ऐसा करता है तो उसे मालूम होगा कि आंशिक तौर पर चाहे कुछ भी हो, यह मुसलमानों द्वारा अंग्रेजों के

खिलाफ जिहाद की घोषणा ही थी; और वह बग़ावत, जहां तक मुसलमानों का संबंध था, विद्रोह की पुनरावृत्ति थी जो सैयद अहमद ने मुसलमानों में दशकों तक यह कहकर पैदा कर दी थी कि अंग्रेज के कब्जा करने से भारत दार–उल–हर्ब बन गया था। भारत को दार–उल–हर्ब से दार–उल–इस्लाम में बदलने की वह बग़ावत मुसलमानों की एक कोशिश थी। एक और अधिक निकटवर्ती उदाहरण है 1919 में अफगानिस्तान का भारत पर आक्रमण। यह उन भारतीय मुसलमानों द्वारा सुनियोजित था, जिन्होंने ब्रिटिश सरकार के प्रति खिलाफतियों की विरोध की भावना से प्रेरित होकर भारत को स्वतंत्र करने के लिए अफगानिस्तान की सहायता मांगी थी।* उस आक्रमण से भारत को स्वतंत्रता मिलती या दासता, यह कहना असंभव है, क्योंकि आक्रमण नहीं हो सका। इसके अलावा, तथ्य यह है कि भारत, चाहे एकमात्र मुस्लिम शासन के अधीन न हो, दार–उल–हर्ब है, और इस्लामी सिद्धांतों के अनुसार मुसलमानों द्वारा जिहाद की घोषणा करना न्यायसंगत है।

वे जिहाद की घोषणा ही नहीं कर सकते, बल्कि उसकी सफलता के लिए विदेशी मुस्लिम शक्ति की मदद भी ले सकते हैं, और यदि विदेशी मुस्लिम शक्ति जिहाद की घोषणा करना चाहती है तो उसकी सफलता के लिए सहायता दे सकते हैं। श्री मुहम्मद अली ने सेशन कोर्ट में जूरी के समक्ष बयान में इस बात का स्पष्टीकरण दिया था। श्री अली ने कहा :

> "लेकिन चूंकि सरकार को हमारे धार्मिक विश्वासों के हमारे उन क्रियाकलापों पर पड़ने वाले प्रभाव की, जिन्हें हम सुविधा की दृष्टि से सांसारिक कहते हैं, बिल्कुल जानकारी नहीं है, इसलिए एक बात साफ करनी आवश्यक है, और वह यह है कि इस्लाम में आस्था रखनेवालों को इस्लाम यह अनुमति नहीं देता कि वे दूसरे व्यक्ति के खिलाफ बिना किसी पुख्ता सबूत के निर्णय दें, और हम वास्तव में अपने मुस्लिम भाई के विरूद्ध नही लड़ सकते, जब तक यह निश्चित न हो जाए कि वह अकारण आक्रमण और अपनी आस्था की सुरक्षा के लिए न लड़ने का दोषी हो। (यह 1919 के युद्ध के परिप्रेक्ष्य में था जो ब्रिटेन और अफगानिस्तान के मध्य चल रहा था) अब हमारी स्थिति यह है कि अमीर की दुर्भावना या पागलपन के सबूत के अभाव में हम कदापि नहीं चाहते कि भारत के सैनिक, मुसलमान सहित, अपनी सहायता और प्रोत्साहन से अफगानिस्तान पर आक्रमण करके पहले उस पर कब्जा करें और फिर झंझट और व्याकुलता के शिकार हो जाएं।

* इस रोचक, लेकिन भयंकर, घटना की विस्तार से जांच की गई है, जिसमें श्री गांधी ने श्री कारंदीकर द्वारा प्रकाशित पत्र में लेख लिखकर भूमिका निभाई।

"किंतु यदि इसके विपरीत हिज मैजेस्टी अमीर का भारत और उसकी जनता के साथ कोई झगड़ा नहीं है और यदि, जैसा कि भारत सचिव ने खुले तौर पर कहा, उनका प्रयोजन पूरे मुस्लिम विश्व में व्याप्त उस उथल-पुथल से है जिसके प्रति उनकी खुली सहानुभूति थी, अर्थात् यदि वह उसी धार्मिक प्रयोजन से प्रेरित हुए हैं जिसने मुसलमानों को निर्बल के विकल्प हिजरत पर विचार करने के लिए मजबूर कर दिया, तो हिज मैजेस्टी अमीर तुलनात्मक रूप से सबल के विकल्प 'जिहाद', जिसे उन्होंने अपने साधनों के अनुरूप पाया, पर विचार करने के लिए मजबूर हो गए। यदि उन्होंने उनकी चुनौती को, जो बल तथा और अधिक बल में विश्वास करते हैं, स्वीकार किया है और उनका इरादा उन लोगों से निबटारा कर लेना है जो चाहते हैं कि मुसलमान खिलाफत और जेहादियों के विरोध में युद्ध करें जिन्होंने जाज़ीरत-उल-अरब तथा धार्मिक स्थलों पर कब्जा कर लिया है, जिनका उद्देश्य इस्लाम को कमजोर बनाना है, इसके विरूद्ध भेदभाव करना है, और हमें इसके प्रचार-प्रसार के लिए पूरी स्वतंत्रता देने से मना करना है, तब इस्लाम का स्पष्ट कानून यह कहता है कि सबसे पहले किसी भी मुसलमान को किसी भी स्थिति में उनके विरूद्ध सहायता नहीं प्रदान करनी चाहिए, और इसके बाद यदि जिहाद मुझ तक पहुंच जाता है तो मेरे क्षेत्र के प्रत्येक मुसलमान को मुजाहिदीन का साथ देना चाहिए तथा प्रत्येक को यथाशक्ति उनकी सहायता करनी चाहिए।

"यह इस्लाम का बिल्कुल स्पष्ट तथा निर्विवाद कानून है और हम लोगों ने हमारे मामलों की जांच कर रही समिति के सम्मुख एक प्रश्न के उत्तर में सीमान्तों पर किसी भी समस्या की संभावना में काफी पहले और जब स्वर्गीय अमीर जीवित थे तभी मुसलमानों के विरूद्ध जिहाद छेड़े जाने की स्थिति में गैर-मुस्लिम शासक की मुस्लिम प्रजा के धार्मिक उत्तरदायित्व के बारे में बता दिया है।

एक तीसरा धार्मिक सिद्धान्त जो कि इस मामले में प्रासंगिक है, उस पर भी ध्यान देने की जरूरत है। इस्लाम क्षेत्रीय मेलमिलाप को स्वीकार नहीं करता है। इसकी बंधुता सामाजिक और धार्मिक है। यहाँ पुनः मौलाना मोहम्मद अली सर्वोत्तम साक्षी हैं। मोहम्मद अली को जब कराँची में सत्र न्यायालय में हाजिर किया गया तो उन्होंने जूरी को सम्बोधित करते हुए कहा:

"एक बात को स्पष्ट करना होगा कि चूँकि हमने पाया है कि यह सिद्धान्त जिसे अब हम प्रचारित करेंगे सामान्यतः गैर मुस्लिम और खास कर सरकारी दायरों में अज्ञात है, यद्यपि इसकी जानकारी होनी चाहिए

थी कि एक मुसलमान की आस्था में सिर्फ इतना ही नहीं है कि वह सिद्धान्तों में विश्वास करे और उस आस्था पर स्वंय खरा उतरे, अपितु उसे अपनी पूरी शक्ति से, निस्संदेह बिना विवश किए हुए, इस लक्ष्य की ओर प्रयास करना चाहिए कि दूसरे भी विहित आस्था तथा प्रथाओं को मानने लगें। पवित्र कुरान में इसे *अमरिबिलमारुफ* और *नाही अनिलमुनकार* कहा गया है; और पवित्र पैगम्बर की परम्पराओं के कतिपय दूसरे अध्याय इस्लाम के इस अतिमहत्वपूर्ण सिद्धांत से संबंधित है। एक मुसलमान यह नहीं कह सकता कि मैं अपने भाई का रखवाला नहीं हूँ' क्योंकि एक तरह से वह उसका रखवाला है, और उसकी अपनी मुक्ति तब तक सुनिश्चित नहीं की जा सकती जब तक कि वह दूसरों को अच्छाई करने के लिए प्रोत्साहित तथा बुराई करने से हतोत्साहित नही करता है। इसलिए यदि कोई मुसलमान इस्लाम के मुजाहिद के विरूद्ध युद्ध छेड़ने को बाध्य किया जाता है तो उसे न सिर्फ स्वंय इस पर ऐतराज करना चाहिए, अपितु यदि वह अपनी मुक्ति को महत्व देता है तो, उसे अन्य भाइयों को भी इस उद्देश्य के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए प्रेरित करना चाहिए और ऐसा हुए बिना मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती। यह हमारी आस्था और प्रत्येक मुसलमान की आस्था है तथा हम अत्यन्त ही विनम्रतापूर्वक इसे सकारा करना चाहते हैं, और यदि हमें इस सिद्धांत का प्रचार करने की स्वतंत्रता नहीं दी गई तो हमें यह समझना चाहिए कि जिस धरती पर यह आजादी नहीं है वह इस्लाम के लिए सुरक्षित नहीं है।"

यह अखिल–इस्लामवाद का आधार है। यही है जो भारत में प्रत्येक मुसलमान को यह कहने के लिए कि वह मुसलमान पहले है तथा उसके बाद भारतीय है, प्रेरित करता है। इसी भावना के कारण भारतीय मुसलमानों ने भारत की प्रगति में बहुत छोटी भूमिका निभाई तथा मुस्लिम देशों के लिए अपनी शक्ति व्यर्थ[1] कर दी क्योंकि एक मुसलमान की सोच में मुस्लिम देशों का स्थान पहला है तथा भारत का स्थान दूसरा है।

महामहिम आगा खाँ यह कर इसका औचित्य सिद्ध करते हैं[2] :–

"यह एक सही और वैध अखिल–इस्लामवाद है और प्रत्येक सच्चा तथा आस्थावान मुसलमान इसका अंग है – यह पैगम्बर की संतान के आध्यात्मिक भाईचारे तथा एकता का सिद्धांत है। यह फारसी–अरबी

1. 1912 जब प्रथम बाल्कन युद्ध शुरू हुआ था और 1922 में जब तुर्की ने यूरोप के साथ शांति समझौता किया था उसके बीच भारतीय मुसलमान भारत की राजनीति की थोड़ा भी परवाह नहीं करते थे। वे पूरी तरह तुर्की तथा अरब के भविष्य के बारे में सोच रहे थे।
2. इंडिया इन ट्रांजिशन पृ. 157

संस्कृति और सभ्यता के उस महान परिवार का, जिसे हमने पहले अध्याय में इस्लाम कहा है, गहरा और चिरस्थायी तत्व है। यह चीन से लेकर मोरक्को तक तथा वोल्गा से लेकर सिंगापुर तक सर्वत्र सह–आस्थावानों के प्रति धर्मार्थ और सदेच्छा का पर्याय है। इसका अभिप्राय इस्लाम के साहित्य, उसकी अतिसुंदर कलाकृतियों, उसके भव्य स्थापत्य, उसके मोहक काव्यों में शाश्वत अभिरूचि है। इसका अभिप्राय सच्चा सुधार – धर्म की प्राचीन और शुद्ध सरलता की ओर वापसी, आग्रह और तर्क से इसका प्रचार–प्रसार, व्यक्तिगत जीवन मे आध्यात्मिक शक्ति का अभिव्यक्तिकरण, मानवता के लिए लाभकारी कार्य – भी है। सहज और बहुमूल्य आध्यात्मिक आंदोलन न सिर्फ गुरू और उसकी शिक्षाओ को अपितु सभी क्षेत्रों के उसकी संतान को तुर्की या अफगानी, भारतीय या मिस्री के प्रति स्नेह का पात्र बनाता है। काशगर या सेराजेवो के मुस्लिम क्षेत्रों में अकाल या विध्वंसकारी आग शीघ्र ही दिल्ली या मिस्र के मुसलमानों की सहानुभूति तथा भौतिक सहायता अर्जित कर लेते हैं। इस्लाम के वास्तविक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता को सदैव बढ़ते जाना चाहिए क्योकि पैगम्बर के अनुयायी के लिए यह जीवन और आत्मा की बुनियाद है।"

यदि आध्यात्मिक अखिल–इस्लामवाद राजनीतिक अखिल–इस्लामवाद के रूप में उभरे तो इसे असहज नहीं कहा जा सकता। शायद यही अनुभूति आगा खान के मस्तिष्क में थी, जब उन्होने कहा :

"भारतीय देशभक्त को यह समझ लेना चाहिए कि फारस, अफगानिस्तान और संभवतः अरब, देर–सबेर किसी महाद्विपीय शक्ति की परिधि में आजाएंगे – जैसे कि जर्मनी की, या जो शक्ति रूस के छिन्न–भिन्न होने से उत्पन्न हो उसकी अन्यथा उन्हें अपनी नियति भारतीय साम्राज्य के साथ रखनी चाहिए, जिससे उनका इतना अभिन्न संबंध है। विश्व की वे शक्तियां, जो छोटे राज्यों को शक्तिशाली पडोसियों के नजदीक आने को बाध्य कर देती हैं– यद्यपि ऐसा अभी यूरोप में ही नजर आया है – अपरिहार्य रूप से एशिया में अपनी शक्ति का अहसास कराएंगी। जब तक भारत स्वयं पर नजर रखनेवाले शक्तिशाली पड़ोसी और संभावित विरोधी राज्य की संभावना को नहीं स्वीकारता और भारी सैनिक बोझ उठाने के लिए तैयार नहीं होता, तब तक अपने उन पड़ोसी मुसलमान राज्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता जिनसे उसके सद्भावनापूर्ण रिश्ते हैं।

संक्षेप में, परोपकारी और प्रगतिशील संघ को संघीय भारत की नींव

पर ही आधारित करना होगा, उसकी अपनी ऐतिहासिक विशेषताएं और स्वाभाविक हित होंगे, तथा अधिक शक्तिशाली ताकतों के बाह्य खतरों और आर्थिक शोषण से उसकी रक्षा सांझा सुरक्षा प्रणाली एवं आचारों–विचारों की एकता द्वारा होगी। ऐसा संघात्मक भारत सीलोन (श्रीलंका) को अपनी प्राकृतिक मां के सीने से लगाएगा, और तदुपरांत वही घटनाक्रम घटेगा, जिसका वर्णन पहले किया गया है। न्याय, स्वतंत्रता, जाति और प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य का आदर करते हुए हम व्यापक और गहरी नींव पर एक महान दक्षिण एशियाई संघ का निर्माण करेंगे।

"फारस और अफगानिसतान की सहायता के लिए एक निष्कपट नीति निरंतर विकासमान आधुनिक युग की मांग है। भारत के लिए उत्तर–पश्चिम में दो प्राकृतिक प्राचीरें खड़ी हो जाएंगी, जिसे न तो जर्मन न स्लाव, और न ही तुर्क और मंगोल कभी ध्वस्त करने की सोच सकेंगे। वे स्वतः ही उस शक्ति की तरफ खिंचे चले आएंगे, जो उन्हें अपेक्षित स्वस्थ, संघीय भारत का ढांचा देगी, जिसमें राज्यों को वास्तविक स्वायत्तता हो, जिसमें प्रत्येक रजवाड़ा आंतरिक स्वतंत्रता से आश्वस्त हो, और बरार सहित हैदराबाद राज्य निजाम की अधीनता में उदार और पुनर्जीवित हो। वे भारत में स्वतंत्रता, व्यवस्था, स्वायत्तता परंतु साम्राज्यीय एकता पाएंगे, और अपने आप महासंघ के लाभों को जानेंगे, और उस महान साम्राज्य की असीम शक्ति से स्वायत्त और सद्भावनापूर्ण संबंध सुनिश्चित करेंगे, जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता। ब्रिटिश शासन की स्थिति मेसोमोटामिया और अरब में, चाहे इसका कोई भी स्वरूप हो, मेरे द्वारा समर्थित नीति से निश्चित रूप से मजबूत होगी।"[1]

दक्षिण एशियाई महासंघ अपेक्षाकृत मुस्लिम देशों जैसे अरब, मेसोपोटामिया और अफगानिस्तान के ज्यादा हित में था, बजाए भारत के।[2] इससे यह पता चलता

1. इंडिया इन ट्रांजिशन, पृ. 169
2. यदि यह दक्षिण एशियाई महासंघ बन गया होता तो कितनी भयंकर बात होती? हिंदू भयावह अल्पसंख्यक स्थिति में पहुंच जाते। इंडियन एनुअल रजिस्टर का कथन है – भारतीय मुस्लिम समुदाय के ब्रिटिश साम्राज्यवाद समर्थक एक एंगोला मुस्लिम गठबंधन के माध्यम से ब्रिटेन के शासन को दक्षिण एशिया में अरब से मलाया द्वीप समूह तक स्थिर बनाने में सक्रिय रहे हैं (यह सोचकर कि) इसमें मुसलमान भले ही कनिष्ठ भागीदार हों, लेकिन समय आने पर वरिष्ठ भागीदार बन जाएंगे। इस तरह की भावना और पूर्वाभास में हमें उस स्कीम के संकेत मिलते हैं, जो आगा खां की युद्ध काल में प्रकाशित पुस्तक 'इंडिया इन ट्रांजिसन' में उल्लिखित है। इस स्कीम के तहत यह योजना बनाई गई थी कि दक्षिण–पश्चिम एशियाई महासंघ की स्थापना की जाए भारत जिसमें एक संघटक इकाई हो। युद्ध के बाद जब श्री विंसटन चर्चिल ब्रिटिश कैबिनेट में उपनिवेशों के राज्य सचिव थे, तो उन्हें मध्यपूर्व विभाग के अभिलेखागार में मध्य–पूर्वी साम्राज्य के लिए एक बनी बनाई स्कीम मिली – मध्य–पूर्व साम्राज्य–1938, इंडिया इन होम पोलिसी, भाग 2, पृ. 48.

है कि भारत के मुसलमानों के विचार भारतीय मुसलमानों को छोड़कर किस प्रकार मुस्लिम देशों के हितों से जुड़े होते हैं।

सरकार तो सत्ता के प्रति आज्ञापरायणता पर आधारित होती है। परंतु वे, जो हिंदुओं और मुसलमानों का स्वशासन स्थापित करने के लिए व्यग्र हैं, शायद यह जांच करना नहीं छोड़ेंगे कि आज्ञापरायणता किस बात पर निर्भर करती है और यह सामान्य तथा आपात्काल में कैसे प्राप्त की जा सकती है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। चूंकि, यदि आज्ञापरायणता असफल रहती है, स्वायत्तशासन का अभिप्राय है मिलकर काम करना, न कि (किसी के) तहत काम करना। आदर्श परिप्रेक्ष्य में ऐसा हो सकता है। परंतु व्यावहारिक व सामान्य जगत में यदि प्रतिनिधि सरकार में प्रतिनिधित्व आनुपातिक नहीं है, तो अल्पसंख्यक को बहुसंख्यक के अधीन काम करना होगा, और वह बहुसंख्यक के अधीन काम करता है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि बहुसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित सरकार की प्रभुत्वपूर्ण आज्ञा का पालन कहां तक होता है।

यह कारक स्वायत्तशासन की सफलता के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि जब बेलफोर ने इसकी सफलता को मूलतः पार्टियों की एकता पर निर्भर बताया, तो कहा जा सकता है कि वह सत्य का कुछ अंश ही कह रहे थे। वे इस बात का उल्लेख करने में असफल रहे कि सरकारी आज्ञा का पालन करने की इच्छा किसी भी स्वायत्तशासन योजना की सफलता के लिए समान रूप से आवश्यक है।

संसदीय सरकार के सफलतापूर्वक संचालन के लिए आवश्यक इस दूसरी शर्त की चर्चा जेम्स ब्राइस ने की है।* राजनीतिक साहचर्य के आधार का विवेचन करते हुए ब्राइस बताते हैं कि राज्यों के निर्माण में चाहे बल का योगदान हो, फिर भी वह अनेक तत्वों में से एक है और सबसे महत्वपूर्ण नहीं है। राजनीतिक समुदायों की रचना करने में उन्हें आपस में ढालने, विस्तार करने और एकसूत्र में बांधने के लिए जो चीज ज्यादा महत्वपूर्ण है, वह है आज्ञापरायणता। किसी सरकार की वैधता का स्वेच्छा से आज्ञापालन और अनुपालन नागरिकों और समूहों के मनोवैज्ञानिक स्वभाव पर निर्भर करता है। ब्राइस के अनुसार, जो प्रवृत्तियां आज्ञाकारिता उत्पन्न करती हैं, वे हैं– आलस्य, विनय, सहानुभूति, भय और विवेक। इनमें सभी समान महत्व की नहीं हैं। वास्तव में ये अपने महत्व के अनुसार सापेक्ष हैं, जिससे आज्ञापालन की अभिरूचि उत्पन्न होती है, जैसा कि ब्राइस ने निरूपित किया है। कुल मिलाकर आज्ञाकारिता में भय और विवेक का प्रतिशत आलस्य से कम, और विनय तथा सहानुभूति से और भी कम है। इस विचार के अनुसार विनय और सहानुभूति में दो महत्वपूर्ण तत्व हैं जो लोगों की अपनी सरकार की सत्ता का अनुपालन करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं।

---

* स्टडीज़ इन हिस्टरी एंड जुरिसप्रुडेंस, भाग 2, निबंध–1

सरकारी सत्ता की आज्ञा का पालन करने की इच्छा सरकार की स्थिरता के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी राज्य के मौलिक तत्वों पर राजनीतिक पार्टियों की एकता। राज्य को कायम रखने में आज्ञापालन के महत्व पर आपत्ति करना किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए असंभव है। सविनय अवज्ञा में विश्वास का तात्पर्य है अराजकता में विश्वास करना।

हिंदुओं से नियंत्रित एवं शासित सरकार की सत्ता को मुसलमान किस सीमा तक स्वीकार करेंगे, इस प्रश्न के उत्तर के लिए ज्यादा छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है। मुसलमानों के लिए हिंदू 'काफिर'[1] हैं, और एक काफिर सम्मान के योग्य नहीं है। वह निम्न कुल में जन्मा होता है, और उसकी कोई सामाजिक स्थिति नही होती। इसलिए जिस देश में काफिरों का शासन हो, वह मुसलमानों के लिए दार–उल–हर्ब है। ऐसी स्थिति में यह साबित करने के लिए और सबूत देने की आवश्यकता नहीं है कि मुसलमान हिंदू सरकार के शासन को स्वीकार नहीं करेंगे। सम्मान और सहानुभूति जैसी बुनियादी भावनाएं, जो किसी सरकार की सत्ता के अनुपालन के लिए मनुष्य को पहले से ही प्रेरित करती हैं, वे तो विद्यमान ही नहीं हैं। किंतु यदि साक्ष्य चाहिए तो उनकी कोई कमी नहीं है। यह इतनी बहुलता में हैं कि यही तय करना समस्या हो जाती है कि किसे रखा जाए और किसे छोड़ दिया जाए?

खिलाफत आंदोलन के दौरान **जब मुसलमान की** मदद के लिए हिंदू काफी कुछ कर रहे थे, तब भी मुसलमान **यह नहीं भूले थे** कि उनकी तुलना में हिंदू निम्न और घटिया कौम है। **एक मुसलमान ने खिला**फत के समाचार पत्र 'इंसाफ' में लिखा[2] :

> "स्वामी' और **'महात्मा' का अर्थ क्या** है? क्या मुसलमान अपने भाषणों या लेखों में **गैर–मुस्लिम के लिए** इन शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं? उसका **कहना है कि 'स्वामी'** का मतलब है, 'मास्टर' और 'महात्मा' का तात्पर्य **है, 'वह व्यक्ति जि**से सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त है', अर्थात् **वह रूह–ए–आज़**म के समान है और सर्वोच्च आत्मा है।"

उन्होंने उलेमाओं से कहा कि वे एक निर्णायक फतवा जारी करें कि क्या उनके लिए गैर–मुसलमानों को ऐसी सम्मानजनक और आदरसूचक पदवियों से संबोधित करना न्यायसंगत है।

---

1. हिंदुओं को काफिर कहे जाने पर उन्हें बुरा मानने या आहत महसूस करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे भी मुसलमानों को म्लेच्छ कहते हैं, जिसक अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो संपर्क करने के योग्य नहीं है।

2. देखें, थ्रू इंडियन आइज, टाइम्स ऑफ इंडिया, दिनांक. 11-3-1924

1924 में गांधी जी के जेल से छूटने पर हकीम अजमल खां द्वारा संचालित यूनानी चिकित्सा पद्धति के तिब्बिया कालेज में जब उनके सम्मान में समारोह हो रहा था तो उस समय एक उल्लेखनीय घटना हुई। रिपोर्ट† के अनुसार एक हिंदू विद्यार्थी ने गांधी जी की हज़रत ईसा (जीसस) से तुलना कर दी। इस अपवित्र तुलना से मुसलमानों की भावनाएं भड़क उठीं और मुसलमान विद्यार्थियों ने उस हिंदू छात्र को मारने पीटने की धमकी दी। यह भी कहा गया कि इसमें मुस्लिम प्राध्यापकों ने भी अपने सहधर्मियों का साथ दिया।

1923 में श्री मुहम्मद अली ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता की। अपने भाषण में उन्होंने श्री गांधी के बारे में कहा :

> "बहुत से लोगों ने महात्मा के उपदेशों और हाल में भोगी गयी उनकी यातनाओं की जीसस (जिन्हें शांति मिलें) से तुलना की.....। जीसस ने जब अपनी सेवा के प्रारंभ में अपनी दुनिया का ध्यान किया तो सुधार करने वाले साधनों के चयन का भी उनसे आवाह्न किया गया. .... करुणा और त्याग से सर्वशक्तिमान होने की धारणा और हृदय की शुद्धता से शक्ति पर विजयी होना उतना ही प्राचीन है, जितना कि अबेल और केन का समय, जिन्हें कि मानव–सृष्टि का प्रथम वंशज कहा जा सकता है.....।
>
> "जो भी हो, यह महात्मा गांधी के लिए भी उतना ही विचित्र था। परंतु ईसाई सरकार ने हमारे युग के ईसा जैसे एक सामान्य इंसान को अपराधी माना (शर्म, शर्म) और उस व्यक्ति को शांति भंग करने के लिए दंडित किया जो जनता के कार्य में तल्लीन है और बिलकुल शांतिदूत समान है। महात्मा के आगमन से पहले भारत की राजनीतिक स्थिति वैसी ही थी जैसी ईसा मसीह के आने से पूर्व जूडिया की थी और उन्होंने भारत के स्वस्थ होने के लिए वही निदान बताया जो ईसा मसीह ने जूडिया के लिए बताया था। वेदना द्वारा आत्मशुद्धि, सरकार का उत्तरदायित्व संभालने के लिए नैतिक तैयारी, स्वराज–प्राप्ति के लिए एक बुनियादी शर्त आत्मानुशासन। यह ही महात्मा का पथ और विश्वास था; और इसमें से उन लोगों ने, जिन्हें उस कीर्तिमान वर्षा में जीने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिसका दिग्दर्शन कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन के रूप में परिलक्षित हुआ, यह देखा है कि इतने विशाल जन–समूह के विचारों, भावनाओं और कार्यों में कितना उल्लेखनीय और द्रुत परिवर्तन हुआ है।"

---

† वही, 21-3-1924

एक वर्ष बाद अलीगढ़ और अजमेर में बोलते हुए मुहम्मद अली ने कहा :

> "श्री गांधी का चरित्र कितना भी पवित्र क्यों न हो, धार्मिक दृष्टिकोण से वह मुझे किसी भी मुसलमान से, चाहे वह मुसलमान चरित्रहीन ही हो, निकृष्ट ही लगेंगे।"

इस वक्तव्य से हलचल और उत्तेजना फैल गई। अनेक लोगों को तो विश्वास ही नहीं हुआ कि श्री मुहम्मद अली, श्री गांधी के प्रति, जो उन्हें इतना आदर देते हैं, ऐसी कठोर और घृणास्पद भावना रखेंगे। जब श्री मुहम्मद अली लखनऊ के अमीनाबाद पार्क की सभा में बोल रहे थे, तब उनसे पूछा गया कि क्या उनके द्वारा दिया गया उक्त कथन सत्य है, तो उन्होंने बिना किसी झिझक या पश्चाताप के कहा :

> "हां, अपने धर्म और मत के अनुसार, मैं एक व्याभिचारी और गिरे हुए मुसलमान को भी श्री गांधी से श्रेष्ठ मानता हूं।"[1]

उस समय श्री मुहम्मद अली को अपना वह बयान वापस लेने का सुझाव दिया गया[2], जिसमें उन्होंने श्री गांधी को जो एक काफिर थे, ईसा के समान आदरणीय बताया था और जिसने मुस्लिम समुदाय को चोट पहुंचाई थी क्योंकि मुस्लिम धर्मानुसार एक काफिर की ऐसी प्रशंसा वर्जित थी।

हिंदू–मुस्लिम संबंधों के बारे में 1928 में जारी एक घोषणापत्र[3] में ख्वाजा हसन निजामी ने घोषणा की :

> "मुसलमान हिंदुओं से भिन्न हैं। वे हिंदुओं से घुलमिल नहीं सकते, क्योंकि रक्तरंजित युद्धों के बाद मुसलमानों ने भारत पर फतह हासिल की थी और अंग्रेजों ने भारत उन्हीं (मुसलमानों) से लिया था। मुसलमान एक कौम है और वही भारत के अकेले बादशाह हैं। वे कभी भी अपना व्यक्तित्व और पहचान नहीं छोड़ेंगे। उन्होंने हिंदुओं पर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया और इसीलिए उनका इस देश पर अक्षुण्ण अधिकार है। हिंदू संसार मे एक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। उन्हें आपसी लड़ाइयों से ही फुरसत नहीं है। वे गांधी में विश्वास करते हैं और गाय की पूजा करते हैं। वे दूसरे आदमियों के यहां पानी पीकर अपवित्र हो जाते हैं। हिंदू स्वायत्तशासन की न तो इच्छा–शक्ति ही रखते और न ही उनके पास इसके लिए समय ही है। उन्हें आपसी लड़ाइयां

---

1 वही, 21-3-1924

2. वही, 26-4-1924

3. वही, 14-3-1928

> ही लड़ने दें। दूसरे लोगों पर शासन करने की उनकी क्षमता ही क्या है? मुसलमानों ने शासन किया है और मुसलमान ही शासन करेंगे।"

हिंदुओं का शासन मानने के बजाय मुसलमान फिर से हिंदुओं के साथ प्रतिस्पर्धा करते प्रतीत होते हैं। सन् 1926 में एक विवाद उठा कि 1761 में हुए पानीपत के तीसरे युद्ध में वास्तव में किसकी विजय हुई थी? मुसलमानों का तर्क था कि वह अहमदशाह अब्दाली की महान विजय थी, क्योंकि उसके पास केवल एक लाख सिपाही थे, जब कि मराठों की सेना में 4 से 6 लाख तक सिपाही थे। हिंदुओं का जवाब था कि यह उनकी ही विजय थी, क्योंकि इसके बाद लगातार होने वाले मुस्लिम आक्रमण रुक गए। परंतु मुसलमान हिंदुओं से हार मानने को तैयार नहीं थे, क्योंकि वे अपने आपको हिंदुओं से श्रेष्ठ मानते थे और कहते थे कि वे हमेशा हिंदुओं से श्रेष्ठ साबित होंगे। यह सिद्ध करने के लिए कि मुसलमान हमेशा ही हिंदुओं से श्रेष्ठ होते हैं, नजीबाबाद के एक मौलाना अकबर शाह खान ने बड़ी गंभीरता से कहा कि हिंदुओं और मुसलमानों का चौथा युद्ध विशेष शर्तों के तहत उसी भाग्य–निर्णायक पानीपत के मैदान में होना चाहिए। तदनुसार मौलाना ने पं. मदन मोहन मालवीय को निम्न शब्दों में चुनौती दी :

> "मालवीय जी, यदि आप पानीपत के युद्ध के नतीजे को गलत साबित करने का प्रयत्न कर रहे हैं तो मैं इस तथ्य के परीक्षण का एक आसान और शानदार तरीका बताता हूं। आप अपने सर्वविदित प्रभाव से बरतानिया सरकार से कहें कि वह पानीपत का चौथा युद्ध होने दे, ताकि यह हुकूमत के बिना लड़ा जा सके। मैं हिंदुओं और मुसलमानों के पराक्रम और साहस का तुलनात्मक तथ्य प्रस्तुत करने को तैयार हूं। जैसे भारत में 7 करोड़ मुसलमान हैं और मैं निर्धारित तिथि को पानीपत के मैदान में 700 मुसलमानों को लेकर आऊंगा, इसी प्रकार चूंकि भारत में 22 करोड़ हिंदू हैं, इसलिए मैं मैदान में 2200 हिंदुओं को लेकर आने की आपको छूट देता हूं। यह उचित होगा कि तोप, मशीनगनों और बमों का प्रयोग न करके केवल तलवारों, बरछों, भालों धनुषबाणों और कटारों का ही प्रयोग किया जाए और यदि आप सेनानायक के पद में किसी हिंदू को शामिल करना चाहें तो सदाशिवराव या विश्वासराव* के किसी वंशज को ले सकते हैं, ताकि वे 1761 ई. में अपने पूर्वजों की हार का बदला लेने का मौका पा सकें। लेकिन आप कृपया दर्शक बन कर जरूर आइए, क्योंकि युद्ध

* हिंदुओं की तरफ से ये दोनों पानीपत के तीसरे युद्ध में सेनानायक थे।

का नतीजा देखने के बाद आपको अपना विचार बदलना पड़ सकता है, और मैं समझता हूं कि इस देश में जो अंतर्द्वंद्व एवं कलह चल रहा है, वह खत्म हो जाएगा। अंत में, मैं एक बात और कहना चाहूंगा कि इन 700 मुसलमानों में मैं पठानों या अफगानों को नहीं लाऊंगा, क्योंकि आप लोग उनसे प्रायः आतंकित रहते हैं। अतः मैं अपने साथ केवल अच्छे भारतीय मुसलमान परिवारों के मुसलमानों को ही लेकर आऊंगा, जो शरीयत के कट्टर अनुयायी हैं।"*

IV

तो, हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक विश्वास, सामाजिक दृष्टिकोण, मूल नियति और उनकी सांप्रदायिक और राजनीतिक अभिव्यक्तियां ऐसी हैं। ये धार्मिक एंव सामाजिक विश्वास उनके अपने भविष्य के बारे में उनकी इस मनोदशा को इंगित करते हैं कि क्या वे आपस में लड़ते रहेंगे ः। प्रेम अथवा सहयोगपूर्ण ढंग से रह सकेंगे? अतीत का अनुभव बताता है कि इन ं सामंजस्य नहीं हो सकता। इनमें इतनी असमानताएं एवं भेदभाव हैं कि ये एक राष्ट्र के रूप में अथवा एक राष्ट्र के दो समुदायों के रूप में प्रेम एवं सद्भावना के माहौल में कभी नहीं रह सकते। इन आपसी भिन्नताओं एवं मतभेदों के कारण अलग–अलग रहने पर भी कोई फर्क नहीं पड़ता, बल्कि ये कारण इनको युद्ध की स्थिति में ही रखते हैं। ये मतभेद स्थाई हैं और हिंदू–मुसलमानों की समस्या चिरस्थाई है। इन समस्याओं का यह सोचकर निदान करने की कोशिश करना कि हिंदू और मुसलमान 'एक हैं, और यदि अभी एंक नहीं भी हैं तो बाद में एक हो जाएंगे, एक निष्फल प्रयास है, ऐसा निष्फल प्रयास जैसा कि चेकोस्लोवाकिया के मामले में सिद्ध हुआ है। इसलिए अब समय आ गया है जब कुछ तथ्यों को हमे निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा, चाहे उनको मानना हमारे लिए कष्टकर ही क्यों न हों।

सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिंदुओं और मुसलमानों को एक करने के लिए यथासंभव सभी प्रयास कर लिए गए हैं, पर वे सभी निष्फल हुए हैं।

इन प्रयासों का इतिहास 1909 से शुरू हुआ माना जा सकता है। मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल की मांगें यदि अंग्रेजों ने स्वीकार कर ली होतीं, तो हिंदुओं ने भी उनके लिए अपनी सहमति दे दी होती और इनमें प्रमुख थे श्री गोखले। अनेक हिंदुओं ने उनकी आलोचना की कि उन्होंने पृथक निर्वाचन के सिद्धांत को अपनी

---

* थ्रू इंडियन आइज, टाइम्स ऑफ इंडियन, 20-6-36

सहमति दी। उनके आलोचक यह भूल जाते हैं कि इसकी सहमति न देना भी बुद्धिमत्ता नहीं थी, जैसा कि श्री मुहम्मद अली ने ठीक ही कहा है :

> "यह भले ही विरोधाभास लगे, पर पृथक निर्वाचन की व्यवस्था हिंदू–मुस्लिम एकता की शुरूआत में तेजी ला रही थी। पहली बार सही अर्थों में भारतवासियों को मतदान का अधिकार दिया जा रहा था, चाहे वह कितना भी सीमित हो, और यदि हिंदू और मुसलमान उतने ही विभाजित रहे आते, जितना कि अंग्रेजों के शासन के शुरू में थे और अक्सर एक–दूसरे के प्रतिद्वंद्वी भी रहे, तो मिश्रित निर्वाचन सांप्रदायिक संघर्ष के लिए अच्छा–खासा अखाड़ा बन जाता, और इससे दोनों समुदायों के बीच की खाई और चौड़ी हो जाती। परंतु चुनाव में प्रत्याशी अपने सम्प्रदाय के मतदाताओं से यह अपील करता कि वह प्रतिद्वंद्वी प्रत्याशी के संप्रदाय के प्रति दुर्भावना रखता है, यद्यपि वह इस भावना को परोक्षतः पेश करता कि वह अपने संप्रदाय के हित में ही सब कर रहा है। यह तो बुरा होता ही, परंतु दो असमान समुदायों द्वारा किए गए मतदान के फलस्वरूप उक्त निर्वाचन का नतीजा और भी अधिक बुरा होता, क्योंकि जो समुदाय चुनाव में सफल नहीं होगा, वह दूसरे समुदाय के सफल प्रत्याशी के प्रति और भी दुर्भावना रखेगा। दोनों समुदाय जिस तरह से विभाजित हैं, उसको देखते हुए चुनाव में किसी भी राजनीतिक सिद्धांत के विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। पृथक निर्वाचन से सांप्रदायिक लड़ाइयों को रोकने में सहायता मिली, हालांकि मैं इस बात से अनभिज्ञ नहीं हूं कि जब सांप्रदायिक ईर्ष्या चरम सीमा पर हो तो वे ही व्यक्ति चुनकर आएंगे जो दूसरे संप्रदाय के प्रति द्वेष के लिए जाने जाते हैं।"

परंतु 1909 में हिंदुओं द्वारा निर्वाचन के पक्ष में दी गई रियायतों के फलस्वरूप हिंदू–मुसलमान एकता बन नहीं पाई। इसके बाद 1916 में लखनऊ पैक्ट आया, जिसके तहत हिंदुओं ने मुसलमानों को हर तरह संतुष्ट किया। फिर भी इससे दोनों के बीच कोई सुलह नहीं हो सकी। छह साल बाद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता लाने के लिए एक और प्रयास किया गया। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने मार्च 1923 में हुए वार्षिक सम्मेलन में एक संकल्प* पारित किया, जिसमें एक राष्ट्रीय समझौता करने का अनुरोध किया गया, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि विभिन्न भारतीय समुदायों और धार्मिक अनुयायियों के बीच सांप्रदायिक एकता और सौहार्द कायम हो, और एक कमेटी का भी गठन किया गया, ताकि वह अन्य संगठनों द्वारा नियुक्त समितियों से परामर्श करे।

---

* पूरे संकल्प के लिए कृपया इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1923 भाग–1, पृ. 395-96 देखें।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की अध्यक्षता में सितंबर 1923 में दिल्ली में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक विशेष सत्र में एक संकल्प पारित किया गया, जिसमें मुस्लिम लीग की भावनाओं का समर्थन किया गया। कांग्रेस ने (1) संविधान में संशोधन करने, और (2) राष्ट्रीय पैक्ट का मसौदा तैयार करने हेतु दो समितियां गठित करने का प्रस्ताव किया। राष्ट्रीय समझौते संबंधी समिति की रिपोर्ट[1] पर डॉक्टर अंसारी एवं लाला लाजपत राय ने हस्ताक्षर किए और इसे कांग्रेस के 1923 के कोकीनाडा अधिवेशन में विचारार्थ पेश किया गया। भारतीय राष्ट्रीय समझौते के साथ ही बंगाल पैक्ट[2] किया गया। ये दोनों समझौते कांग्रेस की विषय–समितियों में चर्चा[3] के लिए रखे गए। बंगाल समझौता 458 के मुकाबले 678 मतों से अस्वीकृत कर दिया गया। राष्ट्रीय समझौते के बारे में कांग्रेस ने संकल्प किया कि समझौते के प्रारूप पर विचार कर समिति 31 मार्च, 1924 तक अपनी रिपोर्ट अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने पेश करे। परंतु समिति ने रिपोर्ट पर आगे विचार नहीं किया। कारण यह था कि हिंदुओं में बंगाल–समझौते के खिलाफ इतना रोष था कि लाला लाजपत राय[4] के मतानुसार, समिति का आगे काम करना उचित नहीं समझा गया। इसके अलावा श्री गांधी को तभी जेल से रिहा किया गया था और आशा की गई कि वे इस मामले को आगे बढ़ाएंगे। अतः डॉ. अंसारी ने एकत्रित सामग्री अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को सौंप दी।

श्री गांधी जैसे ही जेल से बाहर आए, उन्होंने यह मामला अपने हाथों में ले लिया। नवंबर 1924 में बंबई में अनौपचारिक चर्चा हुई। इन चर्चाओं के फलस्वरूप, एक सर्वदलीय कांफ्रेंस का गठन किया गया और एकता स्थापित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की गई। यह कांफ्रेंस वास्तव में सर्वदलीय कांफ्रेंस थी, क्योंकि इसमें कांग्रेस, हिंदू महासभा, जस्टिस पार्टी, लिबरल फेडरेशन, इंडियन क्रिश्चियन, मुस्लिम लीग इत्यादि दलों के प्रतिनिधि थे। 23 जनवरी, 1925 को सर्वदलीय कांफ्रेंस द्वारा गठित समिति[5] की बैठक वेस्टर्न होटल, दिल्ली में हुई। बैठक की अध्यंक्षता श्री गांधी ने की। 24 जनवरी को समिति ने 40 सदस्यों की एक प्रतिनिधि उप–समिति का गठन किया, जिसका

---

1. बंगाल पैक्ट की रूपरेखा के लिए देखें वही, पृ. 127
2. रिपोर्ट और समझौते के प्रारूप के लिए देखें, वही, 1923, भाग–2, पृ. 104-105
3. इन दोनों समझौतों पर वाद–विवाद के लिए देखें, वही, पृ. 121-127
4. सर्वदलीय सम्मेलन पर देखें 1925 में उनका वक्तव्य, इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, भाग–1, पृ. 70 पर।
5. समिति के कार्यवाही विवरण के लिए देखें इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1925, भाग–1, पृ. 66-67.

कार्य था (क) ऐसी सिफारिशें करना जिनसे सभी दल कांग्रेस में सम्मिलित हो सकें। (ख) एक ऐसी योजना बनाना जिससे स्वराज के तहत सभी समुदायों, जातियों और उप–जातियों का संविधान सभाओं तथा अन्य निर्वाचित संस्थाओं में प्रतिनिधित्व हो तथा ऐसी सिफारिशों करना, जिससे सेवाओं में कार्यक्षमता को प्रभावित किए बिना सभी समुदायों का सही और उचित प्रतिनिधित्व हो, और (ग) स्वराज की एक ऐसी योजना तैयार करना जो देश की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। समिति को निर्देश दिया गया कि वह 15 फरवरी या उससे पूर्व अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। कार्य के शीघ्र निष्पादन के लिए कुछ सदस्यों ने स्वराज की योजना बनाने के लिए एक उप–समिति बनाई, और सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की योजना बनाने का काम मुख्य समिति के लिए छोड़ दिया गया।

श्रीमती बेसेंट की अध्यक्षता में स्वराज उप–समिति, संविधान पर रिपोर्ट तैयार करने में सफल हुई और इसने अपनी रिपोर्ट सर्वदलीय कांफ्रेंस (ऑल पार्टी कांफ्रेंस) की सामान्य समिति को प्रस्तुत की। परंतु सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की योजना बनाने के लिए गठित समिति की बैठक मार्च में दिल्ली में आयोजित हुई, और बिना किसी निष्कर्ष पर पहुंचे अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गई। यह इसलिए हुआ कि लाला लाजपत राय और हिंदुओं के अन्य प्रतिनिधियों ने उप–समिति में भाग नहीं लिया। श्री गांधी और पं. मोतीलाल नेहरू ने निम्नलिखित वक्तव्य जारी किया :

> "लाला लाजपत राय ने बैठक स्थगित करने के लिए कहा था, क्योंकि उस समय सर्वश्री जयकर, श्रीनिवास आयंगर और जयराम दास बैठक में भाग लेने में असमर्थ थे। हम अपनी ही जिम्मेदारी पर बैठक को किसी और दिन के लिए स्थगित करने में असमर्थ थे। अतः हमने लाला लाजपत राय को सूचित किया कि बैठक स्थगित करने के सवाल को समिति के सामने रखा जाए। फलस्वरूप ऐसा ही किया गया, परंतु किसी निर्णय पर पहुंचने के लिए लाला लाजपत राय की अनुपस्थिति तथा उनके द्वारा नामित व्यक्तियों के अलावा उपस्थिति बहुत कम थी। हमारे मत में निकट भविष्य में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने की कोई आशा नहीं है।*

निःसंदेह यह वक्तव्य संबंधित पक्षों की मनःस्थिति को भली प्रकार दर्शाता है। समिति में हिंदुओं के प्रवक्ता स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'लीडर' में एक लेख में कहा था कि नया समझौता करने की कोई

---

* समिति की कार्यवाही के विवरण के लिए देखें – इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1925, भाग–1, पृ. 66-77

जल्दी नहीं है और यह मानने से इंकार कर दियां कि हिंदुओं के बहुमत वाले कुछ सूबे और मुसलमानों के बहुमत वाले अन्य कुछ सूबे हिंदू–मुस्लिम एकता का एक तरीका है।

हिंदू–मुस्लिम एकता का प्रश्न 1927 में फिर उठाया गया। यह प्रयास साइमन कमीशन जांच के कुछ पहले इस आशा के साथ किया गया था कि जिस तरह 1916 में मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड जांच से पहले इस तरह का प्रयास करके लखनऊ समझौते को सफल बनाया गया था, उसी तरह यह प्रयास भी फलीभूत हो जाएगा। आरंभ में कुछ जाने–माने मुस्लिम नेताओं की बैठक 20 मार्च, 1927 को दिल्ली में आयोजित की गई, जिसमें मुस्लिम हितों की सुरक्षा के लिए कुछ प्रस्तावों[1] पर विचार किया गया। इस बैठक में पारित इन प्रस्तावों पर, जिन्हें दिल्ली–प्रस्ताव के नाम से जाना गया, कांग्रेस ने दिसंबर 1927 में अपने मद्रास–अधिवेशन में विचार किया। इसी समय कांग्रेस ने एक संकल्प[2] पारित करके अपनी कार्यकारिणी समिति को इसी तरह के अन्य संगठनों द्वारा गठित समितियों से विचार–विमर्श करने का अधिकार दिया, ताकि भारत के लिए स्वराज्य का संविधान प्रारूप तैयार किया जा सके। लिबरल फेडरेशन और मुस्लिम लीग ने इसी तरह के संकल्प पारित करके अपने प्रतिनिधियों को इस तरह की वार्ता में शामिल होने के लिए नियुक्त किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अन्य संगठनों को भी अपने प्रतिनिधि प्रवक्ता भेजने को कहा। 12 फरवरी, 1928 को उक्त संविधान[3] सम्मेलन की एक उप–समिति गठित की गई। समिति ने संविधान के मसौदे सहित एक रिपोर्ट तैयार की, जिसे नेहरू रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है। यह रिपोर्ट कांग्रेस अधिवेशन के पूर्व 22 दिसंबर, 1928 को कलकत्ता में डॉ. अंसारी की अध्यक्षता में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन के सामने विचारार्थ रखी गई। 1 जनवरी, 1929 को यह बैठक फिर अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गई।

यह वास्तव में आश्चर्यजनक है, क्योंकि मुसलमानों के प्रस्तावों में और नेहरू–कमेटी की रिपोर्ट में कोई विशेष विरोधाभास नहीं थे। यह बात श्री जिन्ना के भाषण से, जो उन्होंने सर्वदलीय बैठक में नेहरू समिति की रिपोर्ट में चार संशोधनों की मांग करते हुए दिया था, स्पष्ट होती है। मुसलमानों के लिए केंद्रीय विधान मंडल में $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत प्रतिनिधित्व की मांग के संबंध में अपने प्रथम

---

1. इन प्रस्तावों का विवरण इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर 1927, भाग–1 पु. 33 में उपलब्ध है। यही प्रस्ताव बाद में श्री जिन्ना के 14 सूत्री कार्यक्रम का आधार बना।
2. इन प्रस्तावों पर कांग्रेस के संकल्प के लिए देखें इंडियन क्वार्टरली 1927, खंड–2, पृ. 397-98
3. सर्वदलीय सम्मेलन के जन्म, पृष्ठभूमि, गठन तथा विषय के लिए देखें, वही, 1928, खंड–1, पृ. 1 से 142

संशोधन पर बोलते हुए श्री जिन्ना ने कहा :

"नेहरू–रिपोर्ट में कहा गया है कि उनकी स्कीम के मुताबिक, मुसलमानों को केंद्रीय विधानमंडल में एक तिहाई या उससे अधिक प्रतिनिधित्व मिलेगा, और यह भी दलील दी जा रही है कि उन्हें पंजाब और बंगाल में उनकी जनसंख्या के अनुपात से और भी ज्यादा प्रतिनिधित्व मिलेगा। जो हम सोचते हैं, वह यह है। यदि मुसलमानों को एक–तिहाई बहुमत मिलता है तो जो तरीका आप अपना रहे हैं, वह उन सूबों के लिए न्यायसगत नहीं है, जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, क्योंकि (ऐसी स्थिति में) केंद्रीय विधान मंडल में पंजाब और बंगाल से उनका प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात से ज्यादा होगा। आप अमीरों को ज्यादा दे रहे हैं और गरीबों को सिर्फ उनकी जनसंख्या के अनुपात में। यह ठोस तर्क हो सकता है, परंतु बुद्धिमत्ता नहीं..........

"अतः जैसा कि नेहरू रिपोर्ट में सुझाव दिया गया है, यदि मुसलमानों को एक–तिहाई या उससे ज्यादा प्रतिनिधित्व मिलता है तो पंजाब और बंगाल को ज्यादा प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता। इसलिए 6 या 7 अतिरिक्त सीटें उन सूबों में बांटी जा सकती हैं जहां मुसलमान बहुत कम संख्या में हैं, जैसे कि मद्रास और बम्बई सूबे में तो 8 प्रतिशत मुसलमान ही रह जाएंगे। और भी सूबे हैं जहां हम अल्पसंख्यक हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि एक–तिहाई आरक्षण कर दीजिए और हम अपने ही समायोजन से उन सीटों को मुसलमानों में बांट देंगे।"

उनका दूसरा संशोधन जनसंख्या के आधार पर पंजाब और बंगाल के आरक्षण से संबंधित था, अर्थात सांविधिक बहुसंख्यक का दावा। इस पर श्री जिन्ना ने कहाः

"आपको याद होगा कि मूल रूप से ये प्रस्ताव कुछ मुस्लिम नेताओं की ओर से मार्च 1927 में आए थे, जिन्हें दिल्ली प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। इन प्रस्तावों पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई और मद्रास में तथा मुस्लिम लीग ने पिछले वर्ष कलकत्ता में विचार करके काफी हद तक सहमति व्यक्त की थी। मैं विस्तृत तर्कों में नहीं जाऊंगा। सारांश यह है कि पंजाब और बंगाल में मुसलमानों की मतदान करने की शक्ति जनसंख्या के अनुपात में नहीं है, हालांकि वे वहां बहुमत में हैं। यह एक कारण था। नेहरू रिपोर्ट

> में अब एक नया विकल्प खोजा गया है, जिसके अनुसार यदि वयस्क मताधिकार स्थापित हो गया, तो ऐसी स्थिति में आरक्षण की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। परंतु यदि यह स्थापित नहीं हो पाता है, तो जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण होना चाहिए, किन्तु उन्हें अतिरिक्त सीटें नहीं मिलनी चाहिए।"

उनका तीसरा संशोधन अवशिष्ट शक्तियों के संबंध में था, जिन्हें नेहरू रिपोर्ट ने केंद्रीय सरकार में निहित रखा था। इन शक्तियों को प्रादेशिक सरकारों में निहित रखने हेतु अपने संशोधन में श्री जिन्ना ने तर्क दिया :

> "मित्रो, यह नितांत संवैधानिक प्रश्न है और इसका सांप्रदायिक पहलू से कोई संबंध नहीं है। हम दृढ़ता से कहते हैं – मैं जानता हूं कि हिंदू कहेंगे कि मुसलमान सांप्रदायिक भावनाओं से प्रभावित हो जाते हैं – हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि इस विषय पर आप ध्यान से विचार करें तो अवशिष्ट शक्तियां प्रांतीय सरकारों में निहित होनी चाहिए।"

उनका चौथा संशोधन सिंध को अलग करने के संबंध में था। नेहरू समिति ने सिंध को अलग करने के संबंध में अपनी सहमति दे दी थी, परंतु एक शर्त रखी कि सिंध का पृथक्करण इस रिपोर्ट की रूपरेखा के अनुरूप शासन स्थापित करने पर ही होना चाहिए। श्री जिन्ना ने इस शर्त को समाप्त करने के लिए प्रस्ताव करते हुए कहा :

> "हमें यह दिक्कत महसूस होती है............ माना कि सरकार आगामी छः महीनों में या एक दो साल में इस संविधान के तहत सरकार बनाने से पूर्व सिंध को अलग करने का निर्णय करती है, तो क्या मुस्लिम यह कहेंगे कि हम यह नहीं चाहते........... जब तक यह प्रावधान रहेगा, तब तक इसका यह तात्पर्य होगा कि मुसलमानों को सिंध के पृथक्करण का उस समय तक विरोध करना चाहिए जब तक कि वहा इस संविधान के तहत सरकार स्थापित नहीं हो जाती। मै कहता हूं कि इन शब्दों को हटा दीजिए; और मैं अपने तर्क को इस तथ्य के आधार पर रखता हूं कि इस तरह बात आप उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रदेश के बारे में नहीं करते .... समिति यह कहती है कि वह इसे स्वीकार नहीं कर सकती, क्योंकि संकल्प में वह समझौता है। जिस पर पार्टियों ने लखनऊ में हस्ताक्षर किए थे। समिति के सदस्यों को पूरा आदर देते हुए मैं यह कहता हूं कि यह उचित आधार नही है............ क्या इस बात से हम इसलिए बंध जायें क्योंकि इस सम्मेलन

> में कुछ व्यक्तियों के बीच हुई सहमति से यह विशेष प्रस्ताव पारित हुआ था?"

इन संशोधनों से स्पष्ट है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खाई ज्यादा चौड़ी नहीं थी। फिर भी इस खाई को पाटने की कोई इच्छा उनमें नहीं थी। जो काम हिंदू और मुस्लिम करने में विफल रहे, वह अंग्रेजों के लिए छोड़ दिया गया और उन्होंने यह काम कम्यूनल अवार्ड द्वारा किया।

हिंदुओं और दलित वर्गों के बीच, 'पूना पैक्ट' हो जाने से एकता[1] के लिए हो रहे प्रयत्नों को और बल मिला। नवंबर और दिसंबर 1932 में हिंदुओं और मुसलमानों ने समझौता करने के लिए अपनी ओर से पूरी कोशिश की। मुस्लिम अपनी सर्वदलीय कांफ्रेंस में तथा हिंदू, मुसलमान और सिख एकता कांफ्रेंस में मिले। प्रस्ताव और प्रति–प्रस्ताव आए, परतु अवार्ड को पैक्ट में बदलने को लेकर कोई नतीजा नहीं निकला और समिति को अंततः 23 बैठकों के बाद इन प्रयासों को त्यागना पड़ा।

जिस तरह राजनीतिक प्रश्नों पर एकता लाने के लिए प्रयास चल रहे थे, उसी तरह सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों पर भी एकता लाने के प्रयास किए गए। उदाहरण के लिए – 1. गो–हत्या, 2. मसजिदों के सामने संगीत बजाना, और 3. धर्म–परिवर्तन। परन्तु इन पर मतभेद बने रहे। इस दिशा में पहला प्रयत्न 1923 में भारतीय राष्ट्रीय पैक्ट का प्रस्ताव प्रस्तुत करते समय किया गया। यह असफल रहा। श्री गांधी उस समय जेल में थे। श्री गांधी को जेल से 5 फरवरी, 1924 को रिहा किया गया। अपने प्रयासों की इस प्रकार खिलाफत से हतप्रभ होकर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच होते रहे घातक दंगों के लिए अपने आपको नैतिक रूप से जिम्मेदार मानते हुए श्री गांधी ने 21 दिन का उपवास करने का निर्णय लिया। सभी समुदायों के प्रमुख भारतीयों को एकता–सम्मेलन में एकत्रित करने के लिए उपवास के अवसर का लाभ उठाया गया।[2] इसमें कलकत्ता के मेट्रोपोलिटन ने भी भाग लिया। 26 सितंबर से 2 अक्तूबर 1924 तक सम्मेलन की लंबी बैठकें हुईं। उनमें मौजूद सदस्यों ने शपथ ली कि वे अपनी अंतरात्मा और धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों के अनुपालन के लिए भरपूर प्रयत्न करेंगे तथा किसी उत्तेजना में नहीं आएंगे। श्री गांधी की अध्यक्षता में एक केंद्रीय राष्ट्रीय पंचायत गठित की गई। सम्मेलन ने धार्मिक विश्वासों की स्वीकृति तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और धार्मिक रिवाजों का पालन करने संबंधी धार्मिक स्थानों की पवित्रता,

---

1. इन प्रयासों के विवरण के लिए देखें, दि इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1932, खंड 2, पृ. 296
2. पट्टाभि सीतारमैया – हिस्ट्री आफ द कांग्रेस, पृ. 532

गो–हत्या, मस्जिदों के सामने बाजा बजाने आदि के बारे में कुछ मौलिक अधिकार प्रतिपादित किए, और उन अधिकारों की सीमा निर्धारित करने के लिए एक वक्तव्य जारी किया। एकता–सम्मेलन से दोनों समुदायों के बीच शांति स्थापित नहीं की जा सकी, पर इससे आए–दिन होनेवाले दंगों की गति धीमी पड़ी। 1925 और 1926 के बीच सांप्रदायिक दंगे पहले की अपेक्षा और अधिक भीषण तथा खतरनाक रूप से पुनः भड़क उठे। इन दंगों से क्षुब्ध होकर लॉर्ड इर्विन ने, जो उस समय भारत के वायसराय थे, 29 अगस्त, 1927 को केंद्रीय विधान सभा में अपने भाषण में दोनों समुदायों से अपील की कि वे दंगे न करें और शांति स्थापित करें। लॉर्ड इर्विन की इस अपील के बाद एक दूसरा एकता–सम्मेलन हुआ, जो शिमला एकता कांफ्रेंस के नाम से जाना गया।[1] इस एकता–सम्मेलन की बैठक 30 अगस्त 1927 को हुई, जिसमें दोनों समुदायों से अपील की गई कि वे किसी संतोषजनक हल पर पहुंचने के लिए अपने नेताओं की मदद करें। श्री जिन्ना की अध्यक्षता में 16 से 22 सितंबर तक शिमला में हुए सम्मेलन में एक एकता–समिति गठित की गई। गो–हत्या और मस्जिदों के सामने बाजा बजाने के मूल प्रश्नों पर कोई निष्कर्ष नहीं निकला और समिति के सामने प्रस्तुत अन्य मुद्दों को तो छुआ ही नहीं गया। कुछ सदस्यों को लगा कि समिति विघटित ही न हो जाए। समिति के हिंदू सदस्यों ने दबाव डाला कि समिति की अगली बैठक किसी अन्य तिथि को हो। मुस्लिम सदस्य पहले तो एकमत नहीं हुए, परंतु अंत में उन्होंने समिति को भंग करने का निर्णय लिया और अध्यक्ष से निवेदन किया कि वे समिति की बैठक उस दशा में बुला सकते हैं, यदि उन्हें 6 हफ्ते में निर्धारित ग्यारह सदस्यों से आवेदन प्राप्त हो जाए। इस तरह का अनुरोध न कभी आया और न समिति की बैठक हुई।

शिमला–सम्मेलन के असफल होने पर कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री श्रीनिवास आयंगर ने हिंदुओं और मुसलमानों का विशेष सम्मेलन बुलाया, जिसकी बैठक 27 और 28 अक्तूबर, 1927 को कलकत्ता में हुई। यह कलकत्ता एकता सम्मेलन[2] के नाम से जाना गया। सम्मेलन में तीन ज्वलंत प्रश्नों पर कुछ संकल्प पारित किए गए। परंतु उन संकल्पों को समर्थन नहीं मिला, क्योंकि न तो हिंदू महासभा और न ही मुस्लिम लीग का प्रतिनिधित्व उसमें था।

एक समय ऐसा कहना संभव था कि हिंदू–मुस्लिम एकता एक आदर्श है जो न केवल पूरा किया जाए, बल्कि पूरा किया जा सकता है; और नेताओं को दोषी ठहराया गया कि उन्होंने इस दिशा में ठोस प्रयत्न नहीं किए। ऐसे विचार 1911

---

1. इस सम्मेलन के कार्यवाही–वृत्तांत के लिए देखें – दि इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, खंड–2, पृ. 39-50
2. वही, पृ. 50-58

में मौलाना मुहम्मद अली तक के थे, जिन्होंने तब हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं किए थे। 14 जनवरी, 1911 के 'कामरेड' में लिखते हुए श्री मुहम्मद अली ने कहा था:

> "हमें इस बात में कोई आस्था नहीं है कि भारत एक है। यदि भारत एक होता तो इस वर्ष की कांग्रेस में अध्यक्ष को उनके सुदूर घर से घसीटने की क्या जरूरत थी? दावत की कल्पना मात्र से भूख शांत नहीं हो जाती। हमारा विश्वास उस पाखंड में अब भी नहीं है, जो अपनी सूक्ष्म कीमियागिरी से लालच भरे एकाधिकार को उत्कट देशप्रेम में बदल देता है.......... जिस व्यक्ति से हम सर्वाधिक प्रेम करते हैं, सर्वाधिक भयभीत होते हैं और सबसे कम विश्वास करते हैं। वह है एक अधीर आदर्शवादी। गोथे ने बायरन के बारे में कहा है कि वह एक विलक्षण कवि था, लेकिन वह बच्चों की तरह सोचता था। जो व्यक्ति आदर्शवादी भी होता है और अधीर भी उसके बारे में हमारी यही राय है। इस अशांत भूमि पर एकता की अच्छी–बुरी कई कोशिशें नाकाम हो चुकी हैं। अतः हम दूसरी बेकार कोशिश नहीं कर सकते। हमें टूटे हुए शीशे के टुकड़ों को गोंद से जोड़ने की गलती नहीं करनी चाहिए, और इसके फलस्वरूप सफलता न मिलने पर रोष नहीं करना चाहिए और न ही कांच के टुकड़ों को दोष देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम स्थिति का डटकर मुकाबला करने का प्रयत्न करेंगे, और तथ्यों को, चाहे वे कितने ही कुरूप या प्रतिकूल क्यों न हों, समझेंगे। प्रतिकूल परिस्थितियों को अनदेखा करना कमजोर राजनीति है, और लोगों के दिलो–दिमाग में बैठे पूर्वाग्रहों को ईमानदारी से समझना और उन्हें विभाजित करनेवाली खाइयों को पाटकर एकता हांसिल करना कम महत्वपूर्ण नहीं है।"*

गत 30 वर्षों के इतिहास को देखकर कोई भी यह सवाल उठा सकता है कि क्या हिंदू–मुस्लिम एकता हासिल हो सकी है? क्या इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं किए गए हैं? और क्या कोई प्रयत्न करना बाकी रह गया है? पिछले 30 वर्षों का इतिहास दर्शाता है कि हिंदू–मुस्लिम एकता प्राप्त नहीं हुई है। इसके विपरीत उनमें बहुत बड़ा भेद है। एकता के लिए लगातार और निष्ठापूर्ण प्रयत्न किए गए हैं और अब कुछ करने को शेष नहीं है, सिवाय इसके कि एक पार्टी दूसरे के सामने आत्मसमर्पण कर दें। यदि कोई व्यक्ति, जो आशावादी नहीं है और उसका आशावादी होना न्यायसंगत न हो, यह कहे कि हिंदू–मुस्लिम एकता

* सन् 1923 में काकीनाडा कांग्रेस सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण से उद्धृत।

एक मृगतृष्णा की तरह है और एकता के विचार को छोड़ देना चाहिए, तो कोई भी उसे निराशावादी या अधीर आदर्शवादी कहने का साहस नहीं कर सकता। यह हिंदुओं पर निर्भर करता है कि तमाम दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्नों के बावजूद वे अब भी एकता की कोशिश करेंगे या इस कोशिश को छोड़कर एकता का कोई और आधार तलाश करेंगें।

दूसरी ओर, इस बात को स्वीकारना होगा कि मुसलमानों की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। कितना भारी परिवर्तन हुआ है, यह उन बयानों में दृष्टिगोचर होता है जो उनके द्वारा समय-समय पर द्वि-राष्ट्र के सिद्धांत पर और उनकी इस सोच पर कि हिंदू-मुस्लिम समस्या का एकमात्र समाधान पाकिस्तान बनाना है, दिए गए। इन सब में श्री जिन्ना का नाम अग्रणी है। उनके विचारों का यह परिवर्तन चौंकानेवाला नहीं, तो दृष्टव्य अवश्य है। उनके वैचारिक परिवर्तनों को समझने के लिए उनके वक्तव्यों की प्रकृति और विस्तार को जानना जरूरी है, ताकि उनकी तुलना उनके उन वक्तव्यों से की जा सके जो वे अब दे रहे हैं।

उनके विगत वक्तव्यों का अध्ययन 1906 से शुरू किया जा सकता है, जब मुस्लिम समुदाय के नेतागण लॉर्ड मिंटो से मिले और उन्होंने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग की। उल्लेखनीय है कि उस समय श्री जिन्ना मुस्लिम प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य नहीं थे, लेकिन इस तथ्य की जानकारी नहीं है कि क्या उन्हें इसके लिए आमंत्रित किया गया था अथवा नहीं, और क्या उन्होंने इस आमंत्रण को ठुकरा दिया था। परंतु यह स्पष्ट है कि उस समय उन्होनें मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की मांग को, जबकि 1906 में यह रखी गई थी, समर्थन नहीं दिया था।

श्री जिन्ना ने 1918 में इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल से रोलट एक्ट* के विरोध में इस्तीफा दे दिया। अपना इस्तीफा देते हुए श्री जिन्ना ने कहा :

> "मैं समझता हूं कि वर्तमान परिस्थितियों में मै इस कांउंसिल में अपने लोगों के लिए उपयोगी नहीं हूं और न ही व्यक्तिगत स्वाभिमान को रखते हुए मेरा इस सरकार के साथ, जो इस सदन में जनता के प्रतिनिधियों और सदन के प्रति आम जन-भावनाओं का आदर नहीं करती, सहयोग संभव है।"

---

* कौंसिल के भारतीय सदस्यों के विरोध के बावजूद विधेयक को पारित करके कानून में बदल दिया गया। वह 1919 का अधिनियम बना, जिसे 'एनार्कियल एंड रेवोल्यूशनरी टाइम्स एक्ट' कहा गया।

वर्ष 1919 में श्री जिन्ना ने भारत सरकार के संशोधन विधेयक पर प्रवर समिति के समक्ष अपना साक्ष्य दिया। हिंदू-मुस्लिम एकता पर समिति के सदस्यों द्वारा किए गए प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने निम्नलिखित विचार व्यक्त किए:

मेजर ओ. गोरे द्वारा लिया गया साक्ष्य

प्रश्न-3806 आप मुस्लिम लीग की तरफ से यहा आए हैं, जो कि भारत में मुसलमानों का सबसे बड़ा संगठन है।

उत्तर: जी, हां।

प्रश्न-3807 मैं इस बात से काफी प्रभावित हुआ कि आपने प्रश्न के उत्तर में और इस अवसर पर दिए अपने प्रारंभिक भाषण में कहीं भी मुसलमानों के विशेष हितों के बारे में कोई खास उल्लेख नहीं किया। क्या यह इसलिए है कि आप कुछ नहीं कहना चाहते?

उत्तर: नहीं, लेकिन मै समझता हूं कि साउथबरो कमेटी ने इसे मान लिया है और मैंने यह बात कमेटी के सदस्यों पर छोड़ दी है कि वे जो भी प्रश्न करना चाहे, कर सकते हैं। मैने लखनऊ बंदोबस्त सेटलमेंट मे बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। उस समय मै मुसलमानो का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

प्रश्न-3809 क्या आप ऑल इंडिया मुस्लिम लीग की तरफ से इस समिति से भारत सरकार के इस प्रस्ताव को नामंजूर करने को कहेंगे?

उत्तर: मै यह बात कहने का अधिकारी हूं कि आप भारत सरकार के बंगाल संबंधी प्रस्ताव को नामंजूर करें, अर्थात् बंगाली मुसलमानों को लखनऊ पैक्ट में दिए गए प्रतिनिधित्व से ज्यादा प्रतिनिधित्व दें।

प्रश्न-3810 आपने कहा कि आपने भारत के दृष्टिकोण से कहा। क्या आप वास्तव में एक भारतीय राष्ट्रवादी के रूप में बोल रहे हैं?

उत्तर: जी, हां।

प्रश्न-3811 ऐसी सोच में, क्या आप मुसलगान समुदाय के पृथक प्रतिनिधित्व को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का विचार रखते है?

उत्तर: मै ऐसा समझता हूं।

प्रश्न-3812 इसका अभिप्राय है कि निकट भविष्य में आप मुसलमानों और हिंदुओं के बीच राजनीतिक जीवन का भेदभाव समाप्त करना चाहते हैं?

उत्तरः जी, हां। जब ऐसा क्षण आएगा, तो उससे ज्यादा खुशी मुझे कभी नहीं होगी।

प्रश्न-3813 क्या आप समझतें हैं कि यह कहना सही नहीं है कि भारतीय मुसलमानों के कुछ विशेष राजनीतिक हित केवल हिंदुस्तान ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान से बाहर भी हैं, जिन्हें वे विशेष मुस्लिम समुदाय के नाते व्यक्त करने के लिए हमेशा उत्सुक रहते हैं?

उत्तरः दो बातें हैं। भारत में मुसलमानों के लिए ऐसी बहुत कम बातें हैं जिन्हें आप उनके विशेष हितों की संज्ञा दे सकते हो – मेरा अभिप्राय धर्म–निरपेक्ष बातों से है।

प्रश्न-3814 मैं उन्हीं बातों की ओर इशारा कर रहा हूं।

उत्तरः इसीलिए, वास्तव में मैं यह आशा करता हूं कि वह दिन बहुत दूर नहीं है, जब पृथक निर्वाचन का अंत हो जाएगा।

प्रश्न-3815 इसके साथ क्या यह भी सच है कि भारत के मुसलमान भारत की विदेश नीति में गहरी रुचि लेते हैं?

उत्तरः जी हां, लेते हैं परंतु बहुत ज्यादा नहीं। आपने जो प्रस्ताव रखा है वह है तीव्र अभिरुचि का और उनमें से बहुसंख्य अत्यंत प्रबल भावना और अत्यंत सबल विचार रखते है।

प्रश्न-3816 क्या यह भी एक कारण है जिससे आप मुस्लिम संप्रदाय की ओर से बोलते हुए भारत सरकार को अपने मतदाताओं के प्रति ज्यादा उत्तरदायी बनाने को उत्सुक हैं?

उत्तरः नहीं।

प्रश्न-3817 क्या आप यह संभव समझते हैं कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए अपनी एक विदेश नीति बनाए और महाराजाधिराज के लिए, जो अपने मंत्रियो की सलाह पर चलते हैं, अलग नीति बनाए?

उत्तरः मैं एक चीज साफ कर दूं। यह विदेश नीति का सवाल बिल्कुल नहीं है। भारत के मुसलमान यह समझते हैं कि यह उनके लिए कठिन स्थिति है। आध्यात्मिक रूप से, सुल्तान या खलीफा उनके स्वामी हैं।

प्रश्न-3818 एक समुदाय के?

उत्तरः सुन्नी मतावलंबियो के, जिनकी संख्या सबसे अधिक है। वे भारत में भारी बहुमत में हैं। हमारे मतानुसार खलीफा ही सारे धार्मिक स्थानों

का सही अभिरक्षक होता है, दूसरे को यह अधिकार नहीं है। मुसलमानों की प्रबल इच्छा यह है कि उनके धार्मिक स्थानों को ओटोमन साम्राज्य से अलग न किया जाए, ताकि सारे धार्मिक स्थान सुल्तान के मातहत ही रहें।

प्रश्न-3819 मैं विदेश नीति को रिफार्म्स विधेयक से अलग करना नहीं चाहता।

उत्तरः मैं कहता हूं कि इसका विदेश नीति से कोई संबंध नहीं है। आपका कहना है कि क्या भारत के मुसलमान दुनिया के मुसलमानों के संबंध में (विदेश नीति पर) अपना कोई विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाएंगे।

प्रश्न-3820 मेरा कहना है कि क्या मुसलमाान केंद्र सरकार में अपना कुछ वर्चस्व चाहते हैं ताकि वे भारत की विदेश नीति में अपने विचारों को मूर्त रूप दे सकें?

उत्तरः नहीं।

श्री बेनेट द्वारा लिया गया साक्ष्य

प्रश्न-3853 क्या इस प्रकार की कोई घटना, अर्थात सांप्रदायिक दंगे की स्थिति, में यह लाभदायक नहीं होगा कि कानून और व्यवस्था जैसे विषय कार्यकारी सरकार के पास रहें?

उत्तरः यदि आप मुझसे पूछें तो मैं ऐसा नहीं मानता। परंतु मैं अप्रिय बातों में, जैसा कि आपने कहा, जाना नहीं चाहता।

प्रश्न-3854 मेरी यह इच्छा नहीं है कि मैं पुरानी परेशानियों को लेकर आपसे प्रश्न करूं; मैं उन्हें भुलाना चाहता हूं।

उत्तरः यदि आप मुझसे पूछतें हैं तो मेरा मानना है कि ये दंगे किसी न किसी गलमफहमी के कारण होते हैं और इसका कारण यह भी है कि ऐसे मामलों में पुलिस किसी एक या दूसरे गुट का पक्ष लेती है, जिससे दूसरी ओर क्रोध भड़क उठता है। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि भारतीय रियासतों में आपने शायद ही कभी ही हिंदू--मुसलमानों के दंगों के बारे में सुना होगा। मैं किसी का नाम बताए बिना समिति से एक बात कहना चाहूंगा। एक बार मैंने एक सत्तासीन राजकुमार से पूछा -- आप इस बारे में क्या कहते हैं? उन्होंने मुझे बताया -- जैसे ही कहीं ऐसी घटना होती है और उसका आरोप पुलिस पर लगता है कि पुलिस को किसी पार्टी का पक्ष लेते देखा गया है, तो तुरंत उस पुलिस अधिकारी को वहां से हटा दिया है और इससे स्थिति संभल गई है।

प्रश्न-3855 यह महत्वपूर्ण जानकारी है, परंतु यह बात सही है कि ऐसे दंगे अंतर्जातीय होते हैं। हिंदू एक तरफ और मुसलमान दूसरी तरफ रहते हैं। ऐसे में क्या यह वांछनीय नहीं होगा कि मिनिस्टर, चाहे वह किसी भी समुदाय का हो, कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए जवाब-देह हो?

उत्तर: निश्चित तौर पर।

प्रश्न-3856 क्या यह संभव है?

उत्तर: यदि मैं दूसरी बात कहता हूं तो अपने आप ही अपनी भर्त्सना करूंगा। यदि मैं मिनिस्टर होता तो मैं कहना चाहूंगा कि ऐसे मौके पर मेरे दिमाग में न्याय के अलावा और कुछ नहीं होगा।

प्रश्न-3857 मैं समझ सकता हूं कि ऐसी स्थिति में आप दूसरे धर्मावलंबियों के साथ पूरा न्याय करेंगे परंतु इसका दूसरा पहलू भी है और वह यह कि आपका आत्मगत दृष्टिकोण क्या हो? ऐसी स्थिति में भेदभाव का न होना ही जरूरी नही है, बल्कि क्या यह नही देखेंगे कि लोगो के मन में संदेह न हो?

उत्तर: आपका आशय यह है कि एक समुदाय या दूसरे समुदाय के लोग यह समझें कि उनके या दूसरे समुदाय के साथ न्याय नही हो रहा है या न्याय नहीं होगा?

प्रश्न-3858 हां, क्या बात तटस्थता से अलग नहीं हो जाती है?

उत्तर: मेरा उत्तर है कि ये समस्याएं तेजी से समाप्त हो रही हैं। अभी हाल में बम्बई के थाणा जिले में ऊपर से नीचे तक सारे अधिकारी हिंदू थे और मात्र एक चपरासी मुसलमान था और इस मामले में कोई भी शिकायत नही सुनी गई। हाल ही मे ऐसा हुआ है। मै आपसे पूर्णतः सहमत हूं कि 10 साल पहले लोगों में यह धारणा थी, जो आप मुझे अब सुझा रहें हैं, किंतु अब खत्म हो रही है।

लोर्ड इसलिंग्टन द्वारा लिया गया साक्ष्य

प्रश्न-3807 स......अभी आपने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में कहा। मेजर ओर्म्सबी गोरे के प्रश्न के जवाब मे आशा जताई कि कुछ ही वर्षों में आप सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को खत्म कर देंगे, जिसे अब इसलिए लाया गया है ताकि हिंदुओं के साथ-साथ मुसलमानों का पूरा

प्रतिनिधित्व हो सके। आपने कहा कि आप ऐसा चाहते थे। आप के विचार में यह स्थिति कितनी जल्दी पैदा हो सकेगी?

उत्तर: मैं आपको कुछ तथ्य दे सकता हूं और इससे आगे कुछ नहीं कह सकता। मैं कुछ बातें कहूंगा, जिसके आधार पर आप अपने विचार बना सकते हैं। 1913 में आगरा में जब मुस्लिम लीग के अधिवेशन में हमने यह मुद्दा रखा, तो उसमें से 40 प्रतिनिधियों ने कहा कि पृथक निर्वाचन को खत्म कर देना चाहिए, और लगभग 80 सदस्यों ने, संख्या मुझे ठीक से याद नहीं है, कहा कि पृथक निर्वाचन रहना चाहिए। यह 1913 की बात है। इसके बाद से कई अवसर आए हैं जब मैंने मुस्लिम नेताओं से इस पर बातचीत की है और वे इस मामले में अपना दृष्टिकोण बदलते रहे हैं। मैं आपको कोई निश्चित समायावधि तो नहीं दे सकता, लेकिन इतना अवश्य कहता हूं कि यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं चलेगी और शायद दूसरी पूछताछ मे आप इसके बारे में कुछ और सुनें।

प्रश्न-3893 आप समझते हैं कि अगले साक्ष्य पर मुसलमान एक ही निर्वाचक–मंडल के पक्ष में बोलेंगे?

उत्तर: हाँ, मुझे आशा है अगले साक्ष्य तक आप इस बारे में कुछ सुनेंगे।

यद्यपि श्री जिन्ना मुस्लिम लीग की ओर से साक्षी के रूप में उपस्थित हुए थे, लेकिन उन्होंने अन्य राजनीतिक दलों के प्रति अपनी निष्ठा की राह में लीग की सदस्यता को आड़े नहीं आने दिया। मुस्लिम लीग के सदस्य होने के अलावा श्री जिन्ना होम रूल लीग और कांग्रेस के भी सदस्य थे। जैसा कि उन्होंने संयुक्त संसदीय समिति के सामने अपने साक्ष्य में कहा, वे तीनों संस्थाओं के सदस्य थे, परंतु वे कांग्रेस से सहमत नहीं थे और न ही मुस्लिम लीग से। कुछ मामलों में वे होम रूल लीग के विचारों से भी सहमत नहीं थे। वे निर्दलीय परंतु राष्ट्रवादी थे, जैसा कि खिलाफतवादी मुसलमानों के साथ उनके संबंधों से स्पष्ट है। 1920 में मुसलमानों ने खिलाफत कांफ्रेंस बनाई। यह इतना शक्तिशाली संगठन बन गया कि मुस्लिम लीग इसकी छाया में आ गई और 1924 तक निर्जीव बनी रही। इन वर्षों में कोई भी मुस्लिम नेता यदि वह खिलाफत कांफ्रेंस का सदस्य नहीं था, तो किसी भी मंच से मुसलमानों को संबोधित नहीं कर सकता था। मुसलमानों का मुसलमानों के साथ संपर्क बढ़ाने के लए यही एक मंच था, लेकिन इसके बावजूद श्री जिन्ना ने खिलाफत कांफ्रेंस का सदस्य बनने से इंकार कर दिया। निःसंदेह यह इस वजह से था कि वह एक सामान्य मुसलमान थे और उनके अंदर किसी भी किस्म की रूढ़िवादी धर्मांधता की आग नहीं जल रही थी। परंतु

खिलाफत कांफ्रेंस का सदस्य न बनने का मुख्य कारण यह भी था कि वे भारत से बाहर रहने वाले मुसलमानों के साथ विशेष संबंध कायम करने के खिलाफ थे।

जब कांग्रेस ने असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और विधान सभाओं के बहिष्कार की नीति स्वीकार की तो श्री जिन्ना ने कांग्रेस को छोड़ दिया। वे कांग्रेस के आलोचक तो रहे, लकिन हिंदुओं की संस्था होने के नाते उन्होंने कभी इसकी आलोचना नहीं की। जब उनके प्रतिद्वंद्वियों ने उन पर इस प्रकार का आरोप लगाया तो उन्होंने इसका प्रतिकार किया। श्री जिन्ना का टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक को उसी समय का लिखा हुआ एक पत्र है, जो कांग्रेस के प्रति श्री जिन्ना के वर्तमान विचारों को उनके पुराने विचारों के परिप्रेक्ष्य में बिल्कुल साफ कर देता है। यह पत्र इस प्रकार है :

> "महोदय, मैं उस वक्तव्य को फिर सही करना चाहूंगा जो मेरे द्वारा दिया गया बताया जाता है और जिसका आपने बार–बार प्रचार किया है, और जिसे आपके संवाददाता 'बेकर' द्वारा दिनांक एक अक्तूबर को दूसरे कॉलम में पुनः दोहराया गया है – कि मैंने कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था कहकर कांग्रेस की बदनामी की है। ज्यों ही मेरे भाषण की गलत रिपोर्ट आपके समाचारपत्र में प्रकाशित हुई, मैंने तुरंत सार्वजनिक तौर पर उसका सुधार किया, परंतु उसे आपने अपने अखबार में नहीं छापा। अतः ,मैं एक बार पुनः आपसे अनुरोध करूंगा कि मेरे इस पत्र को अपने समाचारपत्र में छापकर अनुगृहीत करें।"[1]

खिलाफत के तूफान के समाप्त हो जाने पर मुसलमानों ने एक बार हिंदुस्तान की आंतरिक राजनीति में हिस्सा लेने की इच्छा जाहिर की और मुस्लिम लीग को फिर से पुनर्जीवित किया गया। श्री रज़ा अली की अध्यक्षता में 3 दिसंबर, 1924 को संपन्न मुस्लिम लीग का अधिवेशन बहुत ही उत्साहवर्धक रहा। इसमें श्री जिन्ना और श्री मुहम्मद अली,[2] दोनों ने भाग लिया।

लीग के इस सत्र में एक संकल्प प्रस्तुत किया गया, जिसमें यह इच्छा जाहिर

1. टाइम्स ऑफ इंडिया के 3-10-1925 के अंक में प्रकाशित।
2. श्री मुहम्मद अली ने काकीनाडा कांग्रेस में संबोधित अपने अध्यक्षीय भाषण में मजाकिए लहजे में कहा – श्री जिन्ना जल्दी ही हमारे पास वापस आ जाएंगे। (तालियां) मैं कहना चाहूंगा कि एक नास्तिक काफिर बन जाता है, और एक काफिर नास्तिक बन जाता है। इसी तरह जब श्री जिन्ना कांग्रेस में थे, तब मैं उनके साथ नहीं था और अब जब मैं कांग्रेस में आया तो वे कांग्रेस से बाहर मुस्लिम लीग में चले गए। मैं आशान्वित हूं कि एक दिन हमारी सुलह हो जाएगी। (लोगों में हंसी फूट पड़ती है।)

की गई कि यह उचित ही होगा कि भारत में सभी विचारों और दृष्टिकोणों की मुस्लिम संस्थाओं का एक सम्मेलन दिल्ली या किसी केंद्रीय स्थान पर आयोजित किया जाए, ताकि मुस्लिम समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप एक संयुक्त और व्यावहारिक नीति तैयार की जा सके। इस संकल्प का विवेचन करते हुए श्री जिन्ना ने कहा :

> "इसका उद्देश्य मुस्लिम समुदाय को सुव्यवस्थित करना था। यह इसलिए नहीं कि वे हिंदुओं से लड़ें बल्कि इसलिए कि आपस में एकत्र होकर मातृभूमि के लिए सहयोग करें। उन्हें भरोसा था कि यदि वे एक बार संगठित हो गए तो हिंदू महासभा के साथ साथ मिलकर दुनिया से कह सकते हैं कि हिंदू और मुस्लिम दोनों भाई–भाई हैं।"[1]

मुस्लिम लीग ने इसी सत्र में एक दूसरा संकल्प भी पारित किया, जिसमें यह निर्णय लिया गया कि 33 प्रमुख मुसलमानों के नेतृत्व में एक समिति बनाई जाए, जो मुस्लिम समुदाय की विभिन्न राजनीतिक मांगों का एक मसौदा तैयार करे। संकल्प श्री जिन्ना द्वारा प्रस्तुत किया गया। संकल्प को प्रस्तावित करते हुए उन्होंने :

> "इस अभियोग का खंडन किया कि वह मुस्लिम लीग के प्लेटफार्म से सांप्रदायिक नेता के रूप में खड़े हुए हैं। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे हमेशा की तरह एक राष्ट्रवादी हैं। व्यक्तिगत रूप से उन्हें कोई झिझक नहीं थी। वे चाहते थे कि उनमें से दो काबिल व्यक्ति विधान मंडल में उनका प्रतिनिधित्व करें। (हर्षध्वनि) परंतु दुर्भाग्य से उनके मुस्लिम सहयोगी उनके साथ इस हद तक जाने के लिए तैयार नहीं थे और वे परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे। वास्तविकता यह थी कि बहुत अधिक संख्या में मुसलमान विधान मंडल और सेवाओं में पृथक प्रतिनिधित्व चाहते थे। वे सांप्रदायिक एकता की बात करते थे, परंतु वह थी कहां? यह उपयुक्त समझौता करके ही संभव था। उन्होंने भारी हर्ष और उल्लास के बीच कहा कि उनके सहधर्मी स्वराज के लिए संघर्ष करने को तैयार हैं, परंतु वे कुछ सुरक्षा उपाय चाहते थे। उनका जो भी विचार रहा हो, वह जानते थे कि एक व्यावहारिक राजनेता के नाते उन्हें वस्तुस्थिति का जायजा लेना बहुत जरूरी था। एकता के रास्ते में वास्तविक अवरोध दोनों समुदाय नहीं थे, बल्कि उनमें से दोनों ओर के शरारती तत्व थे।"[2]

---

1. दिनांक 1-1-1925, टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित।
2. इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर 1924, भाग–2, पृ. 481

गलतफहमी फैलानेवालों को तीखी से तीखी भाषा में भी टोकने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई। इस तरह की भाषा का उपयोग एक पक्का राष्ट्रवादी ही कर सकता था। लीग के लाहौर सत्र में 24 मई, 1924 को उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा :

> "यदि हम अपने लोगों को स्वतंत्र करना चाहते हैं, तो हमें एक हो जाना चाहिए, किंतु यदि हम नौकरशाही के गुलाम बनकर रहना चाहते हैं, तो हमें जरूर छोटी-छोटी बातों पर आपस में लड़ते रहना चाहिए। इससे अंग्रेज हमेशा हमारे निर्णायक बने रहेंगे।"[1]

1925 और 1928 में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन में श्री जिन्ना हिंदू-मुस्लिम समस्या को संयुक्त निर्वाचन के आधार पर हल करने को तैयार थे। 1927 में उन्होंने मुस्लिम लीग के प्लेटफार्म से साफ कहा :

> "मैं पृथक निर्वाचन नही चाहता, यद्यपि मैं यह कहूंगा कि अधिकतर मुस्लिम दृढ़ता और निष्ठापूर्वक यह विश्वास करते हैं कि पृथक निर्वाचन ही एक ऐसा तरीका हो सकता है, जिससे वे आश्वस्त हो सकते हैं।"[2]

1928 में श्री जिन्ना ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने में कांग्रेस का साथ दिया और यद्यपि हिंदू और मुसलमान समझौता करने में असफल रहे, ऐसा उन्होंने मुस्लिम लीग के विभाजन की कीमत पर भी किया।

ऐसे समय में जब गोल मेज सम्मेलन का जहाज सांप्रदायिकता की चट्टान से टकराकर टूटने वाला ही था, श्री जिन्ना ने अपने आपको सांप्रादायिक कहे जाने पर रोष व्यक्त किया और कहा कि वे ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता से बाहर साम्प्रदायिक समस्या का निराकरण पसंद करेंगे। 8 अगस्त, 1931 को इलाहाबाद में आयोजित उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए श्री जिन्ना ने कहा :

> "पहली बात जो मैं आप से कहना चाहूंगा, वह बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है, और वह है मुसलमानों का एक होना। ईश्वर के लिए कृपया आपस में चल रही लड़ाइयों को बंद कर दीजिए। मैंने पूरी ताकत से और अपनी योग्यता के अनुरूप डॉ. अंसारी, टी.ए.के. शेरवानी, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और डा. सैय्यद महमूद से यह आग्रह किया है और आशा करता हूँ कि शीघ्र ही मुझे यह खबर मिलेगी

1. वही, भाग-1, पृ. 658
2. वही, 1927, भाग-1, पृ. 37

कि आपसी मतभेदों के बावजूद, चाहे हमारे विचार कुछ भी क्यों न हों, हम यह जान गए हैं कि यह समय आपस में लड़ने का नहीं है।

"एक दूसरी बात मैं आपसे यह कहना चाहूंगा कि प्रेस का एक वर्ग है और हिंदुओं का एक वर्ग है, जो विभिन्न तरीकों से मेरे खिलाफ गलतफहमियां फैला रहा है। मैं आज सुबह श्री गांधी के भाषण को पढ़ रहा था, जिसमें उन्होंने कहा है कि वह हिंदू और मुसलमान से बराबर मोहब्बत करते हैं। मैं इस बात का दावा यहां नहीं करता हूं, परंतु ईमानदारी और निष्ठा से कहना चाहूंगा कि मैं दोनों समुदायों के बीच उचित बर्ताव चाहता हूं।"*

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए श्री जिन्ना ने कहा :

"सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न, जो मेरे विचार में हिंदू–मुस्लिम समझौतों का है, उसके बारे में मैं यही कह सकता हूं कि मैं ईमानदारी से यह मानता हूं कि पंजाब और बंगाल में हिंदुओं को मुसलमानों का बहुमत स्वीकार कर लेना चाहिए और यदि यह स्वीकार कर लिया गया तो मैं समझता हूं कि निकट भविष्य में हम किसी समझौते पर पहुंच सकते हैं।

"दूसरा प्रश्न उठता है पृथक बनाम संयुक्त निर्वाचन का। जैसा कि आप में से अधिकांश लोग जानते, कि यदि पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का बहुमत मान लिया गया तो मैं संयुक्त निर्वाचन के आधार पर समझौता चाहूंगा। (तालियां) परंतु मैं यह भी जानता हूं कि मुसलमानों का एक बहुत बड़ा भाग पृथक निर्वाचन पर अड़ा हुआ है। मेरा मानना है कि पृथक निर्वाचन के आधार पर भी समझौता हो जाए, इस आशा और विश्वास के साथ कि जब हम नया संविधान तैयार करेंगे और हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच आपसी विश्वास, शक और भय की भावना खत्म हो जाएगी और उन्हें स्वतंत्रता मिल जाएगी, तो ऐसा अवसर भी आएगा जब शीघ्र ही पृथक निर्वाचन संभवतः खत्म हो जाएगा।

"अतः मैं मुसलमानों में शांति और समझौते के हक में पहले हूं। फिर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच शांति और समझौता चाहता हूं। यह तर्क का समय नहीं है, यह प्रचार का समय नहीं है, यह ऐसा समय नहीं है कि दोनों में से किसी भी समुदाय की भावनाओं में कड़वाहट आए, क्योंकि दुश्मन हम दोनों के दरवाजे पर है। समझौता नहीं हुआ तो मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि ऐसी स्थिति में

* इंडियन एनुअल रजिस्टर 1931, भाग–2, पृ. 230-231

अंग्रेज ही मध्यस्थता करेंगे और यह तो विदित ही है कि जो भी मध्यस्थता करेगा, वह शांति और सत्ता अपने पास ही रखेगा। अतः मैं आशा करता हूं कि वे मुझे गलत नहीं कहेंगे। आखिरकार श्री गांधी अपने आप कहते हैं कि वे मुसलमानों को वह सब देने के लिए तैयार हैं, जो मुसलमान चाहते हैं, परंतु मेरा दोष यह है कि मैं हिंदुओं से कहता हूं कि आप मुसलमानो की केवल 14 बाते मान लें। ये निःसंदेह उस कोरे चेक से कम है, जो गांधी जी देने को तैयार हैं। मुझे कोरा चेक नही चाहिए। आप क्यों नहीं हमारी 14 बातें मान लेते है? जब पं. जवाहरलाल नेहरू कहते हैं – हमें कोरा चेक दीजिए। जब सरदार पटेल कहते है – हमें कोरा चेक दीजिए और इस पर हम स्वदेशी पेन से स्वदेशी कागज पर दस्तखत करेंगे, तो वे सांप्रदायिक नहीं कहे जाते, लेकिन मुझे सांप्रदायिक करार दिया जाता है। मैं हिंदुओं से कहता हूं कि किसी के भी खिलाफ दुष्प्रचार मत कीजिए। मैं आशा और विश्वास करता हूं कि हम अब भी समझौते की स्थिति में आएंगे, ताकि लाखों लोगों को शांति और खुशहाली दे सकें।

"मैं एक बात और कहना चाहूंगा कि मैने वह कर दिया है जो गोलमेज सम्मेलन के दौरान कहा था। यह एक खुली किताब है और इसे जो भी पढना चाहता है, वह स्वयं इससे जान सकता है। मैंने केवल एक ही सिद्धांत का पालन किया और वह यह कि जब मैंने बम्बई तट को छोड़ा था तो मैने अपने मन में यह बात रखी कि मैं अपने लोगों का हित सर्वोपरि रखूंगा। मेरा विश्वास कीजिए, यदि आप कांफ्रेंस की कार्यवाही को देखेंगे, मैं कोई आत्मप्रशंसा नहीं कर रहा हूं, तो पायेंगे कि मैंने अपना कर्तव्य–पालन पूरी तरह से और बड़ी निष्ठा से किया है और मै कह सकता हूं कि यदि कांग्रेस या गांधी जी इससे ज्यादा हासिल सकते है जिसके लिए मै वहाँ लडा हूँ, तो मै उन्हें बधाई दूंगा।

"अपनी बात समाप्त करते हुए श्री जिन्ना ने कहा कि उन्हें समझौते पर पहुंचना होगा। हिंदुओं और मुसलमानो को आखिरकार मित्र बनाना ही होगा। उन्होंने मुसलमान भाइयों से आग्रह किया कि ऐसे अवसर पर यदि संभव हो तो मुसलमानों को शीलता, बुद्धिमत्ता और मैत्री दिखानी चाहिए और इस कांफ्रेंस में समस्या का समाधान निकालना चाहिए। इस कांफ्रेंस में जो संकल्प पारित हों, उसमें ये सब बातें निहित होनी चाहिए।"*

* इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1931, भाग–2, पृ. 230-231

मुसलमानों की विचारधारा में एक तरह से परिवर्तन आया, इसका मैं एक और उदाहरण दूंगा। मैं श्री बरकत अली, जो श्री जिन्ना के अनुयायी और पाकिस्तान के प्रबल समर्थक हैं, के विचारों की चर्चा करना चाहूंगा।

जब साइमन कमीशन से सहयोग करने पर मुस्लिम लीग के दो टुकड़े हुए, जिसमें से सहयोग के पक्षधर गुट का नेतृत्व सर मोहम्मद शफी कर रहे थे, तथा दूसरे गुट का नेतृत्व श्री जिन्ना कर रहे थे, और कांग्रेस के बायकाट प्लान के समर्थक थे। श्री बरकत अली मुस्लिम लीग के जिन्ना गुट में थे। मुस्लिम लीग के इन दोनों गुटों ने 1928 में अपना अलग–अलग अधिवेशन अलग–अलग जगहों पर किया। शफी गुट का सम्मेलन लाहौर में और श्री जिन्ना गुट का सम्मेलन कलकत्ता में हुआ। श्री बरकत अली, जो पंजाब मुस्लिम लीग के सचिव थे, ने जिन्ना गुट द्वारा कलकत्ता में आयोजित अधिवेशन में भाग लिया और सांप्रदायिक समझौते के संबंध में एक संकल्प पेश किया। उसका आधार था संयुक्त निर्वाचन। संकल्प का प्रस्ताव करते हुए श्री बरकत अली ने कहा :

> "मुस्लिम लीग के इतिहास में पहली बार दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के माध्यम से हम अपने हिंदू देशवासियों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ा रहे हैं, जिन्होंने पृथक निर्वाचन का विरोध किया है।"[1]

1928 में डॉ. अंसारी के नेतृत्व में नेशलिस्ट पार्टी का गठन[2] किया गया। यह राष्ट्रीय मुस्लिम लीग के जिन्ना गुट से आगे का कदम था, और ये लोग नेहरू रिपोर्ट को उसी रूप में, बिना किसी संशोधन के, स्वीकार करने के लिए तैयार थे, यहां तक कि जिन्ना ने जिन संशोधनों पर बल दिया था, उन पर भी जोर दिए बगैर। श्री बरकत अली, जो 1927 में मुस्लिम लीग के जिन्ना गुट में थे, उसे छोडकर डॉ. अंसारी की/ पार्टी में आ गए क्योंकि उनके विचार में मुस्लिम लीग वास्नविक रूप में पूर्णतः राष्ट्रवादी पार्टी नहीं थी। श्री बरकत अली वास्तव में उस समय बहुत बड़े राष्ट्रवादी थे जो इस बात से स्पष्ट है कि 1930 में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में जब सर मोहम्मद इकबाल ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत विभाजन की बात कही, जिसे बाद में श्री जिन्ना और श्री बरकत अली ने पाकिस्तान का नाम दिया, तो उन्होंने उस पर भयंकर प्रहार किया।[3] 1931 में पंजाब नेशनलिस्ट मुस्लिम कांफ्रेस की बैठक लाहौर में हुई और श्री बरकत अली इसकी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। उन्होंने पाकिस्तान के बारे में जो विचार[4] प्रकट

---

1. इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1927, भाग–2, पृ. 448
2. इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1929, भाग–2, पृ. 350
3. भाषण को देखें, इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1930, भाग–2, पृ. 334-345
4. इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1931, भाग–2, पृ. 234-235

किए, वे उद्धत करने योग्य हैं। अपनी पार्टी के राजनीतिक विश्वास को बढ़ाने पर बल देते हुए मलिक बरकत अली ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा :

"सर्वप्रथम और सर्वोपरि, हम भारत की पूर्ण स्वतंत्रता और गरिमा में विश्वास करते हैं। भारत, जो कि हमारा जन्मस्थान है और जिसके साथ हमारा प्रेम, अमूल्य श्रद्धा और विश्वास जुड़े हुए हैं, वही हमारे प्रेम और श्रद्धा का प्रथम हकदार है। हम इस दुष्प्रचार में कभी शामिल नहीं होगें, जो यह कहकर मुस्लिमों की भावनाओं को भड़काता है कि वे मुसलमान पहले हैं, भारतीय बाद में। हमारे लिए इस तरह का नारा केवल थोथा ही नहीं, बल्कि शरारतपूर्ण एवं निरर्थक भी है। हम इस्लाम और उसकी बेहतरी के लिए किसी भी तरह से भारत के स्थाई हितों के प्रतिकूल कार्य या उस से टकराव नहीं कर सकते। भारत और भारत में इस्लाम दोनों समरूप हैं, और जो कुछ भारत के लिए हानिकर हैं, वही इस्लाम के लिए भी अहितकर है, चाहे फिर वह आर्थिक रूप से हो, सामाजिक रूप से हो या फिर नैतिक रूप से। इसलिए वे राजीनीतिज्ञ झूठे मसीहा है और वास्तव मे इस्लाम के शत्रु हैं, जो यह कहते है कि इस्लाम और भारत के हितो के बीच टकराव है। भारत के बाहर रहनेवाले मुसलमान भाइयो जैसे तुर्क, मिस्र या अरबवासियों के साथ हमारी जो भी सहानुभूति हो, यह निःसंदेह हमारे लिए आदर्श और अच्छी बात है, परंतु हम इस सहानुभूति को भारत के मौलिक हितों के खिलाफ नहीं जाने देगे। वास्तव में हमारी सहानुभूति उन देशों के लिए तभी कीमती हो सकती है, जब कि उस का उद्‌गम, पोषक, एवं स्रोत हमारा महान भारत हो। भगवान करे कभी ऐसा न हो, जब कोई मुस्लिम ताकत सीमा के उस पार से भारत को गुलाम बनाना चाहे और भारत के लोगों की मौलिक स्वतंत्रता का हनन करना चाहे। ऐसे में कोई भी अखिल इस्लामिक अनुभूति, जिसका चाहे जो भी अर्थ हो, भारत के मुसलमानों को विदेशी मुसलमानों के विरूद्ध लड़ने से नही रोक सकती।

"अतः इस तरह की धारणा किसी भी गैर–मुस्लिम मे नही होनी चाहिए। मै इस बात को जानता हू कि कुछ सकीर्ण विचारधारा वाले हिदू राजनीतिज्ञ लगातार इस बात की दुहाई दे रहे है कि उत्तर–पश्चिम सीमा पर इस्लाम से भारत को खतरा है। परंतु मैं दोहराना चाहूंगा कि इस तरह के बयान वास्तव में गलत और बेबुनियाद हैं। भारत के मुसलमान भारतीय स्वतंत्रता की रक्षा उसी तरह करेंगे, जिस तरह

गैर–मुस्लिम भारतीय, यहां तक कि आक्रमणकर्ता यदि इस्लाम का अनुयायी हो, तब भी।

"दूसरे, हम सिर्फ आजाद भारत में ही विश्वास नहीं करते, बल्कि संयुक्त भारत में विश्वास करते हैं। मुसलमानों का भारत, हिंदुओं का भारत, सिखों का भारत या किसी एक समुदाय अथवा दूसरे समुदाय का भारत नहीं, बल्कि सभी का भारत। यह हमारी दृढ़ आस्था है। हम भारत के विभाजन में किसी भी पार्टी, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, के साथ जाने से इंकार करते हैं, सिर्फ इसलिए नहीं कि यह अव्यावहारिक हैं, (और यह बात घृणास्पद ही नही, बल्कि आज जो आदर्श गतिविधियां हो रही है, उनके लिए मृत्यु का शंखनाद भी है,) बल्कि यह भारत की ऐतिहासिक परंपराओं के प्रतिकूल भी है।

"भारत अशोक और चद्रगुप्त के समय में भी एक था और जब राजसत्ता हिंदुओं से मुगलो के हाथ मे गई, तब भी एक ही रहा और आगे भी एक रहेगा। तब हमारी चिर–इच्छाओं की पूर्ति होगी और हम स्वतंत्रता के उच्च्य धरातल पर पहुंचेंगे, जहां सारी रोशनी सिर्फ प्रतिबिंबित रोशनी ही नहीं होगी, बल्कि ऐसी रोशनी होगी जो हमारे ही चेहरों से निकलती हुई दिखाई देगी।

"विभाजित भारत की परिकल्पना सर मोहम्मद इकबाल ने अभी हाल ही में मुस्लिम लीग के अध्यक्षीय भाषण में प्रतिपादित की और वह भी ऐसे समय में, जबकि मुस्लिम लीग अपने आप में मृतप्राय: हो गई थी, और स्वतंत्र इस्लाम का प्रतिनिधित्व तो वह कतई नही करती। मुझे खुशी है कि सर मोहम्मद इकबाल ने अपने इस बयान को वापस ले लिया है। किसी भी व्यक्ति को यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि सर मोहम्मद इकबाल जो कर रहे है, वह भारत के प्रति इस्लाम की घोषणा है। यदि डॉ. सर मोहम्मद इकबाल ने अपने वक्तव्य को वापस नही ले लिया होता तो फिर मै उनके इस वक्तव्य का जोरदार ढंग से, बिना किसी हिचक के, प्रतिकार करता, क्योंकि यह इस्लाम की आत्मा और परंपरागत विकास की धारणा के खिलाफ है, और मै, गर्वपूर्वक यह कहता हूं कि सांप्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन नहीं होना चाहिए, बल्कि हिंदुओं और मुसलमानों को अविभाजित भारत के अंदर एक बनकर, सहचर के रूप में रहना है और उन्हें अलग–अलग छोटी सीमाओं में नहीं बांटा जा सकता। डॉ. इकबाल की हिंदू भारत और मुस्लिम भारत की संकल्पना की ही तरह का

दुर्भाग्यपूर्ण प्रस्ताव सिख संप्रदाय के कुछ संप्रदायवादियों द्वारा पंजाब के विभाजन के बारे में दिया गया है।

"एक स्वतंत्र, संयुक्त भारत जैसी महान विचारधारा, जिसमें सभी लोग समानता से बिना किसी भेदभाव के कानून का संरक्षण प्राप्त करें, जो उनके चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा एक सच्चे और विराट जनतांत्रिक तथा संयुक्त निर्वाचन के आधार पर तैयार किया गया हो, और जिसका प्रशासन बिना किसी भेदभाव के उस कानून का परिपालन करे और अपने काम के लिए जवाबदेह भी हो, ऐसा समाज नहीं जो दूरस्थ विदेशी संसद के हाथ में हो और जिसका संचालन कही दूर से हो रहा हो, बल्कि हमारी अपनी मातृभूमि के प्रतिनिधियों द्वारा तैयार किया गया हो। दरअसल, मेरे मस्तिष्क में अपने जनतंत्र की जो तस्वीर उभरती है, उसके रंगों का पूरा विवरण मैं आपको नहीं दे सकता। राष्ट्रवादी मुस्लिम पार्टी के उद्देश्य और लक्ष्यों का जिक्र न करते हुए मैं अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा, क्योंकि आज संयुक्त या पृथक निर्वाचन की बात इस कदर उठी है कि संभवतः कोई भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

"ऐसे समय में पृथक निर्वाचन की कोई भी उपयोगिता क्यों न रही हो, जब कि कृत्रिम जोड़–तोड़ और कुटिलतापूर्ण मतदान से एक प्रांत की बहुसंख्यक जनता को मतदान–सूची में अल्पसंख्यक और अल्पसंख्यक जनता को बहुसंख्यक बनाने का षड्यंत्र चल रहा हो, जब सांप्रदायिक भावनाएं भड़क उठी हों, जब लोगों में विश्वास–अविश्वास का जहर घोला गया हो और सारा वातावरण ही इससे ग्रसित हो, हम अनुभव करते हैं कि वर्तमान की ऐसी परिस्थितियों में भारत के भविष्य के हित में पृथक निर्वाचन का कोई स्थान नहीं है।"

श्री जिन्ना और श्री बरकत अली के राष्ट्रीयता और पृथक निर्वाचन तथा पाकिस्तान के बारे में ऐसे विचार थे, परंतु इन्हीं समस्याओं पर अब उनके विचार इसके एकदम विपरीत हैं।

अब तक मैंने हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने की नाकाम कोशिश और मुस्लिम नेताओं मे एक नई विचारधारा उभरने की ओर इंगित करने की कोशिश की है। उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में एक तीसरी बात भी है, जिसका मैं विवेचन करना चाहूंगा – कि क्या मुस्लिम विचारधारा न्यायसंगत है और क्या उसके पीछे ऐसा औचित्य है जिसे राजनीतिक दार्शनिक स्वीकार कर सकें?

कई हिंदू मानते हैं कि पाकिस्तान का कोई औचित्य नहीं है। यदि हम अपने आपको पाकिस्तान के सिद्धांत तक सीमित रखें, तो निःसंदेह यह एक अत्यंत

दोषपूर्ण दृष्टिकोण होगा। पाकिस्तान के औचित्य का दार्शनिक आधार है समुदाय और राष्ट्र के बीच भेद। प्रथम, इस बात को हाल ही में स्वीकार किया गया है। राजनीतिक दार्शनिक काफी लंबे अरसे से मुख्यतः दो बातों तक ही सीमित रहे है, जो उनके प्रश्नों में निहित हैं, और वह यह कि अल्पसंख्यक लोगों पर बहुसख्यक लोगों का शासन करने का अधिकार किसी सीमा तक सरकार के लिए विवेकपूर्ण आधार स्वीकार किया जा सकता है और किस सीमा तक सरकार की वैधता शासित की सहमति पर निर्भर कर सकती है। इस बात पर ज़ोर देने वाले भी कि सरकार की वैधता शासित की सहमति पर निर्भर है, अपनी धारणा से संतुष्ट रहते हैं और आगे जानने की कोशिश ही नहीं करते। उन्होंने शोषित वर्ग की विभिन्न श्रेणियों में भेद करने की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने निःसंदेह प्रत्यक्ष रूप से यह सोचा होगा कि जो शोषित वर्ग में हैं, वे चाहे एक समुदाय के हों या एक राष्ट्र के हों, यह कोई खास गहराई से सोचने की बात नहीं है। परंतु परिस्थितियों ने राजनीतिक दार्शनिक को इस बात में भेद स्वीकार करने को मजबूर कर दिया है। दूसरी बात यह है कि यह भेद बिना अंतर के नहीं किया जा रहा। यह बहुत बड़ा अंतर है और तदनुसार भेद भी मूलभूत है। एक समुदाय और एक राष्ट्र के बीच बहुत मौलिक भिन्नता होती है, यह इस बात से स्पष्ट है कि राजनीतिक दर्शनशास्त्री एक समुदाय की कुछ सीमित राजनीतिक अधिकार ही देते हैं, जबकि एक राष्ट्र को अपनी सरकार स्थापित करने का अधिकार देते हैं। राजनीतिक दर्शनशास्त्री एक समुदाय को सिद्धांततः केवल बगावत का अधिकार ही देने को तैयार हैं, परंतु एक राष्ट्र को वे विघटन का अधिकार भी देते हैं। अतः दोनों में बहुत गहरे और मौलिक भेद हैं। बगावत का अधिकार सरकार के शासन करने के तरीके में बदलाव तक ही सीमित है, परंतु राज्य को विघटित करने का अधिकार अधिक प्रबल है, और वह राज्य के सदस्यों के एक समुदाय को राज्य से अपगमन तथा राज्य के अधिकृत राज्यक्षेत्र से पृथक करने का अधिकार भी है। कई बार आश्चर्य होता है कि इस भेद का आधार क्या है? राजनीतिक दार्शनिकों ने इसका विवेचन करते हुए एक समुदाय के बगावत*

---

* सिजविक ने इसे उचित ठहराते हुए कहा है कि जिस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं, वह बड़ा अहम है। बगावत की बुराई चुपचाप बर्दाश्त कर लेने की बुराई से कम ही है। बगावत से कभी समस्या के निदान भी हो सकते हैं चाहे विद्रोहियों की ताकत कितनी भी कमजोर क्यों न हो, क्योंकि बहुसंख्यक लोगों के मन में यह विचार उठ सकता है कि आखिरकार क्यों कुछ लोग किसी बात को लेकर यह सब कुछ कर रहे है? इन्हीं कारणों से, किसी संभावित विवाद को न पनपने देने के प्रयोजन से भी समझौते का मार्ग चुना जा सकता है। संक्षेप में, विघटन या अव्यवस्था उभरने के भय से उन लोगों पर एक अंकुश लग सकता है जिनके हाथ में संवैधानिक रूप से प्रजातांत्रिक सरकार की सत्ता निहित है। अतः मैं यह मानता हूं कि किसी भी शासित समुदाय में बगावत करने का अधिकार होना लाजिमी है।

एलिमेंट्स ऑफ पालिटिक्स, 1929, पृ. 646-647

और एक राष्ट्र के विघटन[1] के संदर्भ में प्रकाश डाला है।

निष्कर्ष यह है कि एक समुदाय को सुरक्षा का और एक राष्ट्र को अलग होने का अधिकार प्राप्त है। अतः इन दोनों में भेद बिल्कुल स्पष्ट और महत्वपूर्ण हैं, परंतु राजनीतिक विवेचकों ने इससे आगे तर्क नहीं दिए कि ये अधिकार एक के मामले में बगावत तक और दूसरे के मामले में विघटन तक क्यों सीमित है, बल्कि उन्होंने इस प्रश्न को उठाया तक नहीं। उनके द्वारा दिए गए तर्क अपने आप में स्पष्ट भी नहीं लगते, परंतु यह भेद रखा क्यों गया, यह बड़ा रोचक और ज्ञानप्रद प्रश्न है। मेरे विचार में यह भेद अंततः इस बात पर निर्भर करता है कि उनके अंतिम लक्ष्य क्या हैं। राज्य या तो कई समुदायों की एक श्रृंखला से गठित हुआ है अथवा कई राष्ट्रों से। पहले मामले में, एक समुदाय दूसरे समुदाय के खिलाफ खड़ा हो सकता है, और दोनों समुदाय एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं, परंतु अपनी अंतिम नियति वे एक ही महसूस करते हैं। परन्तु जब कई राज्य अनेक राष्ट्रों से मिलकर बना है और जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के खिलाफ उठता है तो उनमें यह संघर्ष अपनी अंतिम नियति की भिन्नता को लेकर होता है। समुदायों और राष्ट्रों के बीच यही भेद होता है, और यह स्पष्ट करता है कि उनके राजनीतिक अधिकारों में क्या अंतर है? इस व्याख्या में कुछ भी मौलिक और नया नहीं है। यह सिर्फ एक राज्य के एक किस्म के अधिकार हैं और दूसरे राज्य के दूसरे किस्म के अधिकार हैं, मात्र इस बात को कहने का तरीका दूसरा है। एक समुदाय को बगावत का अधिकार है, क्योंकि वह इससे संतुष्ट है। वह समुदाय सिर्फ सरकार के शासन के तौर–तरीकों में बदलाव चाहता है। इसका विवाद किसी अंतिम लक्ष्य को लेकर नहीं है। एक राष्ट्र को विघटन

---

1. विघटन करने के अधिकार पर सिजविक का कहना है कि कुछ लोग यह सोचते हैं कि एक सरकार की वैधता के लिए यह जरूरी है कि उसे शासित वर्ग की अनुमति प्राप्त हो। ऐसे लोग यह निष्कर्ष निकालने में नहीं चूकते कि बहुसंख्यक लोगों का यह अधिकार है कि वे उस राज्य से अलग होकर अपना अलग राज्य स्थापित कर लें जब ऐसे अल्पसंख्यक लोग जो उस राज्य के किसी एक क्षेत्र में बहुसंख्यक हों.........मैं समझता हूं कि ऐसे उदाहरण भी हैं जिसमें विघटन होना सभी के हित में हो। उदाहरण के लिए, जहां एक राज्य के दो भाग सीमाओं या किसी भौगोलिक अवरोध और संचार के अभाव में अलग–अलग हो गए हों और उन लोगों के बीच धर्म, जाति, भाषा, इतिहास या वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों की वजह से भेद हो, और उन दोनों भौगोलिक क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं, मांगों और सरकार से विभिन्न कानूनों की अपेक्षाएं हों, तो अपेक्षा करना कि उनके आंतरिक मामलों के लिए एक ही सरकार हो, ठीक नहीं लगता। यह भी हो सकता है कि उनकी बाहरी आवश्यकताएं भी अलग–अलग हों और इन विभिन्नताओं की वजह से उनमें ज्यादा लड़ाई की गुंजाइश बनी रहती हो। अतः ऐसी परिस्थितियों में सिर्फ ऐतिहासिक और देशभक्ति की भावनाओं को लेकर यह उचित नहीं होगा कि ऐसे अनमेल राज्य के शांतिपूर्ण विघटन को रोक कर, उसको एक ही इकाई में बांधकर रखा जाये।

एलिमेंट्स ऑफ पालिटिक्स, 1929, पृ. 648-649

करने का अधिकार देना पड़ेगा, क्योंकि वह राष्ट्र सिर्फ शासन के तौर-तरीकों में बदलाव से ही संतुष्ट नहीं होगा। इसका विवाद इस बात को लेकर है कि उसका लक्ष्य क्या है। यदि वह तब तक संतुष्ट नहीं होगा जब तक कि उनके बीच में एक कृत्रिम समझौता खत्म नहीं कर दिया जाता, जो उन्हें जोड़ता है, तो ऐसी हालत में बुद्धिमत्ता और नैतिकता की मांग यह है कि ऐसे बंधनों को तोड़कर उन्हें मुक्त कर देना चाहिए, ताकि वे अपने-अपने मंतव्य की ओर अग्रसर हो सकें।

V

जहां एक ओर यह मानना जरूरी है कि हिंदू-मुस्लिम एकता के सभी प्रयास विफल रहे हैं और मुस्लिम विचारधारा में पूर्ण परिवर्तन हुआ है, वहीं यह जानना भी आवश्यक है कि इन बातों के निश्चित कारण क्या हैं? हिंदू कहते हैं कि अंग्रेज की 'फूट डालो और राज करो' की नीति ही इस विफलता और विचारधारा में पूर्ण परिवर्तन का मुख्य कारण है। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। हिंदुओं ने आयरलैंड के लोगों की तरह हमेशा सरकार के खिलाफ बोलने की राजनीति की एक मानसिकता बना ली है, यहां तक कि अगर मौसम खराब हो गया हो तो इसमें भी सरकार का हाथ है। अब समय आ गया है कि हिंदुओं को अपनी यह मानसिकता छोड़नी होगी, क्योंकि उनके इस दृष्टिकोण में दो अहम मुद्दों पर ध्यान नहीं दिया गया है। सर्वप्रथम, पहला मुद्दा इस बात को दरकिनार कर देता है कि अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति, यह मानते हुए भी कि अंग्रेज ऐसा करते हैं, तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक हमारे बीच ऐसे तत्व न हों जो यह विभाजन संभव करा सकें, और यदि यह नीति इतने लंबे समय तक सफल होती रही है तो इसका तात्पर्य यह है कि हमारे बीच में हमारा विभाजन करने वाले तत्व करीब-करीब ऐसे हैं कि उनमें कभी भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता और वे क्षणिक नहीं है। दूसरे श्री जिन्ना, जो इस परिवर्तित विचारधारा के प्रतिनिधि हैं, को कोई भी, यहां तक कि उनके प्रबल शत्रु भी, यह नहीं कहेंगे कि वे अंग्रेजों के पिट्ठू हैं। संभव है कि वे अपने मत के दृढ़ आग्रही और आत्मश्लाघी हों, और कुछ सीमा तक अभिमानी भी हो सकते हैं। इसीलिए दूसरे लोगों के तहत वे किसी सामाजिक मुद्दे को लेकर काम नहीं कर सकते। उनके पास बहुत प्रचुर विचार चाहे न हों, लेकिन उन्हें, जैसा कि उनके कुछ आलोचक भी कहते हैं, दूसरे आदमी के विचारों पर निर्भर थोथा व्यक्ति नहीं कह सकते। या हो सकता है, उनकी प्रसिद्धि वास्तविक न होकर काल्पनिक अधिक हो। लेकिन साथ ही संदेह है कि भारत में उनके समान क्या कोई अन्य राजनीतिज्ञ है, जिसे हम सही ढंग से कह सकें कि वह कट्टर ईमानदार व्यक्ति

है। जिस किसी को भी अंग्रेज सरकार से उनके संबंधों की जानकारी है, वह यह मानेगा कि वे हमेशा अंग्रेजों के प्रतिद्वंद्वी न सही, आलोचक अवश्य रहे हैं, क्योंकि कोई भी उन्हें खरीद नहीं सकता था। उनके लिए यह कहना पड़ेगा कि वे कभी भी मुकद्दर के सिंकदर नहीं रहे। श्री जिन्ना की इस विचारधारा में सैद्धांतिक परिवर्तन को पारंपरिक हिंदू व्याख्या आंकने में विफल रही है।

हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए किए गए प्रयत्नों की विफलता और मुस्लिम विचारधारा में परिवर्तन की दुखद घटनाओं की वास्तविक व्याख्या क्या है?

हिंदू–मुस्लिम एकता की विफलता का मुख्य कारण इस अहसास का न होना है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जो भिन्नताएं हैं, वे मात्र भिन्नताएं ही नहीं हैं, और उनके बीच मनमुटाव की भावना सिर्फ भौतिक कारणों से ही नहीं है। इस विभिन्नता का स्रोत ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दुर्भावना है, और राजनीतिक दुर्भावना तो मात्र प्रतिबिंब है। ये सारी बातें असंतोष का दरिया बना लेती हैं, जिसका पोषण उन तमाम बातों से होता है जो बढ़ते–बढ़ते सामान्य धाराओं को आप्लावित करता चला जाता है। दूसरे स्रोत से पानी की कोई भी धारा, चाहे वह कितनी भी पवित्र क्यों न हो, जब स्वंय उसमें आ मिलती है तो उसका रंग बदलने के बजाय वह स्वयं उस जैसी हो जाती है। दुर्भावना का यह अवसाद, जो धारा में जमा हो गया हैं, अब बहुत पक्का और गहरा बन गया है। जब तक ये दुर्भावनाएं विद्यमान रहती है, तब तक हिंदू और मुसलमान के बीच एकता की अपेक्षा करना अस्वाभाविक है।

तुर्की साम्राज्य में ईसाई और मुसलमानों की तरह भारत के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कई लड़ाइयां हो चुकी हैं या वे शत्रु के रूप में एक दूसरे के सामने आ चुके हैं और इस के बाद उनके संबंध विजेता एवं पराजित के बन गए हैं। जिस भी किसी पक्ष की विजय हुई है, उनके बीच एक गहरी खाई के बावजूद जबरन राजनीतिक एकता बनी रही, चाहे वह मुसलमानों के तहत रही हो या फिर अंग्रेजों के या किसी और के तहत; और उनमें बेहतर संबंधों के बजाए, जैसा कि अन्य कई मामलों में होता रहा है, असंतोष बढ़ता गया है। इस खाई को न तो धर्म और न ही सामाजिक संहिता पाट सकी है। ये दोनों धर्म एक–दूसरे के प्रतिकूल हैं और अच्छी सामाजिक व्यवस्था के लिए इनमें जबरन चाहे जो भी सामंजस्य बिठाया गया हो, किंतु आंतरिक सामंजस्य स्थापित नहीं हो पा रहा है। इन दोनों के बीच एक प्राकृतिक विरोध की भावना रही है, जिसे शताब्दियों से खत्म नहीं किया जा सका है। दोनों मतावलंबियों को साथ लाने के लिए अकबर और कबीर जैसे सुधारकों द्वारा किए गए कार्यों के बावजूद इन दोनों के बीच अभी तक ऐसी नैतिक वास्तविकताएं मौजूद हैं कि लगता है कि उन्हें कभी भी सम–स्तर पर नहीं लाया जा सकता। एक हिंदू बिना किसी

सामाजिक विप्लव या झटके के ईसाई धर्म अपना सकता है, लेकिन वही बिना किसी सांप्रदायिक दंगे या बिना किसी हिचकिचाहट के इस्लाम धर्म नहीं अपना सकता। यह इस बात का द्योतक है कि हिंदुओं और मुसलमानों में कितना गहरा प्रतिरोध है, जो उन्हें अलग-अलग करता है।

यदि इस्लाम और हिंदू धर्म मुसलमानों और हिंदुओं को उनके निजी विश्वास के मामले में अलग-अलग करते हैं तो वे उन्हें सामाजिक मेल-मिलाप से भी दूर रखते हैं। यह सर्वविदित है कि हिंदू धर्म मुसलमानों से शादी-ब्याह पर रोक लगाता है। यह संकीर्णता सिर्फ हिंदू धर्म की ही नहीं है, बल्कि इस्लाम भी हिंदू और मुसलमानों के बीच शादी-ब्याह पर प्रतिबंध लगाता है। ऐसी सामाजिक संहिताओं के होते हुए भी इनमें कोई सामाजिक मेलमिलाप नहीं हो सकता। फलस्वरूप न तो उनके दृष्टिकोण और रहन-सहन में एकता हो सकती है और न ही बरसों से चली आ रही उनकी निश्चित मान्यताओं की धारा बदल सकती है।

हिंदू धर्म और इस्लाम में और भी अनेक दोष हैं, जो हिंदुओं और मुसलमानों के घावों को कभी भरने नहीं देते। कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म लोगों को बांटता है, जबकि इस्लाम धर्म उन्हें मिलाता है, लेकिन यह अर्द्धसत्य है क्योंकि इस्लाम भी लोगों को उतना ही बांटता है, जितना कि हिंदू धर्म। इस्लाम एक बंद निकाय की तरह है, जो मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच जो भेद यह करता है, वह बिल्कुल मूर्त और स्पष्ट है। इस्लाम का भ्रातृभाव मानवता का भ्रातृत्व नहीं है, मुसलमानों का मुसलमानों से ही भ्रातृत्व है। यह बंधुत्व है, परंतु इसका लाभ अपने ही निकाय के लोगों तक सीमित है और जो इस निकाय से बाहर हैं, उनके लिए इसमें सिर्फ घृणा और शत्रुता ही है। इस्लाम का दूसरा अवगुण यह है कि यह सामाजिक स्वशासन की एक पद्धति है और स्थानीय स्वशासन से मेल नहीं खाता, क्योंकि मुसलमानों की निष्ठा, जिस देश में वे रहते हैं, उसके प्रति नहीं होती, बल्कि वह उस धार्मिक विश्वास पर निर्भर करती है, जिसका कि वे एक हिस्सा हैं। एक मुसलमान के लिए इसके विपरीत या उलटे सोचना अत्यंत दुष्कर है। जहां कहीं इस्लाम का शासन हैं, वहीं उसका अपना विश्वास हैं। दूसरे शब्दों में, इस्लाम एक सच्चे मुसलमानों को भारत को अपनी मातृभूमि और हिंदुओं को अपना निकट संबंधी मानने की इजाजत नहीं देता। संभवतः यही वजह थी कि मौलाना मुहम्मद अली जैसे एक महान भारतीय परंतु सच्चे मुसलमान ने अपने शरीर को हिंदुस्तान की बजाए येरूसलम में दफनाया जाना अधिक पसंद किया।

मुसलमान नेताओं के इस सैद्धांतिक परिवर्तन को उनके विचारों में हुआ कपटपूर्ण बदलाव नहीं कहा जा सकता। यह परिवर्तन एक नए प्रकाश की ओर,

उनकी एक नई नियति की ओर इंगित करता है, जिसे उन्होंने नया नाम दिया है – 'पाकिस्तान'। ऐसा लगता है कि मुसलमानों ने पहली बार अपनी नई नियति की नए ढंग से पूजा करनी शुरू कर दी है, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। उनकी यह नई अर्चना है, क्योंकि उनके भाग्य का सूरज जो अब तक बदली में छिपा हुआ था, अब सामने आ गया है और पूरी आभा के साथ चमक रहा है। इस नए भाग्य का आकर्षण स्वाभाविक रूप से मुसलमानों को अपनी ओर खींचेगा। यह आकर्षण इतना प्रबल है कि श्री जिन्ना जैसे व्यक्ति को भी इसने पूरी तरह से झकझोर दिया है और इसे वे रोक नहीं पा रहे हैं। उनका यह भाग्य भारत के मानचित्र पर अपने आपको ठोस रूप में आंक चुका है। जो भी इस मानचित्र पर निगाह डालेगा, वह उसे देखे बिना नहीं रह पाएगा। यह एक वास्तविकता है, जिसे लगता है कि जैसे विधाता ने मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र के रूप में बनाया हो। मुसलमानों का यह नया भाग्य न केवल आसानी से मूर्त रूप ले लेने वाला है, बल्कि आकर्षक भी है। और यह बात मुसलमानों में तेजी से स्वीकृति पा रही है, क्योंकि सारे मुसलमानों को एक इस्लामिक राज्य में परिवर्तित करने की बात निहित है, जिससे विभिन्न देशों में फैले मुसलमानों द्वारा उस देश की राष्ट्रीयता अपनाने का खतरा टल जाएगा जिसमें वे रह रहे हैं, और फलतः इस्लाम में भ्रातृत्व की जो भावना[1] है, वह विछिन्न होने से बच जाएगी। हिंदुस्तान से पाकिस्तान के अलग होने के साथ ईरान, ईराक, अरब, तुर्की, मिस्र आदि मुस्लिम देश अपना एक संघ बना रहे हैं, जो कुस्तुनतुनिया से लाहौर तक बनेगा। एक मुसलमान वास्तव में मूर्ख ही होगा यदि वह अपने इस नए भाग्य का नक्शा देखकर अपने विचार यह सोचकर पूरी तरह से बदल न दे कि मुसलमानों का भारत में क्या स्थान है।

मुसलमानों का लक्ष्य इतना स्पष्ट है कि कई बार यह आश्चर्य होता है कि उन्हें इसे अपनाने में इतना समय क्यों लगा। इस बात के प्रमाण हैं कि कुछ मुसलमानों ने तो अपने इस अंतिम लक्ष्य को 1923 में ही जान लिया था। इस संदर्भ में खान साहब सरदार एम. गुल खान के उस बयान का जिक्र किया जा सकता है, जो उन्होंने उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रांत की समिति के सम्मुख साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया था। इस समिति के अध्यक्ष श्री डेनिस ब्रे थे, जिन्हें सरकार ने उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत के निर्णीत जिलों और आदिवासी क्षेत्रों के बीच शासन–विषयक संबंध तथा निर्णीत जिलों को पंजाब में मिला देने की सिफारिश के लिए नियुक्त किया था। समिति के सम्मुख उनके बयान का महत्व समिति के अन्य सदस्यों ने तो नहीं, पर श्री एन.एम. समर्थ ने पहचाना और अपनी अलग

1. सर मुहम्मद इकबाल ने मुसलमानों में, जिनमें भारतीय मुसलमान भी शामिल हैं, किसी भी गैर–मुस्लिम देश की, जिसमें वे रहते हैं, राष्ट्रीयता स्वीकार करने की भर्त्सना की थी।

अल्पसंख्यक विषयक रिपोर्ट में इस ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया। उनकी रिपोर्ट की निम्नलिखित बातें मुसलमानों के लक्ष्य निर्माण के इतिहास* के एक अंधेरे भाग को सामने लाती हैं। समर्थ कहते हैं :

"समिति के सामने दूसरा कोई ऐसा साक्षी नहीं था, जो अपने व्यक्तिगत ज्ञान और अनुभव के आधार पर सिर्फ उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और स्वतंत्र प्रदेश के बारे में ही नहीं, बल्कि बलूचिस्तान, फारस और अफगानिस्तान आदि के बारे में भी इतने प्रभावशाली ढंग से अपना पक्ष रखने का दावा कर सकता हो। यह स्मरणीय है कि वह समिति के सम्मुख इस्लामिक अंजुमन डेरा इस्माइल खान के अध्यक्ष की हैसियत से साक्षी थे। इस साक्षी (खान साहब सरदार मुहम्मद गुल खान) से मैंने पूछा – 'मान लीजिए कि सीमांत प्रांत की सिविल प्रशासनिक सरकार को सिंध सूबे की सरकार की तरह बनाया जाए, तो ऐसी स्थिति में यह सूबा भी पंजाब का हिस्सा हो जाएगा, जैसे कि सिंध बम्बई प्रेसीडेंसी का है। इसके बारे में आपको क्या कहना है? अपने उत्तर में उन्होंने मुझे सीधा सा जवाब दिया – 'जहां तक इस्लाम और मुसलमानों का मुस्लिम राष्ट्रमंडल बनाने के विचार का संबंध है, मैं इसके विरूद्ध हूं।' उनके इस उत्तर के बाद मैंने उनसे कुछ और प्रश्न किए, जिनके उन्होंने स्पष्ट और बेझिझक जवाब दिए। उनके जवाब के संदर्भित हिस्से मैं यहां उद्धृत करना चाहूंगा।

प्रश्न: आपके अंजुमन के पीछे सर्व–इस्लाम का विचार है, जिसका अभिप्राय है कि इस्लाम राष्ट्रों का एक संघ है और इस तरह इस सूबे को पंजाब से मिलाने में नुकसान होगा, और यह बात इस विचार के खिलाफ होगी। जो लोग आपसे सहमत हैं, क्या उनका मुख्य विचार भी यही है, और क्या यह सही है?

उत्तर: ऐसा ही है, परंतु मैं आगे कुछ और कहना चाहूंगा। उनका विचार है कि हिंदू–मुसलमान एकता कभी भी वास्तविक नहीं हो पाएगी। वह वास्तविकता में एक यथार्थ नहीं हो सकेगी। वे यह सोचते हैं कि इस सूबे को अलग ही रहना चाहिए तथा इस्लामिक और ब्रिटिश राष्ट्रसंघ के बीच कड़ी बनकर रहना चाहिए। वास्तव में जब मुझसे यह पूछा जाता है कि मेरा विचार क्या है तो मैं अंजुमन के एक सदस्य के नाते यह कहता हूँ – हम हिंदुओं और मुसलमानों का विभाजन भले देखे लें। दक्षिण की तरफ 23 करोड़ हिंदू और उत्तर की ओर

* उत्तर–पश्चिमी सीमा जांच–समिति की रिपोर्ट, 1924, पृ. 122-123

8 करोड़ मुसलमान हैं। रासकुमारी* से आगरा तक हिंदुओं को दिया जाए और आगरा से पेशावर तक मुसलमानों को। मेरा अभिप्राय है: एक स्थान से दूसरे स्थान तक लोगों का स्थानांतरण। यह लोगों की अदला–बदली का विचार है। यह नर–संहार का विचार नहीं है। रूसी क्रांति व्यक्तिगत संपत्ति के विरूद्ध हैं। यह सारी संपत्तियों के राष्ट्रीयकरण के लिए है। परंतु यह बात अदला–बदली तक ही सीमित है। यह व्यावहारिक नहीं लगती। किंतु यदि यह व्यावहारिक होती, तो हम निश्चित रूप से इसे पसंद करते, बजाए किसी और व्यवस्था के।

प्रश्नः क्या यही मुख्य विचार है, जे आपको पंजाब से विलय न करने के लिए प्रेरित देता है?

उत्तरः बिल्कुल।

× × ×

प्रश्नः जब आपने इस्लामिक राष्ट्रो के संघ की बात की तो मैं समझता हूं कि आपके मस्तिष्क में उस समय इसके राजनीतिक पहलू के बजाए धार्मिक पहलू ही ज्यादा प्रभावी था।

उत्तरः बिल्कुल राजनीतिक। अंजुमन एक राजनीतिक संस्था है। यह बात सही है कि कोई भी चीज जो मुसलमानों से संबंधित होती है, शुरू में धार्मिक ही होती हैं, परंतु अंजुमन वास्तव में राजनीति से संबंधित हैं।

प्रश्नः मैं आपके अंजुमन की ओर इंगित नहीं कर रहा था, बल्कि मुसलमानों की बात कर रहा था। मैं जानना चाहता हूं कि मुसलमान इस्लामिक राष्ट्रों के संघ के बारे में क्या सोचते हैं? उनके मस्तिष्क में इस संबंध में मुख्यतः क्या है? क्या यह धार्मिक पहलू है या राजनीतिक पहलू बन गया है?

उत्तरः जैसा कि आप जानते हैं, इस्लाम धार्मिक भी है और राजनीतिक भी।

प्रश्नः अर्थात् राजनीतिक और धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण?

उत्तरः निश्चित रूप से।

श्री समर्थ ने इस साक्ष्य को सीमित उद्देश्य से यह दर्शाने के लिए रखा कि उत्तर–पश्चिमी सीमांत सूबे को पंजाब में न मिलाकर उसे अलग से पठान सूबा बनाए रखना, पठानों के भारत के बाहर अफगानिस्तान और दुनिया के अन्य मुस्लिम देशों के साथ संबंधों को देखते हुए खतरनाक होगा। यह साक्ष्य यह भी

---

* मूल में यही शब्द दर्ज है। छापे की गलती से यह संभवतः कन्याकुमारी के स्थान पर प्रयोग किया गया है।

दर्शाता है कि पाकिस्तान की योजना 1923 से पहले ही बन चुकी थी।

1924 में मुस्लिम लीग के बंबई अधिवेशन में श्री मुहम्मद अली ने मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिफार्म्स को उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रदेश में लागू करने संबंधी संकल्प में यह सुझाव[1] दिया कि पाकिस्तान के सीमांत सीमा सूबे के मुसलमानों को यह आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए कि वे भारत के साथ रहें अथवा काबुल के साथ। उन्होंने किसी अंग्रेज को भी उद्धृत किया, जिसने कहा था कि कुस्तुनतुनिया से दिल्ली तक एक सीधी रेखा खींची गई तो इससे जाहिर हो जाएगा कि मुसलमानों का गलियारा सहारनपुर तक है। संभवतः श्री मुहम्मद अली को पाकिस्तान की सारी योजना मालूम थी, जो साक्ष्य के दौरान अचानक ही अनजाने में सामने आ गई, जिसका जिक्र श्री समर्थ ने किया है और वह है: अंततोगत्वा पाकिस्तान का अफगानिस्तान के साथ बंधन।

ऐसा लगता है कि 1924 से 1930 तक की योजना के बारे में मुसलमानों ने कुछ नहीं कहा या किया। संभवतः उन्होंने इस योजना को दबा दिया और विभाजन से परे पारंपरिक रूप से एक राष्ट्र की धारणा के तहत हिंदुओं से अपने सुरक्षा–उपायों पर बातचीत करते रहे। परंतु 1930 में जब गोलमेज सम्मेलन चल रहा था, तब कुछ मुसलमानों ने एक समिति बनाई, जिसका मुख्यालय लंदन में था, और इसका उद्देश्य था – पाकिस्तान की योजना को गोलमेज सम्मेलन मे रखना। इस संबंध में समिति ने गोलमेज सम्मेलन के दौरान पाकिस्तान के बारे में परचे बांटे। फिर भी, किसी ने इस योजना में रूचि नहीं दिखाई और गोलमेज सम्मेलन के सदस्यों ने भी इस पर कुछ नहीं कहा।[2]

यह संभव है कि शुरू में मुसलमानों ने सोचा हो कि पाकिस्तान का यह विचार सिर्फ एक सपना है, जो पूरा नहीं हो सकता। यह संभव है कि बाद में जब उन्होंने इस मुद्दे को यह सोचकर नहीं उठाया कि वे ठीक तरह से संगठित नहीं है, ताकि हिंदुओं और मुस्लिमों को इस बात के लिए राजी कर सकें। यह कहना मुश्किल है कि मुसलमानों ने गोलमेज सम्मेलन में पाकिस्तान के लिए जोर क्यों नहीं दिया? शायद उन्होंने यह सोचा हो कि यह योजना अंग्रेजों के खिलाफ[3]

---

1. सन्दर्भ के लिए देखें, 11 मई, 1925 को हिंदू महासभा के कलकत्ता सम्मेलन में लाला लाजपतराय का अध्यक्षीय भाषण। (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर, 1925, भाग–1, पृ. 379)
2. गोलमेज सम्मेलन के एक सदस्य सर मुहम्मद इकबाल ने सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में पाकिस्तान का नाम लिए बिना पाकिस्तान की योजना का समर्थन किया; उन्होंने कहा कि भारत में कोई केंद्रीय सरकार नहीं होनी चाहिए, सभी सूबे स्वायत्त होने चाहिए और उनका अस्तित्व स्वतंत्र उपनिवेश जैसा होना चाहिए, जो सीधे लंदन स्थित राज्य सचिव के संपर्क में रहे।
3. कहा जाता है कि इस योजना पर उन अंग्रेज अधिकारियों के साथ गुपचुप तरीके से अनौपचारिक बातचीत चली, जो उसके हक में नहीं थे। हो सकता है कि मुसलमानों ने यह सोचकर कि कहीं इससे अंग्रेज नाराज न हो जाएं, इस योजना पर बल नहीं दिया।

मानी जाएगी क्योंकि हिंदुओं के साथ चल रहे 14 सूत्री विवाद के निर्णय के लिए उन्हें अंग्रेजों पर ही निर्भर रहना है। अच्छे राजनीतिज्ञ होने के नाते वे भलीभांति समझते थे, जैसा कि बिस्मार्क ने भी कहा है, कि राजनीति में सब कुछ संभव है, इसलिए मुसलमानों ने यह सोचकर इंतजार करना बेहतर समझा कि जब तक अंग्रेज 14 सूत्री कार्यक्रम के बारे में साधिकार निर्णय न दे दें, तब तक वे मुंह नहीं खोलेंगे।

पाकिस्तान की इस योजना को सामने रखने में देरी का एक और स्पष्टीकरण है। काफी हद तक यह भी संभव है कि मुस्लिम नेता अभी हाल तक पाकिस्तान बनाने के दार्शनिक औचित्य को नहीं समझ रहे थे। आखिर भारत की राजनीतिक शतरंज में पाकिस्तान प्रस्ताव कोई छोटी चाल नहीं थी। यह अब तक की पहलों में सबसे बड़ी पहल है, क्योंकि इसमें राज्य का विघटन निहित है। कोई भी मुस्लिम यदि उसने इस संबंध में अपने विचार रखने की कोशिश की होती, तो उससे यही पूछा जाता कि इतनी खतरनाक योजना के नैतिक और दार्शनिक आधार क्या हैं? वे इतने दिनों तक पाकिस्तान के दार्शनिक औचित्य को क्यों नहीं खोज पाए, यह भी जानने योग्य है। अतः मुस्लिम नेता भारत के मुसलमानों को एक समुदाय अथवा अल्पसंख्यक वर्ग कहने लगे थे। उन्होंने कभी भी मुसलमसानों को एक राष्ट्र नहीं समझा। एक समुदाय और राष्ट्र के बीच बहुत क्षीण अंतर है और यदि वह क्षीण न भी हो, तो भी हर परिस्थिति में दृष्टव्य नहीं है। परंतु राज्य काफी हद तक मिलीजुली आबादियों वाला होता है जिनकी भिन्न–भिन्न भाषाएं, धार्मिक आचरण और सामाजिक परंपराएं होती हैं, और ये आबादियां असंगठित झुंडों का समूह बना कर रहती हैं। किसी भी राज्य का एकजुट समाज नहीं होता, जो एक ही विचार और एक ही काम की धारणा से ओतप्रोत हो। ऐसी स्थिति में एक वर्ग अपने आपको गलती से ही समुदाय कहेगा चाहे वास्तव में उसमें राष्ट्र के तत्व हों। दूसरे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हो सकता है कि एक जगह के लोगों में एक राष्ट्रीय चेतना न हो, परंतु उनमें वे सारे तत्व विद्यमान हों, जो एक राष्ट्र का निर्माण करने के लिए आवश्यक होते हैं।

फिर, अल्पसंख्यकों के अधिकार और सुरक्षा–उपायों के दृष्टिकोण से यह भेद महत्वहीन है। एक अल्पसंख्यक के लिए चाहे वह एक समुदाय हो या एक राष्ट्र, एक छोटे राष्ट्र के रूप में सुरक्षा के उपायों और एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में सुरक्षा के उपायों में बहुत अधिक भिन्नता नहीं हो सकती। ये सुरक्षा–उपाय बहुसंख्यक लोगों के आतंक से बचने के लिए मांगे जाते हैं। यदि अल्पसंख्यक समुदाय पर बहुसंख्यक समुदाय के आतंक की संभावना एक बार स्थापित हो गई, तो यह महत्वहीन हो जाता है कि अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में सुरक्षा–उपाय चाहने वाला एक समुदाय है या एक राष्ट्र है। ऐसा नहीं है कि समुदाय और

राष्ट्र में कोई भेद नहीं है। वास्तव में ये भेद बहुत ही विस्तृत हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि एक समुदाय दूसरे समुदाय से चाहे कितना ही भिन्न क्यों न हो, जहां तक अंतिम नियति का सवाल है वह सभी के साथ एक है। दूसरी ओर, एक राष्ट्र अपने राज्य के भिन्न–भिन्न संघटकों से भिन्न ही नहीं होता, बल्कि एक ऐसी नियति में विश्वास करता है जो उस नियति के नितांत विरूद्ध होती है, जिसकी कि राष्ट्र के अन्य अवयव अपेक्षा करते हैं। यह अंतर मुझे इतना गहरा लगता है कि मैं इस आधार पर एक समुदाय या एक राष्ट्र में भेद करने में संकोच नहीं करूंगा। वे लोग, जो भिन्नता के बावजूद अपने तथा अपने विरोधियों के लिए एक ही प्रकार की नियति स्वीकार करते हैं, एक समुदाय हैं। वे लोग जो दूसरों से भिन्न होने के बावजूद भी उसी नियति को स्वीकार करने से इंकार करते हैं जो दूसरों के लिए है, तो वे एक राष्ट्र हैं। एक सामान्य नियति को स्वीकार करने या न करने का तत्व ही इस बात को दर्शाता है कि जहां तक हिंदुओं का सवाल है, अछूत, ईसाई और पारसी आदि तो समुदाय हैं, मुसलमान एक राष्ट्र हैं। अतः राजनीतिक गठबंधन में सौहार्दपूर्ण दृष्टिकोण से मुख्य बात यह है कि इन लोगों की अंतिम नियति क्या है? इस भिन्नता के गतिशील चरित्र से इंकार नहीं किया जा सकता। यदि इस अंतिम नियति में फिर भी भिन्नता रहती है तो इसका प्रभाव राज्य के विघटन पर होना लाजिमी है, परंतु जहां तक सुरक्षा–उपायों का सवाल है, तो एक समुदाय और राष्ट्र में भिन्नता नहीं हो सकती। एक समुदाय सुरक्षा–उपायों के उन्हीं अधिकारों और मांगों के योग्य हैं, जो एक राष्ट्र को चाहिए।

पाकिस्तान के लिए दार्शनिक औचित्य खोजने में देरी होने का मुख्य कारण यह है कि मुस्लिम नेता अपने आपको एक समुदाय या एक अल्पसंख्यक के रूप में मानने के अभ्यस्त हो चुके थे। इस परिभाषित शब्दावली का उपयोग उन्हें एक गलत दिशा में ले गया और उन्हें एक अंधे मोड़ पर ला खड़ा किया। जैसे ही उन्होंने अपने आपको एक अल्पसंख्यक समुदाय माना, तो उन्हें ऐसा लगा कि उनके लिए इन सुरक्षा–उपायों की मांग के सिवा और कोई रास्ता नहीं था और इस चीज के लिए वे आधी शताब्दी तक प्रयासरत रहे। यदि उनके मन में यह विचार आया होता तो उन्हें अपने आपको अल्पसंख्यक मानकर संतुष्ट नहीं होना चाहिए था, बल्कि स्वयं को एक अलग समुदाय मानकर चलने से शायद उन्हें पाकिस्तान के लिए दार्शनिक औचित्य मिल गया होता। ऐसी स्थिति में इस बात की संभावना थी कि पाकिस्तान बहुत पहले बन गया होता।

चाहे जो हो, तथ्य यह है कि मुसलमानों में पूर्ण परिवर्तन हुआ है, और यह भय या आपराधिक प्रलोभन से नहीं, बल्कि उन्हें उनके अंतिम लक्ष्य और सत्य के अहसास के बाद हुआ है। कुछ लोगों को उनके इस अचानक परिवर्तन से

धक्का लग सकता है, परंतु जिन लोगों ने पिछले 20 वर्षों में हिंदू–मुस्लिम राजनीति का अध्ययन किया है, वे यह मानेंगे कि यह परिवर्तन या इन दोनों समुदायों का एक–दूसरे से दूर हो जाना अवश्यंभावी था, क्योंकि हिंदू–मुस्लिम राजनीति में दुखद और अनिष्टकारी घटनाएं हुई हैं। हिंदू और मुस्लिम दोनों समानांतर रास्ते पर चलते रहे हैं। निःसंदेह दोनों उसी दिशा में बढ़े, परंतु वे कभी भी एक रास्ते पर नहीं चले। 1885 में हिंदुओं ने अंग्रेजों के खिलाफ भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए कांग्रेस का सूत्रपात किया। मुसलमानों नें हिंदुओं के प्रलोभन में आने से इंकार कर दिया और कांग्रेस के सदस्य नहीं बने। 1885 से 1906 तक मुसलमानों ने अपने आपको हिंदू राजनीति से अलग रखा। 1906 में उन्होंने मुस्लिम समुदाय के लिए राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की आवश्यकता महसूस की। परंतु तब भी उन्होंने मुस्लिम राजनीतिक गतिविधियों के लिए अलग ही मार्ग अपनाया। जब से मुस्लिम लीग का गठन हुआ, तब से मुस्लिम राजनीति की धारा अलग ही रही और कुछ अपवादों को छोड़कर दोनों ने अलग–अलग काम किया। उनकी धाराएं अलग–अलग दिशाओं में ही बही हैं। उनके लक्ष्य और उद्देश्य भी हमेशा एक नहीं रहे। यहां तक कि उन्होंने अपने वार्षिक सत्र भी एक स्थान पर नहीं होने दिए, ताकि एक की छाया तक दूसरे पर न पड़े। बात ऐसी नहीं है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग आपस में कभी मिले ही नहीं, बल्कि दोनों मिले, लेकिन मात्र विचार–विमर्श के लिए। किन्तु इसमें भी कुछ ही समय तक सफलता मिली, और अधिकतर असफलता ही हाथ लगी। 1916 में लखनऊ में हुए दूसरे सम्मेलन में तो सफलता मिली, लेकिन 1925 में विफलता हाथ लगी। 1928 में मुस्लिम लीग का एक धड़ा कांग्रेस में मिलने को तैयार था, लेकिन दूसरे धड़े ने इससे इन्कार कर दिया और उसने अंग्रेजों पर निर्भर रहना बेहतर समझा। बात यह है कि वे मिले जरूर, लेकिन जुड़े नहीं। सिर्फ खिलाफत आंदोलन के दौरान इन दोनों की धारा एक ही दिशा में बही और यह समझा गया कि अब ये दोनों फिर कभी अलग नहीं होंगे, क्योंकि ईश्वर ने इन दोनों को जोड़ दिया है। परंतु यह आशा मृगतृष्णा बन गई और विफल रही। यह पायाँ गया कि इन दोनों में कुछ ऐसा है, जिसने उन्हें फिर अलग होने पर मजबूर कर दिया है। इस संगम के कुछ ही बाद, जैसे ही खिलाफत आंदोलन खत्म हुआ, ये दोनो आपस में एक दूसरे से टकराने लगे, जैसे कि शरीर में कोई बाहरी चीज आ गई हो। ये एक–दूसरे को बाहर निकालने पर उतारू हो गए। नतीजा यह हुआ कि जब ये दोनों अलग हुए तो इतने वेग (और हिंसा) से अलग हुए कि उसकी उपमा सिर्फ पानी से ही दी जा सकती है। इसके बाद ये दोनों अलग–अलग धाराओं में एक–दूसरे से और अधिक दूर, और अधिक वेग से बहने लगे। वास्तव में जिस वेग और हिंसा से ये दोनों धाराएं एक–दूसरे से अलग हुई हैं उससे उन्होंने अपनी दिशा बदल दी है। एक समय

इनकी दिशा समानांतर थी, लेकिन अब वे एक–दूसरे की विरोधी भी हो गई हैं। एक तो पहले की तरह पूरब की ओर बह रही है और दूसरी विरोधी दिशा में पश्चिम की ओर। इस उपमा को छोड़कर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि हिंदू–मुस्लिम राजनीति का यह इतिहास गलत नहीं है। यदि इस बात को ध्यान में रखा जाए तो साफ हो जाएगा कि मुसलमानों मैं यह परिवर्तन अचानक नहीं आया है। यदि यह परिवर्तन एक क्रांति है, तो हिंदू–मुस्लिम समानांतर राजनीति का दौर इस क्रांति की बुनियाद है। यह आधुनिक भारत के इतिहास का विचित्र तथ्य है कि मुस्लिम राजनीति, हिंदू राजनीति के समानांतर चली और उससे कभी नहीं जुड़ी। मुसलमान अपने आपको इस तरह से अलग रखने में एक अज्ञात भावना से प्रभावित हुए, जिसके स्रोत को वे भी नहीं समझ पाए और वे उसी अज्ञात भावना के चलते हिंदुओं से हमेशा दूरी बनाए रहे। यह अज्ञात भावना और कुछ नहीं, बल्कि उनका पूर्व निर्धारित लक्ष्य था, जिसका सांकेतिक रूप था – पाकिस्तान। हालांकि इन्हें पहले इसकी अनुभूति नहीं थी, लेकिन उनमें हमेशा से कहीं न कहीं यह भावना विद्यमान थी। इस परिप्रेक्ष्य में, पाकिस्तान के विचार को नया या एकाएक उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता। केवल यही एक बात है जो अब तक साफ नहीं थी, जिसका अब तक कोई नाम नहीं था, उसे अब नाम मिल गया है और अब वह स्पष्ट दिख रही है।

VI

इस तमाम चर्चा का सार यही है कि संपूर्ण भारत, स्वतंत्र भारत या फिर एक उपनिवेश के रूप में भी भारत, असंगत लगता है। इस दृष्टिकोण से कि भारत अटूट रहे, उसके स्वतंत्र भविष्य की आशाओं पर निराशा छा गई है। स्वतंत्र राष्ट्र के लक्ष्य को देखते हुए निराशा ही नजर आती है, क्योंकि हिंदू उस रास्ते का अनुसरण नहीं करेंगे और उनके इस रास्ते के अनुकरण न करने के कारण भी मौजूद हैं। उन्हें डर है कि ऐसा करने से हिदुओं पर मुसलमानों का शासन हो जाएगा। उन्हें लगता है कि मुसलमानों की आजादी की चेष्टा कोई अबोध बात नहीं है, क्योंकि इसका प्रयोग वे हिंदुओं को ब्रिटिश साम्राज्य सुरक्षा–कवच से बाहर रखकर करना चाहते हैं, ताकि वे पड़ोसी मुस्लिम राज्यों से मैत्री स्थापित करके हिंदुओं को अपने अधीन कर लें। मुसलमानों के लिए आजादी मात्र अंतिम बात नहीं है। यह तो केवल मुस्लिम राज्य स्थापित करने का साधन है। यदि राष्ट्र का लक्ष्य डोमीनियन स्टेटस तक सीमित रखा जाए तो उसमें भी निराशा ही नजर आती है, क्योंकि मुसलमान इससे सहमत नहीं होंगे। उन्हें भय है कि यह दर्जा प्राप्त करके हिंदू 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धांत के आधार पर हिंदू राज्य स्थापित कर लेंगे। चाहे वे मुसलमानों को कितना ही महत्व क्यों न दें,

अंततः वे हिंदुओं के लिए, हिंदुओं द्वारा, हिंदुओं की सरकार ही स्थापित करेंगे। यदि भारत को अटूट व संपूर्ण भारत बनाने पर जोर दिया गया, तो भारत के भविष्य के बारे में निराशा ही नजर आती है।

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या एक अटूट भारत का आदर्श संघर्ष के योग्य है। पहली बात यह है कि यदि भारत अटूट रहता है, तब भी यह संपूर्ण भारत नहीं रहेगा। नाम से भारत भले ही एक देश के रूप में जाना जाता रहे, लेकिन वास्तव में वह दो देशों – हिंदुस्तान और पाकिस्तान, जिनको जबरन और कृत्रिम रूप से जोड़ा गया है – में ही बंटा रहेगा। दो राष्ट्र के सिद्धांत की बलवती विचारधारा के तहत यह ऐसा ही रहेगा। यह सब देखते हुए, तथ्य और वास्तविकता के संसार में, भारत की एकता के विचार का कोई स्थान नहीं है। आम भारतीय के लिए, चाहे वह हिंदू हों या मुसलमान, जिसका दृष्टिकोण संकीर्णता की घाटी में घिरा हुआ है, इसमें कोई आकर्षण नहीं रह गया है परंतु इस बात ने दोनों समुदायों की कल्पना और उनके सामाजिक चिंतन को बहुत प्रभावित किया है। दो राष्ट्र का यह सिद्धांत क्षणिक भावनात्मक एकता की इच्छा को भी पनपने नहीं देगा। अंतर्द्वंद्व का यह कीटाणु हमारी राजनीति में ऐसी मनः स्थिति पैदा करेगा कि उससे इस जबरन बनाई गई एकता को समाप्त करने हेतु लोगों के मन में जीवन और मरण की सीमा तक के संघर्ष की भावना उत्पन्न होगी। यदि किसी प्रभावशाली शक्ति के कारण यह एकता भंग नहीं भी होती है, तो भारत का भाग्य यही होगा कि जबरदस्ती बनाई गई एकता उसकी सारी शक्ति को पी जाएगी, उसे एकदम कमजोर कर देगी या उसके गठन को एकदम ढीला कर देगी, लोगों के आपसी प्रेम और विश्वास को कमजोर कर देगी और उसके विकास की गति को यदि पीछे न भी कर पाए, तब भी यह निश्चित है कि वह उसके भौतिक और नैतिक संसाधनों के उपयोग को रोक देगी। ऐसी हालत में भारत एक रूग्ण और रक्तविहीन शव जैसा रह जाएगा, जो मृत्यु को प्राप्त हो गया है, किंतु दफनाया नहीं गया है।

जबरन एकता का दूसरा नुकसान यह होगा कि हिंदू–मुस्लिम समस्या को निपटाने के लिए आधार खोजने होंगे। इस समस्या का निदान करना कितना दुष्कर होगा, यह किसी को बताने की आवश्यकता नहीं है। भारत को हिंदुस्तान और पाकिस्तान में बांटने के अलावा और क्या किया जा सकता है? देश के अन्य हितों को नुकसान पहुंचाए बिना इस समस्या के निपटान के लिए जो कुछ भी किया जा सकता है, इससे जयादा सोचना मुश्किल है। इस बात में संदेह नहीं कि जब तक यह जबरन एकता बनी रहेगी जब तक भारत में सांप्रदायिकता का निदान नहीं होगा, तब तक भारत कोई राजनीतिक प्रगति नहीं कर सकेगा। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच, जिन्हें अब हमें दो अलग–अलग राष्ट्र मानना होगा, इस

बारे में एक सांप्रदायिक समझौता, बल्कि एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता, करवाना होगा – जबरन एकता की राजनीति के लिए यह आवश्यक हो गया है।

इस जबरन राजनीतिक एकता का तीसरा नुकसान भी होगा और वह है एक तीसरी पार्टी का आविर्भाव। यदि संविधान का निर्माण होता है, तो यह आपस में शक करने वाले शत्रु राज्यों का संघ होगा, जो अपनी इच्छा से तीसरी पार्टी की उपस्थिति चाहेंगे, जो उनके विवादों को निपटा सके। उनका एक–दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण नजरिया होने से इन दोनों राष्ट्रों के बीच बातचीत में भी रूकावट आयेगी। आगे चलकर भारत में विपक्ष की एकता भी नहीं रहेगी, जिससे पहले कई लोगों को प्रसन्नता होती थी, क्योंकि ये दोनों राष्ट्र एक–दूसरे के इतने खिलाफ होंगे कि ब्रिटेन के खिलाफ वे कभी एक नहीं होंगे। दूसरी बात यह कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुआ आपसी समझौता ही संविधान का आधार होगा, और ऐसे संविधान के सफल निर्माण के लिए यह जरूरी है कि एक तीसरी पार्टी भी उपस्थित रहे। यह ध्यान देने योग्य है कि इस तीसरी पार्टी के पास काफी सैन्य–शक्ति भी होगी, जिससे वह यह सुनिश्चित करेगी कि इन दोनों के बीच हुआ समझौता टूटने न पाए।

इन सबका अभिप्राय बिल्कुल यही है कि हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ने जो राजनीतिक लक्ष्य संजोए हुए हैं और जिन्हें प्राप्त करने की उनकी हार्दिक इच्छा है, उसमें उन्हें निराशा ही मिलेगी। परंतु एक ही देश और एक ही संविधान के तहत दो युद्धरत राष्ट्रों से और अपेक्षा भी क्या की जा सकती है?

अब इस अंधकारपूर्ण दृश्य से हम उस दृश्य की तुलना करें जो भारत को पाकिस्तान और हिंदुस्तान में बांटने से सामने आता है। विभाजन इन दोनों के लक्ष्यों की प्रतिपूर्ति का वह रास्ता खोलता है, जो ये दोनों अपने लिए निर्धारित करें। उसे चुनने के लिए दोनों स्वतंत्र हैं। मुसलमान पाकिस्तान को एक स्वतंत्र राष्ट्र या डोमीनियन स्टेटस के रूप में, जो भी उन्हें उचित लगे, चुनने के लिए स्वतंत्र होंगे। इसी प्रकार हिंदू भी अपने विवेकानुसार हिंदुस्तान के लिए स्वतंत्र या डोमीनियन स्टेटस का दर्जा, जो भी उचित लगे, चुनने के लिए स्वतंत्र होंगे। इससे मुसलमान, हिंदू राज के भय से मुक्त हो जाएंगे और दोनों के लिए राजनीतिक विकास का रास्ता भी सुगम हो जाएगा। उद्देश्य की प्राप्ति न हो पाने से पैदा निराशा को भी इससे नई आशा मिलेगी। पाकिस्तान और हिंदुस्तान किसी कठोर बाधा से मुक्त होंगे और यदि अल्पसख्यकों के साथ सांप्रदायिक समझौता एक बुनियादी शर्त रहती है, तो उसे पूरा करना भी कोई दुष्कर काम नहीं होगा। दोनों के रास्ते इस बाधा से मुक्त हैं। पाकिस्तान का एक दूसरा फायदा भी है, जिसका उल्लेख करना जरूरी है। साधारणतः यह माना जाता है

कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एक तरह की वैमनस्यता का भाव पैदा हो गया है, और यदि उसे दूर न किया गया तो वह भारत की शांति और उन्नति के लिए घातक सिद्ध होगा। परंतु इस बात का एहसास नहीं किया जाता कि शरारत आपसी मतभेद या वैमनस्य की वजह से इतनी पैदा नहीं होती, ज़ितनी कि इसके प्रदर्शन से। परंतु अब ऐसा नहीं हो सकता। अगर इन दोनों को किसी समान समस्या के काम में भाग लेने को कहा जाता है तो अब उनके बीच छिपी हुई वैमनस्य भावना नहीं झलकेगी, जैसा अब तक हुआ करता था। अतः पकिस्तान की योजना का फायदा यह भी है कि इससे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जो वैमनस्य है, उसको प्रस्फुटित होने का समान मंच नहीं मिलेगा। इस तरह हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच शांति भंग होने का जो खतरा हमेशा बना रहता है, और जो भारत को पिछले कई वर्षों से झकझोरता रहा है, वह नहीं रहेगा। आखिर में, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है, वह है शांति स्थापित करने के लिए तीसरी पार्टी की आवश्यकता को समाप्त करना। एक-दूसरे पर जबरन स्थापित एकता के आपसी अवरोधों से मुक्त होकर हिंदुस्तान और पाकिस्तान बिना किसी आंतरिक अशांति के भय के अलग-अलग, स्थाई, मजबूत और प्रगतिशील राज्य बन सकते हैं। दो अलग-अलग राज्य होने से वे दोनों अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकते हैं, जिसे वे एक समग्र के अंग होकर कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

जो लोग समग्र भारत चाहते हैं, उन्हें 1923 में कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में श्री मुहम्मद अली की बात पर ध्यान देना चाहिए। भारतीय एकता के बारे में बोलते हुए श्री मुहम्मद अली ने कहा थाः

> "जब तक विपक्ष की भ्रामक एकता के अलावा कोई नई शक्ति भारत महाद्वीप को एक नहीं कर देगी तब तक यह एक भौगोलिक निरर्थकता ही रहेगा।"

क्या ऐसी कोई शक्ति है, जिसका उपयोग करना अभी बाकी है? जब सारे प्रयास विफल हो गए और कांग्रेस ने अपनी सरकार बनाई तो कांग्रेस ने जनसंपर्क-अभियान में एक नई ताकत को देखा। इसका उद्देश्य था कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं को दरकिनार करके हिंदुओं-मुसलमानों के बीच राजनीतिक एकता स्थापित करना। संक्षेप में, यह ब्रिटिश कंजरवेटिव पार्टी की योजना थी – टोरियों के सोने से लेबर पार्टी को खरीदना। यह योजना जितनी शरारतपूर्ण थी, उतनी ही निरर्थक भी। कांग्रेस यह भूल गई कि कुछ वस्तुएं इतनी कीमती होती हैं कि उनका मालिक, जो उनकी कीमत जानता है, उसको गंवाएगा नहीं और उसे धोखा देने की कोई भी कोशिश निश्चय ही कटुता और आक्रोश पैदा करेगी। किसी भी समुदाय के जीवन में राजनीतिक शक्ति बहुत ही कीमती होती है, विशेषकर जब उसे लगातार चुनौती दी जाए और उसे बार-बार उस चुनौती का समाना

करना पड़े। ऐसी स्थिति में राजनीतिक शक्ति ही एक माध्यम है, जिसके तहत वह अपनी स्थिति को कायम रख सकता है। झूठा दुष्प्रचार, तथ्यों को गलत ढंग से पेश करना, पद या स्वर्ण का लालच देना, उस समुदाय को शक्तिविहीन क्षीण कर देना तथा उसे अप्रभावी और गुलाम बना देना है। एकता स्थापित करने का यह एक मार्ग हो सकता है, परंतु यह निंदनीय है, क्योंकि यह विपक्ष को झूठे और गलत माध्यम से कुचलने वाला है। इससे कोई एकता स्थापित नहीं होती, बल्कि सिर्फ उत्तेजना, कड़वाहट और शत्रुता ही पैदा होती है।* कांग्रेस के जनसंपर्क–अभियान ने बिल्कुल यही किया, क्योंकि इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जनसंपर्क–अभियान की यह योजना पाकिस्तान के प्रादुर्भाव को प्रस्फुटित करने मे सहायक हुई।

यह कहा जा सकता है कि जनसंपर्क–अभियान का एक राजनीतिक उत्तेजक के रूप में चलाया जाना दुर्भाग्यपूर्ण था, और बेहतर होता यदि उसका उपयोग सामाजिक एकता कायम करने के लिए ज्यादा सफलतापूर्वक किया जाता। पर क्या यह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उस सामाजिक दीवार को तोड़ने में सफल होता जो उन्हें विभाजित करती है? यह हर भारतीय के लिए बड़े क्षोभ की बात है कि इन दोनों समुदायों के बीच ऐसा कोई सामाजिक बंधन नहीं है जो उन्हें परस्पर निकट लाए। इनके बीच एक साथ खान–पान नहीं है और न ही अंतर्विवाह आदि के संबंध हैं। क्या ये बातें इनके बीच स्थापित की जा सकती हैं? उनके उत्सव अलग–अलग हैं। क्या हिंदुओं और मुसलमानों को परस्पर पर्वों में शामिल होने के लिए प्रेरित किया जा सकता है? उनके धार्मिक आचार–विचार भिन्न ही नहीं हैं, बल्कि एक–दूसरे के खिलाफ भी हैं। इनकी संस्कृतियां अलग–अलग हैं। साहित्य एवं इतिहास अलग–अलग हैं। वे भिन्न ही नहीं, बल्कि एक–दूसरे के प्रति अरुचि और घृणा पैदा करनेवाले हैं। क्या कोई उन्हें जीवन

---

* श्री अब्दुल रहीम जैसे सौम्य व्यक्ति ने मुस्लिम लीग के 30 दिसम्बर, 1925 को अलीगढ़ में आयोजित सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में हिंदुओं की चाल से पैदा कड़वाहट का उल्लेख करते हुए शुद्धि, संगठन और हिंदू महासभा तथा लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद जैसे राजनीतिज्ञों द्वारा किए गए आक्रमण की भर्त्सना की और कहा, "कुछ हिंदू नेताओं ने खुलकर कहा है कि मुसलमानों को भारत से खदेड़ देना चाहिए, जैसे कि स्पेन के लोगों ने स्पेन के 'मूरों' को स्पेन से खदेड़ दिया था। अपने हिंदू दोस्तों के निगलने के लिए यह बहुत बड़ा कौर होगा। मुसलमान उन कृत्रिम परिस्थितियों के शिकार हैं, जिनमें उन्हें रहना पड़ता है और उन्हें यह मानना पड़ा कि हिंदू लाभदायक स्थिति में हैं, यहां तक कि अंग्रेजों ने भी उनके विषाक्त दुष्प्रचार से डरना सीख लिया था। हिदुओं ने मुसलमानों को छोटा रखने की कला शानदार ढंग से हासिल कर ली थी और उन्होंने उन्हीं मुसलमानों को छोड़ा जो हिंदू राजनीति में विश्वास करने लगे थे। वास्तव में हिंदुओं ने अपने उकसाने वाले और आक्रामक व्यवहार से मुसलमानों पर स्पष्ट कर दिया था कि वे अपने भाग्य को उनके भरोसे नहीं छोड़ सकते, और मुसलमानों को आत्मरक्षा के लिए हर संभव उपाय करने होंगे।" ऑल इंडिया रजिस्टर, 1925, भाग–2, पृ. 356

के एक ही शाश्वत झरने से पानी पीने के लिए विवश कर सकता है? उनके बीच मेलमिलाप के कोई समान आधार नहीं हैं और न ही ऐसा कोई आधार उत्पन्न किया जा सकता है। यहां तक कि उनके बीच उपयुक्त भौतिक संबंध भी नहीं हैं, सामान्य सांस्कृतिक और भावनात्मक संबंधों की तो बात ही क्या हैं। वे साथ–साथ नहीं रहते। हिंदू और मुसलमान दोनों ही अपनी अलग–अलग दुनिया में रहते हैं। उन प्रांतों में जहां हिंदू बहुसंख्या में हैं, वहां वे गांवों में रहते हैं, और मुसलमान शहरों में। जहां कहीं भी वे रहते हैं, प्रायः अलग–अलग ही रहते हैं। प्रत्येक गांव और कस्बे में हिंदुओं और मुसलमानों की पृथक–पृथक बस्तियां हैं, जो एक–दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। उनके बीच में सहभागिता के लिए कोई समान आधार नहीं है। वे या तो व्यापार के लिए मिलते हैं अथवा खून–खराबे व हत्या करने के लिए, पर एक–दूसरे से दोस्ती के लिए कभी नहीं मिलते। जब कि शांति काल में हिंदू और मुस्लिम बस्तियां ऐसी लगती हैं, जैसे दो विदेशी बस्तियां हों, लेकिन जिंस क्षण युद्ध घोषित होता है, तो ये बस्तियां सशस्त्र छावनियां लगने लगती हैं। शांति और युद्ध के बीच के अंतराल में, जो प्रायः छोटा होता है, लगातार तनाव बना रहता है। ऐसी अड़चनों में जनसंपर्क–अभियान क्या कर सकता है? आंगिक एकता की बात तो दूर, ऐसी स्थिति में जनसंपर्क–अभियान अड़चनों के उस पार भी नहीं जा सकता।

भाग : V

पाकिस्तान के सवाल पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में जो भी कहा गया है, उसके बारे में भिन्न–भिन्न लोगों के अलग–अलग विचार हैं। कुछ लोगों ने आरोप लगाया है कि मैंने इस समस्या के केवल दो पहलुओं पर चर्चा की है और अपना व्यक्तिगत विचार व्यक्त नहीं किया। यह बात सही नहीं है। जिसने भी पूर्ववर्ती खंड़ों को पढ़ा है, वह इस बात से सहमत होगा कि मैंने सब पहलुओं पर भले ही अपने विचार व्यक्त न किए हों, तब भी अनेक समस्याओं के बारे में अपनी स्पष्ट राय दी है। इस संदर्भ में मैं विशेष रूप से दो महत्वपूर्ण विवादग्रस्त बातों का उल्लेख करना चाहता हूं। क्या मुसलमान समुदाय कोई राष्ट्र है, और क्या पाकिस्तान के लिए उनका कोई हक बनता है? कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनकी आलोचना इससे भिन्न है। उन्हें इस प्रकार की कोई शिकायत नहीं है कि मैं अपना दृष्टिकोण रखने में असफल रहा हूं। उनकी शिकायत यह है कि अपने निष्कर्षों पर पहुंचने में मैंने जिन कथनों को आधार बनाया है वे इस प्रकार के हैं कि मानो वे सब अपने आप में बिलकुल सही थे और उनमें मैंने किसी अपवाद को स्वीकार नहीं किया। मुझसे पूछा गया है कि क्या आपने अपने निष्कर्षों को अत्यंत सामान्य ढंग से नहीं रखा है? क्या कोई सामान्य कथन ऐसा नहीं है जिस पर शर्तों और सीमाओं का अंकुश न हो? क्या आपने कतिपय गहन समस्याओं का समाधान किसी अश्वारोही की तरह संक्षेप में नहीं किया है? क्या आपने बताया कि किस प्रकार न्यायोचित एवं शांतिपूर्ण ढंग से पाकिस्तान अस्तित्व में आ सकता है? परन्तु यह आलोचना भी पूर्णतया सही नहीं है।

यह कहना सही नहीं है कि मैंने उपर्युक्त बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया? हो सकता है कि इन पर मेरी चर्चा संक्षिप्त एवं छुटपुट रही हो, तथापि मैं इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार हूं कि इस आलोचना में काफी दम है और इस दोष को दूर करना मेरा कर्तव्य है। अतः इस भाग में निम्नलिखित विषयों पर विचार किया गया है:

(1) पाकिस्तान के मुस्लिम पक्ष को कौन सी बातें सीमित करती हैं?

(2) पाकिस्तान की समस्याएं क्या हैं, और उनका निदान क्या है?

(3) पाकिस्तान के मुद्दे का निपटारा करने का हक किसे है?

अध्याय : 13

क्या पाकिस्तान बनना चाहिए?

I

इससे पूर्व जो कुछ कहा गया है, उसके बारे में कोई भी शंकालु, राष्ट्रवादी, रूढ़िवादी और प्राचीन विचारों का भारतीय यह प्रश्न अवश्य पूछेगा – "क्या पाकिस्तान बनना चाहिए?" इस प्रकार की प्रवृत्ति को कोई तुच्छ नहीं कह सकता है चूंकि पाकिस्तान की समस्या वास्तव में बड़ी गंभीर है, और यह बात मान लेनी चाहिए कि मुसलमानों तथा उनके पक्षधरों से उक्त प्रश्न के विषय में सवाल करना केवल प्रासंगिक एवं सही ही नहीं, महत्वपूर्ण भी है। इस बात का महत्व एवं आवश्यकता इस तथ्य में निहित है कि पाकिस्तान के पक्ष को क्षीण करने वाली सीमाएं इतनी अधिक हैं कि आसानी से उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। उक्त सीमाओं के बारे में कोई भी एक वक्तव्य से ही यह समझ सकता है कि उनमें कितना दम है। यह बात उनकी आकृति से ही स्पष्ट झलकती है। ऐसा होते हुए पाकिस्तान के औचित्य को प्रमाणित करने का दायित्व मुसलमानों पर अधिक है। वस्तुतः पाकिस्तान का विषय, अथवा दूसरे शब्दों में भारत का विभाजन, इतना गंभीर मामला है कि मुसलमानों को केवल इसे प्रमाणित करने का दायित्व ही नहीं लेना होगा बल्कि उन्हें ऐसा साक्ष्य भी देना पड़ेगा जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के जमीर को संतुष्ट कर सके, जिससे वे अपना मामला जीत सकें। अब देखते हैं कि उक्त सीमाओं के परिप्रेक्ष्य में पाकिस्तान का मामला किस प्रकार ठहरता है?

II

क्या पाकिस्तान का बनना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि मुस्लिम जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कुछ निश्चित क्षेत्रों में केंद्रित है जिन्हें सरलता से भारत से अलग किया जा सकता है? इसमें तो कोई दो मत नहीं हैं कि मुस्लिम जनसंख्या कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित है जिनका अलग किया जाना संभव है। परंतु इससे क्या? इस प्रश्न को समझने एवं इस पर विचार करने के लिए हमें इस मौलिक तथ्य को नहीं

भूलना चाहिए कि प्रकृति ने भारत को एक एकल भौगोलिक इकाई के रूप में निर्मित किया है। भारतीय निश्चय ही लड़ रहे हैं और कोई भी यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि वे कब लड़ना बंद करेंगे। परंतु इस तथ्य को स्वीकारने पर, यह भी प्रश्न उठता है कि यह किस बात का सूचक है? केवल यह कहना कि भारतीय विवादी होते हैं, इस तथ्य को नहीं मिटा सकता है कि भारत एक भौगोलिक इकाई है। इसकी एकता उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि प्रकृति। भौगोलिक एकता के अंतर्गत अत्यंत प्राचीन काल में भी यहां सांस्कृतिक एकता रही है। इसी सांस्कृतिक एकता ने राजनीतिक और जातीय विभाजन की अवहेलना की है, और पिछले 150 वर्षों से सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैधानिक और प्रशासनिक संस्थाएं किसी भी मूल्य पर एक ही और एकसमान उद्गम स्थल से कार्य कर रही हैं। पाकिस्तान के किसी भी विवाद के संदर्भ में यह तथ्य आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि मूलतः भारत की एकता आधारभूत है। यह तथ्य हृदयंगम करने योग्य है कि विभाजन के वस्तुतः दो मुद्दे हैं, जिनमें स्पष्टतः भेद किया जाना चाहिए। एक मामला वह है, जिसमें प्रारंभ से ही विभाजन की पूर्व स्थिति का दिग्दर्शन होता है, जिसके फलस्वरूप उन भागों का पुनर्विभाजन होने की बात है, जो एक समय अलग थे और तदनंतर एक साथ मिल गए। यह मामला उससे भिन्न है, जिसमें प्रारंभिक मुद्दा सर्वदा एकता की स्थिति का है। परिणामस्वरूप इस मामले में विभाजन का अभिप्राय उस प्रदेश से जो किसी समय एक था अपना संबंध अलग–अलग भागों में विच्छेद कर लेना है। जहां प्रारंभिक मुद्दा प्रदेश की अखंडता से संबंधित नहीं है, अर्थात एकता होने के पूर्व जहां अलगाव था, वहां विभाजन–जिसका अभिप्राय पुनः अपनी पूर्वावस्था में वापसी है– संभवतः मानसिक आघात न पहुंचाए। परंतु भारत में प्रारंभिक मुद्दा एकता है। तब यह एकता क्यों छिन्न–भिन्न की जाए, केवल इसलिए कि कुछ मुसलमान असंतुष्ट हैं। इसके टुकड़े क्यों किए जाएं, जबकि ऐतिहासिक काल से यह एक है?

III

क्या पाकिस्तान इसलिए बनना चाहिए क्योंकि हिंदू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक तनातनी है? इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उनके बीच तनातनी है। प्रश्न केवल यह है कि क्या यह तनातनी इतनी प्रबल है कि वे एक देश में एक संविधान के अंतर्गत नहीं रह सकते? निश्चित रूप से एक साथ रहने की यह इच्छा 1937 तक उनमें नहीं थी। 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट-1935' के निर्माण के समय हिंदू–मुसलमानों ने एक देश में एक संविधान के अंतर्गत रहना पसंद किया था और उक्त ऐक्ट के पारित होने के पूर्व उस पर हुयी चर्चा में भाग लिया था। 1920-1935 के बीच सांप्रदायिक तनातनी की क्या स्थिति थी? जैसा कि

पूर्वगामी पृष्ठों में रिकार्ड किया गया है, 1920 से 1935 तक का भारतीय इतिहास सांप्रदायिक संघर्ष की एक लंबी कहानी है, जिसमें जन–धन की हानि शर्मनाक सीमा तक पहुंच गई थी। सांप्रदायिक स्थिति इतनी भयंकर कभी नहीं थी जितनी 15 वर्ष पूर्व भारत सरकार अधिनियम 1935 के पारित होने के पहले थी। फिर भी इस पारस्परिक तनाव के फलस्वरूप हिंदू और मुसलमानों में एक देश में एक संविधान के अंतर्गत रहने की इच्छा में कोई व्यवधान पैदा नहीं हुआ। फिर सांप्रदायिक तनाव के विषय में अब इतनी अधिक चर्चा क्यों की जाती है?

क्या भारत ही ऐसा देश है, जहां सांप्रदायिक तनातनी है? कनाडा के विषय में क्या विचार है? कनाडा में अंग्रेजों और फ्रेंचों के संबंधों को लेकर मि. एलेक्जेंडर ब्रेडी* का कथन विचारणीय है –

> "चार मूल प्रांतों में से तीन–नोवा स्कोशिया, न्यू बुसविक और ओंटेरियो– में उसी एंग्लो–सैक्सन समुदाय और परंपराओं को माननेवाले लोगों की संख्या अधिक थी। प्रारंभ में अमरीकी क्रांति के फलस्वरूप इन कालोनियों को उन 50,000 युनाइटेड एंपायर राष्ट्रभक्तों ने बसाया, जिन्होंने उत्पीडन के कारण उत्तर की कठिन यात्रा की और निर्जन प्रदेश में अपने घर बसाए। अमरीकी क्रांति से पहले नोवा स्कोशिया में काफी स्काटलेंडवासी और अमरीकी बसे हुए थे और क्रांति के बाद सभी राष्ट्रभक्त कालोनियों नें ग्रेट बिटेन और आयरलैंड से आए आप्रवासी भी इन बस्तियों में बसाए गये।
>
> *　　　*　　　*
>
> क्यूबेक प्रांत इनसे काफी भिन्न था। 1867 में फ्रेंच कनाडा अपने आप में एक सांस्कृतिक इकाई थी जिसे जाति, भाषा और धर्म के रोड़ों के कारण ब्रिटिश समुदाय से तिरस्कृत कर दिया गया था। ये लोग कैथोलिक विचारों से प्रभावित और दकियानूसी किस्म के थे, जिनका प्यूरिटिनिज़्म और प्रोटेस्टेंट धर्मियों, विशेषकर कालविनिस्ट से कोई लगाव नहीं था। दोनों समुदायों के धार्मिक विश्वास वास्तव में एकदम विपरीत थे। यदि धार्मिक कार्यों में हमेशा ऐसा न भी हो तो भी सामाजिक रूप में अंग्रेजी प्रोटेस्टेनिज़्म का झुकाव हमेशा लोकतंत्र, यथार्थ और आधुनिकता की ओर रहा तथा फ्रांस के केथोलिज़्म का झुकाव परंपरावादिता, आदर्शवादिता और अतीत के मनन की ओर रहा।
>
> *　　　*　　　*

---

*. कनाडा, अध्याय-I

1867 में फ्रेंच कनाडा जैसा था, आज भी वह बहुत कुछ वैसा ही है। आज भी वह उन्हीं विश्वासों, रीति–रिवाजों और संस्थानों पर चल रहा है जिनको अंग्रेजी प्रांतों में कोई नहीं मानता। उनके अपने विशिष्ट विचार और धारणाएं हैं और अपने ही महत्वपूर्ण मूल्य हैं। उदाहरण के लिए, विवाह और तलाक के बारे में उनका दृष्टिकोण न केवल शेष कनाडा, बल्कि एंग्लो–सैक्सन उत्तरी अमरीकावासियों के आम दृष्टिकोण के विपरीत है।

* * *

कनाडा के सबसे बड़े शहर मोंट्रियल में दोनों समुदायों के लोगों के बीच आपसी मेल–मिलाप का न होना देखा जा सकता है। लगभग 63 प्रतिशत आबादी फ्रेंच है और 24 प्रतिशत ब्रिटिश। यदि मेल–मिलाप की कहीं पर गुंजाइश है तो यहां पर वह काफी है, परंतु वास्तविकता यह है कि व्यवस्था और राजनीतिक कारणों काः छोड़ कर, जो उन्हें साथ रहने के लिए बाध्य करते हैं, वे एक दूसरे से विमुख रहते हैं। उनके अपने ही आवासीय क्षेत्र हैं, अपने–अपने वाणिज्यिक केंद्र हैं और उनमें से अंग्रेजों की जातीय पृथकता की भावना दृश्टव्य है।

* * *

मोंट्रियल के अंग्रेजी बोलने वाले निवासियों ने कुल मिलाकर अपने फ्रांसीसी भाषी नागरिकों की भाषा सीखने, उनकी परंपराओं को समझने, उत्सुकतापूर्वक उनका निरीक्षण करने तथा उनके गुण–दोषों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। भाषायी रोड़ों ने दोनों समुदायों के लोगों के अलग–अलग रहने को और उकसाया। 1921 में हुई जनगणना से इस तथ्य का पता चला कि फ्रांसीसी मूल के लगभग 50 प्रतिशत कनाडा वासी अंग्रेजी बोलने में असमर्थ हैं और ब्रिटिश मूल के 95 प्रतिशत लोग फ्रांसीसी भाषा नहीं बोल सकते। यहां तक कि मोंट्रियल में भीं 70 प्रतिशत ब्रिटिश मूल के लोग फ्रेंच नहीं बोल सकते और 30 प्रतिशत फ्रेंच अंग्रेजी नहीं बोल सकते। एक आम भाषा के अभाव में दोनों राष्ट्रीयताओं के बीच जो खाई बनी हुई है, वह उन्हें एक होने से रोकती है।

कांफेडरेशन का महत्व यह है कि इसने एक सरकारी तंत्र को जन्म दिया है, जिसके कारण फ्रांसीसियों को ब्रिटिशों के साथ सुखी, सहभागी और अपना विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन कायम रखने तथा कनाडा की सुपर नागरिकता पाने और समग्र रूप से अपने समूह से ऊपर उस राष्ट्र के प्रति निष्ठावान रहने में सक्षम बनाया है।

"कनाडा में जहां संघीय प्रणाली ने सफलतापूर्वक व्यापक राष्ट्रीयता का मार्ग खोला है, वहीं प्रयोजित सहयोग के कारण फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के बीच हिंसक मतभेद होने से कई बार अत्यधिक विवाद भी हुआ है और उच्चतर नागरिकता प्रायः एक छलावा सिद्ध हुई है।"

दक्षिण अफ्रीका का क्या हाल है? जिन लोगों को बोअर्स और अंग्रेजों के आपसी संबंधों के बारे में पता नहीं है, उन्हें श्री ई.एच. ब्रुक्स* के इन शब्दों पर विचार करना चाहिए –

"गोरी जातियों और दक्षिण–अफ्रीकी लोगों, दोनों के लिए दक्षिण अफ्रीकी राष्ट्रीयता कितनी आम है? निस्संदेह यह अत्यंत वास्तविक और सघन है, परंतु आम तौर पर कहें तो यह एक ऐसी भावना है जो केवल गोरी जातियों तक सीमित है और जो अफ्रीकी भाषा के प्रति प्यार से काफी हद तक प्रभावित हुई है। प्रारंभ में यह हालैंड वासियों की मातृभाषा से प्रभावित हुई और बाद में थोड़ा–बहुत फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंट और जर्मनों ने उसे आधुनिक रूप दिया; लेकिन सर्वाधिक रूप से वह भाषा समय के साथ चलकर प्रभावित हुई। अफ्रीकी राष्ट्रीयता केवल उन लोगों के लिए है जो दक्षिण अफ्रीकी हैं और उसमें उन लोगों, मुख्यतः अंग्रेजी भाषियों, के लिए कोई स्थान नहीं है जो अन्यथा दक्षिण अफ्रीका के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं।

* * *

"क्या आज के समय में दक्षिण–अफ्रीका का कोई राष्ट्र है?

"दक्षिण–अफ्रीकी जीवन में कतिपय ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जिनका उत्तर इस प्रश्न के प्रतिकूल जाता है।"

"अंग्रेजी बोलने वाले दक्षिण अफ्रीकी लोगों के बीच भी ऐसी अनेक धारणाएं विद्यमान हैं जो राष्ट्रीय एकता के हित में बाधक हैं। सभी जातिगत गुणों के बावजूद, उनमें मूलभूत दोष कल्पना की कमी का है, जो उन्हें स्वयं को दूसरे आदमी के स्थान पर देखने में कठिनाई पैदा करता है। भाषा के प्रश्न के अतिरिक्त, इसका स्पष्ट रूप अन्य किसी मुद्दे पर नहीं दिखाई देता। हाल तक बहुत ही कम अंग्रेजी भाषी दक्षिण अफ्रीकी लोगों ने व्यावसायिक काम के लिए (या सिविल सेवा के लिए) न्यूनाधिक रूप से बाध्य होकर अफ्रीकी भाषा का अध्ययन किया है और उनमें भी बहुत कम लोग बोलचाल में उसका उपयोग करते हैं। अनेक

---

* दि पॉलिटिकल फ्यूचर ऑफ साउथ अफ्रीका, 1927

> लोगों ने इसकी जानकारी और ज्ञान के बावजूद इसका खुला उल्लंघन किया है और बहुसंख्यक लोगों ने सहिष्णुता की कमी के कारण इसके प्रति नाराजगी जताई है या इसका मजाक उड़ाया है।"

इसी मुद्दे पर एक दूसरे साक्षी की बात पर भी गौर किया जा सकता है। वे हैं मैंनफ्रेड नाथन*। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में बोअर्स और अंग्रेजों के बीच जो संबंध हैं, उसके बारे में कहा है –

> "हो सकता है वे दोनों प्रोटेस्टेंट हों, यद्यपि आजकल इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। धार्मिक मतभेद अब कोई ज्यादा माने नहीं रखता। वे एक–दूसरे के साथ खुले आम वाणिज्यिक लेन–देन करते हैं।"
>
> *   *   *
>
> "इसके बावजूद, इस बात में सच्चाई नहीं है कि गोरे लोगों की आबादी के इन दो समुदायों के बीच पूर्ण रूप से उन्मुक्त सामाजिक व्यवहार होता है। कहा जाता है कि इसका एक कारण यह है कि बड़े शहरी केंद्रों में अंगेजी भाषी लोगों की आबादी अधिक है और शहरी लोगों को देहातों में रहनेवालों के रहन–सहन के बारे में बहुत कम जानकारी होती है। लेकिन देहाती कस्बों में भी यद्यपि आमतौर पर काफी मैत्री होती है और बोअर्स लोग अपने यहां आनेवालों का काफी सम्मान करते हैं तथापि आवश्यक व्यवसाय अथवा वाणिज्यिक संबंधों को छोड़कर, दोनों समुदायों के बीच सामाजिक संबंध अधिक नहीं है और धर्मार्थ अथवा सार्वजनिक सामाजिक कामों में सहयोग की जो अपेक्षा की जाती है, वह इनमें प्रायः नहीं है।"

भारत ही एक ऐसा देश नहीं है जहां सांप्रदायिक संघर्ष होते हैं। कनाडा और दक्षिण अफ्रीका में भी यह स्थिति विद्यमान है। यदि कनाडा में सांप्रदायिक तनातनी के होते हुए फ्रेंच और अंग्रेज राजनीतिक इकाई के रूप में रह सकते हैं, दक्षिण अफ्रीका में यह सांप्रदायिक तनातनी अंग्रेजों और डचों को राजनीतिक इकाई में बांधे रहने में कोई बाधा नहीं पहुंचाती, और यदि इस सांप्रदायिक तनातनी के बावजूद स्विटजरलैंड में फ्रेंच और इटालियंस जर्मनों के साथ राजनीतिक इकाई के रूप में रह सकते हैं, तो भारत में हिंदू और मुस्लिम एक संविधान के अंतर्गत क्यों नहीं रह सकते?

IV

क्या पाकिस्तान इसलिए बनना चाहिए कि कांग्रेसी बहुमत में अब मुसलमानों

---

* दि साउथ अफ्रीका कॉमनवैल्थ, पृष्ठ-365

का विश्वास नहीं रहा? मुसलमानों द्वारा इसके अनेक कारण बताए गए हैं, जिनमें हिंदुओं द्वारा पैदा किए गए आतंक तथा उन्हें परेशान करने के अनेक उदाहरण दिए गए हैं और कांग्रेसी मंत्रियों ने अपने दो वर्ष तीन महीने के शासनकाल में जिनकी उपेक्षा की है। दुर्भाग्यवश श्री जिन्ना ने इन उत्पीड़क घटनाओं के संदर्भ में जांच–पड़ताल करने के लिए शाही कमीशन बैठाने की अपनी मांग पर आग्रह नहीं किया। अगर उन्होंने आग्रह किया होता, तो यह मालूम हो जाता कि उन शिकायतों में कहां तक सच्चाई थी। मुस्लिम लीग की समितियों द्वारा उल्लिखित रिपोर्टों* में दिए गए उदाहरणों का अध्ययन करने से पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता कि कुछ सच्चाई होने के बावजूद उन शिकायतों में काफी अतिशयोक्ति है। कांग्रेसी मंत्रियों ने इन दोषों को अस्वीकार करते हुए अपने वक्तव्य प्रकाशित किए हैं। हो सकता है कांग्रेस द्वारा अपने दो वर्ष तीन महीने के शासन में राजनीतिज्ञता का प्रदर्शन और अल्पसंख्यकों में विश्वास की भावना उत्पन्न न की गई हो, बल्कि उन्हें दबाया गया हो, परंतु क्या यह सब भारत–विभाजन के लिए एक उपयुक्त कारण हो सकता है? क्या यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे मतदाता, जिन्होंने पिछली बार कांग्रेस का समर्थन किया था, अब अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक उसका समर्थन करेंगे? अथवा क्या यह संभव नहीं कि यदि कांग्रेस पुनः शासनारूढ़ होती है और अपनी गलतियों से लाभान्वित होती है, तो वह अपनी शरारतपूर्ण नीति का परित्याग करके अपने गत चरित्र द्वारा उत्पन्न शंका और भय के वातावरण को दूर कर देगी?

V

क्या पाकिस्तान इसलिए बनना चाहिए कि मुसलमान एक राष्ट्र हैं? दुर्भाग्य से, श्री जिन्ना ऐसे समय में पाकिस्तान के उपासक और मुस्लिम राष्ट्रीयता के अभिनेता हुए हैं, जब सारा संसार राष्ट्रीयता की बुराई के विरुद्ध चिल्ला रहा है और किसी भी तरह के अंतर्राष्ट्रीय संगठन में शरण लेना चाहता है।

श्री जिन्ना मुस्लिम राष्ट्रीयता के अपने इस नए विश्वास से इतने आत्मविभोर हैं कि वे इस बात को समझने के लिए तैयार नहीं हैं कि एक ऐसे समाज के बीच जिसके कुछ हिस्से अलग हो गए हों और एक समाज जिसके कुछ अंग शिथिल पड़ गए हों, कोई भेद है और कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति जिसकी उपेक्षा नहीं कर

---

* इस प्रश्न पर कांग्रेस शासित प्रांतों में मुसलमानों की शिकायतों की जांच करने के लिए आल इंडिया मुस्लिम लीग द्वारा गठित जांच समिति की रिपोर्ट, जिसे पीरपुर रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है, को देखें। साथ ही बिहार में मुसलमानों की कुछ शिकायतों की जांच करने के लिए बिहार प्रांतीय मुस्लिम लीग की रिपोर्ट और 13.3.39 को अमृत बाजार पत्रिका में प्रकाशित इन रिपोर्टों में लगाए गए आरोपों का उत्तर देते हुए बिहार सरकार के सूचना अधिकारी द्वारा जारी की गई प्रेस विज्ञप्ति को भी देखें।

सकता। जब एक समाज छिन्न–भिन्न हो रहा हो और दो राष्ट्र का सिद्धांत समाज और देश के विभाजन का स्पष्ट सूचक हो, तो कार्लाइल के 'ऑरगेनिक फिलामेंट्स' – अर्थात वे प्रबल शक्तियां जो उन भागों को एक सूत्र में बांधने के लिए सक्षम हों जो छिन्न–भिन्न हो चुकी हैं – उनका कोई अस्तित्व नहीं है ऐसे मामलों में विघटन की भावना खेदजनक ही समझी जा सकती है। यह रोकी नहीं जा सकती। परन्तु जहां उक्त शक्तियों का अस्तित्व है, उनके ऊपर ध्यान न देना और मुसलमानों की भांति समाज तथा देश को जान–बूझकर विभाजित करने पर बल देना, एक घोर अपराध है। मुसलमान एक भिन्न राष्ट्र इसलिए नहीं चाहते कि वे भिन्न रहे हैं बल्कि इसलिए कि यह उनकी कामना है। मुसलमानों में बहुत कुछ है जिसके फलस्वरूप, यदि वे चाहें तो अपने को एक राष्ट्र के रूप में ढाल सकते हैं, परंतु क्या ऐसी कोई स्थिति नहीं है जो हिंदू और मुसलमानों में सघन रूप से पाई जाती हो और जिसके फलस्वरूप यदि वह विकसित की जाए तो वह उन दोनों को एक मानव समाज में ढाल सके? इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उनके अनेक ढंग, तौर–तरीके, धार्मिक तथा सामाजिक रीति–रिवाज समान हैं। इस बात से भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि कुछ ऐसे भी रीति–रिवाज, संस्कार तथा आचरण हैं, जो धर्म पर आधारित हैं और जिनके फलस्वरूप हिंदू और मुसलमान आपस में दो भागों में विभक्त हैं। प्रश्न यह है कि उनमें से किस पर अधिक बल दिया जाए। यदि उन बातों पर बल दिया जाता है, जो दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं, तो भारत में दो राष्ट्रों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। पर यदि उन बातों पर ध्यान दिया जाता है जो सामान्य रूप से भिन्न हैं, तो ऐसी स्थिति में निःसंदेह दो राष्ट्रों का सवाल सही है। यही धारणा श्री जिन्ना की है। भारतीय समाज एकमात्र ऐसा समाज है जो कभी एक नहीं हो सकता। माना कि वे एक राष्ट्र नहीं है बल्कि एक जनसमूह है, तो इससे क्या? यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि मिले हुए व्यक्तियों के रूप में राष्ट्रों के उदय होने से पूर्व वहां मात्र जनसमूह था। इसमें कोई शर्म की बात नहीं है, यदि भारतीय एक जनसमूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस निराशा का कोई कारण भी समझ में नहीं आता कि भारतीय जनसमूह यदि चाहे तो एक राष्ट्र नहीं हो सकता। डिजराइली के कथनानुसार, राष्ट्र एक कला तथा काल के कार्य का प्रतिफल है। यदि हिंदू और मुसलमान उन बातों पर स्वीकृति प्रदान करने पर बल देते हैं जो उन्हें एक सूत्र में बांधती हैं, और उन बातों को भूल जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप वे विभक्त होते हैं तो फिर ऐसा कोई कारण नहीं है कि आगे चलकर उनका एक राष्ट्र के रूप में उदय न हो। हो सकता है कि उनकी राष्ट्रीयता इतनी एकताबद्ध न हो जितनी फ्रांस और जर्मनी की है, परंतु वे मन की एकसमान स्थिति सरलतापूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे सभी समान मुद्दों के मामलों में जिनका आविर्भाव राष्ट्रीयता की आत्मा के फलस्वरूप हुआ है, क्या यह उचित है कि मुस्लिम लीग भेदभावों

पर तो बल दे परन्तु एकता में बांधनेवाली शक्तियों को भुला दे। यह बात विस्मृत नहीं होनी चाहिए कि यदि दो राष्ट्र अस्तित्व में आते हैं तो इसलिए नहीं कि यह उनकी नियति थी, अपितु इसलिए कि यह सुविचारित मंसूबा है।

जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूं, भारत के मुसलमान अब भी कानूनन और यथार्थ में एक राष्ट्र नहीं हैं, और केवल कहा ही जा सकता है कि उनमें राष्ट्र–निर्माण के आवश्यक तत्व मौजूद हैं। परंतु यह मानते हुए कि भारत के मुसलमान एक राष्ट्र हैं, क्या भारत ही एक ऐसा देश है जहां दो राष्ट्रों का अभ्युदय होनेवाला है? कनाडा के विषय में क्या विचार है? प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि कनाडा में अंग्रेज और फ्रेंच दो राष्ट्र हैं। क्या दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज और डच दो राष्ट्र नहीं हैं? कौन नहीं जानता कि स्विटज़रलैंड में जर्मनी, फ्रेंच और इटालियन, ये तीन राष्ट्र हैं। क्या कनाडा में फ्रेंचों ने विभाजन की मांग की, क्योंकि वे एक पृथक राष्ट्र हैं? क्या अंग्रेजों ने अफ्रीका के विभाजन का दावा किया, क्योंकि बोसनिया से वे एक भिन्न और पृथक राष्ट्र हैं? क्या किसी ने कभी यह सुना है कि जर्मनी, फ्रेंच और इटालियंस ने स्विटज़रलैंड से अलग होने के लिए कोई आंदोलन किया, क्योंकि वे भिन्न–भिन्न राष्ट्र हैं? क्या जर्मंस, फ्रेंच और इटलीवासियों ने कभी यह अनुभव किया है कि यदि वे एक देश में एक संविधान के अंतर्गत एक नागरिक की तरह रहते हैं तो उनकी अपनी निजी संस्कृतियों का लोप हो जाएगा। इसके बावजूद, उक्त सभी विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीयता तथा संस्कृति की क्षीणता से डरे बिना एकसाथ एक संविधान के तहत रहने में संतोष प्रकट किया। कनाडा में अंग्रेजों के साथ रहकर न तो फ्रांसीसी फ्रांसीसीयत से रिक्त हुए और न दक्षिण अफ्रीका में बोर्स के साथ रहकर अंग्रेजों की अंग्रेजियत समाप्त हुई। जर्मंस, फ्रेंच तथा इटालियंस एक देश और एक संविधान के साथ समान नाता जोड़ते हुए अभिन्न राष्ट्र रहे। स्विटज़रलैंड का मामला ध्यान देने योग्य है। यह उन देशों से घिरा हुआ है, जिनकी राष्ट्रीयताएं एवं राष्ट्रीयताओं का धार्मिक तथा जातीय संबंध बहुत निकट से स्विटज़रलैंड की राष्ट्रीयताओं से संबद्ध है। उक्त सादृश्यता के होते हुए भी स्विटज़रलैंड के निवासी सर्वप्रथम स्विस हैं, तत्पश्चात जर्मंस, इटालियंस और फ्रेंच हैं।

कनाडा में फ्रेंच दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों और स्विटज़रलैंड में फ्रेंच और इटालियंस के उदाहरण के बाद प्रश्न यह उठता है कि भारत में आखिर ऐसा क्यों नहीं होता? यह मानते हुए कि हिंदू और मुसलमान दो राष्ट्रों में विभाजित हैं, वे एक देश में एक संविधान के अंतर्गत क्यों नहीं रह सकते? दो राष्ट्र–सिद्धांत के आविर्भाव के फलस्वरूप भारत के विभाजन की आवश्यकता क्या है? हिंदुओं के साथ रहने पर मुसलमान अपनी राष्ट्रीयता तथा संस्कृति के क्षीण हो जाने को लेकर इतने भयभीत क्यों हैं? यदि मुसलनान विभाजन का आग्रह करते हैं, तो कुटिल व्यक्ति

संभवतः यह निष्कर्ष निकालें कि हिंदू और मुसलमानों के बीच इतनी अधिक सामान्यता है कि मुस्लिम नेतृत्व में इतना भय व्याप्त है कि वे यह सोचने लगें कि जब तक विभाजन नहीं होता, मुसलमानों में जो थोड़ी–बहुत अलग इस्लामी संस्कृति बची हुई है, अंततः वह भी हिंदुओं के साथ सामाजिक संपर्क होने के कारण समाप्त हो जाएगी और; फलस्वरूप दो राष्ट्रों के बावजूद भारत में एक राष्ट्र ही बच रहेगा। यदि मुस्लिम राष्ट्रीयता इतनी ही क्षीण है तो विभाजन का विचार बनावटी है और पाकिस्तान का मामला अपना आधार खो बैठता है।

VI

क्या पाकिस्तान इसलिए बनना चाहिए कि इसके अभाव में स्वराज एक हिंदू राज होगा? मुस्लिम जनता उक्त प्रलाप में इतनी आसानी से बह जाती है कि इसमें जो निहित भ्रांतियां हैं, उनका पर्दाफाश कर देना परमावश्यक है।

सर्वप्रथम, हिंदू राज के लिए मुस्लिम आपत्ति क्या शुद्ध अंतःकरणीय है, अथवा एक राजनीतिक विरोध है? यदि यह शुद्ध अंतःकरणीय है तो यही कहा जा सकता है कि यह बड़ा विचित्र अंतःकरण है? वास्तव में ऐसे करोड़ों मुसलमान भारत में हैं जो बिना किसी प्रतिबंध तथा नियंत्रण के हिंदू रियासतों में रहते हैं। वहां मुस्लिम लीग अथवा मुसलमानों द्वारा कोई आपत्ति नहीं उठाई गई है। मुसलमानों ने एक समय ब्रिटिश राज के विरूद्ध शुद्ध अंतःकरण से आपत्ति उठाई थी। आज उन्हें मात्र आपत्ति ही नहीं है, अपितु वे उसके प्रबल समर्थक हैं। ब्रिटिश राज के प्रति आपत्ति न होना अथवा हिंदू रियासतों के हिंदू राजाओं के राज के प्रति आपत्ति न होना, किन्तु अंग्रेजों से भारत के लिए स्वराज लेने पर इस आधार पर आपत्ति होना कि ऐसा भारत हिंदू राज होगा, मानो उसमें कोई अंकुश ही नहीं होंगे, ऐसी मनोवृत्ति है जिसका तर्क समझना बहुत कठिन है।

हिंदू राज के विषय में राजनीतिक आपत्तियां अनेक आधारों पर निर्भर करती हैं। पहला आधार यह है कि हिंदू समाज एक लोकतंत्री समाज नहीं है। यह सच नहीं है। चाहे यह पूछना सही न हो कि मुसलमानों ने हिंदू समाज–सुधार के लिए चलाए गए विभिन्न आंदोलनों में कभी भाग लिया है, लेकिन यह पूछना सही होगा कि क्या केवल मुसलमान ही उन बुराइयों से उत्पीड़ित हुए हैं जो हिंदू समाज के अप्रजातांत्रिक होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं? क्या करोड़ों शुद्र और गैर–ब्राह्मण करोड़ों अस्पृश्य हिंदू समाज के इस अलोकतांत्रिक चरित्र के फलस्वरूप सर्वाधिक उत्पीड़ित नहीं हुए हैं? शिक्षा, लोक सेवा और राजनीतिक सुधारों के फलस्वरूप उस हिंदू शासक जाति को, जो हिंदुओं की उच्च जातियों से निर्मित हुई है और जो समस्त हिंदू जनसंख्या के दस प्रतिशत से अधिक नहीं है, छोड़कर अन्य किसको

अधिक लाभ हुआ है? क्या उक्त हिंदू शासक जाति ने, जो हिंदू राजनीति पर अपना नियंत्रण रखती है, अस्पृश्य और शूद्रों के निहित स्वार्थों की सुरक्षा की अपेक्षा मुसलमानों के निहित स्वार्थों की सुरक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया है? क्या श्री गांधी अस्पृश्यों को कोई राजनीतिक लाभ देने का विरोध करते हैं पर क्या मुसलमानों के पक्ष में वे एक क`रे चेक पर हस्ताक्षर करने के लिए तत्पर नहीं हैं? वास्तव में हिंदू शासक जाति अस्पृश्यों तथा शूद्रों के साथ शासन में भाग लेने की अपेक्षा मुसलमानों के साथ शासन में भाग लेने को अधिक तत्पर दिखाई देती है। मुसलमानों के पास निश्चय ही हिंदू समाज के इस अलोकतंत्रात्मक स्वरूप के प्रति शिकायत करने का किंचित भी आधार नहीं है।

दूसरा आधार, जिस पर हिंदू राज के प्रति मुसलमानों की आपत्ति आधारित है, यह है कि हिंदू एक बहुसंख्यक जाति है और मुसलमान अल्पसंख्यक जाति है। यह सत्य है। परंतु क्या भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहां इस प्रकार की स्थिति है? भारतवर्ष में इस स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन हमें कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और स्विटज़रलैंड की स्थिति से करना चाहिए। सर्वप्रथम जनसंख्या–वितरण को लिया जाए। कनाडा की कुल जनसंख्या 10,376,786 में सें मात्र 2,927,990 फ्रेंच[1] हैं। दक्षिण अफ्रका में डचों की जनसंख्या 1,120,770 है और अंग्रेजों की केवल 783,071 है[2]। स्विटज़रलैंड की कुल जनसंख्या 4,066,400 में 2,924,313 जर्मन, 831,097 फ्रेंच और 242,034 इटालियंस हैं[3]।

यह दर्शाता है कि छोटी राष्ट्रीयताओं को बड़ी जाति के राज में रहने पर कोई डर नहीं है। लेकिन ऐसी धारणा का उनमें क्यों अभाव है और इसका क्या कारण है? क्या यह इसलिए है क्योंकि विधान सभा तथा कार्यपालिका में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने की वहां कोई संभावना नहीं है? बात इसके विपरीत है। दुर्भाग्यवश, ऐसे कोई भी आंकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं, जिनके द्वारा हम स्विटज़रलैंड, कनाडा और दक्षिण अफ्रीका की विभिन्न एवं अल्प राष्ट्रीयताओं के प्रतिनिधियों की वास्तविक संख्या का अध्ययन कर पाते। भारत की भांति वहां जातिगत स्थानों के बारे में आरक्षण की भावना नहीं है। प्रत्येक जाति को आम चुनाव में यह अधिकार है कि वह जितने चाहे, उतने स्थानों के लिए अपने उम्मीदवार खड़े कर सकती है। परंतु उन स्थानों की सम्भाव्य संख्या की गणना करना आसान है, जिन्हें प्रत्येक राष्ट्र विधान सभा के कुल स्थानों और अपनी जनसंख्या के अनुपात के आधार पर प्राप्त कर सकता है। इस आधार पर आगे चलते हुए, हमें क्या देखने को मिलता है? स्विटज़रलैंड के निचले सदन में कुल एक सौ सत्तासी प्रतिनिधि हैं। उनमें से

1. कनाडा ईयर बुक, 1936
2. दक्षिण अफ्रीका ईयर बुक, 1941
3. स्टेटसमैन्स ईयर बुक, 1941

जर्मन जनसंख्या के 138 स्थानों पर जीतने की संभावना होती है, फ्रेंच की 42 पर और इटालियंस की केवल 7 स्थानों पर। दक्षिण अफ्रीका में कुल 153 स्थानों में से अंग्रेज 62 और डच 94 स्थान जीत सकते हैं। कनाडा में कुल 245 स्थान हैं। उनमें से 65 स्थानों पर फ्रेंच जीत सकते हैं*। इस आधार पर यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उक्त समस्त देशों में यह संभावना है कि बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर सकते हैं। वास्तव में, यहां तक कहा जा सकता है कि मात्र कानून और आकार के संदर्भ में फ्रेंच लोग कनाडा में ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत, दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज डच राज्य के अंतर्गत और स्विटज़रलैंड में इटालियंस और फ्रेंच जर्मन राज्य के अंतर्गत रह रहे हैं। परंतु वास्तविक स्थिति क्या है? क्या कनाडा में फ्रांस निवासियों ने यह चीख–पुकार की है कि वे ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत नहीं रहना चाहते? क्या दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों द्वारा यह प्रलाप किया गया है कि वे डच राज्य के अंतर्गत नहीं रहना चाहते? क्या स्विटजरलैंड में फ्रेंच और इटालियंस ने कोई आपत्ति उठाई है कि वे जर्मन राज्य के अंतर्गत नहीं रह सकते? तब फिर मुसलमान ही क्यों यह आवाज उठाते हैं कि वे हिंदू राज्य के अंतर्गत नहीं रहना चाहते?

क्या यह बात कभी कही गई है कि हिंदू राज्य एक स्पष्ट, भेदभावरहित सांप्रदायिक बहुमत का शासन होगा? क्या हिंदू बहुमत के उत्पीड़न की संभावना के विरुद्ध मुसलमानों को सुरक्षा नहीं दी जाएगी? कनाडा में फ्रेंचों के हितों को, दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों और स्विटज़रलैंड में फ्रेंच और इटालियन्स के हितों को जो सुरक्षा प्रदान की गई है, उनकी अपेक्षा भारत में मुसलमानों के हितों को मिली सुरक्षा क्या अधिक और बेहतर नहीं है? हितों की सुरक्षा के किसी एक विषय को ले लीजिए। क्या विधानसभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक नहीं है? क्या कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और स्विटज़रलैंड में जातियों की जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व उन्हें दिया गया है, और क्या जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व का मुसलमानों पर कोई प्रभाव पड़ा है? क्या यह विधान सभा में हिंदुओं के बहुमत को नहीं घटाता है? इसमें कितनी कमी आई है? अपने को ब्रिटिश भारत तक ही सीमित करते हुए और केवल उसी प्रतिनिधित्व का लेखा–जोखा लेते हुए, जो कि निर्वाचन क्षेत्रों को प्रदान किया गया है, स्थिति क्या है? भारत सरकार के 1935 ऐक्ट के अंतर्गत केंद्रीय विधान सभा के निचले सदन में कुल 187 स्थानों में हिंदुओं की संख्या 105 और मुसलमानों की 82 है। उक्त आंकड़ों का अध्ययन करने के उपरांत कोई भी यह पूछ सकता है कि हिंदू राज से भय कहां है?

---

* ये क्यूबेक प्रांत के आंकड़े हैं।

पर अगर वास्तव में हिंदू राज बन जाता है तो निस्संदेह इस देश के लिए एक भारी खतरा उत्पन्न हो जाएगा। हिंदू कुछ भी कहें, पर हिंदुत्व स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के लिए एक खतरा है। इस आधार पर, प्रजातंत्र के लिए यह अनुपयुक्त है। हिंदू राज को हर कीमत पर रोका जाना चाहिए। परंतु क्या इसका उपचार पाकिस्तान का बन जाना ही है? किसी देश में बसने वाली विभिन्न जातियों के तुलनात्मक शक्ति–संतुलन के अभाव में सांप्रदायिक राज़ का निर्माण होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, संतुलन का यह अभाव भारत में इतना अधिक नहीं पाया जाता जितना कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और स्विटज़रलैंड में है। तो भी कनाडा में कोई ब्रिटिश राज नहीं है, दक्षिण अफ्रीका में कोई डच राज नहीं है और स्विटज़रलैंड में कोई जर्मन राज नहीं है। पूछा जा सकता है कि किस प्रकार अपने–अपने देश में फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज और इटालियंस बहुतसंख्यक जाति के राज को रोकने में सफल हुए? निश्चय ही विभाजन द्वारा नहीं। उनकी क्या पद्धति है? उनकी पद्धति सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगा देने की है। कोई भी जाति कनाडा, दक्षिण अफ्रीका तथा स्विटज़रलैंड में पृथक सांप्रदायिक दल बनाने के लिए कभी नहीं सोचती। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता सांप्रदायिक पार्टी की रचना के विरोध में अग्रसर होती है, क्योंकि वह जानती है कि यदि उसने किसी सांप्रदायिक दल का निर्माण किया, तो बहुसंख्यक जाति भी सांप्रदायिक पार्टी की रचना करेगी और इसके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक जाति बड़ी आसानी से अपना सांप्रदायिक राज स्थापित कर लेगी। लेकिन आत्मरक्षा की यह एक हेय प्रणाली है। इसलिए अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं इससे पूरी तरह परिचित हैं कि वे किस प्रकार हमारे किले पर छा जाएंगे, अतः उन्होंने सांप्रदायिक राजनीतिक दलों के निर्माण का विरोध किया है।

पर क्या मुसलमानों द्वारा हिंदू राज को टालने की बात सोची गई? क्या उन्होंने कभी यह सोचा कि मुस्लिम लीग की चालू नीति कितनी घातक एवं हानिकारक है? मुसलमान हिंदू महासभा के हिन्दू राज के नारे के विरुद्ध गरज रहे हैं। परंतु इसका उत्तरदायित्व किस पर है? यह हिंदू महासभा और हिंदू राज की बदले की भावना है, जिससे मुसलमानों ने मुस्लिम लीग को जन्म दिया। यह क्रिया और प्रतिक्रिया है, जो एक दूसरे को जन्म देती है। हिंदू राज के भूत को दफनाने के लिए विभाजन को छोड़कर केवल मुस्लिम लीग का भंग हो जाना तथा हिंदू–मुस्लिम जातियों की संयुक्त पार्टी का बन जाना ही एकमात्र प्रभावी मार्ग है। जब तक संवैधानिक सुरक्षाओं के सवाल पर समझौता नहीं होता, तब तक वास्तव में यह संभव नहीं है कि मुस्लिम तथा अन्य अल्पसंख्यक पार्टियां कांग्रेस तथा हिंदू महासभा में भाग लें। परंतु यह निश्चित होना है, और आशा भी है कि इस समझौते के फलस्वरूप मुस्लिम तथा अन्य अल्पसंख्यक जातियां मनचाहे संरक्षण उपलब्ध करा

सकेंगी। एक बार इस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर पार्टी को पुनः एक सीधे मार्ग पर आ जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। इसके लिए हम चाहते हैं कि कांग्रेस और महासभा भंग हो जाएं और हिंदू तथा मुसलमान मिल–जुलकर राजनीतिक पार्टियों का निर्माण कर लें, जिनका आधार आर्थिक जीर्णोद्धार तथा स्वीकृत सामाजिक कार्यक्रम हो, तथा जिसके फलस्वरूप हिंदू राज अथवा मुस्लिम राज का खतरा टल सके। भारत में हिंदू–मुसलमानों की संयुक्त पार्टी की रचना कठिन नहीं है। हिंदू समाज में ऐसी बहुत–सी उपजातियां हैं जिनकी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक आवश्यकताएं वही हैं जो बहुसंख्यक मुस्लिम जातियों की हैं। अतः वे उन उच्च जाति के हिंदुओं की अपेक्षा, जिन्होंने शताब्दियों से आम मानव अधिकारों से उन्हें वंचित कर दिया है, अपने व अपने समाज के हितों की उपलब्धियों के लिए मुसलमानों से मिलने के लिए शीघ्र तैयार हो जाएंगी। इस प्रकार के मार्ग का अवलंबन एक साहसपूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस मार्ग का पहले से ही अनुकरण किया गया है। क्या यह एक तथ्य नहीं है कि मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत अधिकांश प्रांतों में मुसलमान, गैर–ब्राह्मण तथा पिछड़ी जातियां एकता के सूत्र में बंधीं और 1920 से 1937 तक एक टीम की तरह उन सुधारों पर अमल किया गया? इसमें हिंदू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक एकता प्राप्त करने की अत्यधिक उपयोगी पद्धति निहित है और इसके परिणामस्वरूप हिंदू राज का खतरा खत्म हो जाता है। श्री जिन्ना इस रूपरेखा का आसानी से सहारा ले सकते थे और उनके लिए इसमें सफलता प्राप्त करने में कोई कठिनाई भी नहीं थी। वास्तव में श्री जिन्ना ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें इस ओर सफलता प्राप्त करने के समस्त अवसर प्राप्त हैं, यदि उनके द्वारा एक संयुक्त, गैर–सांप्रदायिक पार्टी के निर्माण का प्रयत्न किया जाए। उनमें संगठन करने की योग्यता है, वे राष्ट्रीयता के लिए प्रसिद्ध हैं। अनेक हिंदू भी जिनका कांग्रेस से मतभेद है, उनसे सहयोग करने को तत्पर हो जाते, यदि उन्होंने समान सोच वाले हिंदू–मुसलमानों की एक संयुक्त पार्टी बनाने का आह्वान किया होता। सोचिए कि 1937 में श्री जिन्ना ने क्या किया था? श्री जिन्ना ने मुस्लिम राजनीति में प्रवेश किया और आश्चर्यजनक ढंग से मुस्लिम लीग को जो मर रही थी और क्षीण हो रही थी पुनर्जीवित किया, तथा कुछ ही वर्षों पूर्व जिसका दाह–संस्कार देखकर वह प्रसन्न होते। इस तरह सांप्रदायिक राजनीतिक पार्टी का प्रारंभ कितना ही खेदजनक सही, परंतु उसका जो सुखद स्वरूप था, वह था श्री जिन्ना का नेतृत्व। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि श्री जिन्ना के नेतृत्व में लीग कभी भी सांप्रदायिक पार्टी नहीं हो सकेगी। अपने इस नए कार्य के पहले दो वर्षों में लीग ने जो प्रस्ताव पारित किए हैं, उनसे यह पता चलता है कि हिंदुओं और मुसलमानों का एक संयुक्त राजनीतिक दल विकसित हो सकेगा। अक्तूबर 1937 में लखनऊ में संपन्न मुस्लिम लीग के

वार्षिक अधिवेशन पर कुल 15 प्रस्ताव पारित हुए। उनमें से निम्नलिखित दो प्रस्ताव इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं –

प्रस्ताव संख्या 7 :

> "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का यह अधिवेशन भारत सरकार अधिनियम 1935 की भावना और अर्थ की तीव्र भर्त्सना करते हुए, कांग्रेस द्वारा कतिपय प्रांतों में मंत्रिमंडलों के निर्माण के विरुद्ध खेद प्रकट करता है, अपना विरोध प्रकट करता है तथा राज्यपालों की निंदा करता है, क्योंकि वे अपने उन विशिष्ट अधिकारों को प्रयोग में लाने में असफल रहे हैं, जो उन्हें मुस्लिम तथा अन्य महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए उपलब्ध थे।"

प्रस्ताव संख्या 8 :

> "यह निर्णय लिया जाता है कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का ध्येय स्वतंत्र प्रजातांत्रिक राज्यों के एक संघ के रूप में पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित करना है, जिसमें मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के हितों और अधिकारों की सुरक्षा संविधान में प्रभावपूर्ण ढंग से हो सके।"

दिसंबर 1938 में संपन्न मुस्लिम लीग के दूसरे वार्षिक अधिवेशन में इसी प्रकार के अनेक प्रस्ताव पारित किए गए। उनमें निम्न प्रस्ताव संख्या 10 विचारणीय है–

> "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग अपना यह दृष्टिकोण दोहराती है कि संघ की परियोजना, जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 में सन्निहित है, स्वीकार करने योग्य नहीं है, परंतु जो आगे उन्नति हुई है या समय–समय पर हो सकती है, एतदर्थ लीग अपने अध्यक्ष को अधिकार प्रदान करती है कि वे ऐसा मार्ग अपनाएं, जो आवश्यक हो, जिससे उन उचित विकल्पों की संभावनाओं की खोज की जा सके, जिनके फलस्वरूप मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा हो सके।"

उक्त प्रस्तावों द्वारा श्री जिन्ना ने यह दिखाया कि वह मुस्लिम और गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों के बीच एक सामान्य मंच के पक्ष में हैं। दुर्भाग्यवश निष्पक्षता तथा राजनीतिज्ञता, जो उक्त प्रस्तावों में सन्निहित थी, अधिक समय तक नहीं रह सकी। 1939 में श्री जिन्ना ने एक छलांग लगाई और पाकिस्तान के पक्ष में वह शरारतपूर्ण प्रस्ताव पारित करते हुए मुसलमानों को पृथक करने की खतरनाक एवं विनाशकारी अलगाववादी नीति की रूपरेखा तैयार की। इस अलगाव का क्या कारण है? कोई कारण नहीं, केवल विचारधारा में परिवर्तन कि मुसलमान एक राष्ट्र हैं, एक जाति नहीं। किसी व्यक्ति को इस सवाल पर झगड़ना नहीं चाहिए कि मुसलमान एक

राष्ट्र हैं अथवा जाति। परंतु यह बात समझना बहुत कठिन है कि किस प्रकार यह तथ्य कि मुसलमान एक राष्ट्र हैं, राजनीतिक अलगाव की एक सुरक्षित और सार्थक नीति का द्योतक है। दुर्भाग्यवश मुसलमान इस बात का अनुभव नहीं करते कि उक्त नीति के फलस्वरूप श्री जिन्ना ने उन लोगों का कितना अहित किया है, परंतु मुसलमान यह तो सोच ही सकते हैं कि मुस्लिम लीग को मुसलमानों का एकमात्र संगठन बनाकर श्री जिन्ना ने क्या पाया? हो सकता है उक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप उनके सामने किसी अन्य व्यक्ति के नेतृत्व प्राप्त करने की संभावना न रही हो, क्योंकि मुस्लिम शिविर मे उन्हें स्वयं सर्वप्रथम स्थान प्राप्त होने का पूर्ण विश्वास रहा है। परंतु लीग हिंदू राज्य से मुसलमानों के अलगाव की योजना द्वारा किस प्रकार अपने को बचा सकती है? जिन प्रांतों में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, क्या पाकिस्तान वहां हिंदू राज्य के निर्माण की संभावना को रद्द कर सकता है? स्पष्टतः वह ऐसा नहीं कर सकता। अगर पाकिस्तान बना तो अल्पसंख्यक मुस्लिम प्रांतों में यह बात अवश्य होगी। अब संपूर्ण भारत पर दृष्टिपात कीजिए। क्या पाकिस्तान उन मुस्लिम अल्पसंख्यकों के बल पर, जो हिंदुस्तान में बचे रहेंगे, केंद्र में हिंदू राज स्थापित करने में रुकावट डाल सकता है? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता। तब पाकिस्तान का क्या औचित्य रहा? क्या वह उन बहुसंख्यक मुस्लिम प्रांतों में, जहां पर कभी भी हिंदू राज नहीं बन सकता, हिंदू राज की स्थापना को रोक सकता है? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पाकिस्तान मुसलमानों के लिए वहां अनावश्यक है जहां वे बहुसंख्यक हैं, क्योंकि वहां हिंदू राज की स्थापना का कोई भय नहीं है। वह स्थिति मुसलमानों के लिए निरर्थक होने की अपेक्षा और भी बुरी है, जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, क्योंकि पाकिस्तान हो अथवा नहीं, हिंदू राज का सामना उन्हें करना पड़ेगा। क्या राजनीति मुस्लिम लीग की इस राजनीति से भी अधिक खराब हो सकती है. मुस्लिम लीग ने अल्पसंख्यक मुसलमानों के हितों का आलिंगन करते हुए बहुसंख्यक मुस्लिमों की वकालत करके उन्हें समाप्त किया। लीग के मौलिक लक्ष्य में कितना हेरफेर हुआ, कितना पतन एक हास्यास्पद स्थिति तक हुआ, यह देखा जा सकता है। हिंदू राज के विरूद्ध विभाजन का विकल्प और अधिक बुरा है।

VI

पाकिस्तान को लेकर मुस्लिम दृष्टिकोण में जो त्रुटियां हैं, उनमें से कुछ मेरे सामने आ चुकी हैं। और भी त्रुटियां हो सकती हैं, जो मेरी समझ में न आई हों। किंतु उनकी जो सूची इस समय है, वह भी काफी बड़ी है। मुसलमान उन्हें किस तरह दूर करने की सोचते हैं, यह प्रश्न मुसलमानों के लिए है, मेरे लिए नहीं। इस विषय का विद्यार्थी होने के नाते मेरा कर्तव्य उन त्रुटियों को जता देना है। वह मैंने कर

दिया। कोई और प्रश्न मेरे पास उत्तर देने को नहीं है।

जो भी हो, दो और ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिनकी चर्चा किए बिना यह विवाद समाप्त नहीं किया जा सकता था। इन प्रश्नों का उद्देश्य मेरे और मेरे आलोचकों के बीच जो भेद है, उसे साफ कर देना है। इन प्रश्नों में, एक तो मैं आलोचकों से पूछने का अधिकारी हूं और दूसरे को आलोचक मुझसे पूछ सकते हैं।

पहला प्रश्न जो मैं आलोचकों से पूछना चाहता हूं, यह है कि इन त्रुटियों के परिप्रेक्ष्य में वे क्या आशा करते हैं? क्या वे यह आशा करते हैं कि यदि इस वाद–विवाद में मुसलमान हार जायें तो वे पाकिस्तान का नाम न लें? यह तो उन शर्तों पर निर्भर करता है जो विवाद को निश्चित करने के लिए अपनाई जाएंगी। हिंदू और मुसलमान उस तरीके पर चल सकते हैं, जिसे प्राचीन काल में ईसाई मिशनरियों ने हिंदुओं को ईसाई बनाने के लिए अपनाया था। इस तरीके के मुताबिक ईसाई मिशनरियों और ब्राह्मणों के बीच बहस का, जिसे जनता सुन भी सके, एक दिन निश्चित कर दिया जाता था। पहली शर्त तो ईसाई धर्म का प्रतिनिधित्व करती थी और दूसरी में हिंदू धर्म की व्याख्या होती थी। तीसरी शर्त यह होती थी कि जो अपने धर्म की पुष्टि में हार जाएगा, वह दूसरे के धर्म को स्वीकार करने को बाध्य होगा। यदि पाकिस्तान के मसले पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच झगड़ा निपटाने का यह तरीका स्वीकार किया गया होता तो त्रुटियों की इस श्रृंखला का कुछ लाभ हो सकता था। किंतु यह भूलने की आवश्यकता नहीं है कि किसी बहस को समाप्त करने का एक और तरीका है, जिसे 'जानसनी' तरीका कहा जा सकता है और जो उस तरीके पर आधारित है जिसे डॉ. जानसन ने पादरी बर्कले से बहस करने में प्रयोग किया था। बास्वेल लिखते हैं कि जब उन्होंने डॉ. जानसन को बताया कि पादरी बर्कले का मत यह कि पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है और इस संसार में सब कुछ काल्पनिक है, एक कुतर्क है, पर उसका खंडन करना कठिन है, तो डॉ. जानसन ने एक भारी पत्थर पर जोर से पैर पटकते हुए तत्काल उत्तर दिया – 'मैं इसे इस तरह खंडित करता हूं।' हो सकता है मुसलमान इस बात पर राजी हो जाएं, जैसा कि अधिकांश मुस्लिम बुद्धिजीवी कहते हैं, कि पाकिस्तान का जो मसला है, उसका फैसला 'बहस' और 'तर्क' के परीक्षणों से हो। किंतु मुझे आश्चर्य नहीं होगा, यदि मुसलमान डॉ. जानसन का तरीका अपनाने का निश्चय कर लें और कहें कि भाड़ में जाएं तुम्हारे तर्क, हम तो पाकिस्तान चाहते हैं। आलोचकों को समझना चाहिए कि ऐसी स्थिति में पाकिस्तान के मसले को बिगाड़ने के लिए यदि उनकी मजबूरियों पर भरोसा किया गया, तो बिल्कुल बेकार होगा। इसलिए पाकिस्तान की त्रुटियों के तर्क का आनंद लेना निरर्थक है।

अब उस दूसरे प्रश्न को लिया जाए, जो मैंने कहा है कि आलोचक मुझसे पूछने के अधिकारी हैं। जो आपत्तियां मैंने प्रस्तुत की हैं, उन्हें देखते हुए पाकिस्तान के

मामले में मेरी क्या राय है? अपनी राय के विषय में मुझे कोई संशय नहीं है। मेरा दृढ़ मत है कि कुछ स्थितियों के बने रहने पर, जो आगामी अध्यायों में उल्लिखित हैं, यदि मुसलमान पाकिस्तान लेने पर तुले हुए हैं तो वह उन्हें दिया जाना चाहिए। मैं जानता हूं कि मेरे आलोचक मुझ पर तुरंत बेमेल बात कहने का लांछन लगाएंगे और ऐसे असाधारण निष्कर्ष निकालने के कारण मुझसे पूछेंगे – असाधारण उस दृष्टिकोण के कारण जो कि मैं इस अध्याय के पहले भाग में प्रकट कर चुका हूं कि पाकिस्तान के पक्ष के मुस्लिम विवाद में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मजबूर करनेवाली ताकत कहा जा सके, जो कि निर्दयी भाग्य–निर्णायक कही जाती है। पाकिस्तान के मसले में जो कमियां मैंने गिनाई हैं, उनमें से किसी को भी मैं वापस नहीं लेना चाहता। फिर भी मेरा विचार है कि यदि मुसलमानों को पाकिस्तान चाहिए तो उन्हें वह दिए बिना कोई बचाव नहीं है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद भी मैं यह निस्संकोच कह सकता हूं कि पाकिस्तान के तर्क में कोई दम नहीं है। मेरे फैसले में दो निर्देशक कारक हैं जो मसले का फैसला करनेवाले हैं। पहला है भारत की सुरक्षा, और दूसरा है मुसलमानों की भावना। मैं बताऊंगा कि मैं उन्हें फैसला करने के योग्य क्यों समझता हूं और किस प्रकार वे मेरे विचार से पाकिस्तान के पक्ष में जाते हैं।

पहले प्रथम प्रश्न लिया जाए। कोई इस बात की अनदेखी नहीं कर सकता कि स्वतंत्रता पा लेना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना उसे बनाए रखने के लिए पक्के साधनों का पाना। स्वतंत्रता को मजबूत रखनेवाली तो अंततोगत्वा एक भरोसेमंद फौज है – ऐसी फौज, जिस पर हर समय और किसी भी घटनाकाल में देश के लिए लड़ने का विश्वास किया जा सके। भारत में फौज अवश्य ही संयुक्त होगी, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों रहेंगे। यदि भारत पर किसी विदेशी शक्ति का आक्रमण होता है तो क्या फौज में शामिल मुसलमानों पर भारत की रक्षा का भरोसा किया जा सकता है? मान लीजिए कि हमलावर उनके सहधर्मी हैं, तो क्या मुसलमान उनकी तरफ हो जाएंगे या वे उनका सामना करेंगे और भारत को बचाएंगे? यह अत्यंत अहम प्रश्न है। स्पष्टतया इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करेगा कि फौज में शामिल मुसलमानों को राष्ट्र सिद्धांत, जो कि पाकिस्तान की नींव है, की छूत कहां तक लग गई है। यदि उन्हें यह छूत लग गई है तो भारत में फौज खतरे से खाली नहीं हो सकती। भारत की स्वतंत्रता की संरक्षिका होने के बजाए वह उसके लिए एक धमकी और भारी खतरा बनी रहेगी। मैं यह मानता हूं। अंग्रेज जो तर्क देते हैं कि उनके द्वारा पाकिस्तान को अस्वीकृत कर देना भारत के हित में होगा, यह सुनकर मैं सुन्न हो जाता हूं। कुछ हिंदू भी यही स्वर अलापते हैं। मैं विश्वास करता हूं कि या तो वे जानते नहीं हैं कि भारत की स्वतंत्रता में निर्धारक कारक क्या हैं या वे भारत की रक्षा की बात एक स्वतंत्र देश के आशय

से नहीं करते, जो अपनी सुरक्षा का स्वयं उत्तरदायी हो, बल्कि अंग्रेजों के एक अधिकृत देश के नाते करते हैं, जिसकी वे अनधिकार प्रवेश करनेवाले से रक्षा करें। यह दृष्टिकोण बिल्कुल गलत है। प्रश्न यह नहीं है कि क्या अंग्रेज भारत का विभाजन न होने की स्थिति में बेहतर तरीके से भारत की रक्षा कर सकेंगे। प्रश्न यह है कि क्या भारतीय जन स्वतंत्र भारत की रक्षा कर सकेंगे? मैं फिर दोहराता हूं कि एक ही उत्तर है कि भारतीय स्वतंत्र भारत की रक्षा एक ही दशा में कर सकेंगे, अर्थात यदि भारत में फौज अराजनीतिक रहती है, पाकिस्तान के जहर से अछूती। भारतीयों को मैं फौज के प्रश्न को उठाए बिना स्वराज्य पर विचार–विमर्श की वाहियात आदत के खिलाफ चेतावनी देता हूं, जो इस देश में पैदा हो गई है। इससे बढ़कर घातक कुछ नहीं हो सकता, यदि यह न समझा जाए कि राजनीतिक फौज भारत की स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। ऐसी स्थिति किसी भी फौज के न होने से भी बुरी है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि फौज वह अंतिम स्वीकृति है, जो देश में सरकार को उस समय संभालती है, जब कोई विद्रोही या अड़ियल तत्व उसे चुनौती देता है। मान लीजिए कि तत्कालिक सरकार कोई ऐसी नीति अपनाती है, जिसका मुसलमानों का एक वर्ग घोर विरोध करता है। मान लीजिए प्रस्तुत सरकार को उस नीति का पालन कराने के लिए फौज को इस्तेमाल करने की जरूरत पड़ती है। तो क्या वह सरकार मुसलमानों पर भरोसा कर सकती है कि वे उसका आदेश मानेंगे और मुसलमान विद्रोहियों को गोली मार देंगे? यह फिर उसी बात पर निर्भर है कि कहां तक मुसलमानों को दो राष्ट्र सिद्धांत की छूत लग चुकी है। यदि उन्हें यह छूत लग चुकी है तो भारत एक विश्वसनीय और सुरक्षित सरकार नहीं बना सकता।

अब दूसरे महत्वपूर्ण कारक पर विचार करें, तो हिंदू जनता राजनीति में भावना को शक्ति के रूप में कोई महत्व देती नहीं जान पड़ती। मुसलमानों के विरुद्ध जीतने के लिए हिंदू दो कारणों पर भरोसा करते जान पड़ते हैं। पहला यह है कि भले ही हिंदू और मुसलमान दो राष्ट्र हों, वे एक राज्य में रह सकते हैं। दूसरा यह कि पाकिस्तान मुसलमानों की एक बलवती भावना पर आधारित है न कि स्पष्ट तर्कों पर। मैं नहीं जानता कि हिंदू ऐसे तर्कों से अपने को कब तक मूर्ख बनाएंगे। यह सत्य है कि पहला तर्क पूर्वोदाहरण के बिना नहीं है। साथ ही इसे समझने में अधिक बुद्धि की आवश्यकता नहीं कि इसका महत्व अत्यंत सीमित है। दो राष्ट्र और एक राज्य एक अच्छा बहाना है। इसमें वही आकर्षण है, जो एक धर्मोपदेश में होता है और इसका परिणाम मुस्लिम नेताओं का बदल जाना हो सकता है। किंतु एक धर्मोपदेश की तरह कहे जाने के बजाए यदि इसे अध्यादेश के रूप में निकालने और मुसलमानों से मनवाने का इरादा किया जाता है तो ऐसा

करना एक पागलपन भरी योजना होगी, जिसे कोई भी स्वस्थ चित्त मनुष्य नहीं मानेगा। मुझे विश्वास है कि इससे स्वराज्य का उद्देश्य ही मारा जाएगा। दूसरा तर्क भी इतना ही मूर्खतापूर्ण है। पाकिस्तान का मुस्लिम भावना की नींव पर खड़ा होना कमजोरी की बात बिल्कुल नहीं है। वह वास्तव में इसका प्रबल तर्क–बिंदु है। यह जानने के लिए राजनीति की गहरी समझ की जरूरत नहीं है कि संविधान के कार्यान्वयन की क्षमता मुख से कह–भर देने की बात नहीं है। यह भावना का विषय है। एक संविधान को कपड़ों की तरह अनुकूल और मनमोहक होना चाहिए। यदि वह मनोहारी नहीं है तो चाहे जितना भी पूर्ण हो, काम नहीं कर सकता। यदि ऐसा संविधान बनता है जो एक निश्चित वर्ग की प्रबल भावनाओं के विपरीत जाता है, तो वह एकदम विद्रोह भले ही पैदा न करे, विनाशकारी तो होगा ही।

हिंदू यह बात नहीं समझ रहे हैं कि मान लीजिए एक भरोसेमंद फौज है, तो सैन्य–शक्तियों द्वारा लोगों पर शासन करना किसी देश की सामान्य विधि नहीं है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शक्ति राजनीतिक शरीर की औषधि है और शरीर के रोगी होने पर प्रयुक्त होनी चाहिए। किंतु राजनीतिक शरीर की औषधि होने से ही शक्ति को उसकी नित्य की खुराक नहीं बनाया जा सकता। एक राजनीतिक शरीर को प्राकृतिक रूप से काम करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब कि राजनीतिक शरीर के विभिन्न घटक तत्व साथ–साथ काम करने की इच्छा रखें और यथावत गठित प्राधिकार द्वारा बनाए गये नियमों और आदेशों का पालन करने को तैयार हों। मान लीजिए संयुक्त भारत के लिए नए संविधान में वे सभी बातें मौजूद हैं, जो मुसलमानों के हितों की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। किंतु मान लीजिए मुसलमानों ने कह दिया कि 'आपकी सुरक्षा के लिए आपको धन्यवाद, हम आपसे शासित होना नहीं चाहते' और मान लीजिए वे विधान सभा का बहिष्कार करते हैं, कानून को मानने से इन्कार करते हैं, करों को देने का विरोध करते हैं, तो क्या होगा? क्या हिंदू अपनी संगीनों के बल पर मुसलमानों से आज्ञा मनवाने को तैयार हैं? क्या स्वराज लोगों की सेवा करने का अवसर होगा या हिंदुओं के लिए मुसलमानों को और मुसलमानों के लिए हिंदुओं को जीतने का मौका। स्वराज होना चाहिए लोगों के द्वारा, लोगों के लिए, लोगों का शासन। यह स्वराज का यथार्थ हेतु है और स्वराज का एकमात्र औचित्य। यदि स्वराज को ऐसे युग में प्रवेश करना है जिसमें हिंदू और मुसलमान एक–दूसरे के विरुद्ध योजना बनाने में लगे होंगे, हरेक अपने प्रतिद्वंद्वी को जीतने की साजिश में लगा होगा तो हमें स्वराज क्यों लेना चाहिए और प्रजातांत्रिक राष्ट्रों को ऐसे स्वराज को अस्तित्व में ही क्यों आने देना चाहिए? यह जाल छल और पथभ्रष्टकारी होगा।

गैर–मुस्लिम इस बात से अनजान दिखाई देते हैं कि उन्हें ऐसी स्थिति में खड़ा

कर दिया गया है जिसमें उन्हें विवश होकर विविध विकल्पों में चुनाव करना पड़ेगा। मैं उन्हें बता दूं। पहले तो उन्हें भारत की स्वतंत्रता और भारत की एकता के बीच एक को चुनना है। यदि गैर–मुस्लिम भारत की एकता पर जोर देते हैं तो वे भारत की स्वतंत्रता की शीघ्र प्राप्ति को संकट में डालते हैं। दूसरा विकल्प भारत की रक्षा की सबसे पक्की विधि से संबंध रखता है कि क्या वे स्वतंत्र और संयुक्त भारत में मुसलमानों पर भरोसा कर सकते हैं? क्या वे गैर–मुस्लिमों के मेलमिलाप के साथ दोनों की संयुक्त स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए आवश्यक इच्छा पैदा करेंगे और बनाए रखेंगे? या भारत का विभाजन कर देना बेहतर है, जिससे कि मुस्लिम भारत की सुरक्षा मुसलमानों के सुपुर्द होने से पक्की हो जाए और गैर–मुस्लिम भारत की सुरक्षा गैर–मुसलमानों के हाथ में सुदृढ़ रहे।

पहले तो मैं भारत की एकता से अधिक भारत की स्वतंत्रता को पसंद करता हूं। सीन फीनर, जो दुनिया–भर के राष्ट्रवादियों में सबसे अधिक कट्टर थे और जो भारतीयों की तरह ऐसे ही विकल्पों में डाले गए थे, उन्होंने आयरलैंड की एकता के मुकाबले आयरलैंड की स्वतंत्रता को चुना था। गैर–मुस्लिम, जो विभाजन के खिलाफ है, एक समय फीनों के उपाध्यक्ष रहे रेवरेंड माइकेल ओ फ्लेनागन की इस सलाह से बहुत लाभ उठा सकते हैं, जो उन्होंने आयरलैंड के विभाजन पर आयरलैंड के राष्ट्रवादियों को दी थी। उन्होंने कहा था* –

> "यदि हम गृह शासन को अस्वीकार करके अल्सटर के संघी भागों को बाहर जाने देना पसंद करते हैं तो, हम संसार के सामने इसकी पुष्टि कैसे करेंगे? हम बता सकते हैं कि आयरलैंड एक ऐसा द्वीप है, जिसकी एक निश्चित भौगोलिक सीमा है। यह तर्क उन अनेक द्वीपीय राष्ट्रों को सही लग सकता है जिनकी स्वयं की निश्चित भौगोलिक सीमाएं हैं। पर घटती–बढ़ती सीमाओं वाले महाद्वीपीय देश से अपील करने पर, जैसा कि हम कर रहे हैं, उस तर्क में कोई दम नहीं रहेगा। राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाएं शायद ही कभी एक हो पाती हैं। भूगोल ने स्पेन और पुर्तगाल को एक राष्ट्र बनाया, इतिहास ने उन्हें दो बना दिया है। भूगोल ने नार्वे और स्वीडन को एक राष्ट्र बनाने का भरसक यत्न किया, इतिहास उन्हें दो बनाने में सफल हुआ। उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप में जो अनेक राष्ट्र हैं, भूगोल के पास उनसे कहने को शायद ही कुछ होगा, सब कुछ इतिहास ने किया है। यदि कोई यूरोप के भौतिक नक्शे से राजनीतिक नक्शा बनाने की कोशिश करता, तो वह अंधकार में भटक जाता। भूगोल ने आयरलैंड को एक राष्ट्र बनाने का कठिन कार्य किया,

* सर जेम्स ओ केमूर द्वारा लिखित हिस्ट्री ऑफ आयरलैंड, खंड-2, पृ. 257

इतिहास ने इसके विपरीत कार्य किया है। बात इतनी है कि आयरलैंड द्वीप और आयरलैंड की राष्ट्रीय यूनिट एक नहीं हैं। अंतिम विश्लेषण यह है कि राष्ट्रीयता की परीक्षा लोगों की इच्छा है।"

ये शब्द वास्तविकता के धरातल से निकले गंभीर विचा्र हैं। खेद है कि भारत में इनका अभाव है।

दूसरे मसले पर मैं भारत का मुस्लिम भारत और गैर–मुस्लिम भारत में विभाजन बेहतर समझता हूं जो कि दोनों को सुरक्षा प्रदान करने का सबसे पक्का और सुरक्षित तरीका है। अवश्य ही दोनों विनल्पों में से यह अधिक सुरक्षित है। मैं जानता हूं कि यह तर्क दिया जाएगा कि स्वतंत्र और संयुक्त भारत के प्रति दो राष्ट्र–सिद्धांत की छूत से पैदा होने वाली मुसलमान सेना की वफादारी के प्रति आशंका केवल काल्पनिक आशंका है। यह बेशक सही है। मेरे द्वारा चुने गए विकल्प की उपयुक्तता से इसका कोई विरोध नहीं है। मैं गलत हो सकता हूं। किंतु मैं विरोध की आशंका न रखते हुए और निश्चित रूप से वर्क के शब्दों का प्रयोग करते हुए, यह कह सकता हूं कि सुरक्षा पर भारी भरोसा रखकर नष्ट होने की बजाय सुरक्षा पर अतिशय ध्यान देने के लिए हंसाई कराना बेहतर है। मैं मामलों को इत्तिफाक पर छोड़ देना नहीं चाहता। भारत की सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय को संयोग पर छोड़ देना सबसे बड़ा अपराध करना है।

पाकिस्तान के लिए मुसलमानों की मांग को कोई मंजूर नहीं करेगा, जब तक कि उसें इसके लिए मजबूर न किया जाए। साथ ही जो बात सुनिश्चित है, वह यह कि साहस एवं सामान्य समझबूझ से उसका सामना न करना भूल होगी। यह भूल ऐसी ही होगी जैसे उस भाग को खो देना, जिसको स्थाई रखने के लिए व्यर्थ प्रयत्न करके बचाया जा सकता है।

इन्हीं कारणों से मेरा ख्याल है कि यदि पाकिस्तान के मसले पर मुसलमान झुकते नहीं हैं, तो पाकिस्तान बन कर रहेगा। जहां तक मेरा संबंध है, केवल यही महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या मुसलमान पाकिस्तान बनाने पर तुले हुए है? या पाकिस्तान केवल एक पुकार है? क्या यह केवल एक क्षणिक विचार है या यह उनके स्थायी उत्साह का प्रतीक है? इस बात पर मतभेद हो सकता है। एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि मुसलमान पाकिस्तान चाहते हैं, तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि इस सिद्धांत को मान लेना ही बुद्धिमानी की बात होगी।

अध्याय : 14

पाकिस्तान की समस्याएं

I

पाकिस्तान और हिंदुस्तान के रूप में भारत विभाजन के फलस्वरूप जो अनेक समस्याएं उत्पन्न होंगी, उनमें से निम्नलिखित तीन उल्लेखनीय हैं–

(1) वर्तमान भारत सरकार के वित्तीय संसाधनों तथा ऋण के बटवारे की समस्या।

(2) क्षेत्रों के पुनर्सीमांकन की समस्या, और

(3) पाकिस्तान से हिंदुओं और हिंदुस्तान से पाकिस्तान को मुस्लिम जनसंख्या के स्थानांतरण की समस्या।

इन समस्याओं में पहली समस्या अनुवर्तीय एवं आनुषंगिक इस अर्थ में है कि यह एकमात्र विचारणीय उस समय होगी, जब दोनों पार्टियों द्वारा भारत–विभाजन को स्वीकृति मिल चुकी हो। दूसरी दो समस्याएं विभिन्न प्रकार की हैं। पाकिस्तान बनने के पूर्व वे इस अर्थ में विचारणीय हैं कि अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो पाकिस्तान पर अपना अभिमत तब तक नहीं बनाएंगे, जब तक कि उन्हें संतोष नहीं हो जाएगा कि इन दोनों समस्याओं का तर्कपूर्ण तथा न्यायपूर्ण समाधान संभव है। अतः मैं अपने को पाकिस्तान की अंतिम दो समस्याओं पर विचार करने तक ही सीमित रखता हूं।

II

अभी तक हमारे पास पाकिस्तान की सीमाओं के प्रश्न पर मुस्लिम लीग द्वारा दिया गया कोई भी स्पष्ट और अधिकृत वक्तव्य नहीं है। वास्तव में हिंदुओं द्वारा की गई अनेक शिकायतों में से एक यह है कि यद्यपि श्री जिन्ना पाकिस्तान के पक्ष में एक तूफानी आंदोलन चला रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप देश का वातावरण

दूषित हो रहा है, तथापि उन्होंने पाकिस्तान की सीमाओं के बारे में कोई भी ब्यौरा अपने आलोचकों के सम्मुख नहीं पेश किया है। श्री जिन्ना लगातार कहते आए हैं कि सीमाओं के बारे में इस समय कोई भी बात करना असामयिक है और इस विषय में पाकिस्तान के सिद्धांत को अंगीकार करने के उपरांत बहस की जा सकती है। यह एक नपा–तुला उत्तर हो सकता है, परंतु वास्तव में इससे उन व्यक्तियों को कोई सहायता नहीं मिल सकती, जो यथाशक्ति निष्पक्ष रूप से इस समस्या के शांतिपूर्ण समाधान हेतु सहायता देने को तत्पर हैं। लगता है श्री जिन्ना पर इस बात का प्रभाव पड़ा है कि यदि कोई व्यक्ति पाकिस्तान के सिद्धांत को मानने के लिए तैयार होता है, तो वह उनकी पाकिस्तान–योजना को स्वीकार करने के लिए बाध्य होगा। इससे बड़ी भूल दूसरी नहीं हो सकती। एक व्यक्ति पाकिस्तान के सिद्धांत, अर्थात भारत–विभाजन को माने, यह तो ठीक है परंतु यह समझना कठिन है कि वह श्री जिन्ना के पाकिस्तान की योजना को मानने को किस प्रकार बाध्य हो सकता है। वास्तव में यदि पाकिस्तान की कोई योजना उसके लिए संतोषप्रद नहीं है, तो वह पाकिस्तान के किसी दूसरे रूप का विरोध करने के लिए भी बिल्कुल स्वतंत्र होगा, यद्यपि पाकिस्तान के सिद्धांत के पक्ष में वह भले ही हो। इसीलिए पाकिस्तान की योजना और पाकिस्तान का सिद्धांत, दोनों बिल्कुल भिन्न–भिन्न बातें हैं। इस दृष्टिकोण में कोई गलती नहीं है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि आत्मनिर्णय का सिद्धांत एक विनाशकारी तत्व की तरह है। कोई भी व्यक्ति इसका प्रयोग करने के लिए सिद्धांततः तभी इसे स्वीकार कर सकता है, जब उस अवसर की आवश्यकता और गंभीरता प्रमाणित हो गई हो। परंतु कोई भी व्यक्ति इस विनाशकारी प्रयोग को तब तक अंगीकार नहीं कर सकता, जब तक कि वह यह न जान ले कि किस क्षेत्र को इस विस्फोटक द्वारा उड़ाना है। यदि यह विस्फोटक संपूर्ण ढांचे को उड़ाने जा रहा है अथवा यदि किसी विशेष भूखंड पर इसका उपयोग सीमित करना संभव प्रतीत नहीं होता है, तो ऐसे विस्फोटक की उपयोगिता का परित्याग किया जा सकता है और समस्या के समाधान के लिए कोई अन्य साधन उपयोग में लाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में, पाकिस्तान के सिद्धांत को कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि सीमा–रेखाओं का हम विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर लें। पाकिस्तान के विश्वसनीय सूत्रधार के लिए यह भी आवश्यक है कि पाकिस्तान–योजना के महत्वपूर्ण ब्यौरे को वे जनता से न छिपाएं। पाकिस्तान की सीमाओं की घोषणा न करने में श्री जिन्ना ने जिस हठधर्मी का प्रदर्शन किया है, वह एक राजनयिक के लिए अक्षम्य है। तो भी उन लोगों को, जो पाकिस्तान के सवाल का समाधान करने में दिलचस्पी रखते हैं, पाकिस्तान–समस्या के समाधान की तब तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, जब तक श्री जिन्ना विनीत भाव से उसका पूर्ण विवरण नहीं देते। कतिपय कल्पनाओं के आधार पर इस तर्क को

आगे बढ़ाया जा सकता है। इस विवाद में मैं यह कल्पना करता हूं कि मुस्लिम लीग चाहती है कि पश्चिमी पाकिस्तान की सीमाएं पश्चिमी सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान की मौजूदा सीमाएं हों और पूर्वी पाकिस्तान की सीमाएं बंगाल प्रांत की मौजूदा सीमाएं हों, जिसमें आसाम के कुछ और जिले भी सम्मिलित हों।

III

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या उक्त दावा न्यायसंगत है? कहा गया है कि इस दावे का आधार आत्मनिर्णय का सिद्धांत है। इस दावे की न्यायसंगतता को समझने के लिए जरूरी है कि हम आत्मनिर्णय के सिद्धांत की सीमाओं को भली प्रकार समझ लें। इसके लिए यह समझना परम आवश्यक है कि हम इस प्रश्न की शुरुआत यहां से करें कि आत्मनिर्णय के उक्त सिद्धांत का कानूनन तथा यथार्थवादी अनुमान क्या है? गत कुछ वर्षों से आत्मनिर्णय की शब्दावली प्रचलित हो गई है। परंतु यह उस तथ्य का विवेचन करती है जो अधिक पुराना है। आत्मनिर्णय की धारणा के अंतर्गत दो धाराएं विकसित हो गई हैं। उन्नीसवीं सदी की अवधि में आत्मनिर्णय का अर्थ उस अधिकार से था, जिसके फलस्वरूप जनता की इच्छा के अनुकूल सरकार की स्थापना की जा सके। दूसरे, इसका तात्पर्य यह था कि हम आत्मनिर्णय के अधिकार द्वारा विदेशियों से ऐसी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें, जिसमें सरकार के स्वरूप का कोई बंधन न हो। पाकिस्तान का आंदोलन आत्मनिर्णय के इस दूसरे दृष्टिकोण के संदर्भ में है।

पाकिस्तान पर वाद–विवाद को सीमित करते हुए मैं इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना चाहता हूं कि आत्मनिर्णय से सम्बद्ध इन मुद्दों पर विचार किया जाए।

सर्वप्रथम, आत्मनिर्णय जनता द्वारा होना चाहिए। यह बिंदु इतना सरल है कि इसे बताने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परंतु इस पर बल देना आवश्यक हो गया है। हिंदू और मुसलमान दोनों आत्मनिर्णय के इस विचार के साथ छल–कपट कर रहे हैं। पाकिस्तान के अंतर्गत किसी एक क्षेत्र का दावा मुसलमानों द्वारा इसलिए किया जाता है, क्योंकि वहां की जनता मुस्लिम है, अथवा वहां का शासक मुस्लिम है यद्यपि उस क्षेत्र की बहुसंख्यक जनता गैर–मुस्लिम है। भारत में मुस्लिम लीग आत्मनिर्णय के लाभ का दावा कर रही है, फिलिस्तीन के मामले में इसका विरोध कर रही है। लीग द्वारा यह दावा किया जाता है कि कश्मीर एक मुस्लिम राज्य है, क्योंकि यहां की बहुसंख्यक जनता मुस्लिम है और हैदराबाद पर इसलिए दावा किया जाता है, क्योंकि वहां का शासक मुस्लिम है। इसी प्रकार हिंदू महासभा भी उस क्षेत्र को हिंदुस्तान में सम्मिलित करने का

दावा करती है, क्योंकि वहां की जनता गैर–मुस्लिम है। हिंदू महासभा उस क्षेत्र को भी हिंदुस्तान में सम्मिलित करने के अपने दावे के साथ अग्रसर है, क्योंकि वहां का शासक हिंदू है, यद्यपि अधिकांश जनता वहां मुस्लिम है। इस प्रकार इन अजीब और परस्पर–विरोधी दावों के पीछे एकमात्र तथ्य यह है कि पाकिस्तान बनाने की इच्छुक दोनों हिंदू और मुस्लिम पार्टियां, आत्मनिर्णय के सिद्धांत को दूषित करने और पलटने में व्यस्त हैं, जिसके फलस्वरूप वे सुसंगठित रूप से उस क्षेत्रीय लूट को पूर्ण करने में स्वयं को न्यायसंगत ठहराते रहते हैं, जिसमें शायद वे अब भी अपने को व्यस्त रखे हुए हैं। भारत उस समय पूर्ण अव्यवस्था में पड़ जाएगा, जब इसके क्षेत्रों के पुनर्विभाजन का प्रश्न सामने आएगा और यदि जनता इस बात को नहीं समझती कि आत्मनिर्णय का वास्तविक स्वरूप क्या है, और उस सिद्धांत पर बने रहने की ईमानदारी उसमें नहीं है, और उससे होने वाले परिणामों को भुगतने को वह तत्पर नहीं है। इसलिए इस साधारण बात पर बल देना आवश्यक है कि आत्मनिर्णय एक ऐसा मुद्दा है जो केवल जनता द्वारा किया जाता है। दूसरा जो विचारणीय दृष्टिकोण है वह यह है कि आत्मनिर्णय के सिद्धांत को किस मात्रा में व्यवहृत करना उपयुक्त है? जैसा कि श्री ओ.कोनर ने कहा है*—

> "इस विषय पर जो कुछ कहा जा सकता है, वह यह है कि सामान्य रूप से यह ठोस काम करने का एक तरीका है, जिसका आधार न्याय है और जिसे एकरूपता, शांति तथा जनता को अपने स्वयं के तरीके द्वारा विकसित करने के लिए अपनाया जाता है। परंतु यह उन परिस्थितियों पर निर्भर है, जिसके लिए आकार और भौगोलिक स्थितियां कुछ हद तक आवश्यक होती हैं। नियम परिस्थितियों पर विजयी होते हैं अथवा परिस्थितिया नियमों पर विजय प्राप्त करती हैं, यह व्यक्ति की सामान्य बुद्धि अथवा न्याय अथवा अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम कल्याण के संदर्भ पर निर्धारित है। यदि इन तीनों बातों को भली भाँति समझा जाए तो वास्तव में ये एक ही बात को व्यक्त करने के तीन भिन्न–भिन्न तरीके हैं। किसी एक विशेष मामले का समाधान करने के लिए बहुत बड़ी कठिनाइयां उठ सकती हैं। जहां एक ओर तथ्य होते हैं, वहीं दूसरी ओर भी तथ्य होते हैं। एक प्रकार के तथ्य कुछ व्यक्तियों को विशेष रूप से अपील करते हैं और कुछ दूसरे तथ्य दूसरों को किंचित मात्र अथवा बिल्कुल ही अपील नहीं करते। इस प्रकार की समस्या आ सकती है, जिसमें कोई ऐसे निश्चित निष्कर्ष न निकलें जिन्हें आम आदमी मानता हो। कुछ मामले ऐसे होते

---

* हिस्ट्री ऑफ आयरलैंड, खंड दो

> हैं, जिनमें यह कहना संभव नहीं है कि किसी राष्ट्र के आत्मनिर्णय के संबंध में दूसरे राष्ट्र का हस्तक्षेप सही है या नहीं करें। यह मामला अपनी-अपनी सोच का है और इस पर ईमानदार और निष्पक्ष सोच वाले व्यक्तियों के विचार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।"

इसके दो कारण हैं— सर्वप्रथम, राष्ट्रीयता एक ऐसा पवित्र और संपूर्ण सिद्धांत नहीं है, जिसे कोई स्पष्ट आवश्यक चरित्र की संज्ञा दी जा सके और जो दूसरी विचारधाराओं से ऊपर हो; द्वितीय, किसी स्पष्ट राष्ट्रीयता के पोषण और स्थायित्व के लिए अलगाव अनिवार्य तत्व नहीं है।

आत्मनिर्णय के संबंध में एक तीसरी बात ध्यान देने योग्य है। किसी राष्ट्र का आत्मनिर्णय, सांस्कृतिक स्वतंत्रता का अथवा क्षेत्रीय स्वतंत्रता का स्वरूप ले सकता है। वह कौन सा स्वरूप लेगा, यह जनसंख्या के क्षेत्रीय खाके पर आधारित है। यदि राष्ट्रीयता सरलतापूर्वक पृथक करने योग्य अथवा साथ लगे क्षेत्रों में निवास करती हैं तो अन्य बातें समान होने पर क्षेत्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भी मामला बनाया जा सकता है। लेकिन जहां राष्ट्रीयताएं इस प्रकार एक-दूसरे से मिली-जुली तथा मिश्रित हों कि ऐसे क्षेत्र, जिन पर उनका अधिकार हो, आसानी से पृथक नहीं किए जा सकते हों, तो वहां सांस्कृतिक स्वतंत्रता का ही औचित्य है। ऐसे मामलों में क्षेत्रीय विभाजन असंभाव्य हैं। विवश होकर उन्हें साथ रहना पड़ेगा। दूसरा विकल्प केवल यह है कि वे वहां से स्थानांतरण कर दें।

IV

आत्मनिर्णय की मर्यादाओं तथा क्षेत्र की परिभाषा करने के बाद अब हम सरलतापूर्वक पाकिस्तान के सीमा विषयक प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में, मुस्लिम लीग का यह दावा कि मौजूदा सीमाएं पाकिस्तान की सीमाएं रहें, कहां तक उचित है? इस प्रश्न का उत्तर मेरी समझ में सुस्पष्ट है। ऐसा लगता है कि भौगोलिक ढांचे से उक्त प्रश्न का समाधान हो रहा है और इसमें किसी विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं है। पश्चिमी सीमांत प्रदेश, बलूचिस्तान और सिंध प्रांत में हिंदू और मुस्लिम जनता मिश्रित है। हिंदुओं के लिए इन प्रांतों में क्षेत्रीय विभाजन का प्रश्न असंभव प्रतीत होता है। उन्हें अपनी सांस्कृतिक स्वतंत्रता तथा अन्य ऐसे राजनीतिक हितों की सुरक्षा की ओर ध्यान देना है जो उनकी सुरक्षा के लिए उपलब्ध हो सकें। पंजाब और बंगाल का मामला भिन्न प्रकार का है। मानचित्र की ओर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि उक्त दो प्रांतों में अन्य प्रांतों की अपेक्षा जनसंख्या का ढांचा बिल्कुल भिन्न है। पंजाब और बंगाल में गैर-मुस्लिम जनता छोटे-छोटे क्षेत्रों में सर्वत्र फैली हुई

है तथा चारों ओर मुस्लिम बहुसंख्या से घिरे पश्चिमी सीमा प्रांत, बलूचिस्तान और सिंध की तरह नहीं है। बंगाल और पंजाब में हिंदू दो भिन्न–भिन्न ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जो आसपास स्थित हैं और पृथक किए जा सकते हैं। इन परिस्थितियों में ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि मुस्लिम लीग की यह मांग मान ली जाय कि पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान की सीमाएं वही हों, जो पंजाब और बंगाल की मौजूदा सीमाएं हैं।

पूर्ववर्ती बहस से दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम यह है कि पंजाब और बंगाल के गैर–मुस्लिम अपने उन क्षेत्रों को, जिन पर वे बसे हैं, क्षेत्रीय अलगाव द्वारा पाकिस्तान से बाहर रखें। दूसरा यह कि उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, बलूचिस्तान और सिंध की गैर–मुस्लिम ज़नता को पाकिस्तान से बाहर रखने का मामला नहीं बनता। अतः उनके पास भी सांस्कृतिक स्वतंत्रता और राजनीतिक हितों की सुरक्षा का अधिकार है। इसी बात को दूसरी तरह यों कहा जा सकता है कि मुस्लिम लीग के उस दावे का कि सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत की सीमाएं वहीं रहें, जैसी अभी हैं, विरोध नहीं किया जा सकता। परंतु पंजाब और बंगाल के मामले में इस प्रकार का दावा उचित नहीं होगा और इन प्रांतों के गैर–मुस्लिम, यदि वे चाहें तो, यह दावा कर सकते हैं कि इन दोनों प्रांतों की सीमाओं के पुनरांकन द्वारा उन क्षेत्रों को पृथक किया जा सकता है, जहाँ वे इस समय रह रहे है।

V

किसी के भी दिमाग में यही बात आयेगी कि पंजाब और बंगाल के गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों द्वारा किया गया सीमाओं के पुनर्सीमांकन का दावा मुस्लिम लीग द्वारा किया गया एक न्यायपूर्ण एवं तर्कसंगत दावा मान लिया जाएगा।

पुनर्सीमांकन की संभावना मुस्लिम लीग द्वारा मार्च 1940 में पारित लाहौर प्रस्ताव में स्वीकार की गई थी। उक्त प्रस्ताव में कहा गया था–

> "भौगोलिक रूप से एक साथ सटी हुई ईकाइयों का क्षेत्रों में सीमांकन करके पूर्णतः स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की जाये और ये क्षेत्र आवश्यक प्रादेशिक पुनर्समंजन के साथ इस प्रकार गठित किए जायें कि भारत के पश्चिमोत्तर और पूर्वी इलाकों जैसे मुस्लिम–बहुल क्षेत्रों को एक साथ मिलाकर ऐसे स्वतंत्र राज्य बनाए जायें जो मुस्लिम–रहित राष्ट्रीय क्षेत्र हों और जिनमें संघटक ईकाइयां स्वायत्त–शासी तथा प्रभुतासम्पन हों।"

क्रिप्स के उन प्रस्तावों पर, जिन्हें कोई भी व्यक्ति पढ़कर समझ सकता है,

मुस्लिम लीग द्वारा पारित प्रस्ताव से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग की तो यही स्थिति चलती रही, परंतु श्री जिन्ना ने अपनी विचारधारा बदल दी। 16 नवंबर, 1942 को जालंधर में एक सार्वजनिक सभा में श्री जिन्ना ने यह कहा था—

"जान—बूझकर अबोध जनता को गुमराह करने तथा चक्कर में डालने के लिए उन लोगों द्वारा जो छल—प्रपंच से यह खेल खेल रहे हैं हाल ही में की गई चालाकी – चालाकी के अतिरिक्त जिसे मैं और कुछ नहीं कह सकता— यह है कि आत्मनिर्णय का अधिकार मुसलमानों तक ही क्यों सीमित रहे, और इसको अन्य जातियों तक क्यों न बढ़ा दिया जाए? यह कह कर कि सबको आत्मनिर्णय का अधिकार है, वे कहते हैं कि पंजाब और उसी की तरह पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत तथा सिंध को अनेक छोटे—छोटे टुकड़ों में बांट दिया जाए। इस प्रकार तो सैंकड़ों पाकिस्तान बन जाएंगे।"

उप—राष्ट्रीय समुदाय

"इस सूत्र का प्रवर्तक कौन है कि संपूर्ण भारत में आत्मनिर्णय का अधिकार प्रत्येक जाति को है? या तो यह एक महान मूर्खता है, या शैतानी अथवा चालाकी। मैं उन्हें उत्तर देता हूं। मुसलमान आत्मनिर्णय का दावा इसलिए करते हैं क्योंकि वे उस प्रदत्त प्रदेश पेर एक राष्ट्रीय समुदाय हैं, जो उनका घर है और उन क्षेत्रों में जहां वे बहुसंख्यक हैं। क्या इतिहास में कहीं इस बात का उल्लेख है कि ऐसे राष्ट्रीय समुदाय जो समस्त प्रदेश में छिंटके हुए हैं, उन्हें एक राज्य का स्वरूप दे दिया गया हो? उनके लिए आप कहां से राज्य उपलब्ध कराने जा रहे हैं? ऐसे मामले में आपके पास 14 प्रतिशत मुसलमान उत्तर प्रदेश में हैं। उनके लिए क्यों नहीं एक राज्य हो? मुसलमान उत्तर प्रदेश में एक राष्ट्रीय समुदाय नहीं हैं, वे बिखरे हुए हैं। अतः संवैधानिक भाषा में वे एक ऐसे उप—राष्ट्रीय समुदाय हैं, जिनको इससे अधिक और किसी बात की उम्मीद नहीं है, और जो एक सुसंस्कृत सरकार द्वारा किसी अल्पसंख्यक समुदाय को दी जा सकती है। अपनी दृष्टि से मैंने स्थिति स्पष्ट कर दी है। मुसलमान एक उप—राष्ट्रीय समुदाय नहीं है, यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे अपने आत्मनिर्णय के अधिकार के उपयोग का दावा करें।"*

* ईस्टर्न टाइम्स (लाहौर), 17 नवंबर, 1942

श्री जिन्ना यहां एक बात में बिलकुल चूक गए हैं। उनके आलोचकों द्वारा उठाया गया प्रश्न आमतौर पर गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों के संबंध में नहीं था; यह पंजाब और बंगाल में गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों के संदर्भ में था। क्या श्री जिन्ना उन गैर–मुस्लिम अल्पसंख्यकों के मामले का निपटारा करना चाहते हैं जो उनके सिद्धांत के फलस्वरूप एक ठोस और सरलतापूर्वक विभक्त किए जानेवाले प्रदेश में बसे हुए हैं? यदि ऐसा है, तो कहा जा सकता है कि उनकी इससे अधिक अपरिपक्व प्रस्तावना को किसी भी राजनीतिक साहित्य में पाना कठिन है। उपराष्ट्र की धारणा कभी भी सुनने में नहीं आई। यह केवल चालाकी भरी धारणा ही नहीं है, अपितु यह एक असंगत धारणा है। उपराष्ट्र का सिद्धांत किस अर्थ का सूचक है? यदि मैं इस भ्रामक धारणा को सही तरह समझ पाया हूं तो इसका अर्थ यही है कि किसी उपराष्ट्र को राष्ट्र से पृथक नहीं होना चाहिए, चाहे वह पृथकत्व संभाव्य ही हो। इसका अर्थ यही होता है कि किसी राष्ट्र और उपराष्ट्र के बीच के संबंध उन संबंधों की अपेक्षा इतने प्रगाढ़ नहीं होते हैं, जितने किसी व्यक्ति और उसकी चल संपत्ति अथवा संपत्ति के बीच होते हैं। चल संपत्ति स्वामी के साथ चली जाती है और मूल्य जायदाद के साथ जाता है। इसी प्रकार उपराष्ट्र राष्ट्र के साथ जाता है। श्री जिन्ना के तर्क में ऐसी ही धारणा है। परंतु क्या श्री जिन्ना का तर्क गंभीरतापूर्वक यही है कि पंजाब और बंगाल के हिंदू मात्र चल संपत्ति हैं, जिनको वहां चला जाना चाहिए था, जहां पंजाब और बंगाल के मुसलमान उन्हें खदेड़ना चाहें? इस प्रकार का तर्क इतना बेतुका है कि कोई भी विवेकशील व्यक्ति इसका समर्थन नहीं कर सकता। यह एक बिल्कुल ही न्याय–विरूद्ध तर्क है और श्री जिन्ना जैसे परिपक्व कानूनदां को निश्चय ही इसका सहज ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई छोटा राष्ट्र संख्या अनुसार किसी बड़े राष्ट्र की तुलना में उपराष्ट्र है और प्रदेशीय विभाजन का उसे ऐसा अधिकार नहीं है, तब ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता कि संपूर्ण भारत के संदर्भ में हिंदू एक राष्ट्र हैं और मुसलमान एक उपराष्ट्र हैं और उपराष्ट्र होने के नाते उन्हें आत्मनिर्णय अथवा क्षेत्रीय विभाजन का कोई अधिकार नहीं है?

पाकिस्तान की वास्तविकता के विषय में कटु संदेह पहले ही है। चाहे वह ठीक हो या गलत, परंतु ज्यादातर लोग यह संदेह करते हैं कि पाकिस्तान में बुराई छिपी हुई है। उनके विचार से इसके दो उद्देश्य हैं। एक तात्कालिक उद्देश्य, जिसका अर्थ पड़ौसी मुस्लिम देशों के साथ गठजोड़ करके एक मुस्लिम फेडरेशन का निर्माण करना है, और दूसरा अंतिम उद्देश्य मुस्लिम फेडरेशन के लिए यह है कि वह हिंदुस्तान पर आक्रमण करके हिंदुओं को जीतें और उन पर विजय प्राप्त करें ओर भारत में मुस्लिम समाज की स्थापना करें। अन्य लोग सोचते हैं कि पाकिस्तान उस योजना की पराकाष्ठा है, जिसमें श्री जिन्ना की 14 मांगों

के अंतर्गत पृथक मुस्लिम प्रांतों की रचना की बात कही गई है। कोई भी व्यक्ति मुसलमानों के मन की गहराई को नहीं समझ सकता और यह भी नहीं जान सकता कि उनकी मांगों के पीछे क्या रहस्य है। यदि पाकिस्तान के विरोधी हिंदू यह शंका करते हैं कि मुसलमानों का वास्तविक अभिप्राय कुछ और है तो वे इस पर ध्यान देकर तदनुसार योजना बना सकते हैं। पाकिस्तान का विरोध वे इस आधार पर नहीं कर सकते क्योंकि इसके पीछे नीयत में खोट है। परंतु श्री जिन्ना से यह पूछने का अधिकार उन्हें अवश्य है कि पाकिस्तान के अंतर्गत सांप्रदायिक समस्या को वे क्यों रखना चाहते हैं? पाकिस्तान के पीछे कितना ही कुटिल अभिप्राय हो, परंतु इसमें एक अच्छाई तो अवश्य होनी चाहिए। पाकिस्तान का आदर्श यह होना चाहिए कि उसके अंतर्गत कोई भी सांप्रदायिक समस्या न रहे। कम से कम यह एक अच्छाई है जिसकी पाकिस्तान से मांग की जा सकती है। यदि पाकिस्तान में भी भारत की तरह सांप्रदायिकता का उत्पात होता है, तो ऐसे पाकिस्तान से क्या लाभ? इसका स्वागत तभी किया जाना चाहिए जब वह सांप्रदायिक समस्या से परे हो जाय। इसका एकमात्र समाधान यह है कि इसकी सीमाओं का सीमांकन इस प्रकार से हो कि यह एक जातिगत राज्य हो, जिसमें अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक एक दूसरे के विरूद्ध न खड़े हों। सौभाग्य से यह एक जातिगत राज्य बन सकता है, यदि श्री जिन्ना इसकी स्वीकृति प्रदान करें। शंका का मुख्य कारण इसमें ही निहित है, और श्री जिन्ना इसे दूर करने के बावजूद इसको बेकार, न्यायविरूद्ध तथा राष्ट्र और उपराष्ट्र जैसे बनावटी भेदों के कारण और गहरा कर रहे हैं।

क्या श्री जिन्ना के लिए इस प्रकार के निरर्थक तथा न्यायविरूद्ध प्रस्तावों का कार्यान्वयन करने और जो न बचाने योग्य है उसे बचाने तथा जो न्यायपूर्ण है उसका विरोध करने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त नहीं है कि वही करें जो सर एडवर्ड कार्सन ने अल्सटर की सीमाओं के पुनः सीमांकन के लिए किया था। जो लोग आयरिश होमरूल के पारित होने की जानकारी रखते हैं, उन्हें मालूम है कि 23 सितंबर 1911 में क्रेगांवन सभा में सर एडवर्ड कार्सन ने अल्सटर में अपनी वह नीति निर्धारित की थी कि अल्सटर में एक इंपीरियल पार्लियामेंट की सरकार अथवा अल्सटर की सरकार होगी, परन्तु होम रूल सरकार कभी नहीं होगी। चूंकि शाही संसद अपनी सरकार की वापसी का प्रस्ताव प्रस्तुत कर रही थी, अतएव इस नीति का अर्थ था कि अल्सटर के लिए एक स्थाई सरकार हो। उस प्रस्ताव में उक्त नीति का समावेश था, जो अल्सटर यूनियनिस्ट काउंसिल, काउंटी ग्रांड ओरंज लोजेज और यूनियनिस्ट क्लब के प्रतिनिधियों की संयुक्त बैठक में 25 सितंबर, 1911 को बेलफास्ट में पारित हुआ था। अल्सटर की अस्थाई सरकार का कार्यान्वयन उसी दिन होना था जिस दिन स्वायत्त शासन

का बिल पारित हुआ था। इस नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू स्थाई सरकार को उन समस्त प्रांतों को अल्सटर के उन जिलों पर अधिकार प्रदान करना था जिन्हें वे अपने नियंत्रण में रख सकें।

'वे जिले जिन्हें वे अपने नियंत्रण में रख सकें', वाक्यांश निस्संदेह इस बात का द्योतक था कि उसमें अल्सटर का संपूर्ण प्रशासकीय भूभाग सम्मिलित हो। अल्सटर के उक्त भूभाग में जो नौ सूबे थे, उनमें से तीन पूर्ण रूप से कैथोलिक थे। इसका अर्थ उनकी अपनी इच्छा के प्रतिकूल उक्त तीनों सूबों को अनिवार्य रूप से अल्सटर के अंतर्गत लेना था। परंतु अंत में सर एडवर्ड कार्सन ने क्या किया? सर एडवर्ड कार्सन को इस बात का पता लगाने में अधिक समय नहीं लगा कि इन तीन कैथोलिक सूबों के कारण अल्सटर ऋणग्रस्त हो जाएगा और एक सच्चा नेता होने के कारण पूर्ण साहस के साथ उन्होंने घोषणा की कि अल्सटर की सुरक्षा के लिए वे अपने घाटे को कम करने का प्रस्ताव करते हैं। 18 मई, 1920 के दिन हाउस आफ कामंस में अपने भाषण में उन्होंने घोषित किया कि 6 सूबों से वे संतुष्ट हैं। वह भाषण जो उन्होंने उक्त संदर्भ में दिया, उद्धृत करने योग्य है। उन्होंने कहा*—

> "सच्चाई यह है कि इस मामले की पूरी छानबीन करने में अनेक घंटों और कई दिनों तक की जिज्ञासा पूरी हो जाने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस संसद को बेलफास्ट में सफलतापूर्वक चलाने का हमें ऐसा अवसर नहीं मिलेगा जो डांगल, केवेन और मोनाघन की सरकार के प्रति उत्तरदायी हो। हमारे लिए यह बात बिल्कुल ही निरर्थक होगी कि हम यहां आएं और झूठा साहस दिखाकर कहें कि हम ऐसा कर सकते हैं। अधिक से अधिक क्षेत्र की इच्छा स्वाभाविक है। यह जमीन पर कब्जा करने की प्रचलित प्रणाली है, जो देशों में भिन्न-भिन्न सरकारों के क्षेत्राधिकार को व्यापक बनाती है। परंतु हमें ऐसी सरकार बनाने में कोई लाभ नहीं है। हम जानते हैं कि अगर हमारे ऊपर इन तीनों सूबों का उत्तरदायित्व होगा तो इसमें हम असफल हो जाएंगे।"

ये शब्द बुद्धिमत्तापूर्ण और हिम्मतभरे हैं। जिस परिस्थिति में इन शब्दों को कहा गया था, वह ठीक उसी परिस्थिति के समान थी जो पंजाब और बंगाल में पाकिस्तान के सिद्धांत को लागू करके पैदा की जा सकती थी। मुस्लिम लीग और श्री जिन्ना, यदि दोनों शांतिपूर्ण पाकिस्तान के इच्छुक हैं, तो उक्त शब्दों को ध्यान में रखना नहीं भूलेंगे। पंजाब और बंगाल में गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों

---

* हैंसर्ड (हाउस ऑफ कॉमंस) 1920, खंड-129, पृ. 1315

से यह कहना बेकार है कि उन्हें अपने हितों की सुरक्षा को लेकर संतुष्ट हो जाना चाहिए। यदि मुसलमान हिंदू बहुमत के आतंक के विरूद्ध अपने हितों की सुरक्षा के साथ संतुष्ट नहीं हो सकते, तो हिंदुओं से यह अपेक्षा क्यों की जाती है कि मुस्लिम बहुमत के आतंक के विरूद्ध उन्हें अपने हितों की सुरक्षा के साथ संतुष्ट हो जाना चाहिए। मुसलमान हिंदुओं से कह सकते हैं कि 'आपके हितों की सुरक्षा को धिक्कार है, हम आपके द्वारा शासित नहीं होना चाहते।' यह एक ऐसा तर्क है, जिसका श्री कार्सन ने रेडमांड के विरूद्ध प्रयोग किया था। ऐसा ही तर्क प्रत्युत्तर में पंजाब और बंगाल के हिंदुओं द्वारा मुसलमानों को दिया जा सकता है।

दरअसल इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण पाकिस्तान की समस्या का शांतिपूर्ण समाधान संभव नहीं होगा। सबसे पहले, यह वह खेल है, जिसे दो व्यक्ति खेल सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हथियार शक्ति का प्रतीक हो सकते हैं, परंतु हथियारों का होना पर्याप्त नहीं है। जैसा कि रूसो ने कहा है– "सबसे ताकतवर हमेशा ही मालिक नहीं बना रह सकता। इसके लिए उसे अपनी ताकत को सही दिशा और अपनी आज्ञाकारिता को कर्तव्य में परिवर्तित करना होगा।" लीग को देखना चाहिए कि पाकिस्तान के प्रति उसका दावा मर्यादा के अनुकूल हो।

VI

सीमाओं की समस्या के विषय में इतना ही काफी है। अब मैं अल्पसंख्यकों की उस समस्या की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ जो सीमाओं के पुनः निर्धारण के उपरांत भी पाकिस्तान में बनी रहेंगी। उनके हितों की रक्षा करने के दो तरीके हैं।

सबसे पहले, अल्पसंख्यकों के राजनीतिक और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान में सुरक्षा उपाय प्रदान करने हैं। भारतीयों के लिए यह एक सुपरिचित मामला है और इस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है। दूसरा तरीका है पाकिस्तान से हिंदुस्तान में उनका स्थानांतरण करने की स्थिति पैदा करना। अधिकांश जनता इस समाधान को अधिक पसंद करती है और वह पाकिस्तान की स्वीकृति के लिए तैयार और इच्छुक हो जाएगी, यदि यह प्रदर्शित किया जा सके कि जनसंख्या का आदान–प्रदान संभव है। परन्तु इसे वे होश उड़ा देनेवाली और दुरूह समस्या समझते हैं। निस्संदेह यह एक आतंकित दिमाग की निशानी है। यदि मामले पर ठंडे और शांतिपूर्ण ढंग से विचार किया जाए तो पता लग जाएगा कि यह समस्या न तो होश उड़ानेवाली है और न दुरूह।

इस समस्या पर विचार करने से पहले इसके स्वरूप पर विचार करें कि कितने

लोग स्थानांतरित होंगे। उनकी संख्या मालूम करने के लिए तीन बातों पर ध्यान देना पड़ेगा। सर्वप्रथम, यदि पंजाब और बंगाल की सीमाओं का पुनः निर्धारण हो और जहां तक इन दो प्रांतों का मामला है, आवादी के स्थानांतरण का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा, हिंदुस्तान में रहनेवाले मुसलमानों ने पकिस्तान जाने का कोई प्रस्ताव नहीं रखा है और न ही मुस्लिम लीग इस स्थानांतरण के पक्ष में है। तीसरा, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, बलूचिस्तान तथा सिंध में हिंदू भी स्थानांतरण की समस्या कोई घबराहट पैदा करनेवाली नहीं है। वास्तव में यह समस्या इतनी छोटी है कि इसे समस्या समझना ही नहीं चाहिए।

माना कि यह एक समस्या बन सकती है, तो भी क्या यह भयंकर समस्या होगी? अनुभव बताता है कि यह एक ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान असंभव हो। ऐसी समस्या के समाधान की खोज करने के लिए यह अच्छा होगा कि हम इस बात पर विचार करें कि राजनीतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप ऐसी कौन–कौन सी कठिनाइयां हैं जो स्थानांतरित होने पर किसी व्यक्ति के मार्ग में उत्पन्न होती हैं। निम्नलिखित अड़चनें अपने आप में स्पष्ट हैं–

(1) जनसंख्या के प्रभावी एवं निर्विघ्न स्थानांतरण को संपादन करने का तंत्र।

(2) स्थानांतरण के विरूद्ध सरकार की मनाही।

(3) स्थानांतरण के फलस्वरूप अन्यत्र जानेवाले परिवार की संपत्ति पर सरकार द्वारा भारी कर लगाना।

(4) परिवार के लिए अपनी अचल संपत्ति को अपने साथ नए स्थान पर ले जाने की संभावना का न होना।

(5) अन्यत्र रहने वाले परिवार की संपत्ति का कम मूल्यांकन करने की न्यायविरूद्ध एवं अनुपयुक्त कार्यवाही के प्रतिरोध की कठिनाइयां।

(6) बाजार में बिक्री द्वारा संपत्ति का पूर्ण मूल्य उपलब्ध न होने पर उसकी क्षति का भय।

(7) देशांतर गमन करने वाले परिवार को दातव्य पेंशन तथा अन्य संबंधी धन की वसूली में कठिनाई।

(8) उस मुद्रा को निर्धारित करने की कठिनाई, जिसमें धन को अदा करना है।

यदि उक्त कठिनाइयां दूर की जा सकती हैं तो जनसंख्या के स्थानांतरण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

पहली तीन कठिनाइयां बड़ी सरलता से दूर की जा सकती हैं, यदि पाकिस्तान

और हिंदुस्तान दोनों एक संधि की धारा के अंतर्गत निम्न प्रकार की शर्त मान लें—

"हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सरकारें एक ऐसे आयोग की नियुक्ति करने पर राजी हैं, जिसमें समान संख्या में दोनों के प्रतिनिधि हों और जिसकी अध्यक्षता किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की जाये, जिसकी स्वीकृति दोनों सरकारों से मिल चुकी हो और वह न हिंदुस्तानी हो न पाकिस्तानी।

"आयोग तथा इसकी अन्य समितियों के कार्य–व्यय को दोनों सरकारों द्वारा समान अनुपात में वहन किया जायेगा।

"पाकिस्तान की और हिंदुस्तान की सरकारें दोनों इस रीति से अपने उन नागरिकों को जो ऐसे प्रदेशों में रहते हैं जहां पर वे अल्पसंख्या में हैं, देशांतर गमन की इच्छा प्रकट करने का अधिकार प्रदान करती हैं।

"दोनों उपर्युक्त राज्यों की सरकारें इस अधिकार के प्रयोग के मार्ग में प्रत्येक ढंग से सरलता अपनाए जाने का वचन देती हैं और वादा करती हैं कि देशांतर गमन की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा व झगड़ा उत्पन्न नहीं होने देंगी। वे समस्त कानून और नियम, जो उक्त देशांतर गमन की स्वतंत्रता में बाधक होंगे, उन्हें निष्प्रभावी समझा जाएगा।"

चौथी और पांचवीं कठिनाइयां, जिनका संबंध संपत्ति के स्थानांतरण से है, संधि की धारा में निम्न शर्तें रखकर सरलतापूर्वक दूर की जा सकती हैं–

"जो इन धाराओं के परिणामस्वरूप, देशांतर गमन के अधिकार का लाभ उठाने का निश्चय करते हैं, उन्हें अपनी हर प्रकार की चल संपत्ति को अपने साथ ले जाने का अधिकार प्राप्त होगा और इस पर कोई कर नहीं लगाया जाएगा।

"जहां तक अचल संपत्ति का ताल्लुक है, उसका निपटारा निम्नलिखित शर्तों के आधार पर उक्त आयोग द्वारा किया जाएगाः

(1) देशांतर गमन करने वाले व्यक्ति की अचल संपत्ति का मूल्यांकन करने के लिए आयोग दक्ष व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त करेगा। इस समिति में देशांतर करने वाले भी अपना एक प्रतिनिधि रख सकते हैं।

(2) देशांतर करने वाले की अचल संपत्ति के विक्रयार्थ उक्त आयोग आवश्यक कदम उठाएगा।"

क्षतिपूर्ति तथा पेंशन आदि के भुगतान के लिए निर्दिष्ट मुद्रा की कठिनाई को संधि में निम्नलिखित धारा जोड़कर पर्याप्त रूप से दूर किया जा सकता है–

"(1) प्रवास करनेवाले की अचल संपत्ति का विक्रय मूल्य और अनुमानित मूल्य का अंतर देश की उस सरकार द्वारा, जहां से उसने प्रस्थान किया है, आयोग को भुगतान किया जाएगा। इस धनराशि का ¼ भाग मुद्रा में तथा ¾ भाग का स्वर्ण में अथवा अल्पावधि के स्वर्ण बांड्स में भुगतान होगा।

(2) इस प्रकार दूसरे देश में जानेवाले की अचल संपत्ति का निश्चित मूल्य आयोग द्वारा उसे दे दिया जाएगा।

(3) समस्त नागरिक तथा सैनिक पेंशन, जो प्रवासी द्वारा उस दिन तक उपार्जित की गई है जिस दिन उक्त संधि पर हस्ताक्षर हुए हैं, सरकार के देय हिसाब में परणित कर दी जाएगी, जिसका भुगतान आयोग को कर दिया जाएगा, जिससे संपत्ति के स्वामी को उसका भुगतान मिल सके।

(4) प्रवासियों को सुविधा प्रदान करने के लिए आयोग में इच्छुक राज्य आयोग को आवश्यक धन का भुगतान करेंगे।"

जनसंख्या के स्थानांतरण से संबंधित कठिनाइयों को दूर करने के लिए क्या उक्त उपबंध पर्याप्त नहीं हैं? वास्तव में कुछ और भी कठिनाइयां हैं। परंतु वे भी ऐसी नहीं हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सके। उनमें नीति का प्रश्न सन्निहित है। पहला प्रश्न तो यह है कि जनसंख्या को स्थानांतरित करना अनिवार्य होगा अथवा यह स्वैच्छिक रहे? दूसरा प्रश्न यह है कि राज्य से सहायता प्राप्त ऐसा स्थानांतरण क्या सबके लिए खुला है, अथवा वर्ग विशेष तक ही सीमित है? तीसरा प्रश्न यह है कि सरकार कब तक इन उपबंधों, विशेषतः अचल संपत्ति के विक्रय मूल्य पर हुई क्षति–पूर्ति के उपबंध, को मानने के लिए बाध्य है? क्या इन उपबंधों कीं कोई समय–अवधि होनी चाहिए अथवा ये अनिश्चित काल तक बना रहे?

पहले मुद्दे के संदर्भ में कहा जा सकता है कि दोनों बातें संभव हैं और ऐसे उदाहरण भी है जहां पर दोनों बातों का प्रभावी उपयोग किया गया है। ग्रीस और बल्गेरिया के बीच जनसंख्या का स्थानांतरण ऐच्छिक आधार पर था, जबकि ग्रीस और तुर्की के बीच यह अनिवार्य था। अनिवार्य स्थानांतरण पहली दृष्टि में गलत प्रतीत होता है। अपने मूल निवास स्थान को बदलने के लिए किसी व्यक्ति

को बाध्य करना अच्छा नहीं, जब तक कि वह स्वयं यह न चाहे अथवा जब तक राज्य की शांति को उसके वहीं पर रहने से कोई खतरा पैदा नहीं होता, अथवा जब तक स्थानांतरण उसके पक्ष में आवश्यक न हो। जो बात जरूरी है वह यह है कि वे जो इस स्थानांतरण के पक्ष में हैं, इसका संपादन बिना किसी अड़चन अथवा हानि के कर सकने के योग्य हों। अतः मेरा यह मत है कि उक्त स्थानांतरण बाध्यकारी न होकर उन लोगों के लिए ऐच्छिक होना चाहिए, जो स्वतः स्थानांतरण करने की घोषणा करते हैं।

दूसरे मुद्दे के संदर्भ में, स्पष्ट है कि अल्पसंख्यक जाति के सदस्यों को ही सरकार द्वारा सहायता प्राप्त स्थानांतरण की योजना का लाभ दिया जाना चाहिए। परंतु यह प्रतिबंध भी उन लोगों के लिए पर्याप्त नहीं होगा, जिन्हें इस योजना का लाभ नहीं मिलना चाहिए। यह उन कतिपय स्पष्ट परिभाषित ऐसी अल्पसंख्यक जातियों तक सीमित होना चाहिए जिनको जाति संबंधित या धार्मिक अंतरों के आधार पर उत्पीड़ित किए जाने की संभावना है।

तीसरा प्रश्न महत्वपूर्ण है और दृष्टिकोण के गंभीर अंतर को उत्पन्न करने की इसमें संभावना है। मामले के न्यायपूर्ण एवं स्पष्ट दृष्टिकोण के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अनिश्चित काल तक सरकार की कीमत पर प्रवास करने की इच्छा खुली रखने के लिए सरकार को विवश करना तर्कसंगत नहीं है। किसी व्यक्ति को यह कह देना बेजा नहीं है कि पूर्ववर्ती धाराओं में सन्निहित राज्य सहायता प्राप्त प्रवास योजना के नियमों का लाभ यदि वह उठाना चाहता है, तो उसे घोषित अवधि के अंदर प्रवास करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट करनी चाहिए और यदि वह इस निश्चित अवधि के निकल जाने के उपरांत प्रवास करता है, तो वह ऐसा करने के लिए स्वतंत्र है, परंतु उसे यह व्यय स्वयं वहन करना पड़ेगा और उसे सरकारी सहायता प्राप्त नहीं होगी। इस प्रकार सरकारी सहायता उपलब्ध करने के अधिकार को सीमित करना कोई अन्याय एवं पक्षपात नहीं है। सरकारी सहायता उक्त योजना का एक महत्वपूर्ण भाग है, क्योंकि प्रवास उन राजनीतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हो रहा है, जिन पर नागरिकों का कोई व्यक्तिगत नियंत्रण नहीं है। इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं, और जब अन्य कारणों के फलस्वरूप भी ऐसा हो रहा है, तो प्रवासी के लिए सरकारी सहायता राज्य का बंधन नहीं हो सकता। किसी राजनीतिक कारण के फलस्वरूप यदि प्रवास करना पड़ता है या किसी निजी कारण के आधार पर इसको निश्चित करने का ढंग उसे किसी निश्चित अवधि से जोड़ देता है तो यदि राजनीतिक परिवर्तन के बाद निश्चित अवधि के अंदर वह प्रवास करता है तब इसे राजनीतिक समझा जा सकता है। जब ऐसा उस अवधि के उपरांत होता है तो इसे निजी की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें कुछ भी असंगत नहीं है। कल्पना अथवा तर्क का यही

नियम उन असैनिक कर्मचारियों के विषय में भी लागू होता है, जो राजनीतिक परिवर्तन के समय आनुपातिक पेंशन के आधार पर अवकाश ग्रहण करने की आज्ञा प्राप्त कर चुके होते हैं, यदि वे अवधि के बीत जाने को छोड़कर एक निश्चित अवधि के अंतर्गत अवकाश ग्रहण कर लेते हैं।

मेरे सुझाव के अनुसार उक्त मामलों में नीति का कार्यान्वयन संधि में निम्न धारा जोड़ देने पर हो सकता है–

"इस संधि के अंतर्गत कोई भी व्यक्ति जो किसी अल्पसंख्यक जाति का है और जिसकी आयु 18 वर्ष से ऊपर है, स्वेच्छा से देशांतर गमन करने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

"आयोग के समक्ष की गई घोषणा उक्त अधिकार का प्रयोग करने के पीछे छिपी भावना का पर्याप्त 'प्रमाण होगी।

"पति की इच्छा पत्नी की इच्छा समझी जाएगी। माता और पिता तथा अभिभावकों की इच्छा उनके 16 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों अथवा संरक्षित व्यक्तियों की इच्छा मानी जाएगी।

"इस संधि के अंतर्गत प्रदत्त लाभ का अधिकार उस समय समाप्त हो जाएगा, यदि देशांतर गमन के विकल्प का प्रयोग संधि पर हस्ताक्षर करने की तिथि से पांच वर्ष के अंदर नहीं किया जाता।

"आयोग के कार्यारंभ करने की तिथि से पांच वर्ष की अवधि के बीत जाने पर आयोग का कार्य 6 मास के अंदर समाप्त हो जाएगा।"

उपर्युक्त मामले में खर्च का हिसाब–किताब क्या होगा? यदि स्थानांतरण अति आवश्यक है तो यह प्रश्न अनिवार्य है। स्थानांतरण की ऐच्छिक योजना राज्य पर भारी वित्तीय भार नहीं डाल सकती। स्वतंत्रता की अपेक्षा मनुष्य संपत्ति को अधिक प्यार करता है। अनेक व्यक्ति अपने स्थाई आवास में परिवर्तन करने की अपेक्षा अपने राजनीतिक स्वामियों के हाथों उत्पीड़न सहना अधिक पसंद करेंगे। जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है, स्थानांतरण के मामले में आदमी को ढोना सबसे कठिन काम है। अतः खर्च से किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है। इसकी कार्य–क्षमता कैसी होगी? यह योजना नई नहीं है। इसका परीक्षण किया गया है और इसे कार्य करने के योग्य पाया गया है। गत यूरोपियन युद्ध के उपरांत ग्रीस और बल्गारिया तथा तुर्की और ग्रीस के मध्य जनसंख्या के स्थानांतरण का प्रयोग कार्य–रूप में परिणित किया गया। कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि इसने काम किया है। इसका परीक्षण किया गया और काम करने योग्य पाया गया। यह योजना, जिसकी रूपरेखा मैंने प्रस्तुत की है, उसी योजना की

एक प्रतिलिपि है। इसके द्वारा ग्रीस और बल्गारिया तथा तुर्की और ग्रीस की जनसंख्या के स्थानांतरण* का मामला तय होने में पर्याप्त सहायता मिली है। कोई भी व्यक्ति इससे इंकार नहीं कर सकता कि इसका कार्यान्वयन असाधारण सफलता से हुआ। जिसके कार्यान्वयन में अन्यत्र सफलता की उपलब्धि हुई, भारत में भी उसके कार्यान्वयन की सफलता की आशा की जा सकती है।

पाकिस्तान का मुद्दा साधारण मामला नहीं है। परंतु यह इतना कठिन भी नहीं है, जैसा कि इसे बनाया जा रहा है बशर्ते कि इसके लिए परस्पर स्वीकृत सिद्धांत और नीति बनाई जाए। यदि यह कठिन है तो उसका कारण केवल यह है कि यह दिल दुखानेवाला है और कोई भी व्यक्ति इसकी समस्याओं और समाधानों पर विचार नहीं करता, क्योंकि इसका विचार मात्र ही पीड़ादायक है। परंतु जब एक बार जहां भावना समाप्त हो गयी है और यह निश्चित कर लिया गया कि पाकिस्तान अवश्य होगा, तो इससे उत्पन्न समस्याएं न तो विचलित करनेवाली होंगी और न असाध्य।

---

* जो लोग जनसंख्या के स्थानांतरण के बारे में और अधिक जानकारी पाना चाहते हैं, उनको स्टीफन पी. लॉड्स द्वारा लिखित 'दि एक्सचेंज ऑफ माइनारिटीज, बल्गेरिया, ग्रीस एंड टर्की' 1932 पढ़कर काफी जानकारी मिल सकती है। इस योजना द्वारा ग्रीस और बल्गारिया के बीच तथा ग्रीस और तुर्की के बीच जनसंख्या के स्थानांतरण की योजना पूर्णतः हल कर ली गई थी।

अध्याय : 15

कौन निर्णय कर सकता है?

पाकिस्तान के प्रश्न के दो पक्ष हैं–हिन्दू पक्ष और मुस्लिम पक्ष। इसे टाला नहीं जा सकता। दुर्भाग्यवश दोनों ही पक्षों ने समझदारी नहीं दिखाई है। दोनों भावना में डुबे हुए हैं। वे इतनी बुरी तरह भावनाओं में डुबे हुए हैं कि उन्हें इस समय समझाना बहुत कठिन है। ये विरोधी भावनाएं क्षीण हो जाएंगी या प्रगाढ़, यह समय और परिस्थितियां ही बता सकेंगी। कब तक भारतीयों को इस बर्फ के पिघलने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, इसकी कोई भी भविष्यवाणी नहीं कर सकता। परंतु एक बात निश्चित है कि जब तक यह बर्फ पिघलती नहीं है, स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं है। मुझे विश्वास है कि लाखों ऐसे विचारशील भारतीय होंगे, जो भारतीय स्वतंत्रता को अनिश्चित काल तक टालने के कंट्टर विरोधी है–जब तक कि पाकिस्तान का एक आदर्शमय और स्थायी समाधान उपलब्ध न हो जाय। उनमें से मै भी एक हू जो यह विश्वास करते हैं कि यदि पाकिस्तान एक समस्या है और एक ढोंग नहीं है, तो इससे भागा नहीं जा सकता और इसके लिए एक समाधान खोजना चाहिए। मैं उनमे से एक हूं जो यह विश्वास करते हैं कि जो अपरिहार्य है, उसका सामना करना चाहिए। आपके चारों तरफ जो हो रहा है, उससे इसलिए आंखें बंद कर लेना ठीक नहीं क्योंकि उससे किसी की भावनाओं को ठेस पहुचेंगी। मैं उनमें से एक हूं जो इस बात पर विश्वास करते हैं कि व्यक्ति को यदि वह समाधान चाहता है तो निर्णय लेने में पहले तैयार रहना चाहिए। यदि यह मालूम है कि नदी पार करनी ही पड़ेगी तो एक पुल का निर्माण करना बुद्धिमानी है।

पाकिस्तान की मुख्य समस्या यह है कि इस बात का निर्णय कौन करे कि पाकिस्तान बनना चाहिए अथवा नहीं। मैं गत तीन वर्षों से इस विषय पर मनन कर रहा हू और इस प्रश्न का यथेष्ट उत्तर देने के लिए कुछ निष्कर्षों पर पहुंचा हूं। इन निष्कर्षों पर मैं उन लोगों के साथ विचार करना चाहूंगा जो इस समस्या के समाधान में रूचि रखते है, जिसके फलस्वरूप आगे और समाधान निकाला

जा सके और खोज की जा सके। इन निष्कर्षों का स्पष्टीकरण करने के लिए मैने सोचा है कि यह अच्छा होगा यदि मैं उन्हें संसद के कानून के रूप में प्रस्तुत करूं। इस उपनियम का प्रारूप इस प्रकार है, जिसमें मेरे निष्कर्ष दिये गये हैं:

भारत सरकार (प्रारंभिक उपबंध) अधिनियम

महामहिम सम्राट के आधिपत्य, लॉर्डस और कामंस के परामर्श और अनुमति से इस वर्तमान संसद में निम्नलिखित अधिनियमित किया जाए—

I. (1) यदि उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध और बंगाल प्रांतों के विधान मंडलों के मुस्लिम सदस्य इस संबंध में निर्धारित तारीख के छः महीने के भीतर बहुमत से यह संकल्प पारित कर देते हैं कि मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को बिटिश इंडिया से पृथक किया जाए, तो महामहिम इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार इन प्रांतों और बलूचिस्तान के मुस्लिम और गैर–मुस्लिम मतदाताओं के बीच इस मुद्दे पर मतदान कराएंगे।

(2) इन प्रांतों में मतदाताओं से निम्नलिखित रूप में प्रश्न पूछे जाएंगे:

(क) क्या आप ब्रिटिश इंडिया से पृथक होने के हक में है?

(ख) क्या आप पृथक्करण का विरोध करते हैं?

(3) मुस्लिम और गैर–मुस्लिम मतदाताओं के मतदान पृथक–पृथक कराये जायेंगे।

II. (1) यदि मतदान के परिणाम स्वरूप यह पाया जाता है कि मुस्लिम मतदाताओं का बहुत पृथक्करण के पक्ष में हैं और गैर–मुस्लिम मतदाताओं का बहुमत पृथक्करण के पक्ष में है और गैर–मुस्लिम मतदाताओं का बहुमत पृथक्करण का विरोध करता है तो महामहिम उन प्रांतों के उन जिलों और क्षेत्रों की जिनके निवासियों में मुस्लिम बहुमत में हैं, एक सूची तैयार करने के प्रयोजनार्थ एक सीमा आयोग उद्घोषणा द्वारा नियुक्त करेगा। ऐसे जिले और क्षेत्र अनुसूचित जिले कहलायेंगे।

(2) अनुसूचित जिलों को सामूहिक रूप से पाकिस्तान और शेष ब्रिटिश भारत को हिन्दुस्तान कहा जायेगा। उत्तर–पश्चिम में पड़ने वाले अनुसूचित जिलों को पश्चिम पाकिस्तान और उत्तर–पूर्व में पड़ने वाले अनुसूचित जिलों को पूर्वी पाकिस्तान कहा जायेगा।

III. (1) सीमा आयोग के निष्कर्षों को सहमति अथवा मध्यस्थ पंचाट द्वारा अन्तिम रूप दिये जाने के बाद महामहिम अनुसूचित जिलों के मतदाताओं के बीच एक और मतदान करायेगा।

(2) मतदाताओं से निम्नलिखित रूप में प्रश्न पूछे जाएंगे :

(क) क्या आप तुरंत पृथक्करण का समर्थन करते हैं?

(ख) क्या आप तुरंत पृथक्करण का विरोध करते हैं?

IV. (1) यदि बहुमत तुरंत पृथक्करण का समर्थन करता है, तो महामहिम पाकिस्तान और हिंदुस्तान के लिए अलग–अलग संविधान तैयार करने की विधिसम्मत व्यवस्था करेंगे।

(2). पाकिस्तान और हिंदुस्तान नाम के ये दो नए राष्ट्र महामहिम द्वारा इस संबंध में जारी उदघोषणा द्वारा निर्धारित तारीख से पृथक–पृथक राष्ट्र बन जाएगें।

(3). यदि बहुमत तुरंत पृथक्करण का विरोध करता है तो महामहिम संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया के लिए केवल एक ही संविधान तैयार करने की विधिसम्मत व्यवस्था करेंगे।

V. यदि पिछली धारा के अंतर्गत मतदान में बहुमत पाकिस्तान के तुरंत पृथक्करण का विरोध करता है, तो पाकिस्तान को पृथक करने संबंधी कोई प्रस्ताव, और यदि पिछली धारा के अंतर्गत मतदान में बहुमत पाकिस्तान को तुरंत पृथक करने का समर्थन करता है तो पाकिस्तान को हिदुंस्तान में मिलाने संबंधी कोई प्रस्ताव, महामहिम द्वारा ब्रिटिश इंडिया के लिए नया संविधान लागू करने पर, पाकिस्तान और हिदुंस्तान के लिए अलग–अलग संविधान लागू करने की निर्धारित तारीख के बाद दस वर्ष तक स्वीकार नहीं किया जाएगा।

VI. (1) यदि धारा चार के अंतर्गत दो पृथक संविधान अस्तित्व में आते हैं, तो संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया के लिए संविधान की संभावित स्थापना और पाकिस्तान और हिदुस्तान की सरकारों और विधानमंडलों के बीच सौहादपूर्ण कार्यवाही और परस्पर व्यवहार और संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया को प्रभावित करने वाले मामलों में एकरूपता के संवर्धन तथा संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया में उन सेवाओं के प्रबंधन, जिन पर दोनों संसद परस्पर सहमत होती हैं या इस अधिनियम के अधीन, व्यवस्था करने के लिए महामहिम निश्चित दिवस के बाद यथाशीघ्र सम्पूर्ण ब्रिटिश

इंडिया के लिए एक काउंसिल ऑफ इंडिया की विधिसम्मत नियुक्ति करेंगे।

(2) इसके बाद काउंसिल ऑफ इंडिया का एक अध्यक्ष तथा चालीस अन्य व्यक्ति–20 पाकिस्तान के तथा 20 हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि– महामहिम के अनुदेशों के अनुसार मनोनीत किए जाएंगे।

(3) काउंसिल ऑफ इंडिया के सदस्य प्रत्येक मामले में पाकिस्तान और हिंदुस्तान की संसदों के निचले सदनों द्वारा चुने जाएंगे।

(4) काउंसिल ऑफ इंडिया के सदस्यों का चुनाव हिंदुस्तान और पाकिस्तान के विधानमंडलों का सर्वप्रथम कार्य होगा।

(5) इस काउंसिल के किसी सदस्य की सदस्यता उस समय समाप्त हो जायेगी, जब वह पाकिस्तान या हिंदुस्तान के विधानमंडल के उस सदन का सदस्य नहीं रहता, जिसके द्वारा उसका चयन किया गया है, परंतु पाकिस्तान या हिंदुस्तान का विधानमंडल भंग होने पर जब तक नए चुनाव नहीं होते, वह काउंसिल का सदस्य बना रहेगा और इसके बाद यदि उसका चयन पुनः नहीं होता तो वह सेवानिवृत्त हो जाएगा।

(6) काउंसिल का अध्यक्ष काउंसिल की उन सभी बैठकों की अध्यक्षता करेगा, जिनमें वह उपस्थित होगा और जब किसी मामले में बराबर मत हों तो उसे मत देने का अधिकार होगा अन्यथा उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा।

(7) काउंसिल की पहली बैठक अध्यक्ष द्वारा निर्धारित समय और स्थान पर होगी।

(8) काउंसिल में सदस्य–संख्या कम होने पर भी वह कार्य करेगी और काउंसिल की बैठक का कोरम पन्द्रह होगा।

(9) काउंसिल,समितियों की शक्तियों के प्रत्यायोजन सहित, अपना कार्यसंचालन स्वयं करेगी।

(10) पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडलों द्वारा समरूप अधिनियम पारित किए जाने पर काउंसिल ऑफ इंडिया के गठन में समय–समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं और इन अधिनियमों में संसदीय मतदाताओं द्वारा निर्वाचित किए जाने वाले काउंसिल ऑफ इंडिया के किसी सदस्य या सभी सदस्यों के लिए व्यवस्था की जा

सकती है और निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण, जिनमें अनेक सदस्य निर्वाचित होकर आते हैं और अनेक निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या तथा निर्वाचन–पद्धति निर्धारित की जा सकती है।

VII.(1) पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडल समरूप अधिनियम पारित करके काउंसिल ऑफ इंडिया को विधानमंडलों और पाकिस्तान और हिंदुस्तान की सरकारों की किसी भी शक्ति का प्रत्यायोजन कर सकेंगे और इन अधिनियमों में यह भी निर्धारित किया जाएगा कि इन प्रत्यायोजित शक्तियों का काउंसिल द्वारा किस प्रकार प्रयोग किया जाएगा।

(2) रेलवे और जलमार्ग संबंधी नियम बनाने की शक्तियां नया संविधान लागू होने की तारीख से पाकिस्तान या हिंदुस्तान के पास नहीं, बल्कि काउंसिल ऑफ इंडिया के पास होंगी, परंतु यह उपधारा पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडलों के लिए उन स्थानों पर रेलवे और जलमार्गों के निर्माण, विस्तार या सुधार करने संबंधी नियम बनाने में बाधा नहीं बनेगी, जो स्थान सम्पूर्ण रूप से पाकिस्तान या हिंदुस्तान, जैसा भी मामला हो, में स्थित हैं।

(3) काउंसिल ऐसे किसी भी मुद्दे पर विचार कर सकती है, जिससे किसी भी प्रकार से यह प्रतीत होता हों कि यह पाकिस्तान और हिंदुस्तान के लिए कल्याणकारी नहीं है, और इस संबंध में प्रस्ताव पारित करके, जैसा उचित समझे, सुझाव दे सकती है, परन्तु इन सुझावों का विधायी प्रभाव नहीं होगा।

(4) काउंसिल ऑफ इंडिया के लिए पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडलों से सिफारिश करना विधिसम्मत होगा कि वे किसी भी अखिल भारतीय विषय का प्रशासन काउंसिल ऑफ इंडिया को प्रत्यायोजित करने के लिए समरूप अधिनियम पारित करें, ताकि पाकिस्तान और हिंदुस्तान में इस विषय के पृथक–पृथक प्रकार के प्रशासन से बचा जा सके।

(5) किसी भी विधानमंडल के लिए यह विधिसम्मत होगा कि वह समरूप अधिनियमों के अनुसरण में काउंसिल ऑफ इंडिया को अस्थायी रूप से प्रत्यायोजित ऐसी किसी भी शक्ति को, जैसा कि ऊपर बताया गया है, अधिनियम पारित करके काउंसिल ऑफ इंडिया से किसी भी समय वापस ले सकेगा और इसके पश्चात काउंसिल ऑफ इंडिया द्वारा इन शक्तियों का उपयोग नहीं किया जा सकेगा और उनका उपयोग

ब्रिटिश इंडिया के विभिन्न भागों में पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडलों और उनकी सरकारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्राधिकार में किया जा सकेगा और काउंसिल द्वारा उसके पास निधियों के समायोजन सहित ऐसे सभी कदम उठाए जाएंगे, जो शक्तियों के हस्तांतरण के लिए आवश्यक हों।

VIII. (1) यदि संविधान लागू होने के दस वर्ष बाद, जैसा कि धारा चार-(3) में विहित है, प्रांतीय और केंद्रीय विधानमंडलों में अनुसूचित जिलों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुस्लिम सदस्य बहुमत से महामहिम को यह याचिका प्रस्तुत करते हैं कि पाकिस्तान को हिंदुस्तान से पृथक करने के लिए मतदान करवाया जाए, तो महामहिम द्वारा मतदान कराया जाएगा।

(2) मतदाताओं से निम्नलिखित रूप में प्रश्न पूछे जाएंगे :

क. क्या आप पाकिस्तान को हिंदुस्तान से पृथक करने का समर्थन करते हैं?

ख. क्या आप पाकिस्तान के भारत से पृथक्करण का विरोध करते हैं?

IX. यदि मतदान का परिणाम पृथक्करण का समर्थन करता है, तो महामहिम के लिए एक आर्डर-इन-काउंसिल द्वारा घोषणा करना विधिसम्म्त होगा कि एक निश्चित तारीख से पाकिस्तान ब्रिटिश भारत का अंग नहीं रहेगा और काउंसिल भंग कर दी जाएगी।

X. (1) यदि धारा में उल्लिखित परिस्थितियों के अनुसार दो संविधान अस्तित्व में आते हैं तो महामहिम के लिए एक आर्डर-इन-काउंसिल द्वारा यह घोषणा करना विधिसम्मत होगा कि पाकिस्तान पृथक राष्ट् नहीं बनेगा और हिंदुस्तान का अंग बना रहेगा। परंतु पाकिस्तान के लिए पृथक संविधान लागू होने के दस वर्ष पूरा होने से पहले ऐसा आदेश जारी नहीं किया जाएगा।

परंतु ऐसी घोषणा तब तक नहीं की जाएगी, जब तक कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडल कारक अधिनियम (कंस्टीटयूएंट एक्ट) पारित नहीं करते, जैसा कि धारा दस-(2) में निहित है।

(2) पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडल समरूप अधिनियमों के तृतीय वाचन, जिसे इसमें इसके बाद कंस्टीट्यूएंट एक्ट कहा गया है, में पूर्ण बहुमत से सहमति प्रदान करके काउंसिल ऑफ इंडिया के

स्थान पर संयुक्त भारत के लिए विधानमंडल स्थापित कर सकेंगे और यह निर्धारित कर सकेंगे कि विधानमंडल के सदस्यों की नियुक्ति अथवा निर्वाचन होगा और कौन से निर्वाचन क्षेत्र होंगे, जिनसे सदस्य निर्वाचित होकर आएंगे और निर्वाचन क्षेत्रों से कितने सदस्य होंगे, और इन निर्वाचन क्षेत्रों से सदस्यों की नियुक्ति या निर्वाचन का तरीका क्या होगा और दोनों सदनों, यदि ऐसी व्यवस्था है, के संबंध कैसे होंगे।

XI. (1) पाकिस्तान और हिंदुस्तान के एकीकरण की तारीख से काउंसिल ऑफ इंडिया अस्तित्व में नहीं रहेगी और काउंसिल ऑफ इंडिया द्वारा प्रयोग में लाई जा रही सभी शक्तियों का विधानमंडल और भारत सरकार को हस्तांतरण होगा।

(2) पाकिस्तान और हिंदुस्तान के विधानमंडलों और सरकारों की सभी शक्तियों और कार्यों का भी, कराधान संबंधी सभी शक्तियों सहित, ब्रिटिश इंडिया सरकार को हस्तांतरण होगा और इनके विधानमंडल और सरकारें अस्तित्व में नहीं रहेंगी।

XII. (1) इस अधिनियम के अंतर्गत बैलट के जरिए एक मतदान यथासंभव उसी तरीके से होगा जैसे कि विधानमंडल के सदस्य के चुनाव के लिए मतदान होता है, और मतदान कराने के लिए महामहिम चुनाव–नियम स्वीकार करने के लिए नियम बना सकेंगे।

(2) एक मतदाता एक से अधिक स्थानों पर पंजीकृत होने के बावजूद एक से अधिक बार मतदान नहीं कर सकेगा।

(3) मतदाता का अर्थ है, वह प्रत्येक वयस्क पुरूष और महिला जो उत्तर–पश्चिम सीमांत प्रांतों, पंजाब, सिंध और बंगाल तथा बलूचिस्तान में निवास करता है।

XIII. यह अधिनियम भारतीय संविधान (प्रारंभिक उपबंध) अधिनियम 194 कहलाएगा।

मैं नहीं समझता कि उक्त प्रारूप अधिनियम में जिन निष्कर्षों को मैंने समाविष्ट करने का प्रयास किया है, उनके बारे में पाठकों कों समझने के लिए और विस्तृत स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता है। संभवतः यह अधिक लाभप्रद होगा, यदि मैं उन प्रस्तावों के मुख्य लक्षणों को प्रस्तुत कर दूं, जिनका संसद द्वारा पारित किया जाना अपेक्षित है।

मेरी समझ में पाकिस्तान का मसला जब तक तय नहीं हो जाता, इससे कोई

लाभ नहीं है कि भारतीय मांग करें और ब्रिटिश पार्लियामेंट ऐसा ऐक्ट बनाने को तैयार हो जाय, जिससे भारत को डोमीनियन स्टेटस या स्वतंत्रता मिले। पाकिस्तान का मसला पहले तय होना चाहिए और इसका निपटारा किसी न किसी तरफ होना चाहिए। इसलिए मैंने सुझाए हुए ऐक्ट को 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया (प्रिलिमिनरी प्राविजंस) ऐक्ट' कहा है। पाकिस्तान का मसला आत्मनिर्णय का होने के कारण लोगों की इच्छाओं द्वारा तय किया जाना चाहिए। जो प्रांत पहले से ही प्रमुख रूप से मुस्लिम प्रांत हैं, मैं उनमें मुसलमानों और गैर–मुसलमानों का मतदान कराना चाहता हूं। यदि अधिकतर मुसलमान अलगाव के पक्ष में हैं और अधिकतर गैर–मुसलमान इसके विरूद्ध हैं, तो मुस्लिम बहुतायत वाले जिलों से गैर–मुस्लिम जिलों को अलग करते हुए जातीय और सांस्कृतिक आधार पर प्रांतीय सीमाएं खींचकर, जहां भी सम्भव है, क्षेत्रों को तय कर देने के कदम उठाये जाने चाहिए। इसके लिए एक सीमा आयोग जरूरी है। इसलिए इस ऐक्ट में सीमा–आयोग का सुझाव दिया गया है। यदि सीमा आयोग की रचना अंतर्राष्ट्रीय हो सके, तो बेहतर होगा।

मुसलमानों और गैर–मुसलमानों के अलग–अलग जनमत–संग्रह की योजना दो सिद्धांतों पर आधारित है, जिन्हें मैं मौलिक मानता हूं। पहला यह है कि अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक के अन्याय से अपनी रक्षार्थ संरक्षण मांग सकते हैं। वे उसे पूर्व–शर्तों के रूप में मांग सकते हैं। किंतु अंतिम नियति के बारे में निर्णय करने के बहुसंख्यक के अधिकार पर वीटो लगाने का अधिकार अल्पसंख्यकों को नहीं होता। इसलिए मैंने पाकिस्तान की स्थापना का प्रस्तावित जनमत–संग्रह मुसलमानों तक सीमित रखा है। दूसरा यह है कि एक बहुसंख्यक संप्रदाय अल्पसंख्यक जाति से अपने आदेश मनवाने का दावा नहीं कर सकता। केवल एक राजनीतिक बहुसंख्या को ही राजनीतिक अल्पसंख्यकों पर शासन करने का अधिकार दिया जा सकता है, यह सिद्धांत भारत में संशोधित हो गया है, जहां, कुछ संरक्षणों के साथ अल्पसंख्यक वर्ग को बहुसंख्यक वर्ग के अधीन रखा गया है। किंतु यह साधारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक महत्व के विषय की बात है। यह न कभी स्वीकार किया गया है, न स्वीकार किया जा सकता है कि एक जातीय बहुसंख्या को जातीय अल्पसंख्यकों से वैधानिक मसले पर अपने आदेशों में चलाने का अधिकार हो। इसीलिए मैंने केवल गैर–मुसलमानों के लिए अलग प्रस्तावित जनमतसंग्रह सुझाया है, कि वे पाकिस्तान में जाना चाहते हैं अथवा हिंदुस्तान में आना चाहते हैं।

सीमा आयोग द्वारा क्षेत्रों के सीमांकन के पश्चात बहुत सी संभावनाएँ सामने आ सकती हैं। पाकिस्तान की सीमाओं के निर्धारण के बाद मुसलमान रूक सकते हैं। वे यह सोचकर संतुष्ट हो सकते हैं कि जो भी हो, पाकिस्तान का सिद्धांत

मान लिया गया है, जो सीमांकन का अर्थ है। मान लीजिए मुसलमान सीमांकन मात्र से संतुष्ट नहीं होते और पाकिस्तान की स्थापना चाहते हैं, तो उनके लिए दो रास्ते खुले हैं। वे पाकिस्तान की तुरंत स्थापना चाह सकते हैं या एक ही केंद्रीय सरकार के शासन में कुछ समय तक, दस साल कह लीजिए, रह सकते हैं और हिंदुओं का साथ परीक्षण के तौर पर कर सकते हैं। हिंदुओं को यह दिखाने का अवसर मिलेगा कि अल्पसंख्यक उन पर भरोसा कर सकते हैं। मुसलमान अनुभव करके जानेंगे कि हिंदू राज से उनका भय कहां तक उचित है। और भी एक संभावना है। मुसलमान तुरंत अलग होने का निश्चय करने के बाद, कालांतर में पाकिस्तान से इतने हताश हो सकते हैं कि वे फिर वापस आकर भारत में मिलना और एक संविधान की प्रजा बनना पसंद करें।

ये कुछ ऐसी संभावनाएं हैं, जो मुझे सूझती हैं। मैं तो कहूंगा कि इन संभावनाओं को घटित होने के लिए समय और परिस्थितियों पर छोड़ देना चाहिए। मुसलमानों से यह कहना मुझे गलत लगता है कि यदि तुम भारत के एक अंग बनकर रहना चाहते हो, तो तुम कभी बाहर नहीं जा सकते या यदि तुम जाना चाहते हो, तो फिर कभी वापस नहीं आ सकते। अपनी योजना में मैंने द्वार खुला रखा है और अधिनियम में इन दोनों संभावनाओं को स्थान दिया है : (1) दस वर्षों के अलगाव के बाद एकता के लिए (2) दस वर्षों तक अलगाव और उसके बाद एकता के लिए। मैं व्यक्गित रूप से दूसरे विकल्प को पसंद करता हूं, यद्यपि किसी के पक्ष में मेरा दृढ़ मत नहीं है। यह बेहतर होगा कि मुसलमान पाकिस्तान का तर्जुबा कर लें। पाकिस्तान के तजुर्बे के बाद की एकता अवश्य स्थायी और शाश्वत होगी। यदि पाकिस्तान शीघ्र अस्तित्व में आता है, तो मुझे यह जरूरी जान पडता है कि पूर्ण अलगाव नहीं होना चाहिए। पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच जीवन–संपर्क बनाए रहना जरूरी है ताकि विच्छेद उत्पन्न करनेवाली तथा पुनः एकीकरण को रोकनेवाली संभावनाओं को रोका जा सके। इस अधिनियम में तद्नुसार राज्य परिषद को स्थान दिया गया है। इसे संघ समझने की भूल नहीं की जा सकती। यह कोई महासंघ नहीं है। इसे केवल एक कड़ी के रूप में पाकिस्तान और हिंदुस्तान को तब तक बांधे रखना है, जब तक वे एक संविधान के भीतर एक न हो जाएं।

ऐसी मेरी योजना है। यह जातीय मताधिकार पर आधारित है। योजना लचीली है। इसमें इस बात का विचार कर लिया गया है कि यह हिंदू भावना के विरूद्ध है। इसमें इस तथ्य पर भी विचार कर लिया गया है कि पाकिस्तान की मुस्लिम मांग अस्थायी हो सकती है। योजना कोई अलगाव नहीं है। यह केवल न्यायिक अलगाव है। यह हिंदुओं को एक अवधि देती है। वे इसे यह दिखाने के लिए प्रयोग कर सकते हैं कि अधिकार मिलने पर न्यायपूर्वक शासन करने के लिए

उन पर भरोसा किया जा सकता है। मुसलमानों को यह पाकिस्तान को आजमाने का अवसर देती है।

सर स्टफर्ड क्रिप्स के प्रस्तावों के साथ अपने प्रस्तावों की तुलना करना इष्ट प्रतीत होता है। उक्त प्रस्ताव धारावाहिक कथानक की तरह श्रेणीबद्ध रूप में दिये गये हैं। 29 मार्च, 1943 को प्रकाशित घोषणापत्र में निम्नलिखित बातें सन्निहित हैं–

> महामहिम की सरकार, इसलिए निम्नलिखित प्रस्थापनाएं करती है :
>
> "(क) विरोध समाप्त होने के तुरंत बाद पग उठाये जाएंगे, जिसके फलस्वरूप भारत में अब से आगे वर्णित ढंग में एक ऐसे निर्वाचित परिषद की रचना की जायेगी,' जिसका काम भारत में नए संविधान की रचना करना होगा।
>
> (ख) संविधान निर्मात्री परिषद में भारतीय रियासतों से सहयोग प्राप्त करने के लिए आगे वर्णित प्रावधान होगा।
>
> (ग) महामहिम की सरकार इस प्रकार रचित संविधान को स्वीकार करने और लागू करने का दायित्व निम्न शर्त पर लेती है :
>
> > (1) बिटिश भारत के किसी भी प्रांत को, जो उक्त नवीन संविधान स्वीकार करने को तत्पर नहीं है, मौजूदा संवैधानिक स्थिति कायम रखने का अधिकार है और यदि वह बाद में सम्मिलित होने का निश्चय करता है, तो इसके लिए प्रावधान किया जाएगा।
>
> ऐसे प्रत्येक सम्मिलित न होनेवाले प्रांत के लिए, यदि वह ऐसा चाहे, महामहिम सरकार एक नवीन संविधान स्वीकृत करने के लिए तत्पर होगी, जिसमें उसे भारत संघ के सदृश वही पूर्ण स्तर प्रदान किया जाएगा जो यहां पर प्रस्तुत की गई प्रक्रिया के अनुसार तय होगा।"

उक्त संघ में सम्मिलित होने अथवा उससे पृथक होने की शर्तों का ब्यौरा उनके द्वारा प्रसारित रेडियो समाचार में दिया गया था :

> "कि उक्त विधान निर्मात्री परिषद का ध्येय समस्त भारत अर्थात बिटिश भारत तथा ऐसी भारतीय रियासतें, जो संघ में सम्मिलित होने का निश्चय करती है, के लिए केवल एक ही संविधान बनाना रहेगा।
>
> "परंतु हम इस सरल तथ्य का अनुभव करते हैं कि यदि आप उन लोगों को, जो एक साथ रहने के विरोधी हैं, एक साथ रहने के

लिए राजी करना चाहते हैं, तो उन्हें यह कहना अविवेकपूर्ण होगा कि यदि वे एक बार साथ आ गए तो सदा के लिए एक साथ हो जाएंगे और कभी अलग नहीं हो सकेंगे।

"उनसे यह कहना अधिक बुद्धियुक्त होगा कि वे अंदर प्रवेश कर सकते हैं और यदि उन्हें महसूस होता है कि वे एक सामान्य निर्णय पर नहीं पहुँच सकते, तब उन्हें, जो दूसरे दरवाजे से पुनः बाहर जाने के इच्छुक हैं, रोकने के लिए कोई बाधा नहीं है। यदि उन्हें इस बात का ज्ञान है कि वे स्वेच्छापूर्वक बाहर जा सकते है तो वे और अधिक प्रवेश करना चाहेंगे।

भारत के प्रांतों के विषय में हमारा कहना यह है। एक सामान्य संविधान की रचना के लिए इकट्ठे होकर आइए, यदि आप अपने समस्त विवादों तथा संविधान निर्मात्री परिषद की विचार–विमर्श की कार्यवाही के उपरांत यह समझते हैं कि आप अपने मतभेदों को दूर नहीं कर सकते और कुछ प्रांत संविधान से संतुष्ट नहीं हैं, तब ऐसे प्रांत संघ से बाहर निकल सकते हैं और बाहर रह सकते हैं, और यदि वे चाहें तो उनके लिए उसी अंश का स्वराज और स्वतंत्रता उपलब्ध होगी जैसी स्वयं संघ की, अर्थात पूर्ण स्वतंत्रता।"

तस्वीर को पूर्ण करने के लिए प्रेस कांफ्रेंस में और आगे विवरण जोड़े गए। प्रांतों द्वारा सम्मिलित होने या पृथक रहने की योजना का उल्लेख करते हुए सर स्टफोर्ड क्रिप्स ने कहा–

"यदि विधान निर्मात्री परिषद की कार्रवाई के अंत में कोई प्रांत नए संविधान को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता और संघ में सम्मिलित नहीं होता, तो वह संघ से बाहर रहने के लिए स्वतंत्र है, बशर्ते उस प्रांत की विधान सभा पर्याप्त मतों, अर्थात 60% से कम नहीं, से सम्मिलित होने के विरूद्ध निश्चय करे। यदि यह मत 60% से कम है, तो अल्पसंख्यक जाति जनमत जानने के लिए संपूर्ण प्रांत के मताधिकार का दावा कर सकेगी। मताधिकार के मामले में केवल बहुमत पर्याप्त होगा। संघ में सम्मिलित होने की प्रकिया पूर्ण करने के लिए संबंधित प्रांतीय धारा सभा से निश्चित मत प्राप्त होना चाहिए। सम्मिलित न होनेवाले प्रांत, यदि वे चाहें तो, एक पृथक संविधान निर्मात्री परिषद द्वारा एक नवीन संघ बनाकर उसमें सम्मिलित हो सकते हैं, परंतु ऐसे संघ को व्यवहार्य बनाने के लिए उन्हें भौगोलिक दृष्टि से जुड़ा हुआ होना चाहिए।

मेरी और सर स्टफोर्ड क्रिप्स की योजना में मुख्य अंतर बिल्कुल स्पष्ट है। सम्मिलित होने या न होने के प्रश्न का निर्णय करने के लिए, दूसरे शब्दों में जिसे यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान हो या नहीं, सर क्रिप्स ने एक प्रांत को निर्णयात्मक इकाई माना है। मैंने एक संप्रदाय को निर्णायक इकाई माना है। निस्संदेह सर स्टफोर्ड क्रिप्स ने गलत आधार अंगीकार किया है। प्रांत तभी एक उचिन इकाई हो सकती है, जब झगड़े के प्रश्न अंतरप्रांतीय हों। उदाहरणार्थ, यदि झगड़े के प्रश्न कर या जल–वितरण इत्यादि से संबद्ध हैं, तो प्रांत को एक पूर्ण प्रांत समझा जा सकता है, अन्यथा उस प्रांत में किसी एक विशिष्ट बहुसंख्यक जाति को निर्णय करने के अधिकार की बात समझ में आती है। परंतु पाकिस्तान से संबद्ध झगड़ा एक अंतर्जातीय समस्या है और एक ही प्रांत में दो जातियों के बीच हैं। इसके अतिरिक्त, विवाद का मुद्दा यह नहीं है कि किन शर्तों पर दोनों संप्रदाय एक सामान्य राजनीतिक जीवन में एक साथ रहने के लिए राजी होंगे। झगड़ा गहनतर होता जा रहा है और यह प्रश्न उठता है कि क्या जातियां एक सामान्य राजनीतिक जीवन में पूर्ण रूप से सहयोग करने के लिए तत्पर हैं? सार रूप में, यह एक सांप्रदायिक विवाद है और जातीय मतदान द्वारा ही उसका निर्णय किया जा सकता है।

IV

अपने प्रस्तावित समाधान के मौलिक होने का दावा मैं नहीं करता हूं। वे विचार, जो इसमें अंतर्निहित हैं, तीन स्त्रोतों से लिए गए हैं। प्रथम, आयरिश ऐक्य सम्मेलन से जिसकी अध्यक्षता होरेस प्लंकेट ने की थी; दुसरे, श्री एस्क्विथ के स्वायत्त शासन संशोधन बिल से, और तीसरे, आयरलैंड सरकार के 1920 के एक्ट से। यह पता चलेगा कि पाकिस्तान की समस्या का मेरा समाधान काफी सोच–समझ का परिणाम है। क्या यह समाधान स्वीकार्य होगा? पाकिस्तान के प्रश्न पर उठे विवाद के समाधान के चार मार्ग हैं। प्रथम यह है कि ब्रिटिश सरकार को एक निर्णायक प्राधिकारी के रूप में कार्य करना चाहिए। दूसरा यह है कि हिंदू और मुसलमानों को सहमत होना चाहिए। तीसरा मार्ग यह है कि उक्त विषय को एक अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थ मंडल को सौप दिया जाये और चौथा मार्ग यह है कि उक्त विषय के समाधान के लिए गृह युद्ध के द्वारा इसे निबटाया जाये।

यद्यपि भारत आजकल एक राजनीतिक पागलखाना है, फिर भी मै यह आशा करता हूं कि इस देश में पर्याप्त बुद्धिमान व्यक्ति हैं, जो मामलों को गृहयुद्ध तक पहुंचने की स्वीकृति प्रदान नहीं करेंगे। निकट भविष्य में राजनीतिक नेताओं के मध्य समझौते की कोई आशा नहीं है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 1942

में संपन्न अपने इलाहाबाद अधिवेशन में श्री जगतनारायण के प्रस्ताव* पर निश्चय किया कि पाकिस्तान के लिए प्रस्ताव स्वीकार न किया जाय। समस्या के समाधान के लिए अन्य दो मार्ग रह गए। प्रथम, संबंधित जनता द्वारा तथा दूसरा अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता द्वारा। यह वह मार्ग है जिसका सुझाव मैंने दिया है। मैं पहला अधिक पसंद करता हूं। विभिन्न कारणों से यह तरीका मुझे सही प्रतीत होता है। झगड़े का निपटारा करने में नेताओं के असफल हो जाने पर अब भी समय है कि निर्णयार्थ इसे जनता के पास ले जाया जाय। वास्तव में यह कल्पनातीत है कि प्रदेशों के विभाजन तथा एक सरकार से दूसरी सरकार के प्रति लोगों की निष्ठा बदलने का प्रश्न राजनयिक नेताओं द्वारा किस प्रकार तय किया जा सकता है। ऐसी चीजें निस्संदेह विजेताओं द्वारा की जाती हैं, जिनकी युद्ध में विजय उन्हें अपने विजित लोगों के साथ जो चाहे करने का अधिकार प्रदान करती है। परंतु हम इस प्रकार की न्यायविरूद्ध स्थिति के अंतर्गत काम नहीं कर रहे हैं। सामान्य अवस्था में जब संवैधानिक कार्रवाई स्थगित नहीं रहती, राजनीतिक नेताओं के विचारों का वह प्रभाव नहीं हो सकता जो तानाशाहों के आज्ञा–पत्रों का होता है। यह जनतंत्र के नियम–विरूद्ध होगा। नेताओं के विचारों को कार्यसूची में रखने के योग्य समझना ही उनके विचारों को यथोचित सम्मान देना है। जनता द्वारा मामले के निर्णय की आवश्यकता न उनके द्वारा बदली जा सकती है और न टाली जा सकती है। यह स्थिति है जो सर स्टफोर्ड क्रिप्स द्वारा अपनाई गई। मुस्लिम लोगों का दृष्टिकोण यह है कि पाकिस्तान बनने दो, क्योंकि उन्होंने पाकिस्तान लेने का निर्णय किया है। उक्त स्थिति का नकार क्रिप्स के प्रस्तावों द्वारा किया गया है और बिल्कुल ठीक किया गया है। क्रिप्स के प्रस्तावों द्वारा मुस्लिम लीग को इतनी ही मान्यता उपलब्ध हुई है कि उसे यह प्रस्तावित करने का अधिकार प्राप्त है कि पाकिस्तान एक प्रस्ताव के रूप में विचारणीय है। पुनः यह प्रतीत होता है कि इस बात का अनुभव नहीं किया गया कि कांग्रेस जैसी अखिल भारतीय संस्था, जो बहुसंख्यक जनता की सक्रिय स्वीकृति अपने साथ ले जाने की स्थिति में नहीं है, पाकिस्तान के प्रश्न द्वारा शीघ्र प्रभावित होने के कारण, समाधान का मार्ग दिखलाने की स्थिति में नहीं हो सकती। इससे क्या लाभ होगा, यदि श्री गांधी ओर श्री राजगोपालाचार्य सहमत हो जाएं अथवा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पाकिस्तान को अंगीकार करने का निश्चय कर ले, यदि इसका विरोध पंजाब अथवा बंगाल के हिंदुओं द्वारा किया गया? वास्तव में बंबई या मद्रास

---

* प्रस्ताव पाठ इस प्रकार है– "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का विचार है कि भारत का विभाजन करने के लिए भारत के किसी कुलक राज्य या क्षेत्र को अलग होने की स्वतंत्रता प्रदान करने वाला कोई प्रस्ताव राज्यों और प्रांतों के लोगों तथा पूरे देश के लिए अहितकर होगा और इसलिए कांग्रेस ऐसे किसी प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सकती है।

के लोगों का यह काम नहीं है कि वे कहें–पाकिस्तान बनना चाहिए। यह उन लोगों के निर्णय पर छोड़ देना चाहिए जो उस क्षेत्र में रह रहे हैं और जिन्हें उस राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली में, जिसमें वे वर्षो तक रहे हैं, भारी, कांतिकारी और मूलभूत परिवर्तनों के परिणाम भुगतने हैं। मेरी समझ में पाकिस्तान प्रांतों में जनमत–संग्रह पाकिस्तान–समस्या के समाधान का सर्वोत्तम सुरक्षात्मक संवैधानिक तरीका है।

परंतु मुझे भय है कि जनमत–संग्रह द्वारा पाकिस्तान के प्रश्न का समाधान कितना ही आकर्षक हो, समझदार लोगों द्वारा यह स्वीकार्य नहीं होगा। मुस्लिम लीग तक भी इस बारे में अधिक उत्साहित नहीं होगी। यह इसलिए नहीं, क्योंकि प्रस्ताव दोषपूर्ण है। बल्कि बात इसके विपरीत है। एक समाधान और है, जिसका अपना आकर्षण है। यह ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनी सार्वभौम सत्ता के प्रयोग से पाकिस्तान की स्थापना किया जाना है। जनता के मतदान द्वारा स्वीकृति की अपेक्षा यह समाधान क्यों बेहतर है, इसका कारण यह है कि यह सरल है और मतदान की प्रकिया की भांति इतनी अधिक व्यापक कार्रवाई की अपेक्षा नहीं रखता और जनमत की भांति अनिश्चय एवं अनिर्णय से मुक्त है। इसे प्राथमिकता प्रदान करने का एक और आधार है, अर्थात इसका एक पूर्व उदाहरण है। इसका पूर्व उदाहरण आयरलैंड का दृष्टांत है, और तर्क यह है कि यदि ब्रिटिश सरकार ने अपनी सार्वभौम सत्ता के प्रभाव एवं बल द्वारा आयरलैंड का विभाजन कर अल्सटर को जन्म दिया, तो फिर ब्रिटिश सरकार भारत का विभाजन कर पाकिस्तान को जन्म क्यों नहीं दे सकती?

ब्रिटिश संसद विश्व में सर्वाधिक सार्वभौम संवैधानिक सभा है। डी.एल. होम, एक फ्रेंच लेखक ने आंग्ल संविधान का विवेचन करते हुए कहा कि ऐसी कोई बात नहीं है, जिसे ब्रिटिश संसद न कर सकती हो सिवाय इसके कि वह पुरूष को स्त्री और स्त्री को पुरूष नहीं बना सकती। यद्यपि ब्रिटिश संसद की सार्वभौमिकता डोमीनियंस के मामलों में वेस्ट मिनिस्टर की कानूनी व्यवस्था द्वारा सीमित है, परंतु भारत के विषय में यह अब भी असीमित है। आयरलैंड की भांति कानून में ऐसा कुछ नहीं है जो ब्रिटिश सरकार को भारत का विभाजन करने से रोकता हो। वह ऐसा कर सकती है, परंतु क्या ऐसा करेगी? प्रश्न सत्ता का नहीं अपितु इच्छा का है।

जो ब्रिटिश सरकार से आयरलैंड के पूर्व दृष्टांत का अनुकरण करने का आग्रह करते है, उन्हें यह पूछना चाहिए कि आयरलैंड को विभक्त करने की प्रेरणा ब्रिटिश सरकार को कहां से प्राप्त हुई? क्या यह ब्रिटिश सरकार की आत्मचेतना थी, जिसके परिणामस्वरूप उसने उक्त मार्ग की स्वीकृति प्रदान की? अथवा परिस्थितियों के वशीभूत होकर जबरन उसे ऐसा करने को विवश होना और झुकना पड़ा?

आइरिश होमरूल के इतिहास के विद्यार्थी को स्वीकार करना पड़ेगा कि आयरलैंड का विभाजन आत्मचेतना का फल नहीं है, वरन परिस्थितियों का परिणाम है। इस बात का प्रायः स्पष्टतया अनुभव नहीं किया गया कि आयरलैंड के झगड़े से संबंधित कोई भी पार्टी आयरलैंड का विभाजन नहीं चाहती थी। अल्सटर–नेता श्री कार्सन भी विभाजन नहीं चाहते थे। कार्सन होम रूल के विरूद्ध थे, परंतु वे विभाजन के पक्ष में नहीं थे। उनका प्रथम और मुख्य कार्य होम रूल का विरोध करना और आयरलैंड की अखंडता को कायम रखना था। होम रूल को जर्बदस्ती लादने के विरूद्ध आत्मरक्षा की यह द्वितीय पंक्ति थी कि उन्होंने विभाजन का आग्रह किया। कामंस के भीतर और बाहर दोनों स्थानों के उनके भाषणों से उक्त कथन बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। दूसरी ओर, एसक्विथ की सरकार भी समान रूप से विभाजन के विरूद्ध थी। यह आयरलैंड के होम रूल विधेयक 1927 पर कामंस के सदन में हुई कार्रवाई में देखा जा सकता है। बिल के प्रावधानों में से अलस्टर को बाहर रखनै के लिए दो संशोधन उपस्थित किए गए, एक बार कमेटी स्तर पर सर रोबर्ट्स द्वारा और पुनः तृतीय वाचन पर स्वयं श्री कार्सन द्वारा। दोनों बार सरकार ने विरोध किया और संशोधन गिर गये।

श्री लॉयड जार्ज के 1920 के गवर्नमेंट ऑफ आयरलैंड एक्ट द्वारा स्थायी विभाजन पूरा हुआ। अनेक लोग यह सोचते हैं कि यह मिलीजुली सरकार में, जिसके श्री लॉयड जार्ज नाममात्र के मुखिया थे, कंजरवेटिव–यूनियनिस्टों की आज्ञा का प्रतिफल है। यह सत्य हो सकता है कि श्री लॉयड जार्ज अपनी मिलीजुली सरकार में सम्मिलित पार्टी के प्रभाव के वशीभूत थे, परंतु यह सत्य नहीं है कि विभाजन का सर्वप्रथम विचार 1920 में उत्पन्न हुआ। न ही यह सत्य है कि लिबरल पार्टी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और इसके परिणामस्वरूप पार्टी ने विभाजन को एक संभाव्य समाधान के रूप में स्वीकार करने की तत्परता दिखाई। वास्तव में विभाजन समाधान के रूप में लॉयड जार्ज के अधिनियम से 6 वर्ष पूर्व हुआ, जब एसक्विथ सरकार एक विशुद्ध लिबरल सरकार थी। वह वास्तविक कारण, जिसके फलस्वरूप आयरलैंड का विभाजन हुआ, उन तथ्यों पर गौर करके समझा जा सकता है, जिनके फलस्वरूप श्री एसक्विथ की सरकार के सोच में परिवर्तन हुआ। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूं कि वह सूत्र, जिसके परिणामस्वरूप लिबरल सरकार की विचारधारा में उक्त परिवर्तन हुआ, सैनिक विद्रोह था, जो 1914 में हुआ और जिसका संबंध 'कुर्राघ घटना' से है।

वर्ष 1913 के अंत, तक आयरिश होम रूल विधेयक सभी चरणों से पारित हो गया। श्री एसक्विथ को इस बात की चुनौती दी गई कि यह कार्यवाही मतदाताओं का मत प्राप्त किए बिना ही हुई है। श्री एसक्विथ को यह आश्वासन देना पड़ा कि जब तक चुनाव नहीं होते, अधिनियम लागू नहीं किया जाएगा।

यदि युद्ध नहीं होता तो सामान्य तौर पर चुनाव 1915में होने थे। परंतु अलस्टरमैन इसके लिए चुनाव में मौका लेने को तैयार नहीं थे और उन्होंने होम रूल का विरोध करने के लिए कदम उठाने शुरू कर दिए। वे अपने साधनों और तरीकों का चयन करने में सदैव ही ईमानदार नहीं होते थे और इसके बहाने कि वे उस सरकार के विरूद्ध लड़ रहे हैं जो राजा के प्रति वफादार रहने से उन्हें रोकती है, इसके लिए शर्मनाक तरीके अपना लेते थे। एक मैजीनट लाइन थी, जिस पर अलस्टरमैन ने होम रूल को असफल करने के लिए सदैव निर्भर किया, और वह थी हाउस ऑफ लार्डस। परतु पार्लियामेंट एक्ट 1911 के द्वारा हाउस आफ लार्डस एक ऐसी दीवार बन गयी, जो न तो अधिक मजबूत थी और न ही अधिक ऊंची। इस पर सुरक्षा का भरोसा नहीं किया जा सकता था। उन्हें अपनी सुरक्षा सेना में दिखाई दी। योजना दोहरी नीति अपनाने की थी। पहली योजना यह थी कि हाऊस ऑफ लार्डस में एनवल आर्मी एक्ट को तब तक रूकवाया जाए जब तक यह सुनिश्चित न हो जाए कि अलस्टर के विरूद्ध इस्तेमाल के लिए कोई सेना नहीं होगी। दूसरी योजना यह थी कि सेना में इस बात का प्रचार किया जाए कि 'होम रूल' एक तानाशाही कानून है। यह इस दृष्टि से किया जाना था कि यदि आयरलैंड में सेना की सहायता से जबर्दस्ती होम रूल लागू किया जाता है, तो सेना सरकार की अवज्ञा कर सके। प्रथम योजना इसलिए अनावश्यक हो गई, चूंकि दूसरी योजना में वह सफल हो गए। यह बात मार्च 1914 में स्पष्ट हो गई, जब कुर्राघ घटना घटी। सरकार को संदेह था कि आयरलैंड स्थित सेना के कुछ डिपुओं को यूनियनिस्ट कार्यकर्ताओं द्वारा लूटा जा सकता है। 20 मार्च 1914 को आयरलैंड में सेनाओं के कमांडर-इन-चीफ सर आर्थर पैगट को सरकार ने आदेश दिया कि डिपुओं की सुरक्षा के लिए कदम उठाए जाएं। इसके उत्तर में उन्होंने टेलीग्राम भेजा कि अफसर हुक्म मानने को तैयार नहीं हैं और वे अपने पदों से इस्तीफा दे रहे हैं। जनरल सर हवर्ट गफ ने अलस्टर यूनियनिस्टों के विरूद्ध कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया और दूसरे भी उनका अनुसरण करने लगे। सरकार ने महसूस किया कि सेना का राजनीतिकरण हो गया हैं* इस सिद्धांत का अनुसरण करते हुए कि बहादुरी दिखाने की बजाय विवेक से काम लिया जाए, विभाजन का निर्णय लिया। एसक्विथ

---

* इस मुद्दे पर मेजर जनरल सर सी.ई. कालवेल द्वारा लिखित लाईफ ऑफ फील्ड मार्शल सर हेनरी विल्सन, खंड-1,अध्याय- 1 और अल्सटर तथा सेना पर संसदीय वाद-विवाद (हाऊस ऑफ लॉर्ड्स, 1914, खंड-15, पृष्ट 998-1017) देखें। इससे पता चलता है कि कुर्राघ घटना से पहले ही अलस्टरों ने सेना को अपने साथ मिला लिया था। यह संभव है कि श्री एसक्विथ ने 1913 में एक संशोधन विधेयक लाकर अलस्टरों को छह वर्ष के लिए होम रूल की परिधि से बाहर रखने का निर्णय कर लिया था, चूंकि यह स्पष्ट हो चुका था कि सेना अलस्टरों के साथ है और वहां होम रूल लागू नहीं किया जा सकता।

को सेना के विद्रोह के भय के कारण स्थिति बदलनी पड़ी। इतना अधिक भय था कि इसके बाद सेना को चुनौती देने तथा विभाजन के बिना होम रूल लागू करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।

क्या महामहिम सरकार भारत में उसी पुनरावृत्ति पर निर्भर हो सकती है, जिसे उसने आयरलैंड में किया? मैं इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हूं। परंतु दो बातें कहूंगा। पहली बात यह है कि महामहिम सरकार आयरलैंड के विभाजन के परिणामों से पूर्णरूपेण अवगत है। आइरिश स्वतंत्र राज्य ब्रिटिश सरकार का एक उत्कट विरोधी एवं बेमेल शत्रु हो गया है। शत्रुता की कोई सीमा नहीं होती। विभाजन के परिणामस्वरूप हुआ घाव कभी भी नहीं भरता। आयरलैंड का विभाजन नैतिक रूप से अरक्षणीय होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह जनता की इच्छा के अनुसार नहीं था, बल्कि उच्चशक्ति की इच्छा पर आधारित था। यह इतना बुरा था जितना कि मेकबेथ द्वारा डंकन की हत्या। महामहिम सरकार पर लगे खून के धब्बे उतने ही गहरे थे, जितने लेडी मैकवेथ पर और जिसके विषय में लेडी मैकवेथ ने कहा था "अरब की समस्त सुगंधियां उस दुर्गंध को हटाने में असफल रहीं"। महामहिम की सरकार दूसरे विभाजन का दायित्व लेना नहीं चाहती, यह फिलिस्तीन में यहूदी अरबों के साथ अपनाई गई उसकी नीति से स्पष्ट है। इसने जांच के लिए 'पील आयोग' की नियुक्ति की। आयोग ने फिलिस्तीन के विभाजन की सिफारिश की। सरकार ने अवरोध को हल करने की एकमात्र अत्यधिक आशापूर्ण रूपरेखा के रूप में इसे सिद्धांतः स्वीकार कर लिया।* एकाएक सरकार ने अरब लोगों पर इस हल को लादने की गंभीरता को समझा और 'वुडहेड कमीशन' नामक एक दूसरा रॉयल कमीशन नियुक्त किया, जिसने बंटवारे की भर्त्सना की और सरकार के लिए, जो एक भयंकर स्थिति से मुक्त होने की उत्सुक थी, एक आसान रास्ता खोल दिया। आयरलैंड का बंटवारा कोई ऐसा पूर्व दृष्टांत नहीं है, जो अनुसरण योग्य हो। यह एक भद्दी घटना है, जिससे बचा जाना चाहिए। यह एक चेतावनी है, कोई उदाहरण नहीं। मुझे इसमें बहुत संदेह है कि महामहिम की ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग के कहने पर अपने अधिकार से भारत का विभाजन करेगी।

और महामहिम की सरकार मुस्लिम लीग की बात क्यों माने? अलस्टर के मामले में तो एक ऐसा रक्त संबंध था जिसके कारण ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के एक शक्तिशाली वर्ग ने अलस्टर का पक्ष लिया। इसी रक्त संबंध के कारण लार्ड कर्जन ने कहा था, "तुम अलस्टर को अपने वर्तमान पति को तलाक देने के लिए मजबूर कर रहे हो, जिसके प्रति वह वफादार है और उसे एक अन्य से विवाह करने

* देखें संसदीय वाद–विवाद (कामंस), 1938-39, खंड–341, पृष्ठ–1987-2107 और लार्ड्स, 1936-37 खंड–106, पृष्ठ–599-674

के लिए विवश कर रहे हो, जिसे वह दिल से नापसंद करती है, और जिसके साथ नहीं रहना चाहती।" महामहिम की सरकार और मुस्लिम लीग के बीच ऐसा कोई रिश्ता नहीं है और लीग को यह आशा करना व्यर्थ है कि महामहिम की सरकार उसका पक्ष लेगी।

एक और बात, जो मैं कहना चाहूँगा। यह मुस्लिम लीग के हित में नही होगा कि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए महामहिम की सरकार को रिझाए और भारत का विभाजन करा ले। मेरे मत से पाकिस्तान की प्राप्ति से अधिक महत्व पाकिस्तान की सिद्धि के लिए अपनाए जाने वाले तरीके का है– यदि लक्ष्य यह है कि बंटवारे के बाद पाकिस्तान और हिंदुस्तान दो भिन्न राज्य बनकर सद्भावनापूर्वक रहें और किसी को किसी के प्रति कोई दुर्भावना न रहे।

इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वाधिक अनुकूल तरीका क्या है? हर व्यक्ति इससे सहमत होगा कि यह तरीका ऐसा होना चाहिए कि इसमें एक जाति की विजय और दूसरी को नीचा देखना निहित न हो। तरीका शांतिपूर्ण होना चाहिए, जिसमें दोनों पक्षों का आदर हो। मैं नहीं समझता कि लोगों की मतगणना से बढ़ कर कोई तरीका इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हो सकता है। सर्वोत्तम मार्ग के बारे में अपनी राय मैने दे दी है। दूसरे लोग भी अपनी सर्वोत्तम राय ही देंगे। किंतु चाहे जो भी राय हो, जब तक समाधान में सद्विचार और उत्तरदायित्व की भावना का समावेश नहीं होगा, तब तक इस समस्या का समाधान पका हुआ फोड़ा ही बना रहेगा।

उपसंहार

यहां मैं अपनी बात समाप्त करता हूं। इस विषय में जो भी कुछ मैं कहना चाहता था, वह मैं सब कह चुका हूं। कानूनी भाषा में, मैंने कानूनी बहस लंबी खींची है और तर्क दिये हैं। ऐसा करने में मैने अति दीर्घ, अति विस्तृत प्रणाली का अनुकरण किया है, जो विक्टोरियन वकीलों को बेहद प्रिय है, जिसके अंतर्गत दोनों पक्ष एक दूसरे की दलीलों, वादी–प्रतिवादी के प्रत्युत्तरों, खंडनों, प्रतिवादी के अधिक उत्तरों और अधिक खंडनों आदि में व्यस्त रहते हैं। मैने यह जानबूझकर किया है, जिससे कि पाकिस्तान के पक्ष अथवा विपक्ष में पूर्ण एवं स्पष्ट राय बन सके। पूर्वगामी पृष्ठ दलीलों से युक्त हैं। मेरी सर्वोतम जानकारी और विश्वास के आधार पर उनमें निहित तथ्य सत्य हैं। मैंने अपने निष्कर्ष भी दिये हैं। अब हिंदू और मुसलमानों को भी अपने निष्कर्ष देने चाहिए।

उनके उक्त कार्य में उन्हें सहायता देने के लिए यह अच्छा होगा कि मुद्दे निर्धारित कर दिये जाएं। दलील के संदर्भ में निम्नलिखित मुद्दे आवश्यक प्रतीत होते हैं–

(1) भारत के राजनीतिक विकास के लिए क्या हिंदू–मुस्लिम एकता आवश्यक है? यदि आवश्यक है, तो हिंदू और मुस्लिम दो पृथक राष्ट्र होने की नई विचारधारा के बावजूद क्या यह एकता संभव है?

(2) यदि हिंदू–मुस्लिम एकता संभव है, तो क्या इसे तुष्टिकरण अथवा समझौते द्वारा प्राप्त किया जाना चाहिए?

(3) यदि यह तुष्टिकरण से प्राप्त की जाती है, तो वे कौन–सी नई सुविधाएं हैं, जो मुसलमानों को दी जा सकती हैं और जिसके फलस्वरूप उनका इच्छित सहयोग उनके अन्य हितों को हानि पहुंचाए बिना प्राप्त किया जा सकता है?

(4) अगर यह समझौते द्वारा किया जाना है, तो उस समझौते की शर्तें क्या हैं? यदि मात्र दो विकल्प हैं, अर्थात् पाकिस्तान और हिंदुस्तान के रूप में भारत का विभाजन, अथवा दो संविधान–सभाओं, कार्यपालिकाओं

और सेवाओं में 50 प्रतिशत भागीदारी, तो कौन–सा विकल्प अधिक श्रेष्ठ है?

(5) यदि भारत अखंड रहता है, तो क्या वह इस बात पर भरोसा कर सकता है कि हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेंगे, यह मानते हुए कि यह स्वतंत्रता बर्तानिया से जीती गई है?

(6) हिंदू और मुसलमानों के बीच चल रहे विरोध और उन्हें दो विभिन्न राष्ट्रों में विभाजित करने की नई विचारधारा के संदर्भ में, क्या इन दोनों राष्ट्रों के लिए एकमात्र ऐसा संविधान बनाया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप यह आशा की जा सके कि वे दोनों उसे कार्यान्वित करने की इच्छा प्रकट करेंगे और उसमें कोई गत्यावरोध उत्पन्न नहीं करेंगे?

(7) इस कल्पना पर कि दो राष्ट्र का सिद्धांत स्थायी हो गया है, क्या भारत भौतिक एकता के अभाव में एक इकाई के रूप में असंगत नहीं हो जाएगा तथा सामान्य नियति और सामान्य विश्वास में बंधा यह देश एक शक्तिसम्पन्न और एकताबद्ध राष्ट्र के रूप में अपना विकास करने के अयोग्य नहीं हो जाएगा, जिसके फलस्वरूप यह देश निर्बल और रोगग्रस्त होकर आसानी से बर्तानिया अथवा अन्य किसी दूसरी बाहरी शक्ति के सतत अधीन हो जायेगा?

(8) यदि भारत एक संयुक्त देश नहीं हो सकता, तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि भारतीय जन इस बेमेल अखंड भारत को पाकिस्तान और भारत रूपी दो प्राकृतिक भागों में शांति से विभाजित करने में मदद करें?

(9) इस झूठी आशा से कि हिंदू और मुसलमान किसी दिन एक हो जाएंगे और इस देश के सदस्यों तथा भारत माता के सपूतों की तरह यहां रहेंगे, भारत को एक अविभाजित देश के रूप में रखने के व्यर्थ प्रयास की अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि मुसलमानों के लिए पाकिस्तान और हिंदुओं के लिए हिंदुस्तान– दो स्वतंत्र और पृथक राष्ट्र बना दिए जाएं?

निम्नोक्त तीन बातों– (1) ऐतिहासिक देश–प्रेम की मिथ्या भावना, (2) प्रदेश के अनन्य स्वामित्व की मिथ्या धारणा और (3) स्वयं के विषय में सोचने की इच्छा का अभाव – के अलावा पूर्वगामी पृष्ठों में सन्निहित सामग्री की सहायता से

भारतीयों को इन मुद्दों पर दृढ़तापूर्वक सोचने और अपने निष्कर्षों पर पहुंचने के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। उक्त तीन बाधाओं में अंतिम पर पार पाना बहुत कठिन है। दुर्भाग्यवश भारत में चिंतन की बहुत कमी है और स्वतंत्र चिंतन तो और भी कम है। यह बात विशेषतः हिंदुओं के बारे में है। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक के तर्क का एक बड़ा भाग उन्हीं को संबोधित किया गया है। इसके कारण स्पष्ट हैं। हिंदू बहुसंख्या में हैं। बहुसंख्या में होने के फलस्वरूप उनके दृष्टिकाण को स्थान मिलना चाहिए। यदि उनकी औचित्यपूर्ण अथवा भावात्मक आपत्तियों के निवारणार्थ कोई प्रयत्न नहीं किया गया, तो शांतिपूर्ण समाधान की अधिक संभावना नहीं है। लेकिन इसके कुछ विशेष कारण हैं, जिसके फलस्वरूप बहस के एक बड़े भाग को उन्हें संबोधित करने के लिए मुझे अग्रसर होना पड़ा है जो शायद दूसरों को स्पष्ट न हो। मैं यह अनुभव करता हूं कि वे हिंदू जो अपने साथियों के भाग्य का मार्गदर्शन करते हैं, श्री कार्ले के कथनानुसार 'दर्शन चक्षु' खो चुके हैं और व्यर्थ के जादुई मायालोक में विचरण कर रहे हैं, जिसका परिणाम, मुझे डर है, हिंदुओं के लिए भयानक होगा। हिंदू कांग्रेस की पकड़ में हैं और कांग्रेस श्री गांधी की पकड़ में। यह नहीं कहा जा सकता कि गांधीजी ने कांग्रेस को सही नेतृत्व प्रदान किया है। श्री गांधी ने पहले तो दो बातों के बहाने विभाजन विषयक प्रश्न को टालने का प्रयास किया। उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि भारत का विभाजन एक नैतिक भूल है और एक पाप है, जिसके भागीदार वह नहीं होंगे। यह एक आश्चर्यजनक तर्क है। भारत ही अकेला ऐसा देश नहीं है, जिसे राष्ट्रीय तथ्यों पर अवलंबित कारणों से प्राकृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित सीमाओं के स्थानांतरण संबंधी समस्या अथवा विभाजन का सामना करना पड़ा हो। पोलैंड का तीन बार विभाजन हुआ और कोई भी यह विश्वास से नहीं कह सकता कि उसका अब आगे विभाजन नहीं होगा। यूरोप में ऐसे बहुत कम देश हैं, जिनका गत 150 वर्षों की अवधि में विभाजन न हुआ हो। यह तथ्य इस बात को प्रदर्शित करता है कि देश का विभाजन न नैतिक है और न अनैतिक। यह एक सामाजिक, राजनीतिक अथवा फौजी प्रश्न है। इसमें पाप का कोई स्थान नहीं है।

दूसरे प्रश्न के संदर्भ में, श्री गांधी ने विरोधस्वरूप कहना शुरू कर दिया है कि मुस्लिम लीग मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करती और पाकिस्तान सिर्फ श्री जिन्ना की कल्पना है। यह समझना बेहद कठिन है कि गांधीजी इतना भी अपनी आंखों से नही देख सके कि किस तरह मुस्लिम जनता पर श्री जिन्ना का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और किस प्रकार वह अपनी पूरी ताकत को एकत्रित करने में व्यस्त हैं। इसके पूर्व श्री जिन्ना जनता के आदमी नहीं थे। वे जनता पर अविश्वास करते थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा

में कहा है कि जिन्ना कांग्रेस की सदस्यता मैट्रिक पास लोगों तक ही सीमित करना चाहते थे। आम जनता को राजनीतिक शक्ति से बाहर रखने के लिए वे सदा उच्च मताधिकार के पक्ष में रहे। श्री जिन्ना कभी भी एक पक्के, निष्ठावान तथा अनुरक्त मुस्लिम नहीं थे। विधानसभा की सदस्यता के लिए शपथ ग्रहण करते हुए पवित्र कुरान को चूमने के अलावा ऐसा लगता है कि उन्होंने कभी उसकी विषयवस्तु अथवा विशिष्ट अभिप्रायों को समझने का झंझट मोल लेने का कष्ट नहीं किया। यह संदेहास्पद है कि वे कभी किसी मस्जिद में गए हों या धार्मिक अथवा राजनीतिक मजलिस में मुस्लिम जनता के बीच उन्हें देखा गया हो। आज श्री जिन्ना में पूर्ण परिवर्तन पाया जाता है। आजकल वे जनता के आदमी हैं। जनता से ऊपर नहीं हैं। वे उनके साथ हैं। अब जनता ने उन्हें अपने से ऊपर उठा दिया है और उन्हें कायदे–आजम नाम से पुकारती है। अब वे इस्लाम धर्म के प्रति मात्र श्रद्धालु ही नहीं, अपितु उसके लिए अपनी जान देने को तैयार हैं। मात्र 'कलमा' की अपेक्षा आज वे इस्लाम के बारे में अधिक समझते हैं। आज वे खुतबा सुनने और ईद की नमाज पढ़ने के लिए मस्जिद में जाते हुए प्रसन्न होते हैं। डोंगरी और नुलबाज़ार एक समय श्री जिन्ना को उनके नाम से जानते थे। अब वे उन्हें उनकी उपस्थिति से जानते हैं। बंबई में कोई भी मुस्लिम सभा अल्ला–हो–अकबर तथा कायदे–आजम जिंदाबाद के नारों के बिना प्रारंभ अथवा समाप्त नहीं होती। इस मामले में उन्होंने फ्रांस के किंग हेनरी का अनुसरण किया है, जो कि इंगलिश किंग चार्ल्स–I के ससुर थे। हेनरी–I हनोट धर्म के अनुयायी थे, परंतु पेरिस में वे कैथोलिक चर्च में जनता के बीच जाने में भी नहीं हिचकिचाते थे। उनका विश्वास था कि पेरिस का शक्तिशाली समर्थन पाने के लिए अपने विश्वास को बदलकर हनोट चर्च में जनता के बीच जाना सस्ता सौदा है। जिस प्रकार हेनरी–4 के लिए पेरिस जनता का प्रतीक था, इसी प्रकार श्री जिन्ना के लिए डोंगरी और नलबाजार जनता का प्रतीक बन गया है। यह एक रण–कौशल है, लामबंदी है। परंतु यदि इसे श्री जिन्ना की विवेकपूर्ण स्थिति से अंधविश्वास की प्रवृत्ति की ओर जाना कहा जाए, तो वे अपने आदर्श से नीचे गिर रहे हैं, और मुस्लिम समाज के विभिन्न स्तरों पर भी इसका प्रसार करते हुए इस मनोवृत्ति को बढ़ावा दे रहे हैं। यह इतना स्पष्ट है, जितनी कि कोई चीज हो सकती है। श्री गांधी के असाधारण दृष्टिकोण का एक मात्र आधार राष्ट्रवादी मुसलमान हैं। लीग को बनानेवाले सांप्रदायिक मुसलमानों और राष्ट्रवादी मुसलमानों के अंतर को समझना कठिन है। यह अत्यंत संदिग्ध है कि राष्ट्रवादी मुसलमान किसी वास्तविक जातीय भावना, लक्ष्य तथा नीति से कांग्रेस के साथ रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वे मुस्लिम लीग से पृथक पहचाने जाते हैं। यह कहा जाता है कि वास्तव में अधिकांश कांग्रेसजनों की धारणा है कि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है और कांग्रेस के अंदर राष्ट्रवादी मुसलमानों की स्थिति सांप्रदायिक मुसलमानों की सेना की एक

चौकी की तरह है। यह धारणा असत्य प्रतीत नहीं होती। जब कोई व्यक्ति इस बात को याद करता है कि राष्ट्रवादी मुसलमानों के नेता स्वर्गीय डॉ. अंसारी ने सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करने से इन्कार किया था, यद्यपि कांग्रेस और राष्ट्रवादी मुसलमानों द्वारा पारित प्रस्ताव का घोर विरोध होने पर भी मुसलमानों को पृथक निर्वाचन उपलब्ध हुआ। इतना ही नहीं, मुसलमानों में लीग के प्रभाव की वृद्धि इतनी तीव्र रही कि अनेक मुसलमान, जो लीग के विराधी थे, लीग में सम्मिलित होने और उससे संधि करने के निमित्त अपना स्थान ढूंढने के लिए मजबूर हो गए। बंगाल के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री फजलुल हक और स्वर्गीय सर सिकंदर हैयात खां के विचारों के बदलाव पर नजर डालने से उक्त तथ्य की सचाई सामने आ जाती है। 1937 में जब श्री जिन्ना ने लीग का जीर्णोद्धार करने का प्रयास किया था, सर सिकंदर और श्री फिजलुलहक दोनों ने अपने–अपने प्रांतों में मुस्लिम लीग की शाखाओं के गठन का विरोध किया था। लेकिन उक्त विरोध के बावजूद जब दो वर्ष की अवधि में पंजाब और बंगाल में मुस्लिम लीग की शाखाओं का गठन हुआ, तो दोनों उसमें सम्मिलित होने के लिए विवश हो गए। यह मामला उन लोगों का है, जो आये थे आक्षेप लगाने और रह गये विनती करने के लिए। लीग की विजय का इससे अधिक और कोई प्रबल प्रमाण नहीं हो सकता है।

तथापि एक समझौते पर पहुंचने के लिए श्री जिन्ना तथा लीग से बातचीत करने के बावजूद श्री गांधी ने एक भिन्न मोड़ लिया। उन्होंने कांग्रेस से 8, अगस्त 1942 को 'भारत छोड़ो' आंदोलन संबंधी प्रस्ताव पारित करा लिया। बर्तानिया सरकार के विरूद्ध यह प्रस्ताव एक चुनौती था। परंतु अल्पसंख्यकों के मामले में बर्तानिया सरकार के हस्तक्षेप को समाप्त करने का यह एक प्रयास भी था, ताकि कांग्रेस उक्त विवाद को स्वतंत्रतापूर्वक, अपनी शर्तों तथा विचारों के अनुसार तय करने का अवसर पा सके। अन्य अल्पसंख्यकों तथा मुसलमानों की अवहेलना करके स्वतंत्रता–प्राप्ति के लिए उक्त प्रस्ताव, इरादतन तो नहीं, लेकिन परिणामस्वरूप अवश्य था। उक्त भारत छोड़ो आंदोलन पूर्णतया असफल रहा। वह एक उन्मत्त साहस था, जिसने पैशाचिक रूप धारण कर लिया था। वह एक घर–फूंक नीति–आंदोलन था, जिसमें लूटमार, बलात्कार और हत्या के शिकार भारतीय थे और इस दुष्कृत्य को करनेवाले कांग्रेस जन थे। पराजित होकर, महात्मा गांधी ने, जब वे जेल में थे, इससे पीछा छुड़ाने के लिए मार्च 1943 में 21 दिन का उपवास प्रारंभ कर दिया। वे असफल हुए, तदुपरांत बीमार हो गए। उनकी हालत धीरे–धीरे गिर रही थी, यह सूचना पाकर बर्तानिया सरकार ने उन्हें जेल से रिहा कर दिया, इस डर से कि कहीं उनके हाथों उनकी मृत्यु न हो जाए और उन्हें कलंक न लग जाए। जेल से बाहर आने पर गांधीजी को मालूम हुआ कि सब

कुछ समाप्त हो चुका है। अब अपनी पुनर्प्रतिष्ठा और देश की एकमात्र प्रधान संस्था कांग्रेस की प्रतिष्ठा के लिए, जो 'भारत छोडो' आंदोलन के फलस्वरूप जा चुकी थी और जिसके फलस्वरूप हिंसात्मक वातावरण उत्पन्न हो गया था, महात्मा गांधी ने वाइसराय से बातचीत शुरू कर दी। इस प्रयास से हारकर श्री गांधी श्री जिन्ना की ओर मुड़े। 17 जुलाई, 1944 को श्री गांधी ने श्री जिन्ना को एक पत्र लिखकर उनसे मिलने और उनके साथ सांप्रदायिक सवाल पर चर्चा करने की इच्छा प्रकट की। श्री जिन्ना ने गांधी जी को बंबई में अपने निवास स्थान पर मिलने का निमंत्रण दिया। वे दोनों 9 सितंबर, 1944 को मिले। यह अच्छा हुआ कि अंततोगत्वा गांधीजी को समझ आई और वे उस रोशनी के अवलोकन के लिए राजी हो गए, जो उनकी ओर टकटकी लगाए देख रही थी और जिस पर निगाह डालने से उन्होंने अभी तक इंकार किया था।

उनकी बातचीत का आधार श्री राजगोपालाचार्य का श्री जिन्ना को प्रस्तुत वह सूत्र था जो सी.आर.सूत्र के नाम से जाना जाता है। श्री जिन्ना के अनुसार, अप्रैल 1944 में श्री राजगोपालाचार्य और गांधीजी की बातचीत उस समय हुई जब श्री गांधी जेल में अनशन कर रहे थे और उस सूत्र का पूर्ण समर्थन गांधीजी ने किया था। श्री राजगोपालाचार्य का सूत्र या फार्मूला इस प्रकार है–

> (1) स्वतंत्र भारत के संविधान के संबंध में निम्नांकित प्रस्तुत शर्तो के अधीन, मुस्लिम लीग भारत की स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करती है और परिवर्तन की अवधि तक अस्थाई अंतरिम सरकार की रचना करने में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी।
>
> (2) युद्ध की समाप्ति के बाद भारत के उत्तर–पश्चिम और पूर्वी क्षेत्र में एक दूसरे से जुड़े हुए उन जिलों का सीमांकन करने के लिए जिनमें मुस्लिम जनसंख्या का पूर्ण बाहुल्य है, एक आयोग की स्थापना की जाएगी। इस प्रकार सीमांकित क्षेत्रों में वयस्क मताधिकार अथवा व्यवहार्य मत–प्रणाली के आधार पर संपन्न समस्त निवासियों का मतदान अंततोगत्वा हिंदुस्तान के विभाजन का प्रश्न हल करेगा। यदि बहुमत हिंदुस्तान से पृथक एक प्रभुतासंपन्न राज्य की स्थापना का निर्णय करता है, तो उक्त निर्णय का कार्यान्वयन, सीमाई जिलों को दोनों में से किसी राज्य को चुनने का अधिकार दिए जाने की शर्त के साथ, कर दिया जाएगा।
>
> (3) मतदान होने के पूर्व सब दलों को अपने–अपने दृष्टिकोणों की वकालत करने की स्वतंत्रता होगी।

(4) विभाजन की स्थिति में, सुरक्षा, व्यापार, संचार और अन्य अनिवार्य प्रयोजनों के संरक्षण के लिए पारस्परिक समझौते किए जायेंगे।

(5) जनसंख्या का कोई भी स्थानांतरण पूर्ण ऐच्छिक आधार पर होगा।

(6) उक्त शर्तें बर्तानिया सरकार द्वारा भारत को शासन की पूर्ण सत्ता और दायित्व का स्थानांतरण किये जाने पर ही लागू होंगी।

ये बातें, जो 9 सितंबर को प्रारंभ हुई, 18 दिन तक चलीं और यह घोषणा हुई कि वार्ता भंग हो गई है। परिणामस्वरूप, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर इसकी भिन्न-भिन्न प्रतिकिया हुई। कुछ लोग प्रसन्न थे और कुछ दुखी। परंतु चूंकि दोनों ही उक्त वार्ता के ठीक पूर्व, श्रेष्ठता की उपलब्धि के संघर्ष में अपने विरोधियों द्वारा शिकस्त खा चुके थे – श्री गांधी अंग्रेजों से और श्री जिन्ना पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी से, फिर भी अधिकांश जनता आशान्वित थी कि समस्या के समाधान का कोई उचित प्रयास उनके द्वारा कार्यान्वित किया जाएगा। पर ऐसा नहीं हुआ। असफलता का कारण व्यक्तियों में दोषों का होना है, तथापि यह कहा जाना चाहिए कि सी.आर. सूत्र में भी कतिपय मौलिक दोषों के फलस्वरूप असफलता अनिवार्य थी। सी.आर. सूत्र में अनेक दोष हैं। सर्वप्रथम, उक्त सूत्र ने सांप्रदायिक प्रश्न को राजनयिक प्रश्न के साथ एक अटूट गांठ में बांध दिया। एकीकरण-कौशल के रूप में उसमें न कोई राजनयिक समझौता और न सांप्रदायिक समझौता है, जिसके आधार बिना ही उक्त सूत्र आगे बढ़ता है। उक्त सूत्र ने कोई समझौता-सूत्र प्रदान नहीं किया। इसने श्री जिन्ना को सौदेबाजी के लिए प्रेरित किया है। यह एक सौदेबाजी ही थी कि 'स्वतंत्रता प्राप्त करने में यदि आप हमारी सहायता करेंगे, तो हम भी आपके पाकिस्तान के प्रस्ताव पर सहर्ष विचार करेंगे।' मैं नहीं जानता कि श्री राजगोपालाचार्य को यह विचार कहां से मिला कि स्वतंत्रता प्राप्ति का यह सर्वोत्तम साधन है। यह संभव है कि श्री राजगोपालाचार्य ने यह विचार भारत के उन पुरातन हिंदू राजाओं से लिया हो जिन्होंने बाहरी शत्रुओं के आक्रमण के विरूद्ध अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अपने पड़ोसी राजकुमारों को अपनी लड़कियां देकर संधि तथा मेल कर लिया था। श्री राजगोपालाचार्य इस बात को भूल गए कि इस प्रकार के मेल और संधियां न तो उत्तम पति ही उपलब्ध करा सकीं और न स्थायी मित्रता ही। इस प्रकार कार्य को आगे बढ़ाने में सांप्रदायिक समझौते को स्वतंत्रता की प्राप्ति का आधार मानना भारी मूर्खता का कार्य है। लोभ-लालच के रूप में सांप्रदायिक सुविधाएं प्रदान करना एक पार्टी को दूसरी पार्टी को जाल में फांसने का तरीका है। सी. आर. सूत्र ने सांप्रदायिक समझौते को एक बिकाऊ वस्तु बना दिया।

सी.आर.सूत्र में दूसरा अवगुण उस तंत्र से संबद्ध है, जो किसी समझौते को कियान्वित करने के लिए आवश्यक है। उक्त सूत्र में इस कार्य के लिए जिस एजेंसी का सुझाव दिया गया, वह है अंतरिम सरकार। ऐसा करने में श्री राजगोपालाचार्य द्वारा दो कठिनाइयां स्पष्ट रूप से अनदेखी कर दी गईं। पहली कठिनाई यह है कि एक बार अस्थायी सरकार की स्थापना हो जाने के बाद संबंधित पार्टियों की प्रतिज्ञाओं में सहमति तथा एकबद्धता नहीं रहती। यह मामला पूरी की जाने वाली प्रतिज्ञा के विरूद्ध कियान्वित प्रतिज्ञा वाला हो जाता है। अस्थायी सरकार की स्थापना की स्वीकृति से लीग को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस की सहायता करने की प्रतीज्ञा का कार्यान्वयन करना पड़ता। परंतु पाकिस्तान लाने के लिए कांग्रेस की प्रतिज्ञा पूर्ण होने का कार्यान्वयन बाकी रह जाता। श्री जिन्ना आग्रह करते हैं, और ठीक करते हैं, कि प्रतिज्ञाएं एकबद्ध होनी चाहिए। पर क्या वे कभी अपने को उस स्थिति में रखने की स्वीकृति प्रदान कर सकते है? दूसरी कठिनाई, जिसकी श्री राजगोपालाचार्य ने अनदेखी की है, वह यह है कि यदि अस्थायी सरकार कांग्रेस द्वारा प्रदत्त समझौते वाले अंश को कार्यान्वित करने में असफल हो जाती है, तब क्या होगा? कौन इसको लागू करेगा? अस्थायी सरकार एक प्रभुत्वसंपन्न सरकार होगी और वह किसी उच्च सरकार पर आश्रित नहीं होगी। यदि उसके द्वारा उक्त समझौता कार्यान्वित नहीं किया गया, तो मुसलमानों के लिए विद्रोह के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता। पाकिस्तान के लिए अस्थायी सरकार को संविधान बनाने का, कार्य सौंपना कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। यह एक जाल है, समाधान नहीं। संवैधानिक परिवर्तन होने का एकमात्र प्रशस्त मार्ग संसदीय अधिनियम है, जिसमें वे नियम गर्भित होंगे, जो ब्रिटिश भारत के राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण तत्वों द्वारा स्वीकृत किए गए हैं।

सी.आर. सूत्र में एक तीसरा दोष है। यह सूत्र रक्षा, विदेश–व्यापार, सीमा–शुल्क जैसे सांझे हित के मामलों के संरक्षण के लिए पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच संधि के लिए उपबंध है। यहां पुनः श्री राजगोपालाचार्य स्पष्ट कठिनाइयों से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। सांझे हितों के मामलों की सुरक्षा किस प्रकार संपन्न हो? मेरी समझ में इसके दो मार्ग हैं। प्रथम यह कि एक ऐसी केंद्रीय सरकार हो, जिसमें उक्त विषयों से संबद्ध कार्यकारिणी और संवैधानिक अधिकार निहित हों। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान प्रभुत्वसंपन्न राज्य नहीं होंगे। क्या श्री जिन्ना इसे स्वीकार करेंगे? स्पष्ट है कि नहीं। दूसरा मार्ग यह है कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान प्रभुत्वसंपन्न राज्य बना दिए जाएं और सांझे हित के मामलों से संबद्ध एक संधि द्वारा उन दोनों को बांध किया जाय। परंतु यह सुनिश्चित करने का तरीका बनाना होगा कि संधि की शर्तों का पालन होगा, क्योंकि

पाकिस्तान प्रभुत्वसंपन्न राज्य के रूप में कभी भी इसका परित्याग कर सकता है, चाहे उसका डोमेनियन रूप क्यों न हो। उक्त धारा की रचना करने में श्री राजगोपालाचार्य को स्पष्टतः 1922 की एंग्लो–आइरिश संधि से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। परंतु वे इस तथ्य को भूल गए हैं कि उक्त संधि का अस्तित्व तब तक रहा जब तक आयरलैंड का स्वरूप डोमेनियन का नहीं हुआ और ज्यों ही वह डोमेनियन हो गया, उसने उस संधि का परित्याग कर दिया और ब्रिटिश संसद चुपचाप दांत पीसती रही, क्योंकि वह जानती थी कि वह कुछ नहीं कर सकेगी।

वार्ता भंग हो जाने का किसी को खेद नहीं हुआ। यदि किसी को खेद हुआ, तो इसलिए कि वार्ता उन प्रश्नों को स्पष्ट किए बिना भंग हो गई जिनके विषय में श्री जिन्ना ने अपने सार्वजनिक भाषणों में विवेकपूर्ण चुप्पी साधी हुई थी, यद्यपि उनके द्वारा निजी बातचीत में उन विषयों के बारे में अनेक बार कहा गया है। ये प्रश्न हैं :

(1) क्या मुस्लिम लीग के प्रस्ताव के फलस्वरूप पाकिस्तान को स्वीकार किया जाये?

(2) क्या मुस्लिम लीग से अलग योग्य मुसलमानों को इस मामले में कुछ नहीं कहना है?

(3) पाकिस्तान की सीमाएं क्या होंगी? क्या उसकी सीमाएं पंजाब और बंगाल की वर्तमान प्रशासकीय सीमाएं होंगी, या फिर वे सीमाएं प्राकृतिक आधार पर होंगी?

(4) लाहौर में पारित प्रस्ताव में उल्लिखित शब्दों, 'आवश्यकतानुसार प्रदेशों के एकीकरण की शर्त के आधार पर' का क्या अर्थ है? वे ऐसे कौन से प्रदेश हैं जिनके एकीकरण की बात लीग के दिमाग में है?

(5) लाहौर प्रस्ताव के अंतिम भाग में उल्लिखित शब्द 'अंततोगत्वा' का क्या अभिप्राय है? क्या लीग ने किसी एक अंतरिम अवधि की बात सोची है, जिसमें पाकिस्तान एक पूर्ण स्वतंत्र और सार्वभौम राज्य नहीं होगा?

(6) यदि श्री जिन्ना का प्रस्ताव यह है कि पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान की सीमाएं मौजूदा प्रशासकीय सीमाएं हों, तो क्या वह परिगणित जातियों को या यदि मैं यहां तक कहूं कि पंजाब और बंगाल में गैर–मुसलमानों को, मतदान द्वारा यह निर्णय लेने की आज्ञा देंगे कि क्या वे श्री जिन्ना के पाकिस्तान में सम्मिलित होने की इच्छा कर सकते हैं, अथवा पंजाब और बंगाल में गैर–मुस्लिम लोगों के मतदान के परिणाम को स्वीकार करने के लिए श्री जिन्ना तत्पर होंगे?

(7) पूर्वी पाकिस्तान को पश्चिमी पाकिस्तान से जोड़ने के लिए क्या श्री जिन्ना यू.पी. और बिहार होते हुए कोई गलियारा चाहते हैं?

इससे बहुत लाभ होगा, यदि श्री जिन्ना से सीधे प्रश्न किए जाएं और उनके स्पष्ट उत्तर प्राप्त किए जाएं। परंतु इन प्रश्नों पर श्री जिन्ना के पकड़ में आने के बावजूद श्री गांधी ने अपना सारा समय इस बात को प्रमाणित करने में लगा दिया कि सी.आर. सूत्र वास्तव में लीग का वही लाहौर वाला प्रस्ताव है। इस प्रकार उन्होंने उन प्रश्नों का स्पष्टीकरण प्राप्त करने का सर्वोत्तम अवसर खो दिया।

इन वार्ताओं के उपरांत श्री गांधी और श्री जिन्ना क्रिकेट–खिलाड़ियों की भांति क्रिकेट का खेल खत्म होने पर अपने–अपने खेमों में वापिस आ गए, जैसे कि आगे करने के लिए अब कुछ नही है। क्या वे पुनः मिलेंगे? और यदि हां, तो कब? इस बात की कोई सूचना नहीं है। इसके बाद क्या होगा? क्या यह प्रश्न उन्हें व्यथित करता हुआ प्रतीत नहीं होता? यह समझना कठिन है कि पाकिस्तान के सवाल को हल किए बिना भारत किस प्रकार अपना राजनीतिक उत्थान कर सकता है? पाकिस्तान का सवाल कोई उस वर्ग का सवाल नहीं है, जिस पर चर्चा करने का निषेध हो। यह प्रश्न उन प्रश्नों की श्रेणी का नहीं है, जिसके बारे में लोग इस बात सहमत होकर कि उनकी राय नहीं मिलती, प्रश्न को वहीं छोड़ दें। यह ऐसा प्रश्न है, जिनके समाधान की खोज करनी ही पड़ेगी। किंतु किस प्रकार? इसका समाधान या तो समझौते या मध्यस्थता द्वारा हो सकता है। यदि इसका समाधान समझौते द्वारा किया जाता है तो यह 'इस हाथ ले और उस हाथ दे' के अनुसार होना चाहिए, न कि एक पार्टी के समक्ष आत्मसमर्पण द्वारा। उसे समझौता नहीं कहा जा सकता। वह आज्ञा देना होगा। अंततोगत्वा अच्छी भावना का उदय हो और दोनों पार्टियां एक समझौते पर पहुंच जाएं। परंतु समझौते में लंबा समय लग सकता है। यह समय और अधिक लम्बा हो, इसके पूर्व ही किसी सद्भावना का उदय होना चाहिए। पर यह कोई नहीं बता सकता कि इसमें कितना समय लगेगा। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। इसको टाला नहीं जा सकता और सांप्रदायिक समस्या के समाधान के बिना इसमें जल्दबाजी भी नहीं की जा सकती। इसे समझौते पर आधरित करने का अर्थ इसके समाधान का अनिश्चित काल के लिए टालना है। अतः दूसरा रास्ता खोजना चाहिए। मुझे लगता है कि इसका सर्वोत्तम मार्ग किसी अंतर्राष्ट्रीय बोर्ड द्वारा इसमें मध्यस्थता है। पाकिस्तान के प्रश्न को गर्भित करते हुए अल्पसंख्यकों की समस्या में विवादग्रस्त विषय उक्त अंतर्राष्ट्रीय बोर्ड को सौंप दिये जाने चाहिए। उक्त बोर्ड में ब्रिटिश सम्राज्य से बाहर के अन्य बाहरी देशों के सदस्य नियुक्त हों। भारत में विधि–विहित प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति–मुस्लिमों, परिगणित जातियों, सिक्खों तथा भारतीय ईसाइयों से उक्त बोर्ड में अपने–अपने प्रतिनिधि चुनने को कहा जाए। अपनी मांगों के समर्थन में ये अल्पसंख्यक जातियां तथा हिंदू लोग

बोर्ड के सम्मुख उपस्थित हों और उक्त बोर्ड द्वारा प्रदत्त निर्णय को मान्यता प्रदान करें। ब्रिटिश सरकार द्वारा निम्नलिखित आश्वासन दिए जाने चाहिए –

(1) कि उन्हें सांप्रदायिक समझौते से कोई वास्ता नहीं है। इसे समझौते अथवा मध्यस्थ बोर्ड पर छोड़ दिया जाएगा।

(2) कि भारत सरकार अधिनियम में उपबंध करने के लिए उक्त बोर्ड द्वारा प्रदत्त सांप्रदायिक प्रश्न के निर्णय को कार्यान्वित किया जाएगा।

(3) कि अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थ मंडल के निर्णय को भारत में अल्पसंख्यकों के प्रति उनके कर्तव्य–निर्वहन का पर्याप्त कारण माना जाएगा और ब्रिटिश सरकार भारत को डोमेनियम का दर्जा देगी।

इस प्रकार की प्रक्रिया के अनेक लाभ हैं। इसके द्वारा सांप्रदायिक निर्णय में ब्रिटिश हस्तक्षेप के भय का उन्मूलन हो जाता है, जिसके विषय में कांग्रेस द्वारा अनेक बार यह शिकायत की गई है कि उनके हस्तक्षेप के फलस्वरूप सांप्रदायिक मसलों पर निर्णय नहीं हो पाता। यह कहा गया है कि कांग्रेस अल्पसंख्यकों के लिए जो कुछ चाहती है, उसकी अपेक्षा ब्रिटिश सरकार से अल्पसंख्यकों को अधिक प्राप्त होगा, अतः कांग्रेस से उनकी पटरी नहीं बैठती। उक्त प्रस्ताव में दूसरा लाभ है कि यह कांग्रेस की उस आपत्ति को रद्द कर देता है कि संविधान को अल्पसंख्यकों की स्वीकृति के लिए अनिवार्य करने से अल्पसंख्यकों के हाथों में भारत की संवैधानिक उन्नति पर रोक लग जाएगी। यह शिकायत की गई है कि अल्पसंख्यक अपनी स्वीकृति रोक सकते हैं अथवा ब्रिटिश सरकार द्वारा उनकी स्वीकृति को रूकवाने के लिए उन्हें बहकाया जा सकता है, क्योंकि उन्हें इस बात की शंका है कि अल्पसंख्यक ब्रिटिश सरकार के हाथ की कठपुतली है। इस संदर्भ में, अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता, शिकायत के इस आधार को पूरी तरह हटा देती है। अल्पसंख्यकों की ओर से इस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि उनकी मांगें स्पष्ट एवं न्यायोचित हैं तो किसी भी अल्पसंख्यक जाति को उक्त अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थ मंडल से डरने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मध्यस्थ के सामने अपने आप को समर्पित करने की आवश्यकता में कुछ भी न्याय–विरूद्ध एवं असंगत नहीं है। यह उस सामान्य कानून का अनुसरण करता है कि किसी भी व्यक्ति को अपने मामले में स्वयं न्यायाधीश बनने की आशा नहीं करनी चाहिए। अल्पसंख्यकों के मामले में भी इसके अपवाद की गुंजाइश नहीं है। एक व्यक्ति की ही भांति वे अपने मामले में न्यायाधीश बनने का दावा नहीं कर सकते। ब्रिटिश सरकार के विषय में क्या? मुझे इसमें कोई कारण नजर नहीं आता कि इस योजना के किसी भाग पर ब्रिटिश सरकार द्वारा कोई आपत्ति उठाई जाएगी। संप्रदाय संबंधी पंचाट के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार के प्रति घृणा–भावना

उत्पन्न हो गई है। यह एक कृतघ्नतापूर्ण कार्य रहा है और ब्रिटिश सरकार को इससे मुक्त होने में प्रसन्न होना चाहिए। ऐसी कतिपय जातियां हैं जिनके संबंध में ब्रिटिश सरकार अपने को स्वतः ट्रस्टी समझती है और जिनकी सुरक्षा और संरक्षण के लिए पर्याप्त व्यवस्था करती है। वे लोग अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थ मंडल द्वारा उनके हितों की सुरक्षा का संविधान में उल्लेख करने से अधिक और क्या अपेक्षा कर सकते हैं? उक्त मध्यस्थ मंडल के निर्णय को कार्यान्वित करने में एक ही संदिग्धता है, जिसके फलस्वरूप कुछ कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। वह संदिग्ध्ता इस प्रकार की है कि यदि वादग्रस्त पार्टियों में से कोई भी एक अपना मामला उक्त मध्यस्थ मंउल के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करती तो इस स्थिति में सवाल यह होगा कि क्या ऐसी पार्टी के विरूद्ध निर्णय को लागू करने में ब्रिटिश सरकार सही होगी? मुझे यह कहते हुए कोई कठिनाई नहीं है कि ब्रिटिश सरकार ऐसी पार्टी के विरूद्ध उक्त निर्णय को कार्यान्वित कर सकती है। जो पार्टी अपना मामला उक्त मध्यस्थ मंडल के समक्ष रखने करने का निषेध करती है, उसकी क्या स्थिति है? इसका उत्तर यह है कि ऐसी पार्टी आक्रामक होगी। झगड़े में पहल करने वाले के साथ कैसा व्यवहार किया जाए? उसे अधिकृत आज्ञाओं के पालन के लिए बाध्य करना होगा। एक पार्टी के विरूद्ध जो मध्यस्थ मंडल के सम्मुख नहीं जाना चाहती, मध्यस्थ मंडल के निर्णय को लागू करने का मतलब आक्रामक पार्टी के विरूद्ध आज्ञापत्र को लागू करने की कार्यवाही है। ब्रिटिश सरकार को इसमें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस प्रकार के मामलों को तय करने के लिए यह एक उत्तम, प्रमाणित एवं मान्यता-प्राप्त ढंग है और लीग ऑफ नेशंस की इस पर मुहर है। उसने यह फार्मूला उस समय निकाला था जब मुसोलिनी ने अबीसीनिया के साथ अपने झगड़े की मध्यस्थता के समय इसका निषेध किया था। पर जो कुछ मैंने प्रस्तावित किया है, उसके बाद क्या? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं जानता कि इसके अलावा और क्या किया जा सकता है। जो कुछ मैं जानता हूं वह यही है कि उत्तर दिए बिना भारत में स्वतंत्रता नहीं होगी। इसलिए यह निर्णयात्मक होना चाहिए, तुरंत होना चाहिए, और संबंधित पार्टियों के लिए संतोषप्रद होना चाहिए।

परिशिष्ट-सूची

मानचित्र

परिशिष्ट 1

भारत की संप्रदायवार जनसंख्या

	समुदाय	ब्रिटिश भारत	भारत के प्रांत और एजेंसियां	योग
1.	हिन्दू	150,890,146	55,227,180	206,117,326
2.	मुस्लिम	79,398,503	12,659,593	92,058,096
3.	अनुसूचित जाति*	39,920,807	8,892,373	48,813,180
4.	आदिवासी	16,713,256	8,728,233	25,441,489
5.	सिख	4,165,097	1,526,350	5,691,447
6.	ईसाई			
	(i) भारतीय ईसाई	1,655,982	1,413,808	3,069,790
	(ii) आंग्ल–भारतीय	113,936	26,486	140,422
	(iiii) अन्य	75,751	7,708	83,459
7.	जैन	578,372	870,914	1,449,286
8.	बौद्ध	167,413	64,590	232,003
9.	पारसी	101,968	12,922	114,890
10.	यहूदी	19,327	3,153	22,480
11.	अन्य	371,403	38,474	409,877
	योग	294,171,961	89,471,784	383,643,745

* यह भारत सरकार अधिनियम के द्वारा अछूतों को दिया गया सांविधिक नाम है।

नोट : ब्रिटिश भारत और भारत के राज्यों में अनुसूचित जातियों के आंकड़े इनका सही योग नहीं दर्शाते हैं। ब्रिटिश भारत में अजमेर, मेवाड़ और ग्वालियर प्रान्तों के आंकड़े इनमें नहीं दिए गए हैं। 1940 की जनगणना रिपोर्ट में आंकड़े नहीं दिए गए।

परिशिष्ट 2

ब्रिटिश इंडिया के प्रान्तों में अल्पसंख्यकों की जनसंख्या का संप्रदायवार वितरण

	प्रान्त	कुल जनसंख्या	मुस्लिम		अनुसूचित जातियां		भारतीय ईसाई		सिख	
			जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
1.	अजमेर–मेवाड	583,693	89,899	15.4	शून्य (?)	...	3,895	.8	867	.15
2.	अंडमान निकोबार	33,768	8,005	23.7	शून्य	...	779	2.3	744	2.2
3.	असम	10,204,733	3,442,479	33.7	676,291	6.6	37,750	.4	3,464	.03
4.	ब्रिटिश बलूचिस्तान	501,631	438,930	87.5	5,102	1.0	2,633	.5	11,918	2.3
5.	बंगाल	60,306,525	33,005,434	54.7	7,878,970	13.0	110,923	.2	16,281	.03
6.	बिहार*	36,340,151	4,716,314	12.9	4,840,379	13.3	24,693	.07	13,213	.04
7.	बम्बई	20,849,840	1,920,368	9.2	1,855,148	8.9	338,812	1.6	8,011	.04
8.	सेंट्रल प्रोविंस और बराड+	16,813,584	783,697	4.7	3,051,413	18.1	48,260	.3	14,996	.09
9.	कुर्ग	168,726	14,780	8.8	25,740	15.3	3,309	2.0	शून्य	...
10.	दिल्ली	917,939	304,971	33.2	121,693	13.3	10,494	1.1	16,157	1.8
11.	मद्रास	49,341,810	3,896,452	7.9	8,068,492	16.4	2,001,082	4.06	418	.001
12.	एन.डब्ल्यू.एफ.पी.	3,038,067	2,788,797	91.8	शून्य	...	5,426	.2	57,989	1.9
13.	उड़ीसा	8,728,544	146,301	1.7	1,238,171	14.2	26,584	.3	232	.003
14.	पंजाब	28,418,819	16,217,242	57.0.	1,248,635	4.4	486,038	1.7	3,757,401	13.2
15.	पंथ पिपलोडा	5,267	251	4.8	918	17.4	216	4.1	शून्य	...
16.	सिंध	4,229,221	3,054,635	72.2	191,634	4.5	13,232	.3	31,011	.7
17.	युनाईटिड प्रोविंस@	55,020,617	8,416,308	15.3	11,717,158	21.3	131,327	.2	232,445	.4
	योग	295,502,935	79,344,863	26.9	40,919,744	13.9	3,245,453	1.0	4,155,147	1.0
*	बिहार	28,823,802	4,168,470	14.4	3,919,619	13.6	12,651	.04	3,204	.01
	छोटा नागपुर	7,516,349	547,844	7.3	420,760	5.6	12,042	.2	10,009	.1
+	सी.पी.	13,208,718	448,528	3.4	2,359,836	17.9	42,135	.3	12,766	.1
	बराड़	3,604,866	335,169	9.3	691,577	19.2	6,125	.2	2,230	.05
@	आगरा	40,906,147	6,231,062	15.2	8,018,803	19.6	120,549	.3	226,096	.5
	अवध	14,114,470	2,185,246	15.5	3,698,355	26.2 .	10,778	.08	6,349	.05

परिशिष्ट 3

भारत के राज्यों में अल्पसंख्यकों की जनसंख्या का संप्रदायवार वितरण

	राज्य और एजेंसियां	कुल जनसंख्या	मुस्लिम		अनुसूचित जातियां		भारतीय ईसाई		सिख	
			जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
1.	असम	725,655	31,662	4.4	265	0.04	25,913	3.6	381	.05
2.	बलूचिस्तान	356,204	346,251	97.2	65	0.02	40	.01	126	.04
3.	बड़ौदा	2,855,010	223,610	7.8	230,794	8.1	9,182	.3	566	.02
4.	बंगाल	2,144,829	372,113	17.3	269,729	12.6	564	.03	28	.001
5.	मध्य भारत	7,506,427	439,850	5.9	1,027,009	13.7	7,582	.1	2,731	.04
6.	छत्तीस गढ	4,050,000	28,773	0.7	483,132	11.9	11,820	.3	507	.01
7.	कोचीन	1,422,875	109,188	7.7	141,154	9.9	399,394	28.1	9	...
8.	दक्कन और कोल्हापुर	2,785,428	182,036	6.5	306,898	11.0	17,236	.6	22	.001
9.	गुजरात	1,458,702	58,000	3.9	55,204	3.8	4,215	.3	182	.01
10.	ग्वालियर	4,006,159	240,903	6.0	...	...	1,352	.03	2,342	.06
11.	हैदराबाद	16,338,534	2,097,475	12.8	2,928,048	17.9	215,989	1.3	5,330	.03
12.	कश्मीर और जागीरें	4,021,616	3,073,540	76.4	113,464	2.8	3,079	.08	65,903	1.6
13.	मद्रास	498,754	30,263	6.0	83,734	16.8	20,806	4.2	5	...
14.	मैसूर	7,329,140	485,230	6.6	1,405,067	19.2	98,580	1.3	269	.004
15.	एन.डब्ल्यू.एफ.पी.	46,267	22,068	47.7	शून्य	...	571	1.2	4,472	9.1
16.	उड़ीसा	3,023,731	14,355	0.47	352,088	11.6	2,249	0.07	151	.005
17.	पंजाब	5,503,554	2,251,459	40.9	349,962	6.4	6,952	.1	1,342,685	24.4
18.	पंजाब हिल	1,090,644	46,678	4.3	238,774	21.9	188	.02	17,739	1.6
19.	राजपूताना	13,670,208	1,297,841	9.5	...	...	4,349	.03	81,896	.6
20.	सिक्किम	121,520	83	0.07	76	0.6	34	.03	1	...
21.	त्रावनकोर	6,070,018	434,150	7.2	395,952	6.5	1,958,491	32.3	31	...
22.	उत्तर प्रदेश	928,470	273,625	29.5	152,927	16.5	1,281	.1	731	.08
23.	पश्चिम भारत	4,904,156	600,440	12.2	358,038	7.3	3,105	.06	239	.005
	योग	91,810,571	15,733,133	16.59	8,892,373	9.7	2,794,959	3.1	1,526,350	1.7

परिशिष्ट 4

पंजाब में जनसंख्या का संप्रदायवार और जिलावार वितरण

	जिले	कुल जनसंख्या	मुस्लिम		अनुसूचित जातियां		भारतीय ईसाई		सिख		हिन्दू	
			जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
1.	हिसार	1,006,709	285,208	28.3	128,240	12.7	1,235	.1	60,731	6.0	524,602	52.1
2.	रोहतक	956,399	166,569	17.4	135,103	14.1	1,026	.1	1,466	.2	645,371	57.5
3.	गुड़गांव	851,458	285,992	33.6	119,250	14.0	1,457	.2	637	.07	441,287	51.8
4.	करनाल	994,575	304,346	30.6	136,713	13.7	1,223	.1	19,887	2.0	529,588	53.2
5.	अम्बाला	847,745	268,999	31.7	124,006	14.6	4,892	.6	153,543	18.1	288,652	34.0
6.	शिमला	38,576	7,022	18.2	7,092	18.4	508	1.3	1,032	2.7	22,374	58.0
7.	कांगड़ा	899,377	43,249	4.8	121,622	13.5	590	.07	4,809	.5	725,909	80.7
8.	होशियारपुर	1,170,323	380,759	32.5	170,855	14.6	6,060	.5	198,194	16.9	413,837	35.4
9.	जालंधर	1,127,190	509,804	45.2	154,431	13.7	5,971	.5	298,744	26,5	156,579	13.9
10.	लुधियाना	818,615	302,482	36.9	68,469	8.4	1,632	.2	341,175	41.7	106,246	12.9
11.	फिरोजपुर	1,423,076	641,448	45.1	73,504	5.1	11,031	.8	479,486	33.7	216,229	15.2
12.	लाहौर	1,695,375	1,027,772	60.6	32,735	1.9	67,686	4.0	310,648	18.3	252,004	14.9
13.	अमृतसर	1,413,876	657,695	46.5	22,750	1.6	25,330	1.8	510,845	36.1	194,727	13.8
14.	गुरदासपुर	1,153,511	589,923	51.1	45,839	4.0	40,262	4.4	221,251	19.2	244,935	21.2
15.	सियालकोट	1,190,497	739,218	62.1	65,354	5.5	73,846	6.2	139,409	11.7	165,965	13.9
16.	गुजरांवाला	912,235	642,706	70.5	7,485	.8	60,380	6.6	99,139	10.9	100,630	11.0
17.	शेखुपुरा	852,508	542,344	63.6	22,438	2.6	59,985	7.0	160,706	18.9	66,744	7.8
18.	गुजरात	1,104,952	945,609	85.6	4,621	.4	4,391	.4	70,233	6.3	80,022	7.2
19.	शाहपुर	998,921	835,918	83.7	9,693	1.0	12,690	1.3	48,046	4.8	92,479	9.2
20.	झेलम	629,658	563,033	89.4	771	.1	730	.1	24,680	3.9	40,117	6.4
21.	रावलपिंडी	785,231	628,193	80.0	4,233	.5	4,212	.5	64,127	8.2	78,245	10.0
22.	अटक	675,875	611,128	90.4	1,015	.1	504	.09	20,102	3.0	42,194	6.2
23.	मियांवाली	506,321	436,260	86.2	1,008	.2	324	.06	6,865	1.3	61,806	12.2
24.	माउंटगुमरी	1,329,103	918,564	69.1	43,456	3.2	24,101	1.9	175,064	13.2	167,510	12.6
25.	लायलपुर	1,396,305	877,518	62.8	68,222	4.9	51,694	3.7	262,737	18.8	135,637	9.7
26.	झंग	821,631	678,736	82.6	1,943	.2	744	.1	12,238	1.5	127,946	15.6
27.	मुल्तान	1,484,333	1,157,911	78.0	24,530	1.7	13,270	.9	61,628	4.1	225,342	15.2
28.	मुज्जफ्फरगढ	712,849	616,074	86.4	2,691	.4	218	.03	5,882	.8	87,952	12.3
29.	डेरा गाजीखां	581,350	512,678	88.1	1,059	.2	46	.01	1,072	.2	66,348	11.4
30.	सीमा पार प्रदेश	40,246	40,084	99.6	शून्य	...	शून्य	...	2	...	160	.4
	योग	28,418,820	16,217,242	57.1	1,592,320	5.6	486,038	1.7	3,757,401	13.2	6,301,737	22.2

परिशिष्ट 5

बंगाल में जनसंख्या का संप्रदायवार और जिलावार वितरण

	जिले	कुल जनसंख्या	मुस्लिम		अनुसूचित जातियां		हिन्दू		भारतीय ईसाई	
			जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
1.	बर्दवान	1,890,732	336,665	17.8	430,300	22.8	963,520	51.0	3,280	.2
2.	बीरभूम	1,048,317	287,310	27.4	280,254	26.7	406,182	38.8	344	.03
3.	बांकुरा	1,289,640	55,564	4.3	355,290	27.5	723,269	56.1	1,216	.1
4.	मिदनापुर	3,190,647	246,559	7.7	339,066	10.6	2,342,897	73.4	3,834	.1
5.	हुगली	1,377,729	207,077	15.0	245,810	17.8	853,734	61.9	543	.04
6.	हावड़ा	1,490,304	296,325	19.9	184,318	12.4	1,000,548	67.1	994	.06
7.	24-परगना	3,536,386	1,148,180	32.5	743,397	21.0	1,566,599	44.3	20,823	.6
8.	कलकत्ता	2,108,891	497,535	23.6	55,228	2.6	1,476,284	70.0	16,431	.8
9.	नदिया	1,759,846	1,078,007	61.3	143,682	8.2	514,268	29.2	10,749	.6
10.	मुर्शीदाबाद	1,640,530	927,747	56.6	167,184	10.2	517,803	31.6	394	.02
11.	खुलना	1,943,218	959,172	49.4	470,550	24.2	507,143	26.1	3,538	.2
12.	राजशाही	1,571,750	1,173,285	74.6	75,650	4.8	253,580	16.1	1,166	.07
13.	दिनाजपुर	1,926,833	967,246	50.2	399,410	20.7	375,212	19.5	1,448	.07
14.	जलपाइगुड़ी	1,089,513	251,460	23.1	325,504	29.9	226,143	20.8	2,589	.2
15.	दार्जिलिंग	376,369	9,125	2.4	28,922	7.7	149,574	39.7	2,599	.7
16.	रंगपुर	2,877,847	2,055,186	71.4	495,462	17.2	307,387	10.7	389	.01
17.	बोगरा	1,260,463	1,057,902	83.9	61,303	4.9	126,229	10.0	286	.02
18.	पबना	1,705,072	1,313,968	77.1	114,738	6.7	269,017	15.8	285	.02
19.	माल्दा	1,232,618	699,945	56.7	75,535	6.1	390,143	31.6	466	.04
20.	ढाका	4,222,143	2,841,261	67.3	409,905	9.7	950,227	22.5	15,846	.4
21.	मेमनसिंह	6,023,758	4,664,548	77.4	340,676	5.7	955,962	15.9	2,322	.04
22.	फरीदपुर	2,888,803	1,871,336	64.4	527,496	18.3	478,742	16.6	9,549	.3
23.	बकरगंज	3,549,010	2,567,027	72.3	427,667	12.1	480,962	13.6	9,357	.2
24.	तिपेरा	3,860,139	2,975,901	77.1	227,643	5.9	652,318	16.9	428	.01
25.	नोआखाली	2,217,402	1,803,937	81.3	81,817	3.7	330,494	14.9	535	.02
26.	चित्तगांग	2,153,296	1,605,183	74.5	57,024	2.6	401,050	18.6	395	.02
27.	चित्तगांग हिल	247,053	7,270	2.9	283	.1	4,598	1.9	60	.02
28.	जैसोर	1,828,216	1,100,713	60.2	314,856	17.2	406,223	22.2	1,057	.06
	योग	60,306,525	33,005,434	54.7	7,378,970	12.2	17,630,054	29.3	110,923	.2

परिशिष्ट 6

असम में जनसंख्या का संप्रदायवार और जिलावार वितरण

जिले	कुल जनसंख्या	मुस्लिम		अनुसूचित जातियां		भारतीय ईसाई		सिख		हिन्दू	
		जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत	जनसंख्या	प्रतिशत
सुरमा घाटी											
1. कच्छार	641,181	232,950	36.3	51,961	8.1	3,744	.6	...	...	173,855	27.1
2. सिल्हट	3,116,602	1,892,117	60.7	364,510	11.7	2,590	.08	...	...	785,004	25.2
3. खासी और जंटिया हिल्स	118,665	1,555	1.3	63	.05	120	.1	...	...	12,676	10.7
4. नागा हिल्स	189,641	531	.2	45	.02	9	...	...	...	4,153	2.2
5. लुशाई हिल्स	152,786	101	.06	22	.01	शून्य	...	...	...	2,425	1.6
असम घाटी											
6. गोलपाड़ा	1,014,285	468,924	46.2	23,434	2.3	269	.03	...	...	282,789	27.9
7. कामरूप	1,264,200	361,522	39.1	59,092	4.7	1,038	.08	...	...	637,457	50.4
8. दरंग	736,791	120,995	16.4	19,475	2.6	6,367	.8	...	...	328,283	44.6
9. नवगांग	710,800	250,113	35.2	59,214	8.3	4,049	.6	...	...	229,137	32.2
10. शिवसागर	1,074,741	51,769	4.8	50,184	4.7	15,268	1.4	...	...	593,007	55.2
11. लक्मीपुर	894,842	44,579	5.0	43,527	4.9	3,786	.4	...	...	457,509	51.1
12. गारो हिल्स	233,569	10,398	4.5	789	.3	1	...	...	...	13,518	5.8
13. सदिया सीमावर्ती प्रदेश	60,118	864	1.4	3,991	6.6	486	.8	...	...	14,605	24.3
14. बलीपाड़ा सीमावर्ती प्रदेश	6,512	61	.9	74	1.1	23	.4	...	...	2,514	38.6
योग	10,204,733	3,442,479	33.7	676,291	6.6	37,750	.4	3,464	.03	3,536,932	34.6

परिशिष्ट 7

उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त

मुस्लिम जनसंख्या का जिलावार अनुपात

जिले	कुल जनसंख्या	कुल मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत	कुल गैर–मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में गैर–मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत
हजारा	796,230	756,004	94.9	40,226	5.1
मर्दन	506,539	483,575	96.5	22,964	4.5
पेशावर	851,833	769,589	90.4	82,244	9.6
कोहट	289,404	266,224	92.0	23,180	8.0
बन्नू	295,930	257,648	87.1	38,282	12.9
डेरा इस्माइल खां	298,131	255,757	85.8	42,374	14.2

परिशिष्ट 8

उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त

नगरों में मुस्लिम और गैर-मुस्लिम जनसंख्या का अनुपात

छा = छावनी, न = नगरपालिका, अ.क्षे. = अधिसूचित क्षेत्र

	जिला–वार नगर		कुल जनसंख्या	कुल मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत	कुल गैर–मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में गैर–मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत
	हजारा						
1.	अब्बोत्ताबाद	छा	13,866	3,331	24	10,535	7.6
2.	अब्बोत्ताबाद	न	13,558	8,861	66.1	4,697	33.9
3.	हरिपुर	न	9,322	5,174	55.5	4,148	44.5
4.	बफ्फा	अ.क्षे.	7,988	7,166	89.7	8[illegible]2	10.3
5.	नवांशहर	अ.क्षे.	6,414	5,075	79.1	1,339	20.9
6.	कोट नजीबउल्लाह	...	5,315	4,228	79.5	2,037	20.5
7.	मनशेरा	...	10,217	8,141	79.7	[illegible],075	20.3
	मर्दन						
8.	मर्दन	न	39,200	28,994	73.9	10,206	26.1
9.	मर्दन	छा	3,294	1,307	39.7	1,987	60.3
	पेशावर						
10.	पेशावर	न	1,30,967	1,04,650	79.9	26,317	20.1
11.	पेशावर	छा	42,453	18,322	43.2	24,131	56.8
12.	नौशेरा	अ.क्षे.	17,491	16,976	97	515	3
13.	नौशेरा	छा	26,5[illegible]1	11,255	42.4	15,275	57.6
14.	रिसालपुर	छा	9,[illegible]09	3,506	38.9	5,503	61.1
15.	चेरट	छा	337	270	80.1	67	19.9
16.	चरसांदा	...	1[illegible],945	15,747	92.9	1,198	7.1
17.	उटामन्जई	...	10,129	9,768	96.4	361	3.6
18.	टांगी	...	12,906	12,456	96.5	450	3.5
19.	परांग	..	13,496	13,494	99.9	2	...
	कोहट						
20.	कोहट	न	34,316	27,868	81.2	6,448	18.8
21.	कोहट	छा	10,661	4,243	39.8	6,418	60.2
	बन्नू						
22.	बन्नू	न	33,210	8,507	25.6	24,703	74.4
23.	बन्नू	छा	5,294	2,189	41.4	3,105	58.6
24.	लाक्की	अ.क्षे.	10,141	5,883	58	4,258	42
	डेरा इस्माइल खां						
25.	डे.इ. खां	न	49,238	25,443	51.7	23,795	48.3
26.	डे.इ. खां	छा	2,068	981	47.4	1,087	52.6
27.	कुलाची	अ.क्षे.	8,840	6,610	74.8	2,230	25.2
28.	टौंक	अ.क्षे.	9,089	5,531	60.8	3,558	39.2

पाकिस्तान : परिशिष्ट

परिशिष्ट 9

सिंध में मुस्लिम जनसंख्या का जिलावार वितरण

जिले	कुल जनसंख्या	कुल मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत	कुल गैर–मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में गैर–मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत
1. दादू	389,380	329,991	84.7	59,389	15.3
2. हैदराबाद	758,748	507,620	66.9	251,128	33.1
3. कराची	713,900	457,035	64.0	256,865	36.0
4. लरकाना	511,208	418,543	81.9	92,665	18.1
5. नवाबशाह	584,178	436,414	74.7	147,764	25.3
6. सुक्कूर	692,556	491,634	71.0	200,922	29.0
7. थार पारकर	581,004	292,025	50.3	288,979	49.7
8. अपर–सिंध फ्रंटियर	304,034	275,063	90.5	28,971	9.5
योग	4,553,008	3,208,325	70.7	1,326,683	29.3

इसमें खैरपुर राज्य की जनसंख्या शामिल नहीं है।

परिशिष्ट 10

सिंध

नगरों में मुस्लिम और गैर-मुस्लिम जनसंख्या का अनुपात

न = नगरपालिका, सि.छा. = सिविल छावनी, सै.छा. = सैनिक छावनी

	जिला–वार नगर		कुल जनसंख्या	कुल मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत	कुल गैर–मुस्लिम जनसंख्या	कुल जनसंख्या में गैर–मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत
	दादू						
1.	दादू	न	10,996	5,279	48	5,717	52.0
2.	कोटरी	न	9,979	5,137	51.5	4,842	48.5
3.	मनझन्दर	न	3,025	1,053	34.8	1,972	65.2
4.	सिवान	न	4,364	2,218	50.8	2,146	49.2
	हैदराबाद						
5.	हाला	न	7,960	5,042	63.3	2,918	36.7
6.	हैदराबाद	न	1,27,521	31,983	25.1	95,538	74.9
7.	हैदराबाद	सि.छा.	5,255	2,667	50.7	2,588	49.3
8.	हैदराबाद	सै.छा.	1,917	1,419	74	498	26
9.	मतियारी	न	5,910	4,339	73.4	1,571	26.6
10.	नसारपुर	न	3,810	2,331	61.2	1,479	38.8
11.	टांडो अल्लाहयार	न	8,406	1,690	20.1	6,716	79.9
12.	टांडो मोहम्मद खां	न	8,718	2,902	33.3	5,816	66.7
	कराची						
13.	कराची	न	3,58,492	1,52,365	42.5	2,06,127	57.5
14.	फराची	सि.छा.	5,854	895	15.3	4,959	84.7
15.	देघ रोड	सि.छा.	2,881	1,172	40.7	1,709	59.3
16.	मनोरा	सि.छा.	2,533	932	36.8	1,601	63.2
17.	कराची	सै.छा.	15,895	7,063	44.4	8,832	5.56
18.	टट्टा	न	8,262	4,198	50.8	4,064	49.2
	लरकाना						
19.	कम्बार	न	11,681	6,297	53.1	5,384	46.9
20.	लरकाना	न	20,390	7,834	38.4	12,556	61.6
21.	रातेदरो	न	9,925	2,393	24.1	7,532	75.9
	नवाबशाह						
22.	नवाबशाह	न	17,509	4,420	25.3	13,089	74.7
23.	शाहबादपुर	न	11,786	1,898	16.1	9,888	83.9
24.	टांडो आदम	न	17,233	2,994	17.4	14,239	82.6
	सुक्कूर						
25.	गढ़ी यासिन	न	8,397	2,895	34.5	5,502	65.5
26.	गोटकी	न	5,236	1,533	29.3	3,703	70.7
27.	रोहरी	न	14,721	4,132	28.7	10,589	71.9
28.	शिकारपुर	न	67,746	21,775	32.1	45,971	67.9
29.	सुक्कूर	न	66,466	18,152	27.3	48,314	72.7
	थार पारकर						
30.	मीरपुर खास	न	19,591	5,086	25.9	14,505	74.1
31.	अमरकोट	न	4,275	986	22.9	3,289	77.1
	अपर सिंध फ्रंटियर						
32.	जकोबाबाद	न	21,588	9,774	45.3	11,814	54.7

पाकिस्तान : परिशिष्ट

परिशिष्ट 11

भारत में मुसलमानों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषाएं प्राथमिकता क्रम में (1921 की जनसंख्या के अनुसार)

उर्दू (पश्चिमी हिन्दी)	..	..	20,791,000
बंगाली	..	..	23,995,000
पंजाबी	..	..	7,700,000
सिंधी	..	..	2,912,000
कश्मीरी (और सहयोगी भाषाएं)	..	..	1,500,000
पुश्तो	..	..	1,460,000
गुजराती	..	..	1,400,000
तमिल	..	..	1,250,000
मलयालम	..	..	1,407,000
तेलुगू	..	..	750,000
उड़िया	..	..	400,000
बलूची	..	..	224,000
बरहुई	..	..	122,000
अरबी	..	..	42,000
फारसी	..	..	22,000
अन्य भाषाएं	..	..	5,060,000
योग	..	..	68,735,000

परिशिष्ट 12

भारत के मुस्लिम संप्रदाय द्वारा 1 अक्तूबर 1906 को शिमला में महामहिम लार्ड मिंटो, भारत के वायसराय और गवर्नर जनरल को प्रस्तुत याचिका[1] –

महामहिम, हमें आपसे मिलने की अनुमति मिलने पर हम अधोहस्ताक्षरी कुलीन पुरुष–जागीरदार, तालुकदार, वकील, जमींदार, व्यापारी और भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले सम्राट की मुस्लिम प्रजा के अन्य प्रतिनिधि आपसे सादर अनुरोध करते हैं कि हमारी बात पर उचित ध्यान देने की कृपा करेंगे।

विभिन्न जातियों और विभिन्न धर्मावलाबियों से युक्त करोड़ो की जनसंख्या वाले विशाल महाद्वीप भारत को ब्रिटिश शासन द्वारा प्रदान किए गए असीमित लाभों

---

1. इस दस्तावेज का भारत के इतिहास में भारी महत्व है। यहीं से अंग्रेज सरकार ने भारत के प्रशासन में मुसलमानों की तरफदारी शुरू की और ऐसा कहा जाता है कि यह सब कुछ मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने और हिंदू तथा मुसलमानों की एकता को भंग करने के लिए किया गया था। कांग्रेस–अध्यक्ष के रूप में स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली द्वारा अपने भाषण में यह कहने से उनकी बदनामी हुई कि ब्रिटिश शासन अच्छा है, जिसका अर्थ यह लगाया गया कि इस अभिभाषण की व्यवस्था अंग्रेज सरकार द्वारा की गई थी। इसी कारण अनेक हिंदुस्तानी इस याचिका तथा लार्ड मिंटो द्वारा दिए गए इसके उत्तर का मूल पाठ जानने के इच्छुक थे। मैंनें यह याचिका प्राप्त करने के लिए काफी खोजबीन की। मैंने उस समय विख्यात बुजुर्ग मुसलमान राजनीतिज्ञों से भी इसकी प्रति प्राप्त करने की कोशिश की, परंतु यह किसी के पास भी नहीं मिली और न ही उन्हें यह जानकारी थी कि यह कहां मिलेगी। उस समय के समाचारपत्रों के पास भी इस याधिका तथा इसके उत्तर का मूल पाठ नहीं था। मैं बडा भाग्यशाली रहा कि मुझे इसकी एक प्रति मेरे मित्र सर रजा अली, एम. एल. ए. (सेंट्रल) के पास मिल गई। उनके पास लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले एक दैनिक पत्र 'इंडियन डेली टेलिग्राफ' की कटिंग सुरक्षित थी, जो काफी पहले बंद हो गया था। उसी में यह याचिका तथा इसका उत्तर था।

यह कटिग देने के लिए मैं श्री रजा अली का आभारी हूं। चूंकि इस दस्तावेज का हिंदुस्तान में अंग्रेज शासन के राजनैतिक इतिहास में विशेष महत्व है, इसलिए 'इंडियन डेली टेलिग्राफ' के 3 अक्तूबर, 1906 के अंक में उसके शिमला संवाददाता द्वारा प्रकाशित विवरण को यहां उद्वत करना चाहूंगा। संवाददाता कहता है –

"मुस्लिम संप्रदाय के वे प्रतिनिधि, जिन्हे महामहिम वायसराय को याचिका प्रस्तुत करनी थी, आज वाइसरीगल लॉज के बालरूम में प्रातः 11.00 बजे एकत्र हुए। उनकी संखया 35 थी और उन्हें महामहिम के आसन के समक्ष अर्धवृत्त में बैठाया गया। ठीक 11 बजे लार्ड मिंटो अपने स्टाफ के साथ कमरे में प्रविष्ट हुए। उनके सम्मान में सभी लोग खड़े हुए। आगा खान ने महामहिम को स्वयं प्रत्येक सदस्य से परिचित करवाया। तत्पश्चात् पटियाला के खलीफा ने याचिका प्रस्तुत करने की अनुमति मांगी और फिर आगा खान आगे बढे और महामहिम को संबोधित करके नीचे दी गई याचिका पढी। सभी प्रतिनिधि खड़े रहे।"

प्रतिनिधिमंडल में निम्नलिखित व्यक्ति शामिल थे –

महामहिम आगा सर सुलतान मोहम्मद शाह आगा खान, जी. सी. आई. ई. (बंबई); शाहजादा बख्तियार शाह, ओ. आई. ई. मैसूर परिवार के प्रमुख, कलकत्ता; माननीय मलिक उमर हयात खान, सी. आई. ई; लेफ्टिनेंट 17वां प्रिंस ऑफ वेल्स, तिवाना लांसर्स,, तिवाना, शाहपुर (पंजाब); माननीय खान बहादुर मियां मोहम्बद शाह दीन, बॉर–एट–लॉ, लाहौर; माननीय मौलवी शरीफुदीन, बॉर–एट–लॉ, पटना; खान बहादुर सैयद नवाब अली चौधरी, मैमनसिंह, (पूर्वी बंगाल); नवाब बहादुर सैयद अमीर हुसैन खान, सी. आई. ई कलकत्ता; नसीर हुसैन खान खामल, कलकत्ता; खान बहादुर मिर्जा शुजात अली बेग; पर्सियन काउंसिल जनरल, मुर्शिदाबाद, कलकत्ता (बंगाल); सैयद अली इमाम, बॉर. एट. लॉ, पटना (पटना); नवाब सरफराज

को हमें एहसास है तथा उसकी हम सराहना करते हैं और शांति, सुरक्षा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पूजा की स्वतंत्रता जो हमें अब मिली है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। इसके अतिरिक्त सरकार का बुद्धिमत्तापूर्ण और प्रबुद्ध स्वरूप होने के परिणामस्वरूप हम यह मानते हैं कि ये अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ते जाएंगे और भविष्य में भारत विश्व-समुदाय में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लेगा।

भारत में ब्रिटिश नीति की प्रमुख विशेषताओं में से एक है बढ़ता हुआ लिहाज, जो देश के लोगों के विचारों और इच्छाओं के प्रति उनके हितों को प्रभावित करने के मामलों में दिखाया गया। इसके अंतर्गत जाति और धर्म की विविधता को सदैव अपेक्षित सम्मान दिया गया, जो भारत की संपूर्ण प्रगति का महत्वपूर्ण कारक है।

हुसैन खान, पटना (बिहार); खान बहादुर अहमद मोहिउद्दीन खान, स्टाइपेंडरी ऑफ कर्नाटक फैमली (मद्रास); मौलवी रफी-उद्दीन अहमद, बॉर-एट-लॉ (बंबई); इब्राहममोय आदम जी परिभोय, जनरल मर्चेंट (बंबई); श्री अब्दुर्रहीम, बॉर-एट-लॉ, कलकत्ता; सैयद अलाहदाद शाह, स्पेशल मजिस्ट्रेट और वाइस प्रेजीडेंट, जमींदार एसोसियशन खैरपुर (सिंध); मौलाना एच. एम. मलक, मेहदी बाज बाहराओं के प्रमुख, नागपुर (सेंट्रल प्राविंस); मुशीर-उद्-दौला मुमताज-उल-मुल्क खान बहादुर खलीफा सैयद मोहम्मद हुसैन, पटियाला की राज्य परिषद के सदस्य (पंजाब); खान बहादुर कर्नल अब्दुल मजीद खान, विदेश मंत्री, पटियाला (पंजाब); मियां मोहम्मद शफी, बॉर-एट-लॉ, लाहौर (पंजाब); शेख गुलाम सादिक, अमृतसर (पंजाब); हकीम मोहम्मद अजमल खान, दिल्ली (पंजाब); मुंशी इहतिशाम अली, जमींदार एवं रईस, काकोरी (अवध); सैयद नबी उल्लाह बॉर-एट-लॉ रईस कारा, जिला-इलाहाबाद; मौलवी सैयद करामत हुसैन, बॉर-एटॅ-लॉ, इलाहाबाद; सैयद अब्दुल रऊफ, बॉर-एट-लॉ, इलाहाबाद; मुंशी अब्दूर सलाम खान रिटायर्ड सब-जज, रामपुर; खान बहादुर मोहम्मद मुजामिल उल्लाह खान, जमींदार, सेक्रेटरी, जमींदार एसोशिएसन, यूनाइटिड प्रोविंस, तथा संयुक्त सचिव, एम. ए. ओ. कालेज, ट्रस्टीज, अलीगढ़; हाजी मोहम्मद इस्माइल खान, जमींदार, अलीगढ; साहबजादे आफताब अहमद खान, बॉर-एट-लॉ, अलीगढ़; मौलवी मुश्ताक हुसैन, रईस, अमरोहा, यूनाइटिड प्राविंस; मौलवी हबीबुल रहमान खान, जमींदार, भीखनपुर, यूनाईटिड प्रोविंस; नवाब सैयद सरदार अली खान, स्वनवाब सरदार दिलेर-उल-मुल्क बहादुर, सी. आई. ई. के पुत्र, हैदराबाद (दक्कन); मौलवी सैयद मेहदी अली खान (मुहसिन-उल-मुल्क), अवैतनिक सचिव, एम. ए. ओ. कालेज, अलीगढ़, इटावा, यूनाईटिड प्राविंस।

निम्नलिखित भद्रपुरूष भी वायसराय को याचिका प्रस्तुत करने के अवसर पर उपस्थित होना चाहते थे, परंतु बीमारी अथवा अन्य किसी कारणवश उपस्थित नहीं हो सके – माननीय नवाब ख्वाजा सनीमुल्ला, ढाका के नवाब; माननीय नवाब हाजी मोहम्मद फतेह अली खान, कजलबाश, लाहौर; माननीय सैयद जयनुल-इदरोज सूरत, भरूच के खान बहादुर कासिम मीर गयासुद्दीन पीरजादा; हजरा के खान बहादुर राजा जहांदाद और लखनऊ के शेख शाहिद हुसैन।

'द टेलीग्राफ' के संवाददाता के अनुसार-

लेडी मिंटो, लेडीज ईलियट और माननीय श्रीमती हेवेट समारोह में उपस्थित थीं।

आज याचिका प्रस्तुतिकरण के अवसर पर अधिकांश डिप्टीज ने साधारण यूरोपियन वस्त्र और विशिष्ट टोपियां पहनी हुई थीं, परंतु पटियाला के प्रतिनिधियों-लेफिटनेंट माननीय मलिक उमर हयात खान, खान बहादुर अली चौधरी, खान बहादुर अहमद मोहिउद्दीन खान और कुछ अन्य लोगों ने भारतीय वस्त्र पहने हुए थे, जबकि कुछ अन्य लोगों ने सुनहरे वस्त्र पहने हुए थे। महामहिम वाइसराय ने प्रातःकालीन वस्त्र पहने थे और अपने फ्रॉक कोट पर 'आर्डर ऑफ द स्टेट ऑफ इंडिया' का तमगा लगाया हुआ था।

वाइस रीगल लॉज में गार्डन पार्टी

आज दोपहर में वाइसराय लॉज के गार्डन में एक गार्डन पार्टी आयोजित की गई जहां वाइसराय ने मुस्लिम प्रतिनिधियों का स्वागत किया, जिन्होंने प्रत्येक डिप्टी से बात की थी।

माननीय श्री बेकर, वित्तसचिव ने मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल के निम्नलिखित बंगाली भद्रपुरूषों को कल मध्याहन-भोजन के लिए आमंत्रित किया है : नवाब अमीर हुसैन, मिर्जा सुजात अली, नवाब नासर हुसैन, माननीय शरफुद्दीन और अली इमाम।

संप्रदाय के दावे

देश के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण संप्रदायों के प्रभावशाली सदस्यों से परामर्श करने का गोपनीय और विनम्र उपाय आरंभ किया गया। फिर मान्यताप्राप्त राजनीतिक अथवा वाणिज्यिक संगठनों द्वारा महत्व के उपायों पर प्राधिकारियों को अपनी आलोचना और विचार प्रकट करने के अधिकार का मान्यता देकर अंत में नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों और सबसे ऊपर देश के सभी विधानमंडलों में उनका नामांकन और चुनाव कराकर इस सिद्धांत का धीरे–धीरे प्रसार किया गया। हम समझते है कि इस अंतिम भाग पर आपके द्वारा नियुक्त एक समिति द्वारा विचार किया जाएगा, ताकि इसका और प्रसार किया जा सके और जन–प्रचार–प्रसारित ऐसे प्रतिनिधित्व और हमारे संप्रदाय के हितों को प्रभावित करने वाले कुछ अन्य महत्वपूर्ण मामलों में हमारे उचित हिस्से के दावे के संदर्भ में इस अवसर पर हमने आपसे बातचीत करने का साहस जुटाया है।

पिछली परंपराएं

वर्ष 1901 की जनगणना के अनुसार भारत के मुस्लिमों की संख्या 6 करोड़ 20 लाख से अधिक अथवा महामहिम के शासनाधीन भारत की कुल जनसंख्या के पांचवें और चौथे भाग के बीच थी और यदि जड़ात्मवादी शीर्षो के अंतर्गत गिनाए गए असभ्य भाग, छोटे–छोटे अंन्य धर्मों और उनको जिन्हें सामान्यतः हिंदू के रूप में वर्गीकृत किया जाता है और जो वस्तुतः हिंदू नहीं है, को निकाल दिया जाए तो मुसलमानों का अनुपात हिंदुओं के बहुमत से अधिक बन जाता है। इसलिए हम यह विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि किसी बड़े या सीमित प्रतिनिधित्व वाली प्रणाली के अंतर्गत, कोई संप्रदाय, जो स्वयं रूस को छोड़कर किसी प्रथम श्रेणी यूरोपियन शक्ति की संपूर्ण जनसंख्या से संख्या में अधिक हो, राज्य में एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में समुचित मान्यता का न्यायसंगत दावा प्रस्तुत कर सकता है।

वस्तुतः महामहिम की अनुमति से हम यह भी आग्रह करते हैं कि किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व और उनकी सामाजिक स्थिति तथा हैसियत को अन्यथा प्रभावित करनेवाले के प्रतिनिधित्व में मुस्लिमों को दिया जाने वाला दर्जा न केवल उनकी संख्या के अनुरूप हो, बल्कि उनके राजनीतिक महत्व और साम्राज्य की रक्षा के लिए किए गए उनके योगदान के भी अनुरूप हो, और हम यह भी आशा करते हैं कि महामहिम इस संबंध में भारत में उनकी सौ से भी अधिक वर्षों की स्थिति, जिसकी परंपराएं उनकी स्मृति से मिटी नहीं होंगी, पर अपेक्षित ध्यान देंगे।

युरोपीय प्रतिनिधि संस्थान

हमें आशा है कि महामहिम आरंभ में हमारे इस कथन पर हमें क्षमा करेंगे कि यूरोपीय किस्म के प्रतिनिधि संस्थान भारतीय लोगों के लिए नए हैं; हमारे संप्रदाय के अधिकांश विचारशील सदस्यों में से अनेक सदस्यों की वास्तव में भावना है कि यदि उन्हें, भारत में बनने वाली सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों में, सफलतापूर्वक अपनाया जाता है तो इसके लिए अत्यधिक सावधानी, दूरदर्शिता और सतर्कता बरतना आवश्यक होगा, और इस प्रकार की सावधानी और सतर्कता को अपनाएं बिना, हमारी अन्य बुराइयों के साथ–साथ हमारे राष्ट्रीय हितों को एक गैर–सहानुभूतिपूर्ण बहुमत की दया पर निर्भर रहना पड़ेगा। तथापि, चूंकि हमारे शासकों ने अति प्राचीन सहज ज्ञान और परंपराओं के अनुसरण में इन संस्थानों को देश की सरकार में उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण स्थान देना उचित समझा है, इसलिए हम मुसलमान अपने स्वयं के राष्ट्रीय हितों के पक्ष में उन परिस्थितियों में भागीदार बनने से स्वयं को अलग–थलग नहीं रख सकते हैं, जिसमें उस नीति को तैयार किया गया है। इसलिए जहां हम आभारपूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि भारत के मुसलमानों को इस समय जो प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वह आप महामहिमें और आपसे पूर्ववर्ती प्रसिद्ध वाइसराय तथा स्थानीय सरकारों के प्रमुखों के मन में न्याय और निष्पक्षता की भावना के कारण है, जो विधायी चेम्बरों के मुसलमान सदस्यों को निरपवाद रूप से नामनिर्देशित करते रहे हैं; वही यह टिप्पणी भी करने को विवश हैं कि हमें इस प्रकार दिया गया प्रतिनिधित्व हमारी अपेक्षाओं से अपर्याप्त है और इन्हे उस निकाय का सदैव अनुमोदन प्राप्त नहीं होता है, जिनमें प्रतिनिधित्व के लिए उनका नामनिर्देशित किया जाता है। इस प्रकार की बातें विद्यमान परिस्थितियों में अपरिहार्य हैं, क्योंकि एक ओर तो वाइसराय और स्थानीय संस्थानों के लिए आरक्षित नामनिर्देशनों की संख्या सीमित है और दूसरी ओर वास्तविक प्रतिनिधि समझवाले व्यक्तियों का चयन करना, लोकप्रिय चुनाव की दिशा दर्शानेवाली किसी विश्वसनीय प्रणाली के अभाव में, आसान नहीं है।

निर्वाचन के परिणाम

जहां तक निर्वाचन के परिणामों का संबंध है, इस समय गठित निर्वाचन निकायों द्वारा किसी मुसलमान उम्मीदवार का नाम सरकार के अनुमोदन के लिए देना बिल्कुल संभव नहीं है, जब तक वह महत्वपूर्ण मामलों में बहुसंख्यकों के साथ सहानुभूति न रखता हो। न ही हम निष्पक्षता के रूप में अपने गैर–मुसलमान साथियों की इस इच्छा में कोई दोष पाते हैं कि वे अपनी संख्या और अपने संप्रदाय के सदस्यों को वोट देने का पूरा–पूरा लाभ उठाएं अथवा उन लोगों को वोट देने का लाभ उठाएं, जो गैर–हिंदू हैं जिनसे हिंदू बहुसंख्यकों के साथ वोट देना

अपेक्षित माना जाता है, जिनकी इच्छा पर ही उनका भविष्य में पुनः चुना जाना निर्भर करता है। यह सच है कि अपने हिंदू देशवासियों के साथ हमारे अनेक और महत्वपूर्ण समान हित हैं और यह सुनिश्चित करना हमारे सदैव संतोष का विषय रहेगा कि विधायी चैम्बरों में योग्य समर्थकों की उपस्थिति हो तथा उनकी राष्ट्रीयता को दृष्टिगत किए बिना हमारे इन हितों की सुरक्षा होती रहे।

एक पृथक संप्रदाय

फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि हम मुसलमान, अपने अतिरिक्त हितों, जिसमें अन्य समुदायों का कोई हिस्सा नहीं है, के साथ एक पृथक संप्रदाय हैं और हमें अब तक इस तथ्य से हानि हुई है कि हमें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। यहां तक कि उन प्रांतों में–जहां मुसलमान जनसंख्या स्पष्ट बहुमत में हैं और जिनसे प्रायः ऐसे व्यवहार किया जाता है कि वे ऐसे गैर–महत्वपूर्ण छोटे–छोटे राजनीतिक घटक है, जिन्हें बिना किसी भेदभाव के उपेक्षित किया जा सकता है।

प्रतिनिधियों के निर्वाचन के संबंध में हमारे विचार बनने से पहले हम इस बात को ध्यान में रखने का आग्रह करते हैं कि किसी सम्प्रदाय का राजनीतिक महत्व उसके सदस्यों की राज्य की सेवा में धारित स्थिति के अनुसार शक्ति प्राप्त करता है या हानि उठाता है। जैसा कि मुसलमानों के मामले में दुर्भाग्यपूर्ण है, यदि इस प्रकार उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता है, तो वे अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव खो देंगे जो उनका युक्तिसंगत अधिकार है।

सरकारी सेवाओं में रोजगार

अतः हम अनुरोध करते हैं कि सरकार सहर्ष ऐसा उपबन्ध करेगी कि सभी भारतीय प्रान्तों की राजपत्रित और अधीनस्थ तथा मंत्रालयीन दोनों सेवाओं में एक निश्चित अनुपात में मुसलमानों को हमेशा नियुक्त किया जाएगा। अनेक बार कुछ प्रान्तों की स्थानीय सरकारों द्वारा बाहर से मुस्लिम उम्मीदवारों को लेने–जैसे आदेश किए गए, परंतु दुर्भाग्यवश सभी मामलों में इन आदेशों का 'योग्य मुसलमान उपलब्ध नहीं हैं' के आधार पर कड़ाई से पालन नहीं किया गया। यह आरोप, हम मानते है कि कभी ऐसा रहा होगा, परंतु हमारा निवेदन है कि अब ऐसा नहीं है और उनको नियुक्त करने की इच्छाशक्ति ही नहीं है। हम सहर्ष आपको आश्वासन देते हैं कि अब वे मांग के अनुरूप उपलब्ध हैं।

प्रतिस्पर्धी घटक

यद्यपि योग्य मुसलमानों की संख्या में वृद्धि हुई है, परंतु दुर्भाग्यवश उन्हें इस आधार

पर रद्द करने की प्रवृत्ति बन गई है कि उच्च योग्यता को प्राथमिकता दी जानी है। इससे प्रतिस्पर्धी घटक को इसके विकृत रूप में पेश करना आरंभ हो गया है और महामहिम, हम आपकी अनुमति से आपका ध्यान सभी शासकीय शक्तियों में एक वर्ग के एकाधिकार के राजनीतिक महत्त्व की ओर दिलाना चाहते हैं। इस संदर्भ में हम यह भी उल्लेख करना चाहते हैं कि मुसलमान शिक्षाविदों के प्रयास उनके बीच आरंभ किए गए शैक्षिक अभियान के प्रारंभ से ही चरित्र–निर्माण की दिखा में चल पड़े थे, और हमें लगता है कि यह गुण केवल अच्छा सरकारी सेवक बनाने में मानसिक जागरूकता पैदा करने से अधिक महत्वपूर्ण है।

खंडपीठ में मुसलमान

हमें यह अनुरोध करने का हक है कि भारत के सभी भागों में मुसलमान सामान्यतः इस बात से दुखी हैं कि उच्च न्यायालयों और न्यायपालिका के प्रमुख न्यायालयों में मुसलमान न्यायाधीशों को प्रायः नियुक्त नहीं किया जाता। इन न्यायालयों की स्थापना के बाद अब तक केवल तीन मुसलमान वकीलों को ये सम्माननीय पद प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने खण्डपीठ में अपनी नियुक्ति को युक्तिसंगत सिद्ध किया। इस समय एक भी मुसलमान न्यायाधीश इन न्यायालयों में नियुक्त नहीं है, जबकि कलकत्ता उच्च न्यायालय में तीन हिंदू न्यायाधीश हैं, जहां जनसंख्या में मुसलमानों का अनुपात अधिक है और पंजाब के मुख्य न्यायालय में दो न्यायाधीश हैं, जहां जनसंख्या में मुसलमानों बहुमत में है। इसलिए यह हमारा अति महत्वाकांक्षी अनुरोध नहीं है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय और प्रमुख न्यायालयों में एक–एक मुसलमान न्यायाधीश नियुक्त किया जाए। इन नियुक्तियों के लिए योग्य पात्र मुसलमान वकील एक प्रांत में नहीं हों तो दूसरे प्रांत में उपलब्ध हो सकते हैं। हम यह कहने की भी अनुमति चाहते हैं कि इन न्यायालयों की खण्डपीठ में मुस्लिम विधि के ज्ञाता न्यायाधीश की उपस्थिति से न्याय–प्रशासन को पर्याप्त शक्ति प्राप्त होगी।

न्यायपालिका में प्रतिनिधित्व

चूंकि नगरपालिका और जिला बोर्डों को महत्वपूर्ण स्थानीय हितों की देखभाल करनी होती है जो बहुत हद तक स्वास्थ्य सुविधाओं, शैक्षिक आवश्यकताओं, यहां तक कि नगरवासियों के धार्मिक हितों को भी प्रभावित करते हैं। हम आशा करते हैं कि यदि हम महामहिम का ध्यान उच्च हितों से पूर्व इनमें मुसलमानों की स्थिति की ओर दिलाते हैं, तो वे हमें क्षमा करेंगे। जैसा कि ज्ञात है, ये संस्थान स्वशासन की सीढ़ी की आरंभिक सीढ़ियां हैं और जैसा कि सुझाव दिया गया है, लोगों की बुद्धिमत्ता के अनुसार प्रतिनिधित्व का सिद्धांत लागू किया जाए। फिर भी इन बोर्डों में मुसलमानों की स्थिति का इस समय किसी ऐसे भावविभूति सिद्धांत द्वारा

विनियमन नहीं किया जाता है, जो समानरूप से प्रभावी हो और यह विभिन्न स्थानों में व्यावहारिक रूप में भिन्न है। उदाहरणार्थ, अलीगढ़ नगरपालिका छह वार्डों में विभक्त है और प्रत्येक वार्ड में एक हिंदू और एक मुसलमान आयुक्त होता है और हम समझते हैं कि यहीं सिद्धांत पंजाब और दूसरी नगरपालिकाओं में भी अपनाया जाना चाहिए, परंतु अधिकांश स्थानों पर मुसलमान करदाताओं को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता है। अतः सम्मानपूर्वक हमारा यही सुझाव है कि स्थानीय प्राधिकारी को प्रत्येक मामले में नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों में हिंदुओं और मुसलमानों की सीटों की संख्या की घोषणा करना अनिवार्य बनाया जाए, ऐसा अनुपात दोनों संप्रदायों के अलग–अलग संख्या–बल, सामाजिक दर्जे, स्थानिक प्रभाव और विशेष आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किया जाए। एक बार उनका अनुपात आधिकारिक तौर पर निर्धारित हो जाने पर, हम यह सुझाव देंगे कि दोनों संप्रदायों को अपने प्रतिनिधियों का अलग–अलग चुनाव करने की अनुमति दी जानी चाहिए, जैसा कि पंजाब के अनेक शहरों में होता है।

विश्वविद्यालयों की सदस्यता

हम यह भी सुझाव देंगे कि भारतीय विश्वविद्यालयों की सीनेटों और सिंडिकेटों में भी ऐसा ही हो। कहने का आशय यह है कि जहां तक संभव हो, इन दोनों निकायों में जिस अनुपात में मुसलमानों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, आधिकारिक रूप से उसकी अलग–अलग घोषणा की जाए।

प्रांतीय परिषदों में नामनिर्देशन

अब हम देश के विधायी चेम्बरों में अपने प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर आते हैं। प्रांतीय परिषदों के मामलों मे हम सम्मानपूर्वक यह सुझाव देते हैं कि जैसाकि नगरपालिकाओं और जिला बोर्डो के मामले में है, इस याचिका के पैरा–5 में हमारे द्वारा उल्लिखित विशेष कारणों के संबंध में अपेक्षित ध्यान देते हुए मुसलमानों के लिए अलग स्थानों का निर्धारण किया जाए और उसकी घोषणा की जाए और यह भी कि महत्वपूर्ण मुसलमान जमींदारों, वकीलों, व्यवसायियों और अन्य महत्वपूर्ण हितों वाले प्रतिनिधियों, जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं के मुसलमान सदस्यों तथा विश्वविद्यालयों के लिए कतिपय अवधि, यथा पांच वर्ष, मुसलमान स्नातकों का निर्वाचक मंडल बनाया जाए और उन्हें उन प्रक्रिया–नियमों, जैसा कि महामहिम की सरकार इस संबंध में निर्धारित करे, के अनुसरण में कतिपय संख्या में ऐसे सदस्यों, जिन्हें योग्या घाषित किया जा सके, का चुनाव करने के लिए प्राधिकृत किया जाए।

वायसराय परिषद

शाही विधायी परिषद के संबंध में जहां मुसलमानों के हितों का समुचित प्रतिनिधित्व अति महत्वपूर्ण मामला है, हम यह सुझाव देना चाहते हैं (एक) कि परिषद के संवर्ग में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या, उस संप्रदाय के लोगों की संख्या के आधार पर, निर्धारित न की जाए, और किसी भी मामले में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या निष्प्रभावी अल्प संख्या में कभी न हो; (दो) कि जहां तक संभव हो, नामनिर्देशन के बजाय निर्वाचन द्वारा नियुक्ति को प्राथमिकता दी जाए; (तीन) कि मुसलमानों सदस्यों को चुनने के लिए, मुसलमान जमींदारों, वकीलों, व्यवसायियों और अन्य महत्वूपर्ण हितों वाले प्रतिनिधियों, जिनकी सामाजिक स्थिति को महामहिम की सरकार द्वारा बाद में निर्धारित किया जाएगा – प्रांतीय परिषदों के मुसलमान सदस्यों और विश्वविद्यालयों के मुसलमान फैलो को, महामहिम की सरकार द्वारा इसके लिए निर्धारित की जाने वाली प्रक्रिया के अनुसार निर्वाचन अधिकार दिए जाएं।

कार्यकारी परिषद

हाल में यह धारणा प्रबल होती जा रही है कि वाइसराय की कार्यकारी परिषद में एक या दो भारतीय सदस्यों को ही नियुक्त किया जाएगा। इस प्रकार की नियुक्ति किए जाने की स्थिति में, हमारा यह अनुरोध है कि इस संबंध में मुसलमानों के दावों को नजरअंदाज न किया जाए। हम यह कहना चाहते हैं कि उस महान सभा में योग्यतापूर्वक कार्य करने के लिए उपयुक्त मुसलमान देश में उपलब्ध होंगे।

एक मुस्लिम विश्वविद्यालय

हम महामहिम का ध्यान एक और विषय की ओर दिलाना चाहते हैं, जिसका राष्ट्रीय हित पर गहरा असर पड़ सकता है। हमें विश्वास है कि एक संप्रदाय के रूप में हमारी आकाक्षाएं और हमारी भावी प्रगति बहुत हद तक एक ऐसे मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना पर निर्भर करती है, जो हमारे धार्मिक और बौद्धिक जीवन का केंद्र होगा। इसलिए हमारा विनम्र अनुरोध है कि महामहिम इस उपक्रम की स्थापना में, जिसमें हमारे संप्रदाय की गहरी रूचि है, हमारी सहायता के लिए कदम उठाएंगे।

अंत में हम महामहिम को आश्वासन देना चाहते हैं कि प्रस्तुत याचिका में दर्ज परिस्थितियों और उल्लिखित दिग्गजों में भारतीय विषयों के विकास में मुस्लिम जनसंख्या की सहायता करके महामहिम साम्राज्य के प्रति अपनी उत्तरदायी निष्ठा के आधार को सुदृढ़ करेंगे और उनके राजनीतिक विकास और राष्ट्रीय समृद्धि की आधारशिला रखेंगे तथा आनेवाली पीढ़ियां इसे सदियों तक कृतज्ञतापूर्वक याद

करेंगी। हमें विश्वास है कि महामहिम हमारी प्रार्थनाओं पर सहर्ष अपेक्षित ध्यान देंगे। हम स्वयं को महामहिम के आज्ञाकारी और विनम्र सेवक होने के नाते सम्मानित अनुभव करते हैं।

लार्ड मिंटो का उत्तर

मुस्लिम आकाक्षाओं का मूल्यांकन

याचिका प्रस्तुत किए जाने के बाद, महामहिम उठे, और एक अत्यधिक सहानुभूतिपूर्ण उत्तर दिया, जिसके बीच में प्रतिनिधिमंडल के समस्यगण वाह–वाह कहते हुए तालियों बजाते रहे, विशेष रूप से तब जब महामहिम ने यह घोषणा की कि वे प्रतिनिधिमंडल के विचारों से पूर्णतः सहमत है कि किसी भी निर्वाचन–पद्धति को इस महान साम्राज्य के विभिन्न धार्मिक पंथों का ध्यान रखना चाहिए और ब्रिटिश सरकार अपने अधीन विभिन्न संप्रदायों के राजनीतिक अधिकारों की भविष्य में भी पूर्ववत् सुरक्षा करती रहेगी। वाइसराय ने इतने सारे प्रतिनिधियों से भेंट करने का अद्वितीय अवसर देने के लिए प्रतिनिधिमंडल का धन्यवाद करते हुए अपना भाषण समाप्त किया।

वाइसराय ने कहा –

सज्जनों, आपकी याचिका में उठाई गई अनेक बातों का उत्तर देने से पूर्व मैं आपका शिमला आने के लिए हृदय से स्वागत करता हूं। आज यहां आपकी उपस्थिति बहुत सार्थक है। उस याचिका में, जिसे आपने मुझे दिया है, विभिन्न राज्यों के मंत्रियों, बड़े–बड़े जमींदारों, वकीलों, व्यवसायियों और महामहिम की प्रजा के अनेक अन्य कुलीन व्यक्तियों के हस्ताक्षर हैं। मैं भारत में प्रबुद्ध मुस्लिम संप्रदाय के विचारों और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करनेवाले आपके प्रतिनिधिमंडल के प्रतिनिधियों का स्वागत करता हूं। 'मैं समझता हूं कि आपने छोटे–छोटे वैयक्तिक अथवा बिखरी हुई बस्तियों की राजनीतिक भावनाओं और विरोध से बिलकुल भिन्न, भारत में विद्यमान राजनीतिक स्थितियों पर उपयुक्त विचार के आधार पर प्रातिनिधिक निकाय के रूप में सारतः ये बातें कही हैं और मैं इस्लाम के अनुयायियों के युक्तिसंगत उद्देश्यों और हमारे साम्राज्य के राजनीतिक इतिहास में हिस्सा लेने के निश्चय का अपना मूल्यांकन अभिव्यक्त करने का अवसर देने के लिए आप लोगों का आभारी हूं।

आपके वाइसराय के रूप में, इस विकासशील महाद्वीप की जनसंख्या की विभिन्न जातियों को ब्रिटिश शासन द्वारा दिए गए लाभों के संबंध में आप लोगों द्वारा व्यक्त की गई खुशी को देखकर, मैं गौरवान्वित अनुभव करता हूं। आपने स्वयं, एक शासित और शासक जाति की संतति के रूप में, आज मुख्य वैयक्तिक

स्वतंत्रता, पूजा की स्वतंत्रता, सामान्य शांति और आशावादी भविष्य, जिसे ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में अक्षुण्ण रखा है, के बारे में बताया है।

अतीत में की गई सहायता

मुसलमान लोगों को सरकारी सेवा में स्वयं को पात्र बनाने में सहायता करने के ब्रिटिश प्रयासों पर नजर डालना रूचिकर है। वारेन हैस्टिंग ने 1782 में कलकत्ता–मद्रास की स्थापना की, ताकि इसके छात्र सरकारी संस्थानों के अंतर्गत रोजगार के लिए हिंदुओं के साथ अधिक समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा में भाग ले सकें। मेरे पूर्वज लार्ड मिंटो ने 1811 में मदरसा के सुधार और पूरे भारत में अन्य स्थानों पर मुस्लिम महाविद्यालयों की स्थापना करने की वकालत की थी। बाद के वर्षों में मुसलमान एसोसिएशन के प्रयासों से मुसलमान समुदाय की शैक्षिक स्थिति और सरकारी सेवा में उनके नियोजन के बारे में 1855 का सरकारी संकल्प पारित किया गया, जबकि मुस्लिम शैक्षिक प्रयासों की परिणति अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में एक महान संस्थान की स्थापना हुई, जिसे योग्य और उदारमना सर सैयद अहमद खान ने अपने सहधर्मियों को समर्पित किया।

अलीगढ़ महाविद्यालय

जुलाई, 1877 में लार्ड लिट्टन ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय की आधारशिला रखी, जहां सर सैयद अहमद खान ने वायसराय को इन स्मरणीय शब्दों में संबोधित किया था: 'आपने जो वैयक्तिक सम्मान मुझे दिया है, उससे मैं इस महान तथ्य के प्रति आश्वस्त हुआ हूं और मुझमें मात्र वैयक्तिक कृतज्ञता से भी अधिक की भावना भर गई है। इस अवसर पर मुझे यह विश्वास हो गया है कि आप ब्रिटिश शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं, और हमारे परिश्रम के प्रति आपको सहानुभूति है और यह आश्वासन बहूत महत्वपूर्ण है, और हमारे लिए प्रसन्नता का स्रोत है। अपने जीवन काल में मेरे लिए यह अनुभव करता अत्यंत सुखद है कि वर्षों पहले की गई घोषणा ने जो मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य रही है, ने एक ओर तो मेरे अपने देशवासियों में ऊर्जा भर दी है और दूसरी ओर हमारे ब्रिटिश सह–नागरिकों की सहानुभूति प्राप्त कर ली है और हमारे शासकों का समर्थन प्राप्त कर लिया है, ताकि जितने वर्ष मेरे हिस्से के बचे है और जब मैं आपके बीच नहीं रहूंगा, यह कालेज फले–फूलेगा और मेरे देशवासियों को अपने देश के लिए वही प्रेम, ब्रिटिश शासन के प्रति वही निष्ठा की भावना, इसके आशीर्वाद के वही मूल्यांकन, हमारे ब्रिटिश सह–नागरिकों के प्रति वही सच्ची मैत्री की भावना जगाने में सफल रहेगा, जो मेरे जीवन की मार्गदर्शी भावना रही है।"

सर सैयद का प्रभाव

अलीगढ़ ने प्रशंसा प्राप्त की है। इसके छात्रों ने अपने स्वयं के धर्म सिद्धांतों के लिए, निष्ठा और देशभक्ति के उपदेशों के लिए जीवन में दृढ़तापूर्वक संघर्ष किया है और अब भारत का राजनीतिक भविष्य निर्णायक मोड़ पर है, सर सैयद अहमद खान की प्रेरणा और अलीगढ़ की शिक्षा मुस्लिम इतिहास के गौरव में, निष्ठा में, सामान्य सूझ–बझ और सटीक तार्किकता में परिलक्षित हो रही है, जो आपकी याचिका में प्रभावशाली रूप से अभिव्यक्त की गई है। परंतु सज्जनों, आप मुझे यह बता रहे हैं कि आप अपने शासकों के न्याय और निष्पक्ष व्यवहार के प्रति आश्वस्त हैं, आपको शायद मालूम होगा कि हाल की घटनाओं ने मुसलमानों की युवा पीढ़ी की भावनाओं को भड़का दिया है, जो संयमशील उपदेश और गंभीर मार्गदर्शन के नियंत्रण से परे जा सकती हैं।

पूर्वी बंगाल में नीति

अब पूर्वी बंगाल और असम के मामलों में कोई चर्चा करने की मेरी मंशा नहीं है, फिर भी मुझे आशा है कि किसी को नाराज किए बिना मैं नए प्रांत के मुसलमान संप्रदाय को संयम बरतने और आत्मनियंत्रण रखने के लिए, जो उन्होंने नई परिस्थितियों के अंतर्गत दर्शाया है, धन्यवाद देना चाहता हूं और इसके साथ–साथ मैं उन सबके साथ सहानुभूति रखता हूं जो बंगाली भावनाओं के हिमायती हैं। परंतु सबसे पहले मैं आपको इस बात पर विश्वास करने के लिए कहूंगा कि नए प्रांत के मामलों में भविष्य के प्रति मैं आश्वस्त हूं जो जाति अथवा धार्मिक पंथ से पृथक इसकी वर्तमान और भावी जनसंख्या की बेहतरी के लिहाज से अपनाया गया है, और यह कि पूर्वी बंगाल और असम का मुसलमान संप्रदाय सदैव की भांति अपनी निष्ठा के मूल्यांकन और हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश न्याय और निष्पक्षता पर विश्वास कर सकता है।

भारत में अशांति

सज्जनों, आपने मुझे उस समय याचिका दी है, जब राजनीतिक माहौल परिवर्तन के दौर में है। हम सब यह महसूस करते हैं कि इसके अस्तित्व, आशाओं और आकांक्षाओं के प्रति, जो भारत के लिए नई हैं, और वे स्वयं इन्हें महसूस करते हैं, इंकार करने का प्रयास करना बेवकूफी होगी। हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते–ऐसा करके हम गलती करेंगे–परंतु यह अशांति किस कारण से है? कुशासन से जन्में असन्तोष के कारण नहीं– जो ऐसी बात कहता है मैं उसका विरोध करता हूँ– और यह असन्तुष्ट लोगों के विद्रोह के कारण भी नहीं है।

पश्चिमी शिक्षा का फल

ऐसा उस शैक्षिक विकास के कारण है, जिसमें जनसंख्या के बहुत थोड़े से भाग ने अभी तक भागीदारी की है, जिसका बीज सबसे पहले ब्रिटिश शासन ने बोया था और जिसके फल को ब्रिटिश शासन पालने–पोसने और दिशा देने का अपनी ओर से भरसक प्रयास करता रहा। अब हम जिस फसल को काट रहे हैं, उसके अनेक धड़े हो सकते है। हमने जो पश्चिमी अनाज बोया था, वह भारत के लोगों की आवश्यकताओं के पूर्णतः उपयुक्त नहीं रहा हो, परंतु शैक्षिक फसल बरसों–बरस बढ़ती जाएगी, और प्राप्त होनेवाला स्वास्थ्य और पोषण, सतर्क प्रशासन और इसके उत्पादों के वितरण पर निर्भर करेगा। सज्जनों, आपको मुझे यह बताने के लिए क्षमा–याचना करने की आवश्यकता नहीं है कि यूरोपियन प्रकार के प्रातिनिधिक संस्थान भारत के लोगों के लिए बिल्कुल नए हैं अथवा उन्हें यहां लाने के लिए अत्यधिक गंभीर मनन और सावधानी अपेक्षित है। पूर्वी जातियों के परंपरागत सहज ज्ञान और परंपराओं के बीच पश्चिमी विस्तार, पश्चिमी सभ्यता के उपदेश, ब्रिटिश वैयक्तिकता की स्वतंत्रता भारत के लोगों के लिए बहुत कुछ कर सकती है, परंतु आपके साथ–साथ मैं भी इसे स्वीकार करता हूं कि उन्हें राजनीतिक तरीके स्वीकार करने की अव्यावहारिक हठधर्मिता को नहीं अपनाना चाहिए था।

मुसलमानों का राजनीतिक भविष्य

और सज्जनों, अब मैं राजनीतिक भविष्य के संबंध में आपकी स्थिति, मुसलमान संप्रदाय की स्थिति, पर आता हूं जिसके बारे में आप बात कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि आप इस बात को स्वीकार करेंगे कि स्थितियों और लोक प्रशासन में इस संप्रदाय के भाग के विस्तृत विचारक–माध्यम से आपका अनुसरण करना मेरे लिए असंभव है। इस समय मैं केवल सामान्य बातों पर विचार कर सकता हूं। आपने जो मुद्दे उठाए हैं, वे उस समिति, जिसे मैंने प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विचार के लिए नियुक्त किया है, के समक्ष हैं, और मैं इस बात का ध्यान रखूंगा कि आपकी याचिका उसे प्रस्तुत की जाए, परंतु इसके साथ–साथ मुझे आशा है कि मैं समिति की रिपोर्ट की पहले से ही कोई रोकथाम किए बिना आपकी टिप्पणियों के सामान्य रूप से उत्तर दे सकूंगा।

प्रतिनिधित्व का प्रश्न

आपकी याचिका का सार, जैसा कि मैं समझा पाया हूं, यह है कि प्रतिनिधित्व की किसी भी प्रणाली में, चाहे वह किसी नगरपालिका, किसी जिला बोर्ड या किसी विधायी परिषद, जिसमें एक निर्वाचक संगठन को प्रभावी करने या बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया हो, को प्रभावित करती हो, मुस्लिम संप्रदाय को एक संप्रदाय के रूप

में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। आपने यह उल्लेख किया है कि अनेक मामलों में निर्वाचक निकाय, जैसे अब गठित हैं, द्वारा किसी मुसलमान उम्मीदवार का चुनाव किए जाने की आशा नहीं की जा सकती। और यदि संयोगवश वे ऐसा करते हैं, तो वह उस उम्मीदवार के अपने संप्रदाय के प्रति बहुसंख्यक संप्रदाय का प्रतिनिधि नहीं होगा, और आपने ठीक ही दावा किया है कि आपकी संख्या, आपके संप्रदाय के राजनीतिक महत्व और साम्राज्य की सेवा के कारण, सम्मान के पात्र हैं। मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूं, कृपया मुझे गलत न समझा जाए। मैं यह संकेत देने का प्रयास नहीं कर रहा हूं कि संप्रदायों का प्रतिनिधित्व किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, परंतु मैं उसी प्रकार भली-भंति संतुष्ट हूं जैसे कि आप होंगे कि भारत में किसी निर्वाचक प्रतिनिधित्व का परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण असफलता में होगा, जिसका उद्देश्य इस महाद्वीप के संप्रदायों के मतों और परंपराओं पर विचार किए बिना वैयक्तिक मताधिकार पर आधारित है। भारतीय लोगों के विराट समूह को प्रातिनिधिक संस्थानों की जानकारी नहीं है। सज्जनों, मैं आपसे सहमत हूं कि स्वशासन की सीढ़ी के आरंभिक पद नगरपालिका और जिला बोर्डों में ढूंढने होंगे और यह उसी दिशा में एक कदम है कि हमें लोगों को धीरे-धीरे राजनीतिक शिक्षा देने पर ध्यान देना चाहिए।

एक आश्वासन

इस बीच मैं केवल यह कह सकता हूं कि मुस्लिम इस बारे में निश्चिंत रहें कि किसी भी प्रशासनिक पूनर्गठन में, जिससे मैं संबंधित हूं, मुस्लिम संप्रद्राय के राजनीतिक अधिकार और हित सुरक्षित रहेंगे। आप और भारत के अन्य लोग ब्रिटिश राज पर विश्वास कर सकते हैं कि वह महामहिम के भारतीय साम्राज्य की प्रजा की अनेक धार्मिक मतों और परंपराओं का सम्मान करेगा, जैसा कि वह करता रहा है।

सज्जनों, मैं इतने सारे प्रतिष्ठित और प्रतिनिधि मुसलमानों से भेंट करने का अवसर देने के लिए आपके प्रतिनिधिमंडल को हृदय से धन्यवाद देता हूं। मैं आपके जन-कार्यों में आपकी रुचि जो आपको इतनी दूरी तय करके यहां लाई है, की सराहना करता हूं और केवल इस बात पर खेद व्यक्त करता हूं कि आपका शिमला-दौरा बहुत कम अवधि का रहा।

परिशिष्ट 13

प्रत्येक प्रांतीय विधानमंडल में निम्न सदन के लिए भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत स्थानों का आवंटन

प्रान्त	सामान्य स्थान			पिछड़े क्षेत्रों और जनजातियों के प्रतिनिधित्व के स्थान	सिख स्थान	मुस्लिम स्थान	आंग्ल भारतीय स्थान	यूरोपियन स्थान	भारतीय ईसाई स्थान	वाणिज्य उद्योग खान और बागान प्रतिनिधियों का स्थान	भूमिधारियों के स्थान	विश्वविद्यालय स्थान	श्रमिकों के प्रतिनिधियों के स्थान	महिलाओं के लिए स्थान				
	कुल स्थान	कुल सामान्य स्थान	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सामान्य स्थान											सामान्य	सिख	मुस्लिम	आंग्ल–भारतीय	भारतीय ईसाई
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19
मद्रास	215	146	30	1	..	28	2	3	8	6	6	1	6	6	..	1	..	1
बम्बई	176	114	15	1	..	29	2	3	3	7	2	1	7	5	..	1	..	..
बंगाल	250	78	30	..	..	117	3	11	2	19	5	2	8	2	..	2	1	..
संयुक्त प्रांत	228	140	20	..	..	64	1	2	2	3	6	1	3	4	..	2	..	..
पंजाब	175	42	8	..	31	84	1	1	2	1	5	1	3	1	1	2	..	..
बिहार	152	86	15	7	..	39	1	2	1	4	4	1	3	3	..	1	..	..
मध्य प्रान्त और बिहार	112	84	20	1	..	14	1	1	..	2	3	1	2	3	..	..	..	..
असम	108	47	7	9	..	34	..	1	1	11	..	..	4	1	..	..	..	..
उत्तर–पश्चिम फ्रंटियर प्रान्त	50	9	..	..	3	36	..	..	..	..	2	..	..	..	..	..	..	..
उड़ीसा	60	44	6	5	..	4	..	..	1	1	2	..	1	2	..	..	..	..
सिंध	60	18	..	..	..	33	..	2	..	2	2	..	1	1	..	1	..	..

बम्बई मे सामान्य स्थानों में से सात स्थान मराठों के लिए आरक्षित होंगे।
पंजाब मे भूमिधारियों के स्थानों मे से एक स्थान तुमनदार से भरा जाएगा।
असम और उड़ीसा मे महिलाओं के लिए आरक्षित स्थान और साम्प्रदायिक स्थान होंगे।

परिशिष्ट 14

प्रत्येक प्रांतीय विधानमण्डल में उच्च सदन के लिए भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत स्थानों का आवंटन

प्रांत	कुल स्थान	सामान्य स्थान	मुस्लिम स्थान	यूरोपियन स्थान	भारतीय ईसाई स्थान	विधान सभा में भरे जाने वाले स्थान	राज्यपाल द्वारा भरे जाने वाले स्थान
1	2	3	4	5	6	7	8
मद्रास	54 से कम नहीं 56 से अधिक नही	35	7	1	3	..	8 से कम नहीं 10 से अधिक नहीं
बम्बई	29 से कम नहीं 30 से अधिक नही	20	5	1	..	..	3 से कम नहीं 4 से अधिक नहीं
बंगाल	63 से कम नहीं 61 से अधिक नही	10	17	3	..	27	6 से कम नहीं 8 से अधिक नही
संयुक्त प्रांत	58 से कम नहीं 60 से अधिक नही	34	17	1	..	..	6 से कम नहीं 8 से अधिक नहीं
बिहार	29 से कम नहीं 30 से अधिक नही	9	4	1	..	12	3 से कम नहीं 4 से अधिक नहीं
असम	21 से कम नहीं 22 से अधिक नही	10	6	2	..	..	3 से कम नहीं 4 से अधिक नहीं

परिशिष्ट 15

भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत ब्रिटिश इंडिया के संघीय विधानमंडल के निचले सदन में स्थानों का आवंटन

प्रांत	कुल स्थान	कुल सामान्य स्थान	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित स्थान	सिख स्थान	मुस्लिम स्थान	आंगल भारतीय स्थान	यूरोपियन स्थान	भारतीय ईसाई स्थान	व्यापार मण्डल के प्रतिनिधियों के लिए स्थान	भूमिधारियो के स्थान	श्रमिकों के प्रतिनिधियों के स्थान	महिलाओं के स्थान
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
मद्रास	37	19	4	..	8	1	1	2	2	1	1	2
बम्बई	80	13	2	..	6	1	1	1	3	1	2	2
बंगाल	37	10	3	..	17	1	1	1	3	1	2	1
संयुक्त प्रांत	37	19	3	..	12	1	1	1	..	1	1	1
पंजाब	30	6	1	6	14	..	1	1	..	1	..	1
बिहार	30	16	2	..	9	..	1	1	..	1	1	1
मध्य प्रान्त और बिहार	15	..	2	..	3	..	..	..	..	1	1	1
असम	10	4	1	..	3	..	1	1	..	..	..	..
उत्तर–पश्चिम फ्रंटियर प्रान्त	5	1	..	..	4	..	..	..	..	..	..	..
उड़ीसा	5	4	1	..	1	..	..	..	..	..	..	..
सिंध	5	1	..	..	3	..	1	..	..	..	..	..
ब्रिटिश बलुचिस्तान	1	..	..	..	1	..	..	..	..	..	..	..
दिल्ली	2	1	..	..	1	..	..	..	..	..	..	..
अजमेर–मारवाड़	1	1	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..
कुर्ग	1	1	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..
गैर–प्रांतीय स्थान	4	..	..	..	..	..	..	..	3	..	1	..
योग	250	105	19	6	82	4	8	8	11	7	10	9

परिशिष्ट 16

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत ब्रिटिश इंडिया के संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में स्थानों का आवंटन

प्रांत या संप्रदाय	कुल स्थान	सामान्य स्थान	अनुसूचित जातियों के स्थान	सिख स्थान	मुस्लिम स्थान	महिलाओं के स्थान
1	2	3	4	5	6	7
मद्रास	20	14	1	..	4	1
बम्बई	16	10	1	..	6	1
बंगाल	20	8	1	..	10	1
संयुक्त प्रांत	20	11	1	..	7	1
पंजाब	16	3	..	4	8	1
बिहार	16	10	1	..	4	1
मध्य प्रांत और बिहार	8	6	1	..	1	..
असम	5	3	..	..	2	..
उत्तर–पश्चिम फरंटियर प्रांत	5	1	..	..	4	..
उड़ीसा	5	4	..	..	1	..
सिंध	5	2	..	..	3	..
ब्रिटिश बलूचिस्तान	1	..	..	..	1	..
दिल्ली	1	1	..	..	..	..
अजमेर–मारवाड़	1	1	..	..	..	..
कुर्ग	1	1	..	..	..	..
आंग्ल भारतीय	1	..	..	..	..	..
यूरोपियन	7	..	..	..	..	..
भारतीय इसाई	2	..	..	..	..	..
योग	158	75	6	4	49	6

परिशिष्ट 17

संघीय विधानमण्डल में निचले सदन और उच्च सदन में भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत भारतीय राज्यों के लिए स्थानों का आवंटन

राज्य और राज्यों का समूह 1	राज्य परिषद में स्थानों की संख्या 2	राज्य और राज्यों का समूह 3	संघीय विधानसभा में स्थानों की संख्या 4	जनसंख्या 5
डिवीजन I		डिवीजन I		
हैदराबाद	5	हैदराबाद	16	14,436,142
डिवीजन II		डिवीजन II		
मैसूर	3	मैसूर	7	6,557,302
डिवीजन III		डिवीजन III		
काश्मीर	3	काश्मीर	4	3,646,243
डिवीजन IV		डिवीजन IV		
ग्वालियर	3	ग्वालियर	4	3,523,070
डिवीजन V		डिवीजन V		
बड़ौदा	3	बड़ौदा	3	2,443,007
डिवीजन VI		डिवीजन VI		
कालट	2	कालट	1	342,101
डिवीजन VII		डिवीजन VII		
सिक्किम	1	सिक्किम	..	109,808
डिवीजन VIII		डिवीजन VIII		
1. रामपुर	1	1. रामपुर	1	465,225
2. बनारस	1	2. बनारस	1	371,272
डिवीजन IX		डिवीजन IX		
1. त्रावनकोर	2	1. त्रावनकोर	5	5,095,973
2. कोचीन	2	2. कोचीन	1	1,205,016
3. पुडुकोट्टाई बंगापल्ली संदूर	1	3. पुडुकोट्टाई बंगापल्ली संदूर	1	400,694 39,218 13,683
डिवीजन X		डिवीजन X		
1. उदयपुर	2	1. उदयपुर	2	1,566,010
2. जयपुर	2	2. जयपुर	3	2,631,775
3. जोधपुर	2	3. जोधपुर	2	2,125,982
4. बीकानेर	2	4. बीकानेर	1	936,218
5. अलवर	1	5. अलवर	1	749,751
6. कोटा	1	6. कोटा	1	685,804
7. भरतपुर	1	7. भरतपुर	1	486,954

राज्य और राज्यों का समूह 1	राज्य परिषद में स्थानों की संख्या 2	राज्य और राज्यों का समूह 3	संघीय विधानसभा में स्थानों की संख्या 4	जनसंख्या 5
डिवीजन X (जारी)		डिवीजन X (जारी)		
8. टोंक	1	8. टोंक	1	317,360
9. धौलपुर	1	9. धौलपुर	1	254,986
10. करौली	1	करौली		140,526
11. बूंदी	1	10. बूंदी	1	216,722
12. सिरोही	1	सिरोही		216,525
13. डूंगरपुर	1	11. डूंगरपुर	1	227,544
14. बांसवाड़ा	1	बांसवाड़ा		260,670
15. प्रतापगढ़	1	12. प्रतापगढ़	1	.76,539
झालावाड़		झालवाड़		107,890
16. जैसलमेर	1	13. जैसमेर	1	76,255
किशनगढ़		किशनगढ़		86,744
डिवीजन IX		डिवीजन XI		
1. इंदौर	2	1. इंदौर	2	1,225,089
2. भोपाल	2	2. भोपाल	1	729,956
3. रीवा	2	3. रीवा	2	1,687,445
4. दतिया	1	4. दतिया	1	158,834
5. ओरछा		ओरघा		314,661
6. धार	1	5. धार		243,430
7. देवास (ख)	1	देवास (ख)	1	83,321
देवास (क)		देवास (क)		70,513
8. जओरा	1	6. जओरा	1	100,166
रतलाम		रतलाम		107,321
9. पन्ना		7. पन्ना		212,130
समथार	1	समथार	1	83,307
अजयगढ़		अजयगढ		85,895
10. बीजावाड		8. बीजागढ़		115,852
चरखरी	1	चरखरी	1	120,351
छतरपुर		छतरपुर		161,267
11. बाघनी		9. बावनी		19,132
नागौर	1	नागौर	1	74589
मल्हार		बरौन्धा		16,071
बरौन्धा				
12. बारवानी		10. बारवानी		141,110
अलीराजपुर	1	अलीराजपुर	1	101,963
शाहपुरा		शाहपुरा		54,233
13. झबुआ		11. झबुआ		145,522
शैलाना	1	शैलाना	1	35223
सीतामऊ		सीतामऊ		28,422

राज्य और राज्यों का समूह 1	राज्य परिषद में स्थानों की संख्या 2	राज्य और राज्यों का समूह 3	संघीय विधानसभा में स्थानों की संख्या 4	जनसंख्या 5
डिविजन XI		डिविजन XI		
14. राजगढ़ नरसिंहगढ़ खिलचीपुर	1	12. राजगढ नरसिंह गढ़ खिलचीपुर	1	124,891 113,873 45,533
डिविजन XII		डिविजन XII		
1. कच्छ	1	1. कच्छ	1	614,207
2. इदर	1	2. इदर	1	262,660
3. नवानगर	1	3. नवानगर	1	400,192
4. भावनगर	1	4. भावनगर	1	500,274
5. जूनागढ़	1	5. जूनागढ़	1	545,152
6. राजपिपला पालनपुर	1	6. राजपिपला पालनपुर	1	206,114 264,179
7. धारंगधरा गोंडल	1	7. धारंगधरा गोंडल	1	88,961 206,846
8. पोरबन्दर मोरवी	1	8. पोरबन्दर मोरवी	1	115,673 113,023
9. राधनपुर वांकानेर पालीटाना	1	9. राधनपुर वांकानेर पालीटाना	1	70,530 44,259 626,150
10. केम्बे धरमपुर बालसीनारे	1	10. केम्बे धरमपुर बालसीनारे	1	87,701 112,031 52,527
11. बरिया छोटा नागपुर सन्त लूनावाड़ा	1	11. बरिया छोंटा नागपुर सन्त लूनावाड़ा	1	159,429 144,640 83,531 95,162
12. बनाडा सचिन जावहार दान्ता	1	12. बनाडा सचिन जावहार दान्ता	1	48,839 22,107 57,251 26,196
13. धरोल लिम्बडी वधावन राजकोट	1	धरोल लिम्बडी वधावन राजकोट		27,639 60,055 42,602 75,540
डिविजन XIII		डिविजन XIII		
1. कोल्हापुर	2	1. कोल्हापुर	2	967,137
2. सागली सावंतवाड़ी	1	2. सागली सावंतवाड़ी	1	258,442 230,599

राज्य और राज्यों का समूह	राज्य परिषद में स्थानों की संख्या	राज्य और राज्यों का समूह	संघीय विधानसभा में स्थानों की संख्या	जनसंख्या
1	2	3	4	5
डिविजन XIII		डिविजन XIII		
3. जंजीरा		3. जंजीरा		110,379
मुधोल	1	मुधोल	1	53,852
मोर		मोर		141,546
4. जामखंडी		4. जामखंडी		114,270
मीरज (ख)		मीरज (ख)		93,938
मीरज (क)	1	मीरज (क)	1	40,684
कुरून्डवाड (ख)		कुरून्डवाड (ख)		46,204
कुरून्डवाड (क)		कुरून्डवाड (क)		75,540
5. अकालकोट		अकालकोट		92,605
फाल्टन		फाल्टन		38761
जूठ	1	जूठ	1	91,099
औंध		औंध		76,507
रामदुर्ग		रामदुर्ग		85,454
डिविजन XIV		डिविजन XIV		
1. पटियाला	2	1. पटियाला	2	1,625,520
2. बहावलपुर	2	2. बहावलपुर	1	986,612
3. खैरपुर	1	3. खैरपुर	1	227,183
4. कपूरथला	1	4. कपूरथला	1	316,757
5. जींद	1	5. जिंद	1	324,676
6. नाभा	1	6. नाभा	1	287,574
		7. टिहरी गढ़वाल	1	349,543
7. मंडी		8. मंडी		207,485
बिलासपुर	1	बिलासपुर	1	100,994
सुकेट		सुकेट		58,408
8. टिहरी गढ़वाल		9. सिरमूर	1	148,568
सिरमूर	1	चम्बा		148,570
चम्बा				
9. फरीदकोट		10. फरीदकोट		164,304
मलेरकोटा	1	मलेरकोटा	1	83,072
लोहरन		लोहरन		23,338
डिविजन XV		डिविजन XV		
1. कूच बिहार	1	1. कूच बिहार	1	590,886
2. त्रिपुरा	1	2. त्रिपुरा	1	382,450
मणीपुर		3. मणिपुर	1	445,606

राज्य और राज्यों का समूह 1	राज्य परिषद में स्थानों की संख्या 2	राज्य और राज्यों का समूह 3	संघीय विधानसभा में स्थानों की संख्या 4	जनसंख्या 5
डिविजन XVI		डिविजन XVI		
1. मयूरभंज	1	1. मयूरभंज	1	889,603
सोनपुर		2. सोनपुर	1	237,920
2. पटना	1	3. पटना	1	566,924
कालाहांडी		4. कालाहांडी	1	513,716
3. क्योंझर		5. क्योंझर	1	460,609
धेनकनाल		6. गंगपुर	1	356,674
नयागढ़	1	7. बस्तर	1	524,721
तालचेर		8. सरगूजा	1	501,939
नीलगिरी				
4. गंगापुर		9. धेनकनाल		284,826
बमरा		नयागढ़		142,406
सरायकेला	1	सरायकेला		148,225
बौड		बौड	3	135,248
बोनाई		तलचेर		69,702
		बोनाई		80,186
5. बस्तर		नीलगिरी		68,506
सरगूजा	1	बमरा		151,047
रायगढ़				
नंदगांव		—		
6. खैरगढ़		10. राजगढ़		277,569
जसपुर		खैरगढ़		157,400
कोंकण	1	जसपुर		198,608
कोरिया		कोंकण	1	136,101
सारनगढ़		सारनगढ़		128,667
		कोरिया		90,886
		नंदगांव		182,380
डिविजन XVI		डिविजन XVI		
पिछले किसी भी डिविजन में नहीं दिए गए राज्य, परन्तु जिनका उल्लेख इस तालिका के इस भाग के पैरा 12 में किया गया है।	2	पिछले किसी भी डिविजन में नहीं दिए गए राज्य, परन्तु जिनका उल्लेख इस तालिका के इस भाग के पैरा 12 में किया गया है।	5	3,047,128
इस तालिका में दिए गए राज्यों की कुल जनसंख्या				78,996,844

परिशिष्ट - 18

महामहिम की सरकार द्वारा दिया गया सांप्रदायिक पंचाट[1] - 1932

गोलमेज सम्मेलन के दूसरे सत्र की समाप्ति पर महामहिम की सरकार की ओर से प्रधानमंत्री द्वारा गत 1 दिसंबर को दिए गए वक्तव्य में; जिसका संसद की दोनों सभाओं के तत्काल बाद समर्थन किया था, यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि भारत के संप्रदाय सभी दलों को स्वीकार्य सांप्रदायिक प्रश्नों के किसी समझौते पर पहुंचने में असफल होते हैं, जिसे सम्मेलन भी हटा नहीं कर सका, तो महामहिम की सरकार का यह दृढ़ निश्चय है कि इस कारण से भारत के संविधान–निर्माण के कार्य को बाधित नहीं होने दिया जाए और वें स्वयं एक अंतिम योजना तैयार करके और उसे लागू करके इस बाधा को दूर कर देंगे।

2. यह जानकारी मिलनें पर कि संप्रदायों द्वारा किसी समझौते पर पहुंचने में निरंतर असफल रहने के कारण नया संविधान बनाने की योजना की प्रगति बाधित हो रही थी, महामहिम की सरकार ने गत 19 मार्च को कहा कि वे इस संबंध में उद्‌भूत कठिन और विवादस्पद प्रश्नों की सावधानीपूर्वक पुनः जांच में लगे थे। अब वे संतुष्ट हैं कि संविधान के अंतर्गत अल्पसंख्यकों की स्थिति संबंधी समस्याओं के कम से कम कुछ पहलुओं पर किसी निर्णय के बिना, संविधान निर्माण के कार्य में प्रगति नहीं हो सकती।

3. महामहिम की सरकार ने तद्‌नुसार यह निर्णय लिया है कि वे भारतीय संविधान से संबंधित प्रस्तावों में नीचे दी गई योजना को कार्य रूप देने के प्रावधानों को सम्मिलित करेंगे, जिसे यथासमय संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। इस योजना के विस्तार को जानबूझकर प्रांतीय विधानमंडल में ब्रिटिश भारतीय संप्रदायों के प्रतिनिधित्व के लिए की जानेवाली व्यवस्था तक सीमित रखा गया है और केंद्र में विधानमंडल में प्रतिनिधित्व पर विचार को नीचे पैरा– 20 में दिए गए कारण से आस्थगित किया जा रहा है। इस योजना के विस्तार को सीमित रखने का निर्णय लिए जाने का अभिप्रेत यह समझने की असफलता नहीं है कि संविधान–निर्माण के लिए अल्पसंख्यकों के अधिक महत्ववाली अनेक समस्याओं का निर्णय करना आवश्यक होगा, बल्कि इस आशा से लिया गया है कि प्रतिनिधित्व की विधि और अनुपात के मूल प्रश्न पर एक बार घोषणा कर दिए जाने पर संप्रदायों के लिए स्वयं अन्य उन सांप्रदायिक समस्याओं के संबंध में किसी अस्थायी समझौते पर पहुंचना संभव हो सके, जिन पर अभी तक अपेक्षित विचार–विमर्श नहीं किया जा सका है।

1. संसदीय प्रलेख (कमांड 4147) – 1932 शासकीय रूप से इसे सांप्रदायिक निर्णय कहा जाता है।

4. महामहिम की सरकार चाहती है कि यह भली–भांति समझ लिया जाए कि वे स्वयं अपने निर्णय की पुनरीक्षा की दृष्टि से आरंभ की गई किसी वार्ता में शामिल नहीं हो सकते और न ही वे किसी ऐसे आवेदन पर विचार के लिए तैयार होंगे, जिसका उद्देश्य कोई ऐसा संशोधन या रूपभेद करना हो जिसे सभी प्रभावित पक्षों का समर्थन प्राप्त न हो। लेकिन वे किसी स्वीकृत समझौते के लिए सभी दरवाजें खुले रखने के इच्छुक हैं। इसलिए नए भारत सरकार–अधिनियम के कानून बनने से पूर्व यदि वे संतुष्ट हो जाते हैं कि संबद्ध संप्रदाय किसी एक या अधिक गवर्नर प्रोविन्स अथवा संपूर्ण ब्रिटिश इंडिया के संबंध में किसी व्यवहार्य वैकल्पिक योजना पर परस्पर सहमत हैं, तो वे संसद को यह सिफारिश करने को तत्पर हैं कि उस विकल्प को तैयार किए गए उपबंधों में सम्मिलित कर लिया जाए।

5. अपर चैम्बर होने की स्थिति में लोअर हाउस में अथवा गवर्नर के प्रोविंस में विधान परिषदों में सीटों का आवंटन अनुबंध में दी गई तालिका के अनुसार किया जाएगा।[1]

6. मुस्लिम, यूरोपियन और सिख निर्वाचन क्षेत्रों को आवंटित स्थानों के लिए चुनाव प्रांत के पूरे क्षेत्र में रहनेवाले सांप्रदायिक मतदाताओं द्वारा पृथक रूप से किया जाएगा (उस क्षेत्र को छोड़कर, जिसे विशेष मामलों में 'पिछड़ा क्षेत्र' होने के नाते निकाल दिया गया हो)।

संविधान में इस आशय का एक प्रावधान किया जाएगा कि 10 वर्ष पश्चात् प्रभावित संप्रदायों की सहमति से इस मतदान–व्यवस्था (और नीचे दी गई अन्य समान व्यवस्थाओं) का पुनरीक्षण किया जाए, जिसका निश्चय करने के लिए समुचित तरीके निकाले जाएंगे।

7. वे सभी पात्र मतदाता, जो किसी मुस्लिम, सिख, भारतीय ईसाई (देखिए, अधोलिखित पैरा–10), आंग्ल–भारतीय (देखिए अधोलिखित पैरा–11), अथवा यूरोपियन निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता नहीं है, किसी सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करने के अधिकारी होंगे।

8. बंबई में कतिपय चुने हुए मराठा बहुल सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में मराठाओं के लिए सात स्थान आरक्षित होंगे।

9. मतदान करने के पात्र 'दलित वर्गों' के सदस्य सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करेंगे। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि इस एकमात्र साधन के द्वारा ये वर्ग काफी लंबी अवधि तक किसी विधानमंडल में कोई पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं कर सकेंगे, उनके लिए अनेक विशेष स्थानों की व्यवस्था करनी होगी, जैसी

---

1. देखिए, पृष्ठ–463

कि तालिका में दी गई है। इन स्थानों को उन विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से, जिनमें केवल 'दलित वर्गों' के पात्र मतदाताओं को मतदान का अधिकार होगा, मतदान द्वारा भरा जाएगा। इस प्रकार के किसी विशेष निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करनेवाला कोई व्यक्ति, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामान्य निर्वायन क्षेत्र में भी मतदान करने का अधिकार होगा। तात्पर्य यह है कि इन निर्वाचन क्षेत्रों का गठन उन विशिष्ट क्षेत्रों में किया जाएगा, जहां दलित वर्ग अधिक संख्या में होंगे, और यह कि मद्रास को छोड़कर, किसी प्रांत के संपूर्ण क्षेत्र को इसके अंतर्गत नहीं लाया जाएगा।

बंगाल में यह संभव लगता है कि कुछ सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्गों के मतदाताओं का बहुमत होगा। तद्नुसार, आगे और जांच होने तक, उस प्रांत में विशेष दलित वर्ग निर्वाचन क्षेत्रों से सदस्यों के मिर्वाचन हेतु कोई संख्या नियत नहीं की गई है। आशय यह है कि बंगाल विधानमंडल में दलित वर्गों के लिए कम से कम 10 स्थान सुनिश्चित किए जाएं।

प्रत्येक प्रांत में उन व्यक्तियों की, (यदि वे निर्वाचक के तौर पर पात्र हों), जो विशेष दलित वर्ग निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करने के पात्र होंगे, कोई निश्चित परिभाषा अंतिम रूप से तय नहीं की गई है। इसे मताधिकार समिति की रिपोर्ट में दिए गए सामान्य सिद्वांतों के आधार पर एक नियम के रूप में निश्चित किया जायेगा। उत्तरी भारत के कुछ प्रांतों में इसमें संशोधन करना आवश्यक हो सकता है, जहां छुआछूत के सामान्य मापदंड को लागू करने के कारण कोई ऐसी परिभाषा बन जाये जो किन्हीं मामलों में प्रांत की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल न हो।

महामहिम की सरकार यह नहीं मानती है कि ये विशेष दलित वर्ग निर्वाचन क्षेत्रों की एक सीमित समयावधि से अधिक आवश्यकता होगी। वे विहित करते हैं कि संविधान में यह उपबंध होगा कि वे 20 वर्ष के बाद समाप्त हो जाएंगें, यदि उन्हें निर्वाचक संबंधी पुनरीक्षण की सामान्य शक्तियों के अंतर्गत, जैसा कि पैरा 6 में कहा गया है, पहले समाप्त नहीं किया गया हो।

10. भारतीय ईसाइयों को आंवटित स्थानों के लिए चुनाव पृथक सांप्रदायिक मतदाता क्षेत्र में मतदान करनेवाले मतदाताओं द्वारा किया जाएगा। ऐसा निश्चित लगता है कि संभवतः मद्रास को छोड़कर, व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण प्रांत के संपूर्ण क्षेत्र को शामिल करके भारतीय ईसाई निर्वाचन क्षेत्र का गठन नहीं किया जा सकेगा। और यह कि तद्नुसार प्रांत के एक या दो चुने हुए क्षेत्रों में ही विशेष भारतीय ईसाई निर्वाचन क्षेत्रों का गठन करना संभव होगा। इन क्षेत्रों से बाहर रहनेवाले भारतीय ईसाई सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करेंगे। बिहार और उड़ीसा में विशेष व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ सकती है, जहां बड़े अनुपात में भारतीय ईसाई समुदाय के लोग देशज जनजातियों से सम्बद्ध हैं।

11. आंग्ल–भारतीयों को आवंटित स्थानों के लिए चुनाव पृथक सांप्रदायिक मतदाता क्षेत्र में मतदान करनेवाले मतदाताओं द्वारा किया जाएगा। आगे आनेवाली किन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों की जांच के तहत इस समय यह विहित किया जाता है कि आंग्ल–भारतीय निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक प्रांत का संपूर्ण क्षेत्र शामिल होगा। डाक–मतपत्र की व्यवस्था की जा रही है; लेकिन अभी कोई अंतिम निर्णय नहीं लिया गया है।

12. पिछड़े क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को आवंटित स्थानों को भरने की पद्धति पर अभी विचार किया जा रहा है और इस प्रकार निर्धारित स्थानों की संख्या को अंतिम माना जाएगा, चूंकि अभी अंतिम निर्णय लिया जाना शेष है और ऐसे क्षेत्रों के बारे में संवैधानिक उपबंध भी किए जाने हैं।

13. महामहिम की सरकार यह सुनिश्चित करने को अधिक महत्व देती है कि नए विधानमंडलों में महिलाओं की भी कम–से–कम थोड़ी संख्या तो होनी चाहिए। वे यह महसूस करते हैं कि आरंभ में महिलाओं के लिए कुछ स्थान विशेष रूप से आवंटित किए बिना यह उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वे यह भी महसूस करते हैं कि महिला सदस्यों को किसी एक संप्रदाय से अनुपात में नहीं लिया जाना भी आवश्यक है। वे इस खतरे से बचने के लिए कोई प्रणाली खोजने में असफल रहे और प्रतिनिधित्व के लिए शेष योजना से दृढ़तापूर्वक संगत रहेंगे, जिसे अपनाना उन्होंने आवश्यक समझा, सिवाय इसके कि प्रत्येक विशेष महिला स्थान के मतदान क्षेत्र[1] को एक समुदाय के मतादाताओं तक सीमित रखा जाए। तद्नुसार विशेष महिला स्थानों को स्पष्ट रूप से विभिन्न संप्रदायों के बीच बांट दिया गया है, जैसा कि तालिका में दर्शाया गया है।

14. 'श्रमिक' के आवंटित स्थानों को गैर–सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों से भरा जाएगा। मतदाता क्षेत्र व्यवस्थाओं को अभी तक निर्धारित नहीं किया गया है, लेकिन अधिकांश प्रांतों में श्रमिक निर्वाचन क्षेत्र अंशतः मजदूर संघों और अंशतः विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में शामिल होंगे, जैसी कि मताधिकार समिति द्वारा सिफारिश की गई है।

15. बाणिज्य और उद्योग, खान और बागान को आवंटित विशेष स्थानों का व्यापार–मंडलों और विभिन्न एशोसिएशनों के माध्यम से भरा जाएगा। इन स्थानों के लिए मतदाता व्यवस्थाओं के ब्यौरे पर आगे विचार किया जाएगा।

16. भूमिधारियों को आवंटित विशेष भूमिधारियों के निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा भरा जाएगा।

17. विश्वविद्यालयी स्थानों के लिए चुनाव की पद्धति अभी विचाराधीन है।

18. महामहिम की सरकार ने प्रांतीय विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व के इन प्रश्नों का

1. एक अपवाद को छोड़कर, देखिए तालिका का नोट (ड.), अनुबंध–सोलह।

हल ढूंढने के लिए अधिक ब्यौरे में जाने से बचना असंभव पाया। फिर भी, निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण किया जाना शेष है। वे विहित करते हैं कि इस कार्य को भारत में यथासंभव शीघ्र आरंभ किया जाना चाहिए।

संभव है कि कुछ मामलों में निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन में अब दिए गए स्थानों की संख्या से थोड़े–बहुत अंतर आ जाए। महामहिम की सरकार ऐसे उद्देश्य के लिए ऐसा थोड़ा अंतर रखने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखती है, बशर्ते वे वस्तुतः संप्रदायों के बीच अनिवार्य संतुलन को प्रभावित न करें। तथापि, बंगाल और पंजाब के मामले में ऐसा कोई अंतर नहीं रखा जाएगा।

19. प्रांतों में दूसरे चैम्बर के गठन के प्रश्न पर संवैधानिक चर्चाओं में अब तक तुलनात्मक रूप से कम ध्यान दिया गया है और यह निर्णय करने को कि किन प्रांतों में दूसरे चैम्बर हों अथवा उनके गठन के लिए योजना तैयार किए जाने से पहले इस पर आगे और विचार किया जाना अपेक्षित है।

महामहिम की सरकार यह मानती है कि किसी प्रांत में अपर हाउस का गठन ऐसा होना चाहिए, जिससे लोअर हाउस के परिणामस्वरूप बने संप्रदायों के बीच के संतुलन को अनिवार्यतः न बिगाड़ा जाए।

20. महामहिम की सरकार इस समय केंद्र में विधानमंडल के आकार और गठन के प्रश्न पर विचार करने का प्रस्ताव नहीं करती है, क्योंकि इसमें भारतीय रजवाड़ों के प्रतिनिधित्व जैसे अन्य प्रश्नों पर आगे विचार किया जाना आवश्यक है। निःसंदेह, वे गठन पर विचार करते समय उसमें पर्याप्त प्रतिनिधित्व के सभी संप्रदायों के दावों का पूरा–पूरा ध्यान रखेंगे।

21. महामहिम की सरकार ने इस सिद्धांत को पहले ही स्वीकार कर लिया है कि यदि वित्तपोषण के संतोषप्रद साधन ढूंढ लिए जाते हैं, तो सिंध को एक पृथक प्रांत बना दिया जाएगा। चूंकि संघीय वित्त की अन्य समस्याओं के संबंध में अंतर्ग्रस्त वित्तीय समस्याओं की अभी पुनरीक्षा की जानी है, महामहिम की सरकार ने इस स्थिति में बंबई प्रेसीडेंसी प्रॉपर और सिंध के लिए पृथक विधानमंडलों की योजना के अलावा, विद्यमान बंबई प्रांत के लिए विधानमंडल के आंकड़े शामिल करना उपयुक्त समझा।

22. बरार सहित मध्य प्रांत के लिए विधानमंडल के आंकड़ों की तालिका में शामिल करने का आशय यह नहीं है कि बरार की भावी संवैधानिक स्थिति के संबंध में कोई निर्णय ले लिया गया है।

लंदन,

4 अगस्त, 1932

प्रान्तीय विधानमण्डलों (केवल लोअर हाउस) में स्थानों का आवंटन

प्रान्त	सामान्य	दलित वर्ग	पिछड़े क्षेत्रों से प्रतिनिधि	सिख	मुसलमान	ईसाई भारतीय	आंग्ल भारतीय	यूरोपियन	वाणिज्य और उद्योग खान और बागान विशेष (क)	भूमिधारी विशेष	विश्वविद्यालय विशेष	श्रमिक विशेष	योग
मद्रास	134 (6 महिलाओं सहित)	18	1	0	21 (1महिला सहित)	1 (1महिला सहित)	2	3	6	6	1	6	215
बम्बई (सिंध सहित)	97 (ख) (5 महिलाओं सहित)	10	1	0	63 (1 महिला सहित)	3	2	4	8	3	1	8	200
बंगाल	80 (ग) (2 महिलाओं सहित)	(ग)	0	0	119 (2 महिलाओं सहित)	2	4	11	19	5	2	8	250
संयुक्त प्रान्त	132 (4 महिलाओं सहित)	12	0	0	66 (2 महिलाओं सहित)	2	1	2	3	5	1	3	228
पंजाब	43 (1 महिला सहित)	0	0	32 (1महिला सहित)	86 (2 महिलाओं सहित)	2	1	1	1	5 (घ)	1	3	175
बिहार और उड़ीसा	99 (3 महिला सहित)	7	8	0	42 (1 महिला सहित)	2	1	2	4	4	1	4	175
मध्य प्रान्त (बेरार सहित)	77 (3 महिला सहित)	10	1	0	14	0	1	1	2	2	1	2	112
असम	44 (1 महिला सहित) (ङ)	4	0	0	34	1	0	1	11		0	4	108
उत्तर-पश्चिम फ्रंटियर प्रांत	9	0	0	3	36	6	0	6	0	2	0	0	50
बम्बई (सिंध रहित)	109 (ख) (5महिलाओं सहित)	10	1	0	30 (1 महिला सहित)	3	2	3	7	2	1	7	175
सिंध	19 (1 महिला सहित)	0	0	0	34 (1 महिला सहित)	0	0	2	2	2	0	1	60

(क) उन निकायों, जिनके माध्यम से इन स्थानों के लिए चुनाव कराया जाएगा, का गठन सांविधिक रूप से निर्धारित नहीं किया जाएगा, यद्यपि उनमें अधिकांश मामलों में न तो यूरोपियनों की अथवा न ही भारतीयों की प्रधानता होगी। तदनुसार, प्रत्येक प्रांत के मामले में निश्चयपूर्वक यह कहना संभव नहीं है कि कितने यूरोपियन अथवा भारतीय जीत पाएंगे। तथापि, यह आशा की जाती है कि आरम्भ में इनकी संख्या लगभग इस प्रकार होगी :– मद्रास–4, यूरोपियन, 2 भारतीय; बम्बई (सिंध सहित)–5 यूरोपियन, 3 भारतीय; बंगाल–14 यूरोपियन, 5 भारतीय; संयुक्त प्रांत–2 यूरोपियन, 1 भारतीय, पंजाब–1 भारतीय, बिहार और उड़ीसा–2 यूरोपियन, 2 भारतीय; मध्य प्रान्त बेरार सहित–1 यूरोपियन, 1 भारतीय; असम 8 यूरोपियन, 3 भारतीय; बम्बई (सिंध रहित)–4 यूरोपियन, 3 भारतीय; सिंध–1 युरोपियन, 1 भारतीय।

(ख) इनमें से सात स्थान मराठों के लिए आरक्षित होंगे?

(ग) जैसा विवरण के पैरा 9 में दिया गया है, बंगाल में दलित वर्गों के लिए विशेष स्थानों की संख्या–जो 10 से अधिक नहीं होगी – अभी तक निर्धारित नहीं की गई है। सामान्य स्थानों की संख्या 80 होगी, जिनमें दलित वर्गों के स्थान सम्मिलित नहीं होंगे।

(घ) इनमें से एक स्थान तालुकदारों का होगा। भूमिधारियों के चार स्थान संयुक्त मतदाताओं वाले विशेष निर्वाचित क्षेत्रों से भरे जाएंगे। मतदाताओं के बंटवारे से यह संभव है कि जीतने वाले सदस्यों में से एक हिन्दू, एक सिख, और दो मुसलमान हों।

(ङ) यह महिला स्थान शिलांग से गैर–साम्प्रदायिक निर्वाचन से भरा जाएगा।

परिशिष्ट - 19

अनुपूरक सांप्रदायिक पंचाट[1]

"तत्पश्चात केंद्र अनुपूरक सांप्रदायिक पंचाट में संप्रदायों, विशेष रूप से मुस्लिम संप्रदाय, के प्रतिनिधित्व का प्रश्न आता है। इस बारे में मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं और मैंने पहले भी अप्रत्यक्ष रूप से कहा है कि सरकार यह मानती है कि संघीय केंद्र में मुस्लिम संप्रदाय का 33.1/3 प्रतिशत प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जहां तक भारतीय भारत का संबंध है, इसे प्रभावित संप्रदायों और रजवाड़ों के बीच व्यवस्था पर छोड़ दिया जाना चाहिए, लेकिन जहां तक इस प्रश्न पर बिटिश सरकार की भूमिका का संबंध है, हम स्थानों के भावी आवंटन के बारे में उन पक्षों के बीच व्यवस्था के लिए यथासंभव किसी भी समय अपने प्रभाव का उपयोग करेंगे।"

1. महामहिम की सरकार के सांप्रदायिक पंचाट (परिशिष्ट 18) में केंद्र सरकार में 33.1/3 प्रतिशत प्रतिनिधित्व के मुस्लिम दावे के बारे में कोई निर्णय नहीं दिया गया है। इस दावे पर महामहिम की सरकार के इस निर्णय की घोषणा 24 दिसम्बर 1932 को सेक्रेटरी ऑफ–स्टेट फॉर–इंडिया ने तीसरे गोल मेज सम्मेलन में अपने वक्तव्य के दौरान की थी।

परिशिष्ट - 20

पूना समझौता[1]

प्रांतीय विधानमंडलों में सामान्य मतदान क्षेत्र स्थानों में से दलित वर्गों के लिए निम्नलिखित स्थान आरक्षित रखे जाएंगे : मद्रास 30; सिंध सहित बंबई 15; पंजाब 8; बिहार और उड़ीसा 18; मध्य प्रांत 20; असम 7; बंगाल 30; संयुक्त प्रांत 20; कुल 148।

ये आंकड़े प्रधानमंत्री के निर्णय में घोषित प्रांतीय परिषदों की कुल सदस्य–संख्या के आधार पर दिए गए हैं।

2. इन स्थानों के लिए निम्नलिखित प्रक्रिया के तहत संयुक्त मतदाताओं द्वारा चुनाव किया जाएगा :

किसी निर्वाचन क्षेत्र में सामान्य मतदाता सूची में दर्ज दलित वर्ग के सभी सदस्यों से मिलकर एक निर्वाचक–मंडल का गठन होगा, जो ऐसे प्रत्येक स्थान के लिए एकल मत प्रणाली द्वारा दलित वर्गों के चार उम्मीदवारों के एक पैनल का चुनाव करेंगे; ऐसे प्राथमिक चुनाव में सर्वाधिक मत प्राप्त करनेवाले चार व्यक्ति सामान्य मतदाओं द्वारा चुनाव के उम्मीदवार होंगे।

3. केंद्रीय विधानमंडल में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व का निर्धारण इसी प्रकार संयुक्त मतदाताओं और आरक्षित स्थानों द्वारा, जैसा कि प्रांतीय विधानमंडलों में उनके प्रतिनिधित्व के लिए उपरोक्त खंड–दो में किए गए परिशिष्ट के समान प्राथमिक चुनाव–पद्धति द्वारा किया गया।

4. ब्रिटिश भारत में केंद्रीय विधानमंडल में सामान्य मतदाताओं को आवंटित स्थानों के अट्ठारह प्रतिशत स्थान उक्त विधानमंडल में दलित वर्गों के लिए आरक्षित होंगे।

5. केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों के लिए चुनाव हेतु उम्मीदवारों के पैनल के लिए प्राथमिक चयन–प्रणाली, जैसाकि इसमें इससे पहले उल्लेख किया गया है, पहले दस वर्षों के बाद, यदि नीचे दिए गए खंड–6 के प्रावधान के अंतर्गत परस्पर सहमति से इससे पहले समाप्त न की गई हो, समाप्त हो जाएगी।

6. जैसाकि खंड 1 और 4 में प्रावधान किया गया है, प्रांतीय और केंद्रीय विधामनंडलों में स्थानों को आरक्षित करके दलित वर्गों के लिए प्रतिनिधित्व की प्रणाली, यदि समझौते से सम्बद्ध संप्रदायों के बीच परस्पर सहमति से निश्चित न की गई हो, तो जारी रहेगी।

---

1. 25 सितम्बर, 1932 को हस्ताक्षरित।

7. दलित वर्गों के लिए केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों हेतु मताधिकार लोथियन समिति की रिपोर्ट के अनुरूप होंगे।

8. स्थानीय निकायों के लिए चयन अथवा सरकारी सेवाओं में नियुक्ति के संबध में किसी व्यक्ति का दलित वर्गों से संबंधित होना कोई अयोग्यता नहीं होगी। सरकारी सेवाओं में नियुक्ति के लिए यथानिर्धारित शैक्षिक योग्यताओं के तहत, इनके संबंध में दलित वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व देने का हर संभव प्रयास किया जाएगा।

9. प्रत्येक प्रांत में शैक्षिक अनुदान में से दलित वर्गों के सदस्यों को शैक्षिक सुविधाएं प्रदान किए जाने के लिए समुचित धनराशि नियत की जाएगी।

परिशिष्ट - 21

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत प्रान्तीय विधानमण्डलों में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

I लोअर हाउस

प्रान्त	कुल स्थान	मुस्लिम			अनुसूचित जातियां			भारतीय ईसाई			सिख		
		अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –
मद्रास	215	29	17	+ 12	30	35	– 5	9	9	....	शून्य	शून्य	....
बम्बई	175	30	16	+14	15	16	– 1	3	3	....	शून्य	शून्य	....
बंगाल	250	119	137	– 18	30	33	– 3	3	शून्य	+ 3	शून्य	शून्य	....
उत्तर प्रदेश	228	66	35	+ 31	20	49	– 29	2	शून्य	+ 2	शून्य	1	– 1
पंजाब	175	86	100	– 14	8	8	....	2	3	– 1	32	23	+ 9
बिहार	152	40	20	+ 20	15	20	– 5	1	शून्य	+ 1	शून्य	शून्य	....
मध्य प्रान्त और बेरार	112	14	5	+ 9	20	20	....	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
असम	108	34	36	– 2	7	7	....	1	शून्य	+ 1	शून्य	शून्य	....
एन.डब्ल्यू.ई.पी.	50	36	46	– 10	शून्य	....	....	शून्य	शून्य	....	3	1	+ 2
उड़ीसा	60	4	1	+ 3	6	9	– 3	1	शून्य	+ 1	शून्य	शून्य	....
सिन्ध	60	34	43	– 9	शून्य	3	– 3	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
योग	1585	492	456	+ 36	151	200	– 49	22	15	– 7	35	25	+ 10

II अपर हाउस

प्रान्त	कुल स्थान	मुस्लिम: अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	मुस्लिम: जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	मुस्लिम: अधिक + या कम –	अनुसूचित जातियां: अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	अनुसूचित जातियां: जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अनुसूचित जातियां: अधिक + या कम –	भारतीय ईसाई: अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	भारतीय ईसाई: जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	भारतीय ईसाई: अधिक + या कम –	सिख: अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	सिख: जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	सिख: अधिक + या कम –
मद्रास	56	7	4	+ 3	शून्य	9	– 9	3	2	+ 1	शून्य	शून्य	....
बम्बई	30	5	3	+ 2	शून्य	3	– 3	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
बंगाल	65	17	36	– 19	शून्य	8	– 8	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
संयुक्त प्रान्त	60	17	9	+ 8	शून्य	13	– 18	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
बिहार	30	4	4	....	शून्य	4	– 4	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
असम	22	10	7	+ 3	शून्य	1	– 1	शून्य	शून्य	....	शून्य	शून्य	....
योग	263	60	63	– 3	शून्य	38	– 38	3	2	+ 1	शून्य	शून्य	....

परिशिष्ट - 22

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत केन्द्रीय विधानमण्डल के अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

		मुस्लिम			अनुसूचित जातियां			भारतीय ईसाई			सिख		
	ब्रिटिश भारत के लिए कुल स्थान	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अनिधियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –	अधिनियम के अन्तर्गत आवंटित स्थान	जनसंख्या के अनुसार अपेक्षित स्थान	अधिक + या कम –
लोअर हाउस	250	82	67	+ 15	19	35	– 16	8	3	+ 5	6	3	+ 3
अपर हाउस	150	49	40	+9	6	21	– 15	शून्य	2	– 2	4	2	+ 2

परिशिष्ट - 23

सेवाओं में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व भारत सरकार का संकल्प[1]

संस्थापनाएं

4 जुलाई, 1934

भाग -I: सामान्य

सं एफ 14/17–बी.:/33– विधानसभा में दिए गए आश्वासन के अनुसरण में भारत सरकार ने सांप्रदायिक असमानताओं को दूर करने के लिए सरकारी सेवा में सीधी नियुक्तियों के कुछ प्रतिशत पदों को आरक्षित करने की 1925 से चली आ रही नीति के परिणामों की ध्यानपूर्वक पुनरीक्षा की। यह अभ्यावेदन किया गया है कि यद्यपि इन नीति को अपनाने का मुख्य उद्देश्य सरकारी सेवाओं में मुसलमानों के लिए उत्तरोत्तर प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना था, यह उनके लिए नियुक्तियों का उनका अपेक्षित हिस्सा सुनिश्चित करने में विफल रही है और यह तर्क दिया गया कि इस स्थिति का हल तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक मुसलमानों के लिए रिक्तियों का एक निश्चित प्रतिशत आरक्षित नहीं किया जाता। विशेष रूप से ध्यान रेलवे की सेवाओं में मुसलमानों की कम संख्या की ओर दिलाया गया, यहां तक कि उस रेलवे में, जो उन स्थानों से गुजरती है जहां मुसलमानों का प्रतिशत वहां की कुल जनसंख्या में अधिक है।

स्थिति की समीक्षा करने पर पता चला कि ये शिकायतें उचित हैं, और भारत सरकार उसके द्वारा की गई जांच से संतुष्ट है कि सेवाओं में मुस्लिमों की स्थिति सुधारने की दृष्टि से नियुक्ति संबंधी अनुदेशों में संशोधन अवश्य किए जाने चाहिए।

2. इस सामान्य प्रश्न पर विचार करते हुए भारत सरकार को आंग्ल–भारतीयों, प्रवासी यूरोपियनों और दलित वर्गों के दावों पर भी विचार करना होगा। सरकारी सेवा की कतिपय शाखाओं में नियुक्तियों में आंग्ल–भारतीयों का एक बड़ा प्रतिशत रहा है और यह स्वीकार किया जाता है कि इस नियोजन में संप्रदाय की निर्भरता को देखते हुए नई परिस्थितियों में आंग्ल–भारतीयों को उनके विद्यमान पदों से तेजी से निष्कासित करने को रोकने के लिए कदम अवश्य उठाए जाएं, जो इस संप्रदाय के आर्थिक ढांचे को बुरी तरह प्रभावित कर सकता है। कतिपय विभागों

1. भारत का राजपत्र, भाग–I, 7 जुलाई, 1934

में आंग्ल–भारतीयों और प्रवासी यूरोपियनों के नियोजन के संबंध में अनुपालन किए जानेवाले अनुदेश इस नीति के अनुसार होंगे।

3. दलित वर्गों के संबंध में यह समान आधार है कि उन्हें सरकारी सेवाओं में समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जाएं। इसके संबध में स्वर्ण हिंदुओं की मंशा औपचारिक रूप से 1932 के पूना समझौते में दी गई है और महामहिम की सरकार ने इसे स्वीकार करते समय इस मुद्दे पर अपेक्षित ध्यान दिया था। इन वर्गों में सामान्य शिक्षा की वर्तमान स्थिति में भारत सरकार का यह मानना है कि हिंदुओं के लिए उपलब्ध कुल रिक्तियों में से एक निश्चित प्रतिशत इनके लिए आरक्षित करने से कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा नहीं होगा, लेकिन वे यह सुनिश्चित करने की आशा रखते हैं कि दलित वर्गों के योग्य उम्मीदवारों को केवल इस आधार पर उपयुक्त अवसरों से वंचित न किया जाए, क्योंकि वे खुली प्रतियोगिता में सफल नहीं हो सकते।

4. भारत सरकार ने ऊपर दिए गए संप्रदायों के अतिरिक्त अन्य अल्पसंख्यक संप्रदायों की स्थिति का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है और वे इस बात से संतुष्ट हैं कि नए नियम उनके लिए, जैसा कि वर्तमान में है, सेवाओं में उपयुक्त प्रतिनिधित्व का उपबंध करते रहेगें।

भाग-II : नियमों का क्षेत्र

5. भारत सरकार नीचे दिए गए नियमों के पालन की निगरानी के लिए वार्षिक विवरणी देना अनिवार्य करने का प्रस्ताव करती है।

6. भारत सरकार ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के अनुमोदन से जिन सामान्य नियमों को ये उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अंगीकार किया था, नीचे दिए गए हैं। वे सीधी भर्ती के संबंध में हैं, पदोन्नति द्वारा भर्ती के संबंध में नहीं, जो वर्तमान के अनुसार मात्र योग्यता के आधार पर की जाती रहेगी। वे भारतीय सिविल सेवा, केंद्रीय सेवाओं, श्रेणी–I और श्रेणी–II तथा भारत सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण वाली अधीनस्थ सेवाओं पर लागू होंगे, जिनमें से कुछ सेवाएं और वे पद जिनके लिए उच्च तकनीकी अथवा विशेष योग्यता होना आवश्यक होता है, अपवादस्वरूप होंगी, लेकिन ये नियम बर्मा प्रांत में इन सेवाओं में भर्ती पर लागू नहीं होगें। रेलवे के संबंध में, चार राज्यों द्वारा संचालित रेलों में ये नियम निम्न कर्मचारियों और श्रमिकों के अलावा सभी पदों पर लागू होंगे, और कंपनी संचालित रेलों के प्रशासन को इन रेलों में सेवाओं के लिए इसी प्रकार के नियम अपनाने के लिए कहा जाएगा।

भाग-III : अखिल भारतीय आधार पर भर्ती वाली सेवाओं के लिए नियम

7. (1) भारतीय सिविल सेवा और केंद्रीय तथा अधीनस्थ सेवाओं पर जिनके लिए अखिल भारतीय आधार पर भर्ती की जाती है, निम्नलिखित नियम लागू होंगे–

   I. भारतीयों की सीधी भर्ती द्वारा भरे जानेवाली सभी रिक्तियों में से 25 प्रतिशत मुसलमानों के लिए आरक्षित होगी और 8.1/3 प्रतिशत अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के लिए।

   II. जब खुली प्रतियोगिता द्वारा भर्ती की जाए, तब यदि मुसलमानों या अन्य अल्पसंख्यक समुदाय इस प्रतिशत से कम स्थान पाते हैं, तो उनका यह प्रतिशत नाम–निर्देशन द्वारा पूरा किया जाएगा; तथापि, यदि मुसलमान खुली प्रतियोगिता में अपने आरक्षित प्रतिशत से अधिक प्राप्त करते हैं, तो अन्य अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित प्रतिशत में से कोई कटौती नहीं की जाएगी। यदि अन्य अल्पसंख्यक समुदाय खुली प्रतियोगिता में अपने आरक्षित प्रतिशत से अधिक प्राप्त करते हैं, तो मुसलमानों के लिए आरक्षित प्रतिशत में से कोई कटौती नहीं की जाएगी।

   III. यदि अन्य अल्पसंख्यक समुदाय खुली प्रतियोगिता में अपने आरक्षित प्रतिशत से कम स्थान पातें हैं और यदि नाम–निर्देशन के लिए योग्य उम्मीदवार उपलब्ध न हों, तो उनका 8.1/3 प्रतिशत उनके बीच किसी निर्धारित अनुपात में नहीं बांटा जाएगा।

   IV. अन्य अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित 8.1/3 प्रतिशत उनके बीच किसी निर्धारित अनुपात में नही बांटा जाएगा।

   V. सभी मामलों में योग्यता का एक न्यूनतम मानक लागू किया जाएगा और आरक्षण इस शर्त के तहत होगा।

   VI. दलित वर्गों के लिए उचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए उन वर्गों के योग्यताप्राप्त सदस्यों को किसी सरकारी सेवा में नाम–निर्देशित किया जा सकता है, भले ही उस सेवा के लिए प्रतियोगिता से भर्ती की जा रही हो। इन वर्गों के सदस्यों को, यदि उनकी नियुक्ति नाम–निर्देशन द्वारा की गई हो, उपरोक्त खंड (I) के अनुसरण में दिए गए आरक्षण के प्रतिशत में शामिल नहीं किया जाएगा।

(2) इस संकल्प के पैरा 2 में दिए गए कारणों के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने रेलों में उन राजपत्रित पदों पर, जिन पर अखित भारतीय आधार पर भर्ती की जाती है, आंग्ल–भारतीयों और प्रवासी यूरोपियनों की भर्ती के प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया। इन पदों में उनके वर्तमान प्रतिनिधित्व को बनाए रखने के लिए आंग्ल–भारतीय और प्रवासी यूरोपियन संप्रदाय को भारतीय संप्रदायों के सदस्यों को उपलब्ध कुल रिक्तियों का लगभग 9 प्रतिशत प्राप्त करना आवश्यक होगा। भारत सरकार स्वयं इस बात से संतुष्ट है कि यह संप्रदाय इस समय इन राजपत्रित पदों पर पदोन्नति और सीधी भर्ती द्वारा इन रिक्तियों का 9 प्रतिशत प्राप्त कर लेता है। ऐसी परिस्थितियों में, यह निर्णय लिया गया है कि इस समय विशेष आरक्षण की आवश्यकता नहीं है। जब कभी ये संप्रदाय रिक्तियों के 9 प्रतिशत से कम स्थान प्राप्त करेंगे तो यह विचार किया जाएगा कि उनके युक्तिसंगत हितों की रक्षा के लिए सीधी भर्ती के संबंध में क्या व्यवस्था की जानी चाहिए।

भाग-IV : स्थानीय रूप से भर्ती वाली सेवाओं के लिए नियम

(8) उन सभी सेवाओं के मामलों में, जिनके लिए स्थानीय क्षेत्रों से भर्ती की जाती है और अखिल भारतीय आधार पर नहीं अर्थात रेलवे, डाक व तार विभाग, सीमा–शुल्क सेवा, आय कर विभाग आदि में अधीनस्थ पदों पर ऊपर दिए गए सामान्य नियम निम्नलिखित परिवर्धनों के तहत लागू होंगे–

I. किसी क्षेत्र में मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यक संप्रदायों की जनसंख्या के अनुपात और संबद्ध क्षेत्र की स्थानीय सरकार द्वारा अपनाए गए भर्ती–नियमों के आधार पर प्रत्येक रेलवे अथवा स्थानीय क्षेत्र अथवा मंडल के लिए एक प्रतिशत निर्धारित करके संपूर्ण भार के लिए मुसलमानों को 25 प्रतिशत और अन्य अल्पसंख्यक संप्रदायों को 8.1/3 प्रतिशत आरक्षण दिया जाएगा।

II. रेलवे और तार विभाग और सीमा–शुल्क सेवा, जहां इस समय आंग्ल–भारतीय और प्रवासी यूरोपियन संप्रदाय के लोग प्रमुखतः नियोजित हैं, के मामले में उपरोक्त पैरा–2 में दी गई नीति को लागू करने के उद्देश्य से अगले पैरा में दिए गए विशेष उपबंध करने अपेक्षित हैं।

9 (1) (क) आंग्ल–भारतीय और प्रवासी यूरोपियन संप्रदाय के लोग रेलवे के 8.8 प्रतिशत अधीनस्थ पदों पर नियुक्त हैं। उनकी स्थिति सुरक्षित करने के लिए सीधी भर्ती द्वारा भरे जाने वाली सभी रिक्तियों के 8 प्रतिशत स्थान इस संप्रदाय

के सदस्यों के लिए आरक्षित होंगे। (i) प्रत्येक रेलवे में इस समय ऩियोंजित इस संप्रदाय के सदस्यों की संख्या के (ii) रेलवे सेवा की प्रत्येक शाखा और विभाग के आधार पर एक पृथक प्रतिशत निर्धारित करके यह कुल आरक्षण दिया जाएगा, ताकि उन शाखाओं यथा, मेकेनिकल इंजीनियरिंग, सिविल इंजीनियरिंग और ट्रैफिक विभाग में जहां वे इस समय प्रमुखतः नियोजन में हैं, आंग्ल–भारतीयों के लिए निरंतर नियोजन सुनिश्चित किया जा सके। अधीनस्थ पदों के उच्च ग्रेडों पर पदोन्नति केवल योग्यता के आधार पर की जाएगी, जैसा कि इस समय व्यवस्था है।

(ख) सभी अल्पसंख्यक संप्रदायों के लिए इस समय अंगीकार किए गए आरक्षण के कारण और मुसलमानों के लिए 25 प्रतिशत और आंग्ल–भारतीयों के लिए 8 प्रतिशत आरक्षण के कारण आरक्षण को 33.1/3 प्रतिशत से बढ़ाना आवश्यक हो गया है, ताकि मुसलमानों और आंग्ल–भारतीयों के अलावा अन्य अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की जा सके। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि सीधी भर्ती द्वारा भरी जानेवाली रिक्तियों की 6 प्रतिशत रिक्तियां उनके लिए आरक्षित की जाएं जो इस समय इन संप्रदायों के सदस्यों द्वारा धारित पदों के प्रतिशत के बराबर हैं। यह कुल आरक्षण इस संकल्प के पैरा–8 में निर्धारित विधि से दिया जाएगा और इस अल्पसंख्यक संप्रदायों के बीच आगे और विभाजित नहीं किया जाएगा।

(2) डाक और तार विभाग में उन्हीं सिद्धांतों को अपनाया जाएगा, जो कि आंग्ल–भारतीयों और प्रवासी यूरोपियन संप्रदाय के हितों की रक्षा के लिए रेलवे में अपनाए जाते हैं, जो सभी अधीनस्थ पदों के 2.2 प्रतिशत हैं। यह पता लगाया गया कि यदि इस संप्रदाय के लिए उन शाखाओं, विभागों अथवा श्रेणियों में, जहां इस संप्रदाय के सदस्य युक्तिसंगत रूप से भर्ती हो सकते हैं, रिक्तियों का 5 प्रतिशत आरक्षित किया जाता है, तो इसके परिणमस्वरूप इस समय उनके द्वारा धारित अधीनस्थ पदों के प्रतिशत से थोड़े कम प्रतिशत पद ही सुनिश्चित हो पाएंगे। उन विभागों अथ्वा शाखाओं, जिनमें आंग्ल–भारतीयों के लिए एक विशेष आरक्षण रखा गया है, अन्य अल्पसंख्यकों के लिए रिक्तियों का आरक्षण निर्धारित करना होगा, ताकि वह उनके द्वारा इस समय धारित अधीनस्थ पदों के प्रतिशत के बराबर हो। आंग्ल–भारतीयों और अन्य अलपसंख्यक संप्रदायों के लिए कुल आरक्षण, मुसलमानों के अतिरिक्त, किसी भी स्थिति में 8.1/3 प्रतिशत से कम नहीं होगा।

3. इस समय आंग्ल–भारतीय अधिकतर प्रमुख प्रश्नों पर अप्रेजिंग डिपार्टमेंट और सुपीरियर प्रिवेंटिव सर्विस में नियोजित हैं। पहले विभाग के लिए विशेष तकनीकी योग्यताएं आवश्यक हैं, और इस संकल्प के पैरा 6 में उल्लिखित सामान्य सिद्धातों के अनुसरण में इसे इन नियमों के क्रियान्वयन की परिधि से निकाल दिया जाएगा।

प्रिवेंटिव सर्विस में विशेष योग्यताएं आवश्यक हैं, और भर्ती की वर्तमान प्रणाली, जिसके द्वारा आंग्ल–भारतीयों के लिए पदों को आरक्षित किया जाना है, जारी रहेगी।

आदेश : आदेश दिया जाता है कि यह संकल्प सभी स्थानीय सरकारों और प्रशासनों तथा भारत सरकार के अनेक विभागों को सूचनार्थ (और मार्गदर्शन हेतु) भेजा जाए और यह कि इसे भारत के राजपत्र में भी प्रकाशित किया जाए।

एम. जी. हेलेट,

सचिव, भारत सरकार

परिशिष्ट - 24

सेवाओं में अनुसूचित जातियों के सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के संबंध में भारत सरकार का संकल्प - 1943

गृह विभाग

संकल्प

नई दिल्ली, 11 अगस्त, 1943

संख्या–23.5.42 – स्था (एस) – केंद्रीय विधानसभा में 1942 में दिए गए आश्वासन के अनुसरण में भारत सरकार ने उसके प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन सेवाओं में दलित वर्गों, जिन्हें भारत सरकार अधिनियम 1935 में 'अनुसूचित जातियों' के रूप में वर्णित किया गया है, के आरक्षण के संबंध में 1934 से अनुपालन की जा रही नीति की ध्यानपूर्वक समीक्षा की। अपने संकल्प सं एफ. 14/17–बी/33, दिनांक 4 जुलाई, 1934 में भारत सरकार ने यह कहा था कि इन वर्गों में सामान्य शिक्षा की तत्कालीन स्थिति में वे यह नहीं मानते कि रिक्तियों का एक निश्चित प्रतिशत इनके लिए आरक्षित करने से कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा होगा। तथापि, अनुसूचित जातियों के लिए उचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के उद्देश्य से उन्होंने यह निदेश दिया था कि इन वर्गों के योग्य उम्मीदवारों को किसी सरकारी सेवा में नाम–निर्देशित किया जा सकता है, चाहे उस सेवा के लिए भर्ती प्रतियोगिता द्वारा ही की जा रही हो। तब से सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जातियों का उत्तरोत्तर प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न उपाय किए गए। तथापि, अब तक प्राप्त परिणाम पर्याप्त नहीं थे। जहां भारत सरकार यह स्वीकार करती है कि इसका प्रमुख कारण है उपयुक्त रूप से योग्य उम्मीदवार मिलने में कठिनाई, वे अब यह समझते हैं कि रिक्तियों के एक निश्चित आरक्षण से इन जातियों के उम्मीदवारों को बेहतर योग्यताएं प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन उपलब्ध कराया जायेगा और इस प्रकार उन्हें विभिन्न सरकारी पदों और सेवाओं के लिए अर्ह बनाने में सहायक सिद्ध होगा। यह आशा की जाती है कि आयु–सीमा में छूट देने तथा निर्धारित शुल्क में कमी करने से भी अनुसूचित जातियों के सदस्यों में से योग्य उम्मीदवार प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। तदनुसार भारत सरकार ने निम्नलिखित पैरा 4 में उल्लिखित नियम निर्धारित करने का निर्णय लिया।

2. वर्तमान अनारक्षित रिक्तियों में हिस्से के पात्र अन्य संप्रदायों की जनसंख्या के समान अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के आनुपातिक आधार पर अनुसूचित

जातियां ऐसी रिक्तियों की कुल संख्या में से 12.75 प्रतिशत की हकदार होगी। तथापि, अपनी जनसंख्या के अनुसार रिक्तियों की पूरी संख्या, जिसकी वे हकदार हैं, भरने के लिए अनुसूचित जातियों से पर्याप्त संख्या में उम्मीदवार प्राप्त करना संभव नहीं होगा। इसलिए भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि इस समय उनके लिए कुछ कम प्रतिशत यथा 8.1/3 आरक्षित करना पर्याप्त होगा। उनका प्रस्ताव है कि जब भी इन वर्गों से पर्याप्त संख्या में योग्य उम्मीदवार प्राप्त करना संभव हो, उस समय प्रतिशत बढ़ाने के प्रश्न पर विचार किया जाए।

3. निम्नलिखित नियम केवल सीधी भर्ती पर लागू होंगे और पदोन्नति द्वारा भर्ती पर नहीं, जो सांप्रदायिक आधारों के संदर्भों के बिना, जैसा वर्तमान में है, की जाती रहेगी। ये नियम भारत सरकार के प्रशासनिक नियंत्रणाधीन केंद्रीय सेवाओं (श्रेणी – I और श्रेणी – II) और अधीनस्थ सेवाओं पर लागू होंगे, जिनमें से वे सेवाएं और पद अपवादस्वरूप होंगे जिनके लिए उच्च तकनीकी अथवा विशेष योग्यताएं अपेक्षित होती है, और जिन्हें भारत सरकार के संकल्प सं. एफ. 14/17–बी/33 दिनांक 4 जुलाई, 1934 में अंतर्विष्ट सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व आदेशों की परिधि से बाहर रखा गया है। रेलवे के संबंध में ये नियम इंजीनियर सर्वेंट्स और श्रमिकों के अतिरिक्त सभी पदों पर लागू होंगे। कंपनी संचालित रेलवे प्रशासनों को उन रेल सेवाओं के लिए इसी प्रकार के नियम अपनाने के लिए कहा जाएगा।

4. इसलिए सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जातियों का बेहतर प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की दृष्टि से भविष्य में निम्नलिखित नियम अपनाएं जाएंगे –

(1) उन केंद्रीय अधीनस्थ सेवाओं में, जिनके लिए अखिल भारतीय आधार पर भर्ती की जाती है, भारतीयों से सीधी भर्ती द्वारा भरी जानेवाली सभी रिक्तियों के 8.1/3 प्रतिशत पद अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों के लिए आरक्षित होंगे।

(2) उन सेवाओं के मामले में, जिनके लिए स्थानीय क्षेत्रों या मंडलों से भर्ती की जाती है और अखिल भारतीय आधार पर नहीं, अर्थात् रेलवे, डाक व तार विभाग, सीमाशुल्क सेवाओं, आय–कर विभाग आदि में अधीनस्थ पदों पर सम्बद्ध क्षेत्र अथवा मंडल की प्रांतीय सरकार द्वारा बनाए गए भर्ती नियमों और सम्बद्ध क्षेत्र अथवा मंडल में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर प्रत्येक सम्बद्ध स्थानीय क्षेत्र अथवा मंडल के लिए एक प्रतिशत निर्धारित करके संपूर्ण भारत के लिए 8.1/3 प्रतिशत कुल आरक्षण दिया जाएगा।

(3) जहां खुली प्रतियोगिता द्वारा भर्ती की जाती है और अनुसूचित जातियों के उम्मीदवार उनके लिए आरक्षित रिक्तियों से कम स्थान पाते हैं,

उस अंतर को, यदि संभव हो तो, उन जातियों के योग्य उम्मीदवारों का नामनिर्देशन करके पूरा किया जाएगा।

4. यदि अनुसूचित जातियों के उम्मीदवार खुली प्रतियोगिता में उनके लिए आरक्षित रिक्तियों से कम स्थान प्राप्त करते हैं और उन जातियों के योग्य उम्मीदवार उपलब्ध नहीं हों, अथवा नामनिर्देशन के लिए पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हों, तो ऐसे उम्मीदवारों के लिए आरक्षित रिक्तियां अनारक्षित मानी जाएंगी; परंतु उपरोक्त खंड (1) और खंड (2) के अंतर्गत उस वर्ष में उनके लिए समान संख्या में रिक्तियां आरक्षित की जाएंगी।

5. यदि खंड (4) के अंतर्गत पिछले वर्ष से आगे ले जाई गई रिक्तियां भरने के लिए अनुसूचित जातियों के योग्य उम्मीदवार पुनः उपलब्ध नहीं होते, तो उनके द्वारा न भरी गई रिक्तियों को अनारक्षित माना जाएगा।

6. सभी मामलों में, योग्यता का एक न्यूनतम मानदंड निर्धारित किया जाएगा और आरक्षण इस शर्त के तहत होगा।

7. अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों के मामले में किसी सेवा अथवा पद पर नियुक्ति हेतु निर्धारित अधिकतम आयुसीमा में तीन वर्ष की वृद्धि की जाएगी।

8. अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों के मामले में किसी परीक्षा अथवा चयन में प्रवेश के लिए निर्धारित शुल्क एक–चौथाई लिया जाएगा।

9. पिछले नियमों में अंतर्विष्ट आदेश, सरकारी सेवा में स्थायी तौर पर नियुक्त नहीं किए गए व्यक्तियों द्वारा अस्थायी तौर पर भरे जानेवाले स्थायी पदों की रिक्तियों सहित, तीन माह अथवा अधिक अवधि की अस्थाई रिक्तियों पर भी लागू होंगे।

10. इन नियमों के प्रयोजनार्थ किसी व्यक्ति को अनुसूचित जातियों का सदस्य उस स्थिति में माना जाएगा, यदि वह उस जाति से सम्बद्ध हो, जिसे भारत सरकार (अनुसूचित जातियां) आदेश 1936 के अंतर्गत उस क्षेत्र के लिए जिसमें वह और उसका परिवार साधारणतः निवास करता है, अनुसूचित जाति घोषित किया गया हो।

आदेश : आदेश दिया जाता है कि इस संकल्प की एक–एक प्रति सभी मुख्य आयुक्तों, भारत सरकार के विभिन्न विभागों, निदेशक, सूचना ब्यूरो और संघीय लोक सेवा आयोग को सूचनार्थ और मार्गदर्शन हेतु; राजनीतिक

विभाग, क्राउन फाइनेंस विभाग, गवर्नर जनरल (पब्लिक) के सचिव; गवर्नर–जनरल (रिफार्म्स) के सचित, गवर्नर जनरल (पर्सनल) के सचिव, लेजिस्लेटिव असेंबली, संघीय न्यायालय, महामहिम वाइसराय के सैन्य सचिव, और सभी प्रांतीय सरकारों को सूचनार्थ भेजी जाए, और यह भी कि संकल्प को भारत के राजपत्र में भी प्रकाशित किया जाए।

ई कोनरान स्मिथ,

सचिव

परिशिष्ट - 25

क्रिप्स प्रस्ताव

29 मार्च, 1941 को प्रकाशित
भारतीय नेताओं के साथ चर्चा हेतु प्रारूप–घोषणा

महामहिम की सरकार ने इस देश और भारत में भारत के भविष्य के बारे में दिए गए आश्वासनों की पूर्ति के बारे में व्यक्त की गई चिंताओं पर विचार किया और भारत में शीघ्रातिशीघ्र स्वशासन स्थापित करने के लिए उठाए जाने वाले प्रस्तावित कदमों को निश्चित और स्पष्ट शब्दों में निर्धारित करने का निर्णय लिया। इनका उद्देश्य नए भारतीय संघ का सृजन करना है, जो क्राउन के प्रति समान रुप से निष्ठावान हो और जो ब्रिटेन तथा अन्य देशों के साथ सहयोजित एक प्रभुत्व का निर्माण करेगा, परंतु सभी प्रकार से उनके समकक्ष होगा और किसी भी प्रकार से अपने घरेलू या विदेशी मामलों में अधीनस्थ नहीं होगा।

अतः महामहिम की सरकार निम्नलिखित घोषणाएं करती है –

(क) युद्ध–कार्य के रूकने के तत्काल बाद भारत में एक निर्वाचित निकाय, जिसे भारत का नया संविधान बनाने का कार्य सौंपा जाएगा, की स्थापना करने के लिए कदम उठाए जाएंगे, जिसकी विधि इसमें इसके बाद बताई गई है।

(ख) संविधान निर्माता निकाय में भारतीय राज्यों की भागीदारी के लिए निम्नांकित उपबंध किए जाएंगे।

(ग) महामहिम की सरकार इस प्रकार तैयार किए गए संविधान को निम्नलिखित के तहत तुरंत स्वीकार करने और क्रियान्वित करने की घोषणा करती है–

(I) ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत, जो नए संविधान को स्वीकार करने के लिए तैयार न हो और अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति बनाए रखना चाहता हो, यदि वह ऐसा निर्णय ले, तो इसके उत्तरवर्ती दर्जे के लिए प्रावधान किए जाएंगे।

यह स्वीकार न करने वाले प्रांतों के साथ, यदि वे ऐसी इच्छा व्यक्त करते हैं, महामहिम की सरकार जैसा भारत संघ और नीचे निर्धारित प्रक्रिया के द्वारा निश्चित किया जाएगा, उन्हें वैसा समान दर्जा देनेवाले नए संविधान से सहमत होगी।

(II) महामहिम की सरकार और संविधान निर्माता निकाय के बीच किसी संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विचार–विमर्श; इस संधि में ब्रिटेन से भारत के हाथों उत्तरदायित्व के संपूर्ण अंतरण से उद्‌भूत सभी आवश्यक मामले सम्मिलित होंगे; इसमें महामहिम की सरकार द्वारा जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए की गई घोषणाओं के अनुरूप प्रावधान किए जाएंगे; परंतु इसमें ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्य सदस्य देशों के साथ इसके भावी संबंधों का निर्णय लेने में भारत संघ के अधिकार पर कोई प्रतिबंध लागू नहीं किया जाएगा। कोई भारतीय राज्य संविधान का पालन करने का इच्छुक है या नहीं; इसके लिए जहां तक नई स्थिति का संबंध हैं, इसकी संधि–व्यवस्था की समीक्षा करने के लिए विचार–विमर्श करना आवश्यक होगा।

(घ) जब तक युद्ध–कार्य की समाप्ति से पहले प्रमुख संप्रदायों के भारतीय अभिमत के नेता किसी अन्य गठन पर सहमत न हों, संविधान–निर्माता निकाय में निम्नलिखित सम्मिलित होंगे,

प्रांतीय निर्वाचनों का परिणाम आने के तत्काल बाद, जो युद्ध समाप्ति के बाद आवश्यक होंगे, प्रांतीय विधानमंडलों के लोअर हाउस के सभी सदस्य एकल निर्वाचन मंडल के रूप में प्रांतीय प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा संविधान–निर्माता निकाय का चुनाव करेंगे। नए निकाय की सदस्य–संख्या निर्वाचन मंडल की सदस्य संख्या का दसवां भाग होगी।

भारतीय राज्यों को उनकी कुल जनसंख्या के समान अनुपात में प्रतिनिधियों की नियुक्ति के लिए आमंत्रित किया जाएगा, जैसा कि संपूर्ण ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के मामले में है और उन्हें ब्रिटिश भारतीय सदस्यों के समान अधिकार प्राप्त होंगे।

(ङ) इस निर्णायक अवधि में, जिसका अब भारत सामना कर रहा है और जब तक नया संविधान तैयार नहीं हो जाता, महामहिम की सरकार को भारत की प्रतिरक्षा के नियंत्रण और निदेशन के उत्तरदायित्व को अपने विश्वयुद्ध–प्रयास के भाग के रूप में अनिवार्यतः निर्वहन करना होगा, परंतु भारत के संपूर्ण सैन्य, नैतिक और भौतिक संसाधनों को जुटाने के कार्य का उत्तरदायित्व भारत के लोगों के सहयोग से भारत सरकार का ही होगा। महामहिम की सरकार की यह इच्छा है, और वह भारतीयों के प्रमुख वर्गों के नेताओं को उनके देश, राष्ट्रमंडल और संयुक्त राष्ट्र के बारे में अपनी राय देने के लिए तत्काल और प्रभावी सहभागिता का आमंत्रण देती है। इस प्रकार वह भारत की भावी स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य को पूरा करने में अपनी सक्रिय और रचनात्मक सहायता उपलब्ध करा सकेगी।

अनुक्रमणिका

PUNJAB
AFGHANISTAN
N. W. F. PROVINCES
KASHMIR
BALUCHISTAN
SIND
RAJPUTANA
UNITED PROVINCES
RAWALPINDI
ATTOCK
JHELUM
GUJRAT
SHAHPURI
SIALKOT
GUJRANWALLA
SHEIKHPURA
MIANWALI
JHANG
LYALPUR
LAHORE
MONTGOMERY
MUZAFFARGARH
DERAGAZIKHAN
MULTAN
CHAMBA
KANGRA
GURUDASPUR
SIMLA
PATIALA
BHAWALPUR
S U T L E J R I V E R
REFERENCE
HINDU .... AREA
MUSLIM .... AREA

INDIA.
REFERENCE
HINDU AREA
MUSLIM AREA
PERSIA
AFGHANISTAN
KASHMIR
BALUCHISTAN
PUNJAB
SIND
KARACHI
RAJPUTANA
NEPAL
BHUTAN
BENGAL
CHINA
BURMA
SIAM
ARABIAN SEA
BOMBAY
HYDRABAD
GOA
MYSORE
MADRAS
BAY OF BENGAL
ANDAMAN ISLANDS
CEYLON